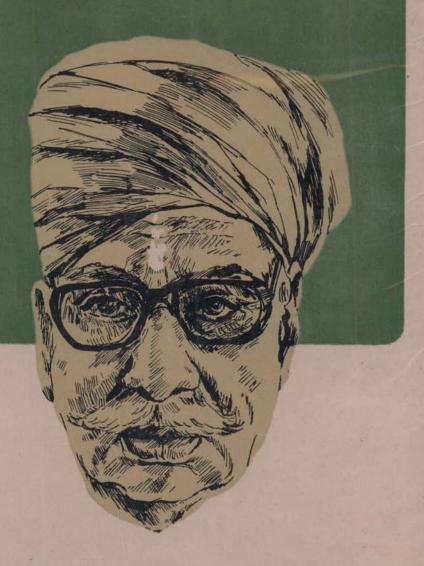
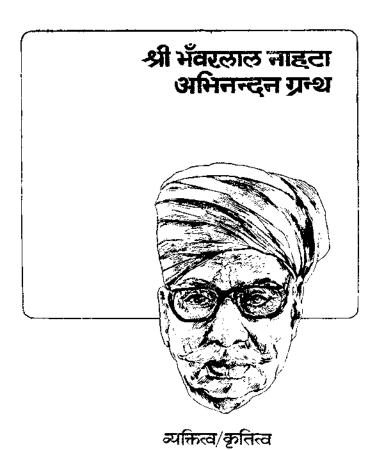
श्री भँवरलाल नाहटा अभिनन्दन ग्रन्थ



व्यक्तित्व/कृतित्व



दिसम्बर, १९८६

प्रकाशक श्री मैंवरलाल नाहटा अभिनन्दन समारोह समिति पद कैनिंग स्ट्रीट कलकत्ता ७०० ००१

सम्पादक श्री गणेश ललवानी

मुद्रक राज प्रोसेस प्रिन्टर्स ५ बजदुलाल स्ट्रीट कलकत्ता ७०० ००६

सुराना प्रिन्टिंग वक्सें २०५ रवीन्द्र सरणी कलकत्ता ७०० ००६

मूल्य एक सी एक रूपये

शुमाशंसा

शुभाशंसा

नाहटाजी की विद्वता. नई-नई सृजन शक्तिः कवित्व शक्तिः, संशोधन दृष्टिः, स्वाध्याय वाचनः, वृद्धावस्था में युवा जसा उत्साहः, देवगुरु प्रत्ये की श्रद्धा आदि सद्गुण सचमुच प्रेष्क एवं प्रशंसनीय है ।

नाहरा जी और ज्यादा काम करते रहें, दीर्घायुषी बने

—विजययशोदेव सूरि

मानव अपने प्रमादवश उन्नत शक्ति को नष्ट करता है। श्रीयुत् मँवरलाखजी नाहटा ने झानोपासना से अज्ञान की परिस्थिति से खपर उठकर जेन साहित्य का प्रकाश जनता को प्रदान किया । जैन शासन में खरतरगच्छ की महान सेवा से अत्यन्त प्रसन्नता हुई। शासन सेवा कर मानव भव सफल बनावें, यही पवित्र भावना ।

-जिनउदय सुरि

सुश्रावक श्री मँवरलालजी सा० नाहटा ने संघ, समाज व साहित्य की जो दीर्घ काल तक सेवा की है, वह अभिनन्दन के योग्य है।

मेरी शुभकामना के साथ ह।दिक आशीर्वांद है।

—पद्मसागर सूरि

श्रीयुत में वरलालजी नाहटा का व्यक्तित्व, महामेघ की घटाओं में अपनी अद्भुत छवि प्रकीर्ण करने वाले इन्द्र-धनुष की माँति है। उनका कर्म क्षेत्र सहस्रधारा तीर्थ के समान बहु-आयामी एवं बहु-विस्तृत है। वे आशुनवि हैं। हिन्दी, राजस्थानो आदि भाषाओं के साथ प्राकृत पद्यरचना में उनका चमत्कारिक नैपुण्य है। सामाजिक. धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक एवं इतिहास आदि के संबंध में लिखे गये इनके अनेक-अनेक शोधलेख विद्वत्समाज में आदरास्पद हुए हैं।

योगेन्द्र श्री सहजानन्दजी ने परम्परा प्राप्त श्री श्वेताम्बर परम्परा से कुछ मिन्न रेखा पर अपनी साधना को गतिशील किया। फिर भी श्री नाहटाजी का उनके प्रति श्रद्धः भाव क्षीण न होकर निरन्तर बढ़ता ही रहा। यह उनके अन्तह दय में सहजभाव से उललसित होने वाली "गुणिषु प्रमोदम्" की उदात भावना है. जो एक प्रकार से सर्वोच्च भानवता का पवित्र अमृत निष्यन्द है।

प्रसन्नता है, कलकत्ता महानगर में उनका अभिनन्दन-समारोह का आयोजन किया गया है। मैं अन्तह्र्दय से नाहटाजी के दीर्घ एवं यशस्त्रो जीवन के हेतु प्रभु-चरणों में सद्गमावना रखता हूँ ।

--- उपाध्याय अमर मुनि

सुश्रावक श्री मँवरलालजी से शिखरजी में परिचय हुआ। जैन साहित्य और संशोधन में इनका योगदान प्रशंसनीय है। आज जब श्रुतज्ञान और उसकी रुचि कम होती जाती है तह श्रुतज्ञान की सुरक्षा के लिये, अध्ययन और संशोधन के लिये इनका प्रयत्न सराहनीय है।

इनकी साहित्य प्रतिमा और भी आगे बढ़े यह मंगलकामनः है । जेन साहित्य में खूब आगे बढ़ें ऐसे मंगल आजीर्वाद ।

—गु ।क्षागर सूरि

दो साल से ही श्री भँवरलालजी नाहटा के साथ परिचय हुआ है। आप वयोवृद्ध होते हुए भी साहित्य के कार्य के ियं अप्रमत्त हैं। प्रथम शासन सम्राट् अंचलगण्डाधि गति, तपोमृति पू० गुरुदेव आचार्य भगवंत श्री गुणसागर सूरीश्वरजी म० सा० रिवत "विविध पूजा संग्रह" ग्रन्थ आपको भिजवाया गया तब तुरन्त ही आपने सविस्तार जवाब दिया। तब वम्बई से जेन महासय का श्री सममेतशिखरजी महातीर्थ के लिए छरीपालित पद-यात्रा का प्रयाण हो गया था। शिखरजी तीर्थ में गत साल चातुर्मास में आप दो बार हमारे पास दर्शनार्थ आये थे। पत्राचार अतिरिक्त प्रत्यक्ष परिचय से आपकी साहित्योपासना एवं कार्य-शक्ति से मैं प्रमावित हुआ।

पिछले कितने वर्षों से मेरे मन में भगवान श्री महावीर देव की जनामूमि का विवाद समाप्त करने की तीव्र मनोकामना थी। शिखरजी तीर्थ में बहुत-सा साहित्य का अध्ययन किया वर्ष जब इस विश्व पर "अखिल भारतीय इतिहासविद्र विद्रह सम्मेजन" कराने का निर्णय हुआ तब आधने ही वल िया कि "इस सम्मेजन से ५० महाव र देव को जननमूमि के लिये कुछ तथ्य प्रकाश में आयेंगे हों"। इसलिए सम्मेलन रखा गया।

इस सम्मेलन में भारत के कोने-कोने से कई विद्वान् आये । उनमें जेन एवं जैनेतर विद्वान् भी थे । विहार के पुरातत्त्व विभाग के अधिकारी भी थे । सम्मेलन के दूसरे दिन पू० जैनाचार्य श्री अंचलगच्छाधिपति श्री की अध्यक्षता में आप ही मुख्य अतिथि थे । भ० महावीर देव की जनमभूमि क्षत्रियकुण्ड तीर्थ है वैशाली नहीं है—इस विपय पर आपने अपना जाहिर प्रवचन दिया । उसका बहुत ही प्रमाव पड़ा । तीसरे दिन भारत एवं विहार के सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान् डा० राधाकृष्य चोधरी ने सर्वानुमत से प्रस्ताव पारित किया कि विहार के मुगेर जिले में स्थित लखुवाड के पास क्षत्रियकुण्ड में भगवान् महावीर देव का जनन हुआ था । विशेष के लिये इस सम्मेलन की स्मारिका दृष्टव्य है । इस समय वम्बई युनिवर्सिटी के गुजराती विभाग के अध्यक्ष डा० रमणलाल शाह एवं दिल्ली के वहुश्रुत विद्वान् हीरालालजी दुगढ़ भी आपकी साहित्यकीय प्रतिमा से प्रमावित हुए थे ।

श्री मँवरलालजी नाहटा का सम्मान करते समय यह वात ध्यान में रखें कि श्री मँवरलालजी नाहटा एवं स्व० अगरचन्दजी नाहटा के आज दिन तक विविध सामियकों अखवाों में जो लेख प्रकाशित हुँये हैं उन सदका श्रीष्ठ ही संचय ग्रन्थ प्रकाशित हो। कई स्मृति ग्रन्थों में भो आपके लेख बिखरे हुए पड़े हैं। इन सबका भी उस संग्रह में संकलन हो जाए, ताकि आनेवाली पीड़ी के लिये वह लेख-संग्रह ज्ञानमाता रूप प्रतीत हो एवं शोधकार्य में सहायक बने।

श्री भं**वरलालजी नाहटा दीर्धायु निरामय स्वस्थ प्रसन्न रह कर बहुत दि**नों तक जेन साहित्य की सेवा करें। — इलाप्रमसागर गणि

श्रीमान् नाहटाजी जेन समाज के गांख हैं, खरतरगच्छ के रतन हैं।

माहटाजी जैसे वहुत कम विद्वान और शास्त्र के ज्ञाता अपने समाज में हैं अतः उनका अभिनन्दन जॅन समाज के लिये गौरव का विषय है । नाहटाजी जव-जब मुझे मिजने तब अवश्य उनसे मुझे शास्त्र, इतिहास आदि के विराय में कई विशेषताएँ जानने को मिलती और इससे नाहटाजी के विशाल ज्ञान का परिचय मिलता है।

जिन्देर भगवान एवं दादा गुरुदेव से प्रार्थना करता हूँ कि नाहटाजी को साहित्य सेवा करने का अधिकाधिक बल प्राप्त हो। — जयानंद मुनि

श्री भँवरलालजो नाहटा ने अपना जीवन इतिहास, पुरात्तत्व, शोध, सर्जन के माध्यम से अपनी आतमा को समर्पित किया है। यह उनके जीवन की मौलिक विशेषता है।

ज्ञानी होने के कारण निश्चित ही इनके जीवन को कीति, यश. मान-सम्मान की सौरम मिली है, फिर भी ये स्थयं उस हवा से अपरिचित/अधूते रहे हैं। यही कारण है कि आज वे विद्वानों की दुनिया के चमकते होरे हैं।

ऐसे दिद्वानों का अभिनन्दन करनाः समाज का कर्तत्र्य है। निश्चित ही उनका अभिनन्दन प्रेरणा का दीप-स्तंम बनकर दिशा बीध देगा।

में उन्हें धर्मलाभ की शुभाशीय प्रदान करता हूँ।

─मृनि मणिप्रभसःगरः

भारत के माने हुए विद्वानों की दृष्टि में आप अवश्य मां सरस्वती के वरद पुत्र हैं।

आपको प्रज्ञा सहज सरल ग्राह्य और अनुकरणीय है। आपकी प्रकृति में स्वामाविक रूप से ही सुजनता कुठीनता व निरमिमानता विराजित है।

आप में परंपरा निर्वाह और कर्तव्य-निष्ठा दोनों का अद्भुत संभिश्रण है।

आपकी जागरूकवृत्ति वैयक्तिक मतमतान्तरों, दार्शीनक विवादों और स्वैच्छिक विधिनिषेधों से परे रही है : अध्ययन चिन्तन मनन और निदिध्यासन आपका जोवन का स्थिर चित्र है ।

आपमें धर्म का जो गौरव है वह श्री जैन शासन का अपना, गुरुदेव का, सुयोग्य परिवार का एवं पूर्वजन्म के पुण्य का ही फज़ है। आप आशुकवि व पुरातत्वप्रेमी भी हैं।

आपकी अधिकतर अभिरुचि भाषाशास्त्र और लिपि विज्ञान में हैं। आप आधुनिक और प्राचीन परंपरागत भाषाओं व लिपिओं को पढ़ने. समझने में बहुत माने हुए विद्वान हैं।

पुरानी अनेक प्रतिमा, चित्र-वस्तु और अति मूल्यवान् प्राचीन ग्रन्थ आपके बीकानेर के संग्रहालय में है। आपका प्राचीन शिलालेखों से इतिहास संशोधन प्रेन मी बहुत प्रशंसनीय है।

[3

आपमें जो अद्भुत सूझ अपूर्व लिपिविज्ञता और गहरी साहित्यप्रियता पाई जाती है वह नीविशास्त्र में दिखाए हुए 'विविध देशाटन, अधिकाधिक-विद्वानों से परिचय व मित्रता एवं अनेकानेक शास्त्रों का चिन्तन मनन व परिशीलन का' स्थिर परिपाक है।

चरमतीर्थपति मगवान महावीर देव का अनुशासन ने ही आपको आत्मबल, आत्मबोध व आत्मनिष्ठा दी है और दे रहा है।

सबसे बढ़कर आपकी श्री जैनशासन में गहरी निष्ठा है उसका एवं आपके सभी गुणों का मैं गुणानुराग रूप से अनुमोदन करता हूँ और साथ ही धर्मलाम रूप आई वींद देता हूँ ।

—विजयकनकरत्न सूरि

श्री मंवरलाल जी नाहटा व्यक्ति नहीं. अपने आप में एक संस्था हैं। उनकी बहुमुखी मांगलिक प्रवृत्तियों से समाज और राष्ट्र "सत्यं-शिवं-सुन्दरम्" से समलंकृत हुआ है। सरस्वती और लक्ष्मी के वरदान से अभिषिक्त श्री नाहटाजी के इन्द्रधनुषी व्यक्तित्व में कवि की वल्पना, इतिहासकार की अनुसंधान-प्रवृत्ति. पुरातत्ववेता की सृक्ष्म दृष्टि, लिपि पण्डित की कुशाग्रता, चित्रकार की सौन्दर्य-परल, दार्शनिक की चिन्तनशीलता। एवं समाज सुधारक की सेवा-मावना के सप्तरंग जग-मगा रहे हैं जिनकी समुज्यवन प्रभा मानव को उद्यमशील वनने की प्ररेणा देती है। ये महाशय किसी महाविद्यालय में नहीं पढ़े, फिर भी ये अपने उद्यम से इतनी उँचाई को छू सके। इनका जीवन नव-पीढ़ी के लिए प्रेरणा का स्रोत है।

प्रतिभा जन्मजात होती है. वह सुअवसर पाकर प्रकट होती है। पुण्योदयवैला में मानव की प्रतिभा श्रम साधना से प्रकट होकर सृष्टि का मंगल विधान करती है। श्री मंवरलाल जी नाहटा के विकास का भी यही रहस्य है। इसिलए पुण्य-संचय हैतु शुभकर्म करना चाहिए। यही वह सम्पत्ति है जो मानव जीवन को प्रतिभा सम्पन्न बनाती है।

श्री मंवरलाजजी नाहटा का जीवन-दुकूल दो सुन्दर धागों से वृना हुआ है। एक धागा है विनम्रतः, और दूसरा है श्रम। विनय और श्रम से जीवन सार्थक सफल और सुखी बनता है।

जीवन एक कला है। जीवन को सफल बनाने के लिए विवेक रूपी कजा को आवश्यकता है। श्री मंवरलाल जी नाहटा ने विवेक-पट पर प्रतिभा की तूलिका से मानवता का चित्र अंकित करके यह बता दिया है कि जीवन में धन वैभव का महत्त्व नहीं, जीवन तो श्रम से सिचित विनय और अकिंचनता के रजकणों में फूल के समान खिलकर ही मानवता की सुगंध बिखेरता है। इससे जगत् का प्रांगण महकता है

श्रावक रत्न श्री भंदरलालजी नाहुटा की दीर्घायु के लिए हमारी शुभकाममा। उनके द्वारा अनेक मंगल कार्य सम्पन्न हों, यही शुभाशीष।

—विजय इन्द्रदिन्न सूरि

विद्वानों के अभिनन्दन की प्रणाली प्राचीन काल से ही चली आ रही है. तथा यह प्रणाली भारतीय संस्कृति का अंग रही है।

श्री संवरलाल जी नाहटा के ७५ वें वर्षागाँउ के सुअवसर पर वे चिरायु हों ऐसी गुरुदेव से प्रार्थना है। —जिनचन्द्र सूरि

प्रतिमा की विलक्षणता के उदाहरण शताब्दियों में भी विरल रूप से सामने आते हैं। इस वर्तमान शताब्दी के ऐसे ही एक विरल उदारहण श्री मंवरलालजी नाहटा हैं। विश्वविद्यालय की डिग्नियों व उपाधियों के मार्ग से ये आगे नहीं बढ़े। फिर भी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन माषाओं तथा हिन्दी गुजराती आदि अवांचीन माषाओं में आप उनसे कुछ भी पढ़वा लीजिए। बुलवा लीजिए एवं श्लोक छन्द आदि रसवा लीजिए। लिपियों में ब्राह्मी, खरोब्ठी आदि प्राचीन से प्राचीन लिपि भी इनके लिए देवनागरी है। इस स्थिति में मानना पड़ता है—श्री नाहटा जी सिद्ध सारस्वत' हैं। सारस्वत मंत्र के सिद्ध विए जाने का इतिहास मिलता है। इनके लिए वह सहज सिद्ध है।

इतिहास पुरातत्त्व साहित्य संस्कृति को आपने सहस्रों लेखों से, शतशः ग्रन्थों के लेखन व सम्पादन से साधा है। सम्बन्धित विषयों में आप किसी पर वात करिए. आपको लगेगा कम्प्यूटराइउड विश्व कोश हैं और वह बोल रहा है। अस्तु, यह सब कुछ मैंने पढ़कर या दूसरों से सुनकर नहीं लिखा है, लगमग १० वर्षों के अपने सत्तत् सम्पर्क की साक्षात् अनुमूतियों के आधार से लिखा है। श्री माहटाजी जैन समाज के ही नहीं. अपितु समग्र देश के एक अप्रतिम गौरव हैं।

उनके ७५ वें वर्ष के उपलक्ष में उनका अभिनन्दन किया जा रहा है, यह जानकर प्रसन्नता हुई। वास्तव में ऐसे लोगों का अभिनन्दन हो अभिनन्दन शब्द की सार्थकता व्यक्त करता है। इसी बात को दूसरे शब्दों में कहें तो इस पुनीत अनुष्ठान में अभिनन्दन ही अभिनन्दित हो रहा है।

अस्तु, मैं मंगल कामना करता हूँ, श्री नाहटाजी चिरकाल तक अपनी अनुपम् सेवार्य समाज को देते रहें। —मुनि नगराज

श्रावक-रत्न श्री मँवरलालजी नाहटा के अभिनन्दन का संवाद पढ़कर मन प्रसन्नता से पुलक्ति हो उठा। श्री नाहटाजी का व्यक्तित्व वहु-आयामी है। और हर आयाम अपने में विलक्षण है। विषय चाहे माषा-ज्ञान का हो या काव्य रचना का. इतिहास का हो या पुरातत्त्व का, श्री नाहटाजी ने इन सबमें जो महारत हासिल की है. वह अपने में विस्मयजनक है। श्रेष्ठी तो वे जन्म से ही हैं। पर इन सबसे ऊपर है उनकी धर्म-निष्ठा, जिनेश्वर देव के प्रति अट्ट आस्था तथा जीवन के व्यवहारों में धर्म की आराधना।

[4

जहाँ तक मुझे खयाल आता है श्री नाहटाजी के साथ मेरा पहला परिचय भगवान महावीर की पन्नीसवीं निर्वाण-प्रती के अवसर पर पावापुरी में हुआ। पावापुरी के उस पावन प्रसंग पर श्री नाहटाजी के मिक्त-भावनामय व्यक्तित्व के साथ-साथ उनकी सहदयता-सरलता का भी परिचय मिला। उसके बाद कलकत्ता-प्रवास में उनके व्यक्तित्व के कई और पहलू भी सामने आए। इतिहास के प्रति उनका दृष्टिकोण अपनी मौलिक पकड़ रसता है। प्राचीन शिला-लेखों तथा पांडु-लिपियों का गहरा अध्ययन, जैन इतिहास का तलस्पर्शी विवेचन, समाज-सेवा, सादगी-पूर्ण जीवन, सिद्धान्तवादिता आदि विशेषताओं से मैं अपने कलकत्ता-प्रवास में ही अवगत हुआ।

उसके पश्चात् वह परिचय प्रगादितर होता गया। अक्टूबर १९ ५१ में हमने तैरापंथ से त्याग-पत्र देकर नव-तेरापंथ की घोषणा की। इस विचार-क्रान्ति का उद्देश्य जैन धर्म को व्यापक मूमिका पर प्रतिष्ठित करना था। इसीलिये अब वह नव तेरापंथ से आगे बढ़ती हुई जैन संगम के रूप में प्रवाहित हो रही है। इसना ही नहीं, नवकार-महाभन्त्र को आधार-शिला बनाकर मानव-मन्दिर के रूप में यह तेजी से विस्तार पा रही है। इस विचार क्रान्ति की घोषणा के अवसर पर श्री नाहटाजी जयपुर स्थित दादावाड़ी में उपस्थित होकर अपनी मंगल-कामनाएँ प्राकृत-भाषा में प्रकट की। उस अवसर पर उनके आशु-कवित्व से मेरा परिचय हुआ। उसके पश्चात् अपने पिछले चातुर्मास में श्री नाहटाजी से पूज्य दादा गुरुदेव के जीवन तथा साधना पर कुछ दुर्लम जानकारी मिली।

इन सारे सन्दर्मों के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि श्री नाहटाजी गुदड़ी में छुपे हुए लाल हैं। समाज ने इस लाल के मूल्य को समझा है और अभिनन्दन करने का निर्णय लिया है, हार्दिक प्रसन्नता का विषय है। वे इसी प्रकार जिन-शासन, धर्म, साहित्य तथा समाज की सदा सेवा करते रहें, यही मंगल कामना है।

─मुनि रूपचन्द्र

श्री नाहटाजी जैन समाज के गणमान्य विद्वान सज्जन हैं. ऐसे विद्वज्जन का अभिनन्दन व वहुमान करके वस्तुतः आप विद्वता एवं पाण्डित्य का ही अभिनन्दन कर रहे हैं।

—मुनि शीलचन्द्र विजय

वैसे तो नाहटा-परिवार और खासकर श्री अगरचन्दजी नाहटा से मैं बचपन से ही. बीकानेर में जब सेंठिया विद्यालय में पढ़ता था, तभी से परिचित था। परन्तु उनके निकट सम्पर्क में आने का अवसर, सन् १९५३ में जब मेरा बीकानेर-चातुर्मास था, तभी से मिला। उनके मतीजे श्री मेंवरलालजी नाहटा से प्रथम परिचय कलकता में हुआ। जब वे जीवदया प्रकरण का हिन्दी पद्य-गद्यानुवाद कर रहे थे। मेरा चातुर्मास मुनि श्री संतवालजी के साथ कलकता शहर में था। बहुत ही विनम्रनाव से वे प्राकृत पद्यों का अर्थ पूछते, स्वयं-स्फुरणा से उन-उन पद्यों का उपर्युक्त अर्थ लगाते। मैंने देखा कि उनकी बौद्धिक चेतना प्राकृत पद्यों का अर्थ लगाने में कितनी पैनो थी। बहुधा वे स्वयं कहा करते हैं, मैं विशेष पद्धा-लिखा नहीं हूँ, किन्तु जाव उनकी प्रखर और स्वयं स्फूर्त बौद्धिक प्रतिमा देखते हैं, तब आश्चर्यमुग्ध होना पद्धता है।

सन् १९७८ में होली के अवसर पर हम शिखरजी (मधुवन) आए हुए थे. और कलकत्ता चातुर्मास के लिये जा रहे थे।

श्रीयुत् मँवरलालजी नाहटा ने जब मुझे देखा तो उन्हें बहुत हो प्रसन्नता हुई। वे उस समय विविध तीर्थकरूप नामक ग्रन्थ का सम्मादन कर रहे थे । परिशिष्ट गत तिरथकरप ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति में कई जगह अक्षर लुप्त थे, कई स्थलों पर अशुद्ध पाठ था. मेरे पास वे उस ग्रन्थ को लेकर आए । उस दिन मेरे स-मोन उपवास था। परन्तु उनकी जिज्ञासा बुद्ध और विनम्रता देखकर मैं मौन में हो लिख कर उक्त ग्रन्थ के संशोधन में प्रवृत्त हो गया। मगर एक दिन में कितना संशोधन होता। दूसरे दिन उनको कलकत्ता जाना था। इसलिये वे उक्त ग्रन्थ के पन्ने मेरे पास संशोधनार्थ रख कर चले गए। मैंने दो-तीन दिन में उक्त पन्नों को देख कर जहाँ तक मेरी बुद्ध पहुँची. उन पन्नों का संशोधन किया और उन्हें कलकत्ता मेज दिया।

प्क व्यापारी का, ऐतिहासक्च एवं शोधकार होना आश्चर्यजनक लगता है। जिसमें राजस्थान का व्यापारी. प्राचीन युग में दो-तीन कक्षा तक पढ़ा हुआ होता था, अधिक से अधिक हुआ तो मेट्रिक तक पढ़ लिया। इससे आगे विरानचिह लग जाता था। परन्तु श्री भँवरलाज़जी नाहटा इतने पढ़े-लिखे न होने पर मी बी० ए०, एम० ए० पढ़े हुए आधुनिक सुशिक्षितों से आगे थे। आप पढ़ें हुए अधिक नहीं, पर गुने हुए अधिक हैं। संस्कृत और प्राकृत जैसी दुरूह माधा आपने स्कूल में नहीं पढ़ी, परन्तु शोध-कार्य करते-करते आप संस्कृत और प्राकृत के विद्वानों से भी आगे बढ़ गए। आपकी इत प्रकार स्फुरणाशक्ति और प्रतिमा देखकर आश्चर्य-चिकित होना पड़ता है।

विद्वता के साथ विनम्रता एवं चारित्र शोलता उनके जीवन में सोने में सुगन्ध का कार्य करती है। वे अपनी दिनिक चर्या में प्रमु-पूजा-मक्ति में तक्षीन हो जाते हैं। अकसर देखा गया है कि विद्वता के साथ चारित्रशीलता कम हो जातो है, परन्तु नाहटाजी में ये दोनों चीजें साथ-साथ चलती हैं। देव गुरु और धर्म के प्रति उनकी श्रद्धामिक जितनी गहरी है, उतनी ही धर्माचरण के प्रति उनकी लगन है। उनमें साम्प्रदायिक कट्टरता नाम मात्र को भी नहीं है। खरतरगच्छीय परम्परा के होते हुए भी वे, प्रत्येक गच्छ और संघ की परम्परा के साधु-सन्तों के पास जाते हैं। उनके गुणों को प्रहण करते हैं। गुजग्राहकता उनमें कूट-कूट कर मरी है।

गत वर्ष शिखरजी में अञ्चलमच्छीय आत्तार्य सम्राट श्री गुगसागरसूरिजी का चातुर्मास था। मगवान् महावीर की जन्मभूमि के स्थल का निर्णय करने हेतु उन्होंने तथा गं,णवर्ष श्री कलाप्रमसागर जी ने इतिहास विदों के सम्मेलन का आयोजन कराया था। उस सम्मेलन में में मो आनंत्रित था। आपश्री ने अपना विद्वतापूर्ण शोधपत्र महावीर की जन्मभूमि के विश्रय में अकाट्य प्रमाग प्रस्तुत करते हुए तथार किया था। उसमें एक से दढ़ र एक युक्तियाँ और प्रमाग प्रस्तुत किये गए थे कि सबको मानना पड़ा है कि भगवान् महावीर की वास्तविक जन्मभूमि वा स्थल क्षत्रियकुण्ड लघुताड़ ही है।

सचमुच आपको देवी सरस्वती का कोई अपूर्व दरदान है कि कठिन से कठिन और किसी के सहसा समझ में न आने वानी लिपि को भी आप पढ़ लेते हैं। नन्दीसूत्र में उक्त चार प्रकार की बुद्धियों में से औत्पातिकी बुद्धि का आप में प्रत्यक्ष चमत्कार देखा जा सकता है।

में आप जैसे गुणवान् और प्रतिभाञाली व्यक्तियों का आदर करता हूँ । और मंगल भावना करता हूँ कि आप दीर्घायु और स्वस्थ रहें और साहित्य-सेवा के माध्यम से जिन शासन की सेवा करें ।

—मुनि नेमिचन्द्र

6

विद्वद्यं श्री मँवरलालजी नाहट। के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को मैंने निकटता से देखा और समझा है। इतन, श्रद्धा तथा चारित्र की समन्वित त्रिवेणी का उनके जीवन में सहज दर्शन होता है। उनकी ज्ञान-शारदा तो सर्व विदित है, किन्तु श्रद्धा-गंगा एवं चारित्र-यमुना का दर्शन तो उसी ने किया है, जिसने उनका सामीप्य ग्रहण किया हो। वस्तुतः नाहटाजी श्रद्धामिभूत हैं, किन्तु उनकी श्रद्धामिभूतता उसी के प्रति प्रगट होती है, जिसमें सत्य का प्रतिदिन्व हो। वे धर्म-गुरुओं के प्रति भी नतमस्त्वक रहते हैं। मैंने उनकी सर्वाधिक आस्था मुनि सहजानन्दघन जी के प्रति पायी, जो कि एक निष्पृह एवं अध्यात्मयोगी थे। श्री नाहटाजी का चारित्र श्रावकोचित् है। वे खाओ, पीओ, मौज उड़ाओं की निम्न भौतिक-भूमिका एवं वाह्य जीवन से ऊपर हुए हैं। उनमें क्रोध, मान, माया व लोम के स्थान पर क्षमा, मार्दव, सरलता तथा सन्तोष परिलक्षित होते हैं। वे सांसारिक अवश्य हैं, किन्तु उनके हृदय में संसार नहीं है, जल में कमल-पुष्प हैं वे। इसीलिये मुझे उनके जीवन में ज्ञान, श्रद्धा और चारित्र का त्रिवेणी संगम हिंदिगोचर होता है। उनका अभिनन्दन करना इस संगम के प्रति हमारी आस्था का आयाम है।

श्री नाहटाजी से मेरा सम्पर्क बाल्यकाल से ही है। विक्रम संवत् २०३६ माघ शुक्ल पक्ष ११वें के दिन अभि निष्क्रमण करने के परचात् मेरा उनके साथ पूर्व का सम्बन्ध बौद्धिक सम्बन्ध में रूपान्तरित हो गया। श्री नाहटाजी हमारे पास अनेक बार पधारे। उनके आगमन पर हमारा लक्ष्य केवल एक ही रहता कि इस ज्ञान-शारदा से जैसे तेसे दो-चार चुल्लू भर लें। जब मैं वाराणसी में 'महोपाध्याय समयशुन्दरः व्यक्तित्व एवं कृतित्व' विषय पर शोध कर रहा था उस समय तो उनकी इतिहासज्ञता आदि से भी मैंने यथावश्यक लाभ उठाया था, और वह मेरे लिये उपादेय भी बनी।

श्री नाहटाजी से आगमिक एवं साहित्यिक असंगतिपूर्ण वातों को लेकर अनेकशः पत्र-व्यवहार हुए। वस्तुतः धर्म-शास्त्रों में परस्पर अनेक विसंवादित् बातें प्राप्त होती हैं. जिन्हें पढ़कर प्रश्न उठने स्वामाविक हें। नाहटाजी से हम ऐसे प्रश्नों का उत्तर प्रत्यक्ष अथवा पत्र के माध्यम से पूछा करते थे। प्रसनतः श्री नाहटाजी का एक पत्र यहाँ प्रस्तुत करता हूँ। जिनका सम्बन्ध मेरे शोध-प्रवन्ध से रहा है—

सादर वंदन! आपका ता० ११-२-प्र8 का कार्ड मिला। आपका प्रश्न महत्वपूर्ण है कि समयसुंदर जी महाराज यित थे या मृनि! उसके समाधान के लिए हमें इतिहास पर दृष्टिपात करना होगा। वास्तव में शास्त्रों में जैन साधुओं के लिए कई नाम आयें हैं, यतः—यित, साधु, मृनि, श्रमण, निर्ग्रन्थ, ऋषि, भिक्षु, संयती—ये सब पंच महावतधारी अपरिग्रही, त्यागी साधुओं के लिए ही व्यवहृत हुए हैं। चतुर्विध संघ में साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका ही शास्त्रों में आये हुए नाम हैं। अतः पाँचवीं कोई श्रेणी संघ में नहीं थी। संवेगपक्षी या सिद्धपुत्र आदि जो नाम हैं, विशिष्ट श्रावक ही थे। आज तैरापंथी आचार्य श्री तुलसी ने समणी-वर्ग खड़ा किया है। वह वस्तुतः श्रावक ही है। दिग्रम्बरों में प्रतिमाधारी श्रावक होते हैं। एलक, क्षुष्ठक, ब्रह्मचारी आदि श्रेणियाँ हैं। वे मुनि तो नग्न को ही मानते हैं। अपने यहाँ श्रावक की ११ प्रतिमाएँ हैं पर अब वह प्रथा उठ गई है। मेरे अनुदित 'जीवदया प्रकरण काव्य त्रयी' में एक गाधा है—आडीए मयण मत्ताए सेविओं वण कुक्कड़ो तेण सो पिछओ आओं न आडीन च कुक्कड़ो। जो साध्वाचार में नहीं हैं, वे न श्रावक हैं न साधु। चैत्यवास के युग में शिथिलाचार की पराकाव्वा हो गई। मंदिरों में निवास, गद्दी-तिकयों का उपमोग, पान-चर्वण, रात्रि में अमिषेक-नाटक आदि होते, मंदिरों में वेश्या-नृत्य

होता। संबोध-प्रकरण में हरिमद्रसूरिजो ने जिखा है—यतिजन गंडे-ताबीज करते। अपने शिथिलाचारी गुरुओं के चरण आदि प्रतिष्ठित करते. साध्याचार के विपरीत आचरण करते—में अपने शिर की शूल किसके आगे कहूँ !

जब शिथिलता बढ़ी गुजरात में मठाधीश हो गये । राजस्थान तथा दिली प्रदेश में भी हुए, पर गुजरात में. उनका साम्राज्य था, वे राजगुरु थे। सुविहित मुनिजन का वहाँ प्रवेश ही नहीं था। ऐसे समय में बौद्धधर्म जिस प्रकार हीनयान, महायान, वज्रयान आदि में विभक्त होकर भारत भूमि से लुप्त हो गया, उसी प्रकार जैनधर्म की दशा होती । यद्यपि चैत्यवासियों में विद्वान तो थे पर विना चारित्रवळ के पतनोन्मुखता थी । खरतरगच्छ के सुविहित आचार्यों के प्रसाप से जैन शासन बच पाया । वर्द्धमान जिनेश्वर सुरिजी ने पाटण में दुर्लमराज की सभा में उन् मठाधीशीं को हराकर गुजरात में वसतिवास—सुविहित और त्याग मार्ग की परम्परा कायम की । चैत्यवास में जो आत्मार्थी ग्रतिजन थे. खरतरगच्छ की सुविहित परम्परा में आकर उपसंपदा ग्रहण की । कुछ त्यागी दूसरे गच्छों में भी गए, पर उन्होंने सुविहित मार्ग में उपसंपदा नहीं ली थी । हम जिनवल्लभसूरि जिनदत्तसूरि के चरित्र में देखते हैं, कितन। त्यागमय जीवन था । उनके पास आकर जो चैत्यवासी दीक्षित हुए, उन्हें स्पष्ट कह दिया हमारे यहाँ तुम्हारे निमित्त-शास्त्रादि के विविध प्रयोग नहीं चर्जेंगे । उनके तौ सूरिमंत्रादि के प्रभाव से ही वचन सिद्धि थी। इसीसे स्तोत्रादि का प्रमाव चरित्रादि में देखा जाता है। युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में विस्तृत जीवनियाँ है जो प्रामाणिक है और सरतरगुन्छाचायों के चरित्र पर विशद्ध प्रकाश खालती है। जो लोग दादा साहव को यति कहते हैं, वे भ्रान्ति फैलाते हैं। यदि उपर्युक्त दस नाम श्रमण-पर्याय के कहें तो हम उन्हें उसी प्रकार यति मान सकते हैं । वैसे सभी गच्छ के त्यागी आचार्य यति कहलाते थे, श्रीपूज्य कहलाते थे । अकवर के फरमान में हीरविजय सूरिजी को भी यति कहा है। 'श्री यूज्य' शब्द उस काल में सर्वोच्च पद था। गच्छ में उनके नीचे कई आचार्य उपाध्याय होते । श्री पूज्य एक तरह से युगप्रधान पद था ! इसी आहाय से युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में सबको श्री पूज्य लिखा है पर भ्रान्ति न हो । वर्तमान के पदगत आचार में वह गरिमा नहीं ! इसलिए हमने इतिहास में 'श्री पुज्य' का 'पुज्य श्री' शब्द प्रयोग किया है । मुसलमानी काल में कारण वश यतिजनों में शिथिलता आई. पर तपागच्छ और खरतरगच्छ में क्रियोद्धार का अर्थ वही है त्याग प्रधान मार्ग स्वीकार, शिथिलाचार का परिहार ओर यत्किचित परिग्रहादि से सर्वथा मुक्ति । उनके साध्याचार के नियम युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि ग्रन्थ में हमने प्रकाशित किया है. जिन्हें देखने से सब कुछ स्पष्ट हो जायेगा । जिनमाणिक्यसूरिजी ने दादा साहब की देशवर यात्रान्तर के वाद क्रिया-उद्भार करने का संकल्प किया था। पर उनके पदयात्रा, चौतिहार आदि सभी साध्वाचार की ही क्रियाएँ श्री । विपासा-परिषह से ही उनका देह-विलय हुआ । क्योंकि रात्रि में पानी मिलने पर भी उन्होंने जीविहार-व्रत भंग नहीं किया । उनके स्वर्गवास के अनंतर आचार्यपदारुद होकर श्री जिनचन्द्रसुरिजी जैसलमेर से बीकानेर पधारे । त्व ३०० यतियों में से त्याग-वैराग्य वाले १६ शिष्य उनके साथ आये । बाकी को यति नाम रखने का भी अधिकार नहीं रहा । वे मश्रेरण (माथ्रे पर ऋण-पगड़ी पहनाकर) गृहस्थ बना दिये गए । यह धटना उनके साध्वाचार के लिए अच्छा उदाहरण है ।

चौथे पाट पर जिनचंद्रसूरिजी नाम देने की परिपाटी त्यागमार्ग की ही परम्परा थी! हाथी. घोड़ा, चामर, छत्र आदि का लिखा सो वह तो श्रावक लोग जनसे 'सामेले' में ले जाते थे। जनका जनसे कोई संबंध नहीं था! अकबर

િ ૧

की प्रार्थना से महिमराज (मानसिंह) वाचक को काश्मीर विजय-यात्रा में साथ भेजा तो कर्मचन्द्रादि श्रावक मो साथ थे। कर्मचन्द्र मंत्री-वंश-प्रबन्ध में लिखा है कि—

> शाहि निर्दिष्ट सावद्य ध्यापार परिशीलनात् । मुनीनामाव्रताचार विलोपो भवतादिति ॥ औषधिमंत्र तंत्रादि निपुणं दत्तवान समं । पंचाननं महात्मानां विनेयं मैधमालिनः ॥

साध्वाचार की रक्षा के लिए ही महात्मा मैधमाली के शिष्य पंचानन को साथ में दिया था जे वादशःह की सावद्य-संभव आज्ञा को परिशीलन कर संके।

जव वे काश्मीर यात्रा से लौटे तो वादशाह ने कहा--काश्मीर के शीत प्रधान पथरीले पहाड़ी मार्ग में नंगे पाँव पैदछ यात्रा में इनका किन चारित्र देखकर में वड़ा प्रमावित हुआ हूँ—ये चारित्र पालन में दुर्द्धर्ण सिंह सदश शूरवीर हैं। अतः इन्हें आचार्य-पद देकर इनका नाम जिनसिंहसूरि रखिए। ये सब वालें युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि ग्रन्थ को पढ़ने से ध्यान में आ जाएंगी। तत्कालीन काव्य-गीतादि में सर्वत्र उन्हें पंच महाव्रतधारी और शुद्ध साध्चयां वाले लिखा है। श्री पूज्य और यित शब्द का प्रयोग उस काल की चर्यानुसार सही था। आज की बात छोड़िए। उस समय तो 'करेमि मंते जावज्जीव' ही उच्चारण करते थे। आज के श्रावकों की माँति 'जावनियम' नहीं। समयसुन्दर जी शुद्ध साध्वाचार में थे। सं० १६५७ में गुजरात के दुक्काल में थोड़ा पिण्डविशुद्धि आदि में दोप लगने के कारण उन्होंने १६९१ में क्रियोद्धार किया था। जिसका वर्णन उनके गीत में मिलता है। आप समयसुन्दर जी को निःसंकोच पंचमहाव्रतधारी साधु लिखिए। उनकी शिष्य परम्परा भी त्यागी थी। उनके सौ सवा-सौ वर्ष बाद शिक्शत क्रमशः आई। एकाएक तो आई नहीं थी। आप ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह आदि ध्यान से देखेंगे तो सर्व वृतान्त स्पब्द हो जायेंगे।

त्यागच्छ में सत्यविजयजी पन्यास, विनयविजय जी. यशोविजय जी. पदमविजय जी. उत्तमविजय जी आदि संध्वाम में थे। उन्होंने क्रियोद्धार किया। उद्ध सन्य खरतरगच्छ में भी देवचंद्र जी, जिनहर्षजी आदि तथा समयसुन्दर जी के शिष्य परम्परा के साथ विनयचन्दजी आदि अहनदावाद में विचरण करते थे। सं० १५०० के बाद मी जिनलामस्रि जी आदि का पेदल विशर अधिकतर था। जिनमक्तिप्रिजी के शिष्य प्रीतिसागर, अमृतधर्म, क्षमाकल्याणजी आदि हुए जो साध्वाचार का पालन, क्रियोद्धार आदि करते रहे। समय-समय पर यद्यपि शैथिल्य आया पर त्याग वैराग्य वाले क्रियोद्धारी भी हुये। भिनन-भिन्न शाखाओं में सभी क्रियोद्धारक शुद्ध साध्वाचार वाले रहे हैं। देवचन्द्रजी आदि आचार्य-शाखा में तो पिष्पलक में शिवचनद्रसूरि (जिनचनद्रसूरि) हुए जिनका रास ऐतिहासिक जिन काल्य संग्रह में देखिये। खंधकमुनि की तरह उनकी शरीर की चनड़ी खंमात के नवाब ने उतार दी पर कितनी समला से परिवह सहा। वे शुद्ध पंचमहावत्वधारी ही थे।

आपने चोंथे पाट जिनचंद्रसूरि नाम देने आदि को परम्परा का लिखा है। उन शुद्ध पंचमहाव्रतधारियों में ही इन दो सी दाइ सी वर्षों में कुछ शिथिल होने पर भी तपागच्छ और खरतरगच्छ में भी श्री पूज्य ही गच्छqo] नायक होते थे। उनका प्रभाव और आतंक इतना था कि क्रियोद्धारकों को भी उनसे सम्बन्ध रखना पड़ता। तभी तो यशिवजयजी जैसे या देवचन्द्रजी क्षमांकल्याण जी जैसे भी उपाध्याय ही रहे। उनहें आचार्य पद नहीं मिला। आचार्य तो तपागच्छ में आत्माराम जी ही हुए जो कि पहले खरतरगच्छ में आये पर जाट जाति के होने से उन्हें आचार्य पद देने का प्रश्न नहीं था। वे लखनज शाखा के जिनकश्याणसूरि जी महाराज के पास आने को तैयार थे, फिर तपागच्छ में गए। उनका उदय था अन्यथा उस समय तक खरतर/तपागच्छ में एक समान ही साधु संख्या थी। खरतरगच्छ में जिनयशस्त्रि और जिनकृताचंद्रसूरि आचार्य हुए। बाद में अन्य साधुओं में आचार्य पद की परम्परा चली। असल में यतियों में से बहुतों ने त्याग वैराग्य वाले होने से क्रियोद्धार किया है।

मोहनलाल जी महाराज, कृपाचंद्रसूरि, चिदानंदजी आदि शिक्षजीरामजी पायचंद्रगच्छ में भ्रातृचनद्रसूरि तथा त्रिस्तुतिक आचार्य श्री राजेन्द्रसूरिजी आदि भी तो यति ही थे, क्रियोद्धार ही किया है। पर आजकल तो शादीशुदा भी तथाकथित यति होने लगे। वे किसी प्रकार में यति नहीं हो सकते। अगर चार महाद्रत ठीक है, परिग्रह त्यागा तो पंचमहाव्रत धारी साधु हो गए। वर्षमान के साधुओं से दौ सौ वर्ष पूर्व के यति लगेग कोई कम नहीं थे। परिग्रह अत्यलप था। जमाने के अनुसार वे वैद्यक ज्योतिष अध्यापनादि करने लगे। जनके शिष्य इधर सौ अस्सी वर्षों में दिल्कुल अयोग्य हो गए। इसीलिए थली प्रान्त में सब तेरापनथी हुए। क्षेत्र न संमालने के कारण हो गए क्योंकि साधुओं की संख्या नगण्य थी।

राजस्थान-मारवाड़ के सैकड़ों गाँव खरतरगच्छ के थे। वे आज स्थानकवासी, तेरापंथी या अन्य गच्छ के हो गए। त्रिस्तुतिक मी कहाँ से आयें ? तथा अन्य गच्छ भी कहाँ से आए ? गुजरात में भी खरतरगच्छ के हजारों घर थे पर सभी तपा हो गये। खरतरगच्छ की ११ शाखाएँ थी, उनके यति मुनि शेष हो गए। खरतर गच्छादि के यतिजन भी अपने को साधु और मुनि लिखते थे यह अनेक ग्रन्थों तथा पत्रों से प्रमाणित है। अतः पत्र में कितना लिखा जाय. मौखिक चर्चा में एक-एक बात स-प्रमाण कही जा सकती है।

अचार दिनकर, जिनपतिसूरि समाचारी, विधिमार्ग प्रथा विधिकंदली, समाचारी शतक तथा क्षमाकल्याण जी के, मणिसागरजी महाराज के व बुद्धिमुनि जी आदि के ग्रन्थों के अध्ययन करने पर आपको सरतरगच्छा परम्परा व मर्यादाओं आदि का ज्ञान पर्याप्त हो जाएगा। आज अपने सरतरगच्छा वाले श्रावक भी दादासाहब को यित मान है है ये सारी श्रान्तियों दूर करने की है। यित समाज सी दर्भ पहले तक जिस रूप में था, संघ को संमाला तथा उपकार भी किया पर उनके शिथिल होने पर ही इतर सम्प्रदाय बढ़े—इस बात को तो मानना ही पड़ेगा। विद्यता और चारित्रबल दोनों की आवश्यकता है। यित समाज में विद्यता उस समय तक थी, आज तो वे भी निरक्षर मष्टाचार्य रह गये हैं। सरतरगच्छ की गाड़ी कैसे चले ? आजकल जो श्रीपूज्यों की गद्दी कहते हैं पर वास्तव में गद्दी जैसी चीज सरतरगच्छ में तो थी ही नहीं, वह तो चैत्यवासी परम्परा में थी। शाखा मेद को ही गद्दी-मेद कहने लगे। यह केवल १५०-२०० वर्ष के बीच में रूद हुआ है। बीकानेर बड़ा उपाश्रय कोई श्री पूज्यों की गद्दी रूप में नहीं था। पौषधशाला-उपाश्रय शुद्ध साध्वाचार वालों के लिए ही थी। मंखार आदि सब श्रावकों के हाथ में थे। श्री पूज्य तो अन्य स्थान की मौति वर्षों से कभी-कभी आकर चातुर्मास करते थे। जिनलामसूरिजी तक विल्कुल यही बात थी। वे अपने जीवन में प्रायः बीकानेर से बाहर ही विचरे और गुढ़ा में स्वर्गवासी हुए। दादा साहब के प्रभाव से ही जो कुछ हे बचा है। साध्वयों की संख्या फिर भी ठीक है अतः क्षेत्र सम्मालती हैं। साधु संख्या बढ़े, त्याग, वैराग्य, क्रिया पात्रता हो साध्वयों की संख्या फिर भी ठीक है अतः क्षेत्र सम्मालती हैं। साधु संख्या बढ़े, त्याग, वैराग्य, क्रिया पात्रता हो

િ ૧૧

जाय तो आज दूसरों में जितनी दीक्षाएँ हो रही हैं अपने में भी हो सके । इन सब बातों को लिखना व्यर्थ है। आप लोग अच्छी तरह जानते हैं।'''सं० २०४० का माघ सुदी १४ ।

उपर्युक्त पत्र श्री नाहटा जी की विस्तृत इतिहासज्ञता पर संक्षेप में अच्छा प्रकाश डालता है। इसी दंग के मेरे पास उनके और भी पत्र संग्रहित हैं। स्थानामात्र के कारण उन्हें प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है।

इशी तरह नाहटा जी का प्राचीन लिपि ज्ञान भी अत्यन्त विस्तृत है। इतिहास आदि के ज्ञाता तो बहुत मिल जाते हैं किन्तु प्राचीन लिपियों के ज्ञाता अल्प ही हैं। इपीलिए मैं नाहटा जी के विस्तृत ज्ञान में लिपि पक्ष का ज्ञान विशेष महत्वपूर्ण समझता हूँ। वस्तुतः अन्य तथ्यों का ज्ञान तो अनेक माध्यमों से प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु विभिन्न लिपियों का ज्ञान तो शास्त्रों के मन्थन से ही होता है जो कि अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य है। नाहटा जी तो किशोरावस्था से ही इस ओर दिलचस्य रहे, उन्होंने अनेक प्राचीन ग्रन्थों की देवनागरी लिपि में पांखुलिपियाँ की, अनेक स्थानों में जाकर पुरातात्विक शिला-लेखों आदि को पढ़ा । यही नहीं, उन्होंने उन्हें पत्र-पित्रकाओं, पुस्तकों आदि के माध्यम से प्रकाशित भी किया ।

श्री नाहटा जी के जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आये. जत्र उन्होंने अपने कुशाग्र लिपि ज्ञान के द्वारा वर्ड़-बड़े मात्रा वैज्ञानिकों को आश्चर्यचिकत कर दिया । डा० सुनीतिकुमार चटर्जी. पुरातत्वाचार्य मुनि जिन विजय. पं० राहुल सांकृत्यायन, पं० गीरी शंकर ओझा, पुरातत्व वैत्ता अगरचन्द नाहटा प्रमृति विद्वान आपके इस ज्ञान के सदा प्रशंसक रहे। जिन लिपियों को अन्य विद्वान पढ़ने में शक्य न हो सके उनको श्री नाहटा जी ने एक सुदीर्घ सीमा तक पढ़ने में सफलता प्राप्त की । स्थान परिवर्तन, सनय परिवर्तन और लिपि लेखक परिवर्तन होते हुये भी अवैज्ञानिक वर्णमाला को वैज्ञानिक वर्गमाला की तरह नाहटा जी द्वारा पढ़ लेना उनके गम्भीर ज्ञान एवं चिर अभ्यास का सूचक है। मुझे भी प्राचीन लिपियों का जो यत् किंचित ज्ञान है वह वास्तव में श्री नाहटा जी की ही देन है। यहाँ मैं श्री नाहटा जी के द्वारा ही उनके हाथों से लिखित प्राचीन लिपियों का अभिलेख प्रस्तुत कर रहा हैं—

メソントロント

717977 F + J V V M 9 P E h y C O 5 C I P J O P D O T P P C D 48

ग्वभद्रयणव द्रद्रसं वर्ष भन् भन् भ

उपयुंक्त लिपियों में प्रारम्भिक पंक्तित्रय मौर्यकालीन हैं। अर्थात् विक्रिम संवत् २०० वर्ग पूर्ववर्ती हैं। अन्तिम पंक्तिद्वय पालकालीन है अर्थात् लगभग यह १००० वर्ष प्राचीन लिपि है। प्रारम्भिक पंक्तियों में प्रथम पंक्ति में अ आ इउ ए ओ अं है और दितीय पंक्ति में क खग घ च छ ज झ अ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प क व म म. तृतीय पंक्ति में य र ल व स ह है। अन्तिम पंक्तियों में निम्नांकति हलोक है—

ये धम्मा हेतु पमवा हेतु तेवा तथा गतो आह। तेवा च यो निरोधो एवं वादी महाश्रमणः॥

इसी प्रकार के श्रो नाहटा जी के दारा स्वर्स्तिलखित प्राचीन शिला लेखों के एक दो उदाहरण और प्रस्तुत है—

T A A I Ի ሂ T T A ሂ ሲ F V J J J A R L ደ T A C A M Q P J †

TAURLYIOPY, YP & LCAPH OND TLDQ NY 3 34E

まなす ままま みゃしなる みなのら みしらかイをしか 中心 まままま みず イジェ

उक्त अभिलेखों में प्रथम लेख उदयगिरि की हाथी गुफा पर सम्राट खारवैल का है जो कि ईसा से ३०० वर्ण पूर्व का है । इसमें निम्नांकित लेख हैं—

नमो अरहतान नमो सब सिधानं वेरेन महाराजेन महामेघ बाहनेन चेतराज वसवधनेन पसथ सुमलखने (न) चतुरंत लठान गुनोपगतेन कर्लिगाधिपतिना सिरि खारवेलेन ।

द्वितीय लेख मथुरा का सीहनादिक प्रतिब्डापित आयागपट का है। इसमें जिस वात का उल्लेख है. वह इस प्रकार है— नमो अरहंताणं सिहकस वानीकस पुत्रेन कोसिको पुत्रेन सीहनादिकेन आयागपटी प्रतिठापितो अरहंत पूजाये।

श्री नाहटा जी लिपि-विज्ञान ही नहीं, पुरावत्व सम्बन्धी ज्ञान के भी धनी हैं। उन्होंने मूर्तियों, चित्रों, वास्तुकज्ञा तथा लिलितकज्ञा से सम्बन्धित अनेक चीजों का संग्रह किया है जो कि श्रो अभय जेन संग्रहालय. बीकानेर में सग्रहित हैं।

93

श्री नाहटा जी वस्तुतः एक चजता-फिरता पुस्तकालय हैं। उनकी स्मरण-शक्ति तो अत्यन्त विलक्षण है। वर्षों पूर्व देखी, पढ़ी हुई सामग्री उनके मस्तिष्क में सम्प्रतिपर्यन्त ज्यों की त्यों है। उनके पास कोई निजी पुस्तकालय नहीं है, और न ही वे सामान्यतया पुस्तकालय का उपयोग करते हैं। उनका पुस्तकालय निजी है जो कि उन्होंने अपने मस्तिष्क में संजी रखा है।

सचमुच श्री मँवरलाल जी नाहटा का ज्ञान-गांभीयं अद्दभुत है । यद्यपि उनके पास किसी विश्वविद्यालय की उपाधि / डिग्री नहीं है किन्तु उनकी जुलना महान् शिक्षाविदों से की जा सकती है। उनके ज्ञान को किसी उपाधि के अन्तर्गत आबद्ध नहीं किया जा सकता । सागर की अधाहता को धाहबद्ध करना अशक्य है। इतिहास हो या साहित्य. दर्शन हो या भाषा विज्ञान, पुरातस्व हो या अन्य कोई विगय—समग्रता का पुंज है नाहटा जी के व्यक्तित्व में । उनके ज्ञान-गाम्भीयं तथा प्रज्ञा-प्रावीण्य को देखकर मैं तो सदैव उन्हें महापण्डित महोपाध्याय समझता हूँ । एक व्यवसायी होकर भी इतने विपुल ज्ञान के धनी होना उनके व्यक्तित्व की सर्वोच्च विशेषता है।

--मुनि चन्द्रप्रमसागर

श्री देवगुरु धर्म के अनन्य उपासक, जैन शासन-प्रमावक सर्वतोमुखी प्रतिमा के धनी. संस्कृत, प्राकृत, बग, प्राचीन गुजराती, राजस्थानी माषाओं के ज्ञाता, गुणानुरागी, जैन साहित्य की आध्यात्मिक, धार्मिक और ऐतिहासिक ज्ञान-धारा की त्रिवेणी के संगम, साथ ही उदात विचारों की निधि की खान, आदर्श श्रावक का प्रत्यक्ष जंगम बिम्ब, विनय की साक्षात् साकार प्रतिमा, सरलता का जीवित स्वरूप, निरिममानता के मूर्तरूप, श्रीमान् मंवरलालजी नाहटा का अभिनन्दन कर रहे हैं यह जानकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। आपके इस आयोजन का मूरि-मूरि अनुमोदन करते हुये मैं भी मेरे इन धर्मस्नेही बन्धुवर के चिरायु होने की श्री गुरुदेव व शासनदेव से प्रार्थना करती हूँ कि श्रावकरतन श्री नाहटा जी दीर्घायु हों और वे बचपन से जो साहित्य सेवा करते आ रहे हैं, उसमें विशेष संलग्न रह कर अप्रकाशित साहित्य का युगानुरूप संशोधनयुक्त प्रणयन अनुवाद करके भावी पीड़ी को जैन साहित्य की ओर अभिमुख करें।

उनकी सेवा का मूल्यांकन करना मेरी शक्ति के तो वाहर है। उन्होंने जो दुर्लभ ग्रन्थों की खोज कर विद्वत्समूह के सम्मुख रखा है और उन्हें सर्व साधारण के योग्य वनाया है, उसके लिये जैन समाज विशेषकर खरतरगच्छ तो कभी उन्नण हो ही नहीं सकता। नाहटा वन्ध्ओं का यह कार्य सदा के लिये विश्व में अमर रहेगा और स्वर्ण लिपि में निरन्तर लिपिबद्ध होता रहेगा।

—प्रवर्त्तिनी आर्था सज्जनश्री

साहित्य और कला के लिये राजस्थान प्रदेश का बीकानेर नगर विख्यात है। जिसकी गोद में एक नहीं अनेकों सरस्वती पुत्रों ने साहित्य साधना कर अपने नाम के साथ इस मरूभूमि को भी गौरवान्वित किया है। ऐसे ही साहित्यकारों की श्रेणी में नाहटा वन्धुओं का नाम बड़े ही आदर एवं सम्मान के साथ लिया जाता है। स्वर्गीय साहित्य शिरोमणि अगरचन्दजी नाहटा की साहित्य. कला, पुरातत्व सम्बन्धी सेवाएँ युग - युगान्तर प्रेरणादायक बनी रहेगी। वहीं इनके भवीजे परम सम्माननीय साहित्य सेवी, कला उपासक, पुरातत्व प्रेमी श्री भंवरलाल जी नाहटा ने भी साहित्य, कला एवं पुरातत्व सम्बन्धी क्षेत्र में अपनी लेखनी के माध्यम से बड़ी सेवा की है।

पांचवी श्रेणी तक शिक्षा प्राप्त करने वाले साहित्य साधक श्री मंवरलालजी नाहटा ने अव तक हजारों शोधपूर्ण ऐतिहासिक, साहित्यिक, धर्म, दर्शन आदि सम्बन्धी रचनाएं केवल लिखी ही नहीं है अपितु मारत की उच्च कोटि की पत्र-पत्रिकाओं में विशिष्ट स्थान भी पा चुकी है। आपने इतिहास की गहराइयों को जहां छुआ है वहां पुरातत्व की वारीकी से भी अछूते नहीं रहे। जिसके कारण आपने इतिहास एवं पुरातत्व के क्षेत्र में जो कार्य किया वह निश्चित रूप से संग्रहणीय एवं अनुठा ही है।

श्री मंवरलाल जी नाहटा द्वारा प्रकाशित. सम्पादित पुस्तकों व ग्रन्थों की लम्बी सूची भी है। अनेकों दुर्लम ग्रन्थों का अनुताद भी आपने किया है। कई पुस्तकों का आपने स्वर्गीय साहित्य तपस्वी नररत्न अगरचन्द जी नाहटा के साथ सम्पादन, अनुवाद एवं प्रकाशन भी किया है। साधारण शिक्षाप्राप्त धर्मप्रेमी श्री मँवरलाल जी नाहटा के पास विद्यालय की कोई डिग्री नहीं है लेकिन वे हिन्दी. गुजराती, वंगाली, राजस्थानी माना के साथ-साथ संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि मापाओं के ज्ञाता भी हैं। जिसके कारण आपने अपनी लेखनी में जैन साहित्य की अमुल्य सेवा की है। प्राचीन कलात्मक दुर्लम सापग्री को संग्रहित कर आपने प्राचीन ऐतिहासिक वैमव का अनुठा संग्रहालय खड़ा कर दिया है जो भारतीय कला एवं संस्कृति के नये आयाम लिये हुये हैं।

शांत स्वमावी. मधुरभापी श्री मँदरलाल जी नाहटा पर लक्ष्मी का प्यार ते हैं, सरस्वती का दुलार भी है। धर्म आराधना एवं उपासना आपने अपने पूर्वजों से अजित कर रखी है। बीकानेर के नाहटा परिवार में साहित्य और कला उपासकों ने अपना नाम जगत - विख्यात कर रखा है साथ ही इसी गोत में धर्म आराधना, उपासना के लिये संसार के मोह माया के जाल से हटकर श्रमण संयम जीवन प्राप्त करने वालों को भी संख्या कमा नहीं है। यह मेरा मी सौमाग्य ही रहा है कि मैंने भी धर्म निष्ठ, परम आदरणीय श्री मँवरलाल जी नाहटा की प्रेरणा एवं मार्ग-दर्शन के विश्वन प्रेम प्रचारिका, समन्वय साधिका, जैन कोकिला, व्याख्यान भारती, जिनशासन प्रभाविका, सममाव धारिका प्रवित्ती स्वर्गीया विचक्षण जी म० सा० की शिष्या बनने का गौरव प्राप्त किया।

में धर्म आराधक, साहित्य उपासक, कला प्रेमी, संस्कृति रक्षक, इतिहास के रचयिता, पुरातत्व के पंखित, आशुक्वि श्री भँवरलालजी नाहटा को जनकी ७५ वीं वर्जगांठ पर किये जाने वाले अभिनन्दन पर उनके न्वरायु की मंगल कामना करती हुई जिनशासन देव से प्रार्थना करती हुँ कि आप साहित्य एवं सांस्कृतिक सेवा के साथ-साथ जैन शासन की अधिक से अधिक सेवा कर जन-जन में यशस्वी वनें।

—चन्द्रप्रभाश्री

एक प्रसिद्ध व्यवसायी होने पर भी आपके द्वारा जो साहित्य सेवा. समाज सेवा की गई है एवं की जा रही है वह अत्यन्त मङ्ख्यूर्ग है। आप का वाह्य परिवेश-तादगी से परिपूर्ग किन्तु ज्ञान-साधना अति ऐश्वर्यपूर्ण है। निःसंकोच कहा जा सकता है—विद्वता के आप मूर्तक्य हैं। आपकी विद्वता को किसी प्रमाणपत्र की आवश्यकता नहीं है वह तो आप के सहस्रों लेखों, कविताओं, कहानियों में विखरी पड़ी है—जिन्हें पाठक सहज अनुभव करते हैं। लिपिज्ञान, भागाशास्त्र में तो आप पारंगत हैं ही, किन्तु मूर्तिकला, चित्रकला, वास्तुकला, लिलतकलाओं के भी पारखी हैं। इतिहास में विशेष गति तथा अनेक माधाओं के ज्ञाता हैं। अपने जीवनकाल में आपके द्वारा जो विशाल अध्ययन एवं ज्ञान सम्पदा से समाज को विभिन्न दिशाओं में मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है—वह सदैव अविस्मरणीय रहेगा।

· 99

ज्ञानपक्ष के साथ-साथ क्रियात्मक आचरण में भी आप नियमित अप्रमत हैं। धार्मिक आस्था का परिचय आपकी दैनिक प्रवृति देती है। इस समय स्व० अगरचन्द जी नाहटा जो आपके काकाजी थे उन्हें स्मरण किए बिना नहीं रह सकते। नाहटा परिवार में नाहटा बन्धद्वय ने जीवन में ज्ञान व आचरण का समन्वय रूप आदर्श उपस्थित किया है।

—मणिप्रभा श्री

आज से ११ वर्ष पूर्व छत्तीसगढ़ के पंडरिय। तहसील में संपन्न ग्रीध्मकालीन प्रांतीय जैन शिक्षण शिविर के समापन समारोह का श्री अगरचन्द जी नाहटा की अध्यक्षता व श्री मैंवरलाल जी का मुख्य आविश्य निला था। पश्चात् पिछले वर्ष दिली वर्षावास के मध्य कुछ समय मुठाकात-वार्ता हुई।

उक्त अल्पकालीन सम्पर्क में यह अन्देशा किया कि आप वित्त व विद्या की संपन्नता के साथ-साथ विनम्रता विवेक, विश्वास, विलक्षणता की साकार प्रतिमा हैं। व्यवहार की सरलता है, वाणी में दढ़ता है, वृद्धावस्था के बावजूद आपकी नशों में युवकों सी प्राणवत्ता है। यद्यपि युगप्रधान प्रथम दादा गुरुदैव जिनदत्तसूर जी द्वारा संस्थापित गोत्र नाहटा ही ना-हटा (कर्तंव्य के प्रति दड़ संकल्पों) का द्योतक है वही शोणित आपकी रंग-रंग में समाहित है।

निष्कर्धतः आपके अथक प्रयत्नों से विश्वसाहित्य को महत्वपूर्ण उपलब्धि हुई है। आपकी बुद्धि सरिता के मुहाने पर ज्ञान एवं कला का अद्वितीय संगम है फजस्वरूप वस्तु, शिल्प, मूर्ति, लिलत चित्रकला के साथ ही इतिहास विज्ञान, अन्वेपणरुचिता, दुर्लम माषा, साहित्य तथा प्राचीन लिपियों के सहस्रोसहस्र गूड़तम तथ्यों का रहस्योद्घाटन कर अनुवम अमूल्य निधि समर्पित की है जो पुश्त-दर-पुश्त आपकी चिर-स्मृति लिये साहित्य प्रेमियों को दिशाबोध कराती रहेगी। अभिनन्दन के इन क्षणों में शासनेश से प्रार्थना है कि श्रीयुत् नाहटा जी दीर्घ अवधि तक अपनी ज्ञान-प्रभा से जनमानस को आलोकित करते रहें। समाज पूर्विक्षा उनसे अधिक लामान्वित होकर एक दीप से हजारों दीय ज्योंतित करें। यही मंगलकामना।

—मनोहरश्रो

ं श्री नाहटाजी सा॰ पूर्वापेक्षा अधिक जिन साहित्य सैवा मैं अग्रसर हों और उन्हें गुरुदेव खूब सुयश प्रदान करें, यही शुमकामना है । —साध्वी प्रधान अविचलश्री, विनीताश्री, सुरंजनाश्रीआदि

संवत् १०५० से चला आ रहा खरतरगच्छीय वाङ्वय जो ज्ञान मंडारों में संग्रहित था, जिसकी जानकारी भी विद्वानों को नहीं थी उन ग्रंथों को प्रकाशन में लाने का कार्य श्रीमान् श्रेब्ठीवर्य अगरचंद जी नाहटा एवं मंवरलाल जी सा० नाहटा ने किया । हालांकि ये व्यावसायिक विणक् हैं, व्यापार धंधा इनके जीवन-निर्वाह का साधन है फिर भी साहित्यक रुचि अनुकरणीय, अनुमोदनीय व प्रशंसनीय है। इनकी साहित्य सेवा खरतरगच्छ जेन समाज के लिए अविस्मरणीय है। ये संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, मारवाड़ी आदि के ज्ञाता तो हैं ही साथ ही कवि भी हैं। महामहो-पाध्याय समयसंदर जी, जिनहर्वगणि, जिनभद्र गणि, जिनप्रभसूरि, ज्ञान सागर उपाध्याय, जिनवर्धनसूरि आदि अनेकशः विद्वानों पर आपने शोधपूर्ण कार्य किये। जैन संस्कृति की सुरक्षा के लिए आप हमेशा तैयार रहे हैं। यहाँ तक कि मुझे भी शोध कार्य में निरन्तर प्रेरणा देते रहे हैं। आपके निर्देशन में 'खरतरगच्छीय साहित्य कोश' बनाने का संकल्प किया है। गुरुदेव से यही कामना है कि ऐसे साहित्य सेवी, कर्मठ कार्यकर्ता को दीर्घाय प्रदान करें।

—सरेखाश्री

I am glad to learn on Shri B'ianwarlal Nahata's reaching the age of Seventyfive, his friends in Calcutta are felicitating him through an Abhinandan Granth. I have pleasure in extending my felicitations to him on this occasion, together with my best wishes for his good health and continued service to the many public causes with jwhich he is associated.

-R. Venkataraman Vice-President of India

The Prime Minister Shri Rajiv Gandhi is pleased to know that Shri Bhanwarlal Nahata Abhinandan Samaroh Samity will be publishing the Abhinandan Grantha in honour of Shri Nahata on his 75th birth anniversary. He sends his good wishes to the Samity on this occasion.

—Rajeshwari Tandon Social Secretary to PM, Govt of India

श्री नाहटा जी राजस्थान के साहित्य जगत की विभूति हैं। उनका सम्भान प्रदेश का सम्मान है।

-- सहमी कुमारी च्यादात

सदस्या, राजस्थान विधान समा, जयपुर

l am delighted to know that Shri Bhanwarlal Nahata Abhinandan Samaroh Samity has decided to felicitate Shri Bhanwarlal Nahata, an eminent linguist on his 75th Birth Anniversary.

I send my good wishes for this noble endeavour.

-Kalpana Dasgupta Librarian, National Library, Calcutta.

Shri Bhanwarlal Nahata is well known for his rich and valuable contribution as a Scholar of various oriental languages and possessing deep insight for old scripts, as also, for his historical knowledge and as an expert on antiquities. During the course of several years he has studied thousands of old manuscripts in various languages and scripts and by translating them has brought to light many hidden treasures from old literature of various languages and scripts adding to the cultural heritage of the country and establishing himself as a scholar of his own kind.

I take this opportunity of wishing him a long life to continue to be of valuable service to the community as a whole.

-- Sawai Bhawani Singh of Jaipur MVC
City Palace, Jaipur

90

श्री अगरचन्दजी एवं श्री भँवरलाल जी नाहटा दोनों दन्धुओं ने जैन साहित्य को जन-साधारण की भाषा में गद्य-पद्म के रूप में लिखकर, इतिहास का शोधन कर समाज पर वहुत बड़ा उपकार किया है।

गत वर्षं अनायास ही उनसे पालीताना में भेंट हो गईं थी। उनकी बड़ी कृपा थी कि उनके अमूल्य समय में से लगभग १॥-२ घंटे का समय मुझे मिला और पालीताना में खरतरगच्छ के पूर्व काल के प्रमाव का और प्रसंगानुसार भारतवर्ष में खरतरगच्छ के प्रमाव का रोचक एवं तथ्यपूर्ण इतिहास जाना। उन्होंने इसको लेखबद्ध किया या नहीं नहीं जानता पर ऐसी कई बातें जो उनकी जानकारी में हैं उन्हें लिपबद्ध किया जाना आवश्यक है।

श्री मैंवरलाल जी नाहटा उत्तम पुरुष हैं। उनके मन में जैन धर्म का जैसे भी हो पोषण. रक्षण, प्रसार हो यह भावना बनी रहती है। उनके जीवन के प्रत्येक कार्य में उनका यह भाव प्रगट होता है। इसीलिये उनके जीवन में स्वार्थ गीण है। उनकी क्रियाएं उचित हैं। इमेशा अदीन भाव से रहते हैं। कोई भी कार्य प्रारंभ करने के पूर्व उसके परिणान का आकलन कर लेते हैं, अपने आज्ञय के प्रति हुढ़ हैं, उनका कोई छोटा सा भो उपकार करे तो वे उसको मूलते नहीं।

ऐसे गुणवान, गुणानुरागी महानुभाव का आपने अभिनन्दन समारोह के रूप में गुणानुवाद किया और मुझे भी उनके आंशिक गुणों का वर्णन करने का अवास दिया, इसके लिये मैं आपका आभारी हूँ।

—विमलकुमार चौरङ्गि प्रान्त संघ चालक, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, भानपुरा, म० प्र०

श्री नाहटाजी अपने आपमें एक वृहद्भ मानवज्ञानकोश हैं और उनके कार्यों ने विश्व साहित्य समाज में कीर्तिमान स्थापित किये हैं। इस प्रकार की विश्वउंद्य विभूति का जितना सम्मान किया जाय किम है।

> —अनिल शर्मा काउन्सिलर, कलकत्ता म्युनिसिपल कार्पोरेशन

श्री नाहटाजी हनारे समाज एवं देश के गौरव हैं और वे केवल व्यक्ति ही नहीं, एक महत् संस्थान हैं । हमारे अनेक दुर्लभ प्राचीन प्रन्थों को, जिन्हें पढ़ पाना दुष्कर था। उन्होंने अपनी प्रतिमा से उनकी स्वतन्त्र वर्णमाला तैयार कर उस धरोहर को देशवासियों के लिये सुलम कर दिया। इस कार्य के लिये वर्तमान ही नहीं, मविष्य की भी सारी पीढ़ियां इनकी चिर ऋणी रहेगी।

—शान्तिलाल जैन काउन्सिलर, क्लकत्ता म्युनिसिपल कार्पो**रेशन**

पितामह स्वरूप नाहटाजी हम सबके प्रेरणा स्रोत हैं। उनकी बहुआयामी प्रतिमा की महासागरीय विशालता पूर्व गहनता साधारण व्यक्ति की कल्पना क्षमता में नहीं सना सकती। हम तो तटवर्ती लहरों के स्पर्श-सुख में ही जीवन की अलौकिक सम्पन्नता एवं आनन्द की अनुमूर्ति से अभिमूत हो उठते हैं। अतीत की दिव्य अनुमूर्तियों को अतिमानवीय चेतना से सम्पृक्त कर वर्तमान का अभिषेक करने वाले महान पुरोधा की साधना के शाक्ष्वत आलोक की प्रमा का अभिनन्दन कर भावी पीढ़ियाँ अपनी पहचान को अधिकाधिक संशक्त एवं समुज्जवल बना सकेगी—इसी विश्वास के साथ नाहटाजी के त्रिकाल व्यापी व्यक्तित्व के प्रति खड़गपुर जैन समाज अपना शतन्श्वत प्रणाम निवेदन करता है।

—भीखमचंद कोचर मंत्री. श्री जंन स्वेताम्बर संघ, खडापुर

इस मंगल कार्य हेतु स्वयं मेरी तथा श्री अ० मः० साधुमार्गी जैन संघ की ओर से हार्दिक शुभकामनाएँ स्वीकारें। मैं शासनदेव से उनके शतायु होने की प्रार्थना करता हूँ।

-- बम्पालाल खागः

कोषाध्यक्ष, श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद् परिवार को तरफ से श्रीमान् नाहटा जी के चिरायु होने की मंगल कामनः करता हूँ। श्री नाहटा जी की अनुपम सेवार्ये दीर्घकाल तक साहित्य जगत को प्राप्त होती रहे, ऐसी प्रभु से कामना है।
—सेवालाल खागा

सहमंत्री, अखिल भारतीय तेरापन्थ युवक परिषद्, गंगाशहर (बीकानेर)

धार्मिक व सामाजिक क्षेत्र में श्री नाहटाजी सा० का विशाल योगदान रहा है. वो भी अखिल मारतीय स्तर पर । श्री नाहटा जी सा० मेरे पूज्य पिताश्रो रामलालजी सा० लुणिया के समकक्षी सहयोगी रहे हैं। हमारे यहाँ उनके काकाजी साहित्य-वारिति श्रो अगरचन्दजी नाहटा का बहुत आना-जाना रहा था तथा श्री भँवरलालजी सा० नाहटा भी यदा-कदा उनके साथ ही पधारते थं. किसी न किसी संस्था के सन्दर्भ में सलाह मशविरा करने के लिये । मेरा जब भी उनके साथ साक्षात्कार हुआ मैंने उन्हें गम्भीर. चिन्तनशील विदान की छवि आलोकित करते पाया। उनके सुलझे हुए विचारों की क्रियान्विति रचनात्नक रूप से हो, समय से हो, यही उनकी विशेषता रही, जिससे श्री नाहटा जी सफलता के चरम शिखर पर पहुँ चे हैं।

धर्म और समाज-सेवा के कतिपय कार्य जो ऐतिहासिक महत्व के लिये गिने जाते हैं. उनमें श्री जिनदत्तसूरि सेवा संघ के मंत्री के रूप में विभिन्न स्नारकों का निर्माण है जैसे आचार्य श्री हिरिमद्रसूरि स्मृति मन्दिर, चित्तोङ्गढ़ (राजस्थान) एवं मुगल शहंशाह अकबर प्रतिबोधक दादा गुरुदेव १००५ श्री जिनचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के स्वर्ग-स्थली. विलाङा (राजस्थान) में मत्य दादाबाङी । इन्हें बनाने की योजना के विचार-विमर्श एवं समाज के अग्रजों से सम्पर्क हेतु आपका अजमेर आगमन होता ही रहता था। आप ही की देखरेख में हरिमद्रसूरि स्मृति मन्दिर का मत्य स्मारक दना व श्री जिनदत्तसूरि सेवा संघ ने प्रतिष्ठा कराने का श्रेय लिया तथा स्मारिका भी छपाई । श्री जिनचन्द्रसूरि दादाबाङी एवं देशसर का मत्य

[9**९**

निर्नांग, प० पू० स्व० महाराज श्री १०५ श्री विवक्षणश्रीजी म० सा० की प्रेरण से श्री रामलालजी सः० लुणिया ने अपने हाथों में लिया। जयपुर के प्रसिद्ध रहन-पारखी समाज-सेवी श्रो राजरूपजो सा० टांक व विलाजा, जोधपुर, पिपाइसिटी आदि स्थानों के आगेवानों को साथ लेकर अखिल भारत के सहयोग ये चपुर्थ दादा गुरुदेव की महय दादाबाड़ी का निर्माण हुआ। व प्रतिष्ठा हुईं। उस दिन सकत स्वेताम्बर श्री संघ ने हमारे नायक श्री अंवरलाल जी नाहटा के सुरद्र हाथों में इसकी प्रवन्य व्यवस्था सौंप दो थी। आज थोड़े से समय में यह दादाबाड़ी अखिल भारतीय स्तर पर गुरुदेव-भक्तों के दर्शन, पूजन का श्रद्धापूर्ण तीर्थ वन गया है। इसका श्रेय श्री मँवरलाल जी नाहटा की दूरदिशता पूर्ण मार्गदर्शन की ही है। रतलाम में प० पू० महाराज श्री १०५ श्री विवक्षणश्री जी म० सा० की चिर-वांधित संस्था 'श्री सुखसागर गुरुकुल" की स्थापना का श्रेय भी श्री मँवरलालजी सा० नाहटा को दिया जाएना। इस संस्था से जन छ।त्रों को आधुनिक श्रिक्षा के साथ रवनात्मक कार्यों एवं धार्मिक क्रिया-कलारों के साथ जीवन सफल बनाने का मार्ग-दर्शन मिलता रहा है। श्रिक्षा प्रेम का इससे बढ़िया उदाहरग और क्या हो सकता है।

साहित्य के द्वारा जैन समाज को आपकी देन, "कुशल निर्देश" मासिक-पत्र है जिनका वर्गन करना भी अति-आवश्यक है। आप ही के विद्वतापूर्ण सम्पादन एवं कुशल व्यवस्था से यह पत्र समाज में अपना उच्च स्तर कायम रखते हुए वर्गों से सेवारत है। मूलतः वीकानेर (राजस्थान) के वासी होते हुए तथा व्यापारिक व्यस्त जीवन का कलकत्ता महा-नगर में निर्वाह करते हुए आपने लक्ष्मी एवं माँ सरस्वती की आराधना में अपना जोवन लगाया यह स्तुत्य है। सबसे बड़ी वात है इन सभी व्यस्ततापूर्ण स्थिति में भी ब्रापकी समाज सेवा एवं धर्म में गहरी निष्ठा जाग्रत रही है। आपका संक्रिय संहयोग समाज के हर वर्ग एवं हर संस्था को मिला और आपके औदार्यपूर्ण व्यक्तित्व से संदल भी मिला।

मापा-शास्त्र. लि.पि-विज्ञान, चित्रकला एवं लिलत्रकलाओं के पारखी, विलक्षण प्रतिमा के धनी श्री मँवरलालजी साठ नाहटा के समन्वय प्रेम, कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तिस्व को दिव्यमान रखते हुए कित्वय उद्गार, श्रद्धा-सुमन के रूप में अर्थित करते हुए हम आज हमारी संस्था की ओर से श्री नैंवरलालजी साठ नाहटा का हार्दिक वहुनान करते हैं तथा परम पूज्य गुरुदेव महाराज से प्रार्थना करते हैं कि धर्मनिष्ठ नाहटा जी साठ शतायु हों व समाज उनकी प्रतिमा एवं मार्गदर्शन से लामान्वित होकर प्रगति करता रहे।

—अमरचन्द लुणिया अध्यक्ष, श्री जिनदत्तसूरि मण्डल. अजमेर

मंवरलाल जी नाहटा सूं म्हारी मिलग री मोकी कदेई पड़ची कोनी, नीं कोई जोग कदें मिलण री हुयी हां वारा स्वर्गीय काका श्री अगरचन्दजी नाहटा सूं केई बार मिलणों भी हुयों और केई विषयां माथे पत्र व्यवहार भी पण वारें भतीजें मंवरलालजी री नांव म्हारें वास्ते असेंधी हुवे आ बात नीं। महें तो कांई राजस्थानी रो सायद ही कोई अड़ो सजग पाठक हुवंला जो मंवरलाल जी नाहटा रो नांव नीं सुण्यों हुवे। मिलण रो जोग तो हुवे भी कियां वे राजस्थान सं कानकप देस में, कलकत्ता नगर में आपरी वोपार संभालें। आपरी जलमभोम बीकानेर सूं अता दूर रहता थकां भी वे आपरी मायड़ भाषा खातर आपरें हिये में पूरी पीड़-पाळ राखी अर राजस्थानी साहित्य रो सिरजण करची अर उणरी

अंवेरभी करी। मँवरलालजी नाहटा राजस्थानी रे आपुनिक लाहित्य रे सिरजग रे साथै राजस्थानी रे पुरांणे साहित्य रो संग्रह अर संरक्षण रो मेहलाज कांम करबो। मेंवरलालजी अर आंरा कांका अगरचन्दजी नाहटा औ दोनूं मिळ'र पाण्डुलिपियाँ रौ जो संग्रह करबो वो आज भी "अभय जेन ग्रन्थालय वीकानेर" में सुरक्षित है। इये ग्रन्थ में कोई भ्रद-५७ हजार नेंड़ी हस्तलिखित पोथियाँ मेळी करीजी जिको अपणे आप में वोत वडी काम है।

अंक बात अठै महें आ भी कैवगी चावूं के मँवरलालजी नाहटा साहित्य सिरजण अर ग्रन्थसंग्रह रे साथै आपरी पुरतैनी धंधी भी अठै ढ़ंग सूं संमाळियों। भँवरलालजी इण काम धंधा अर आपरा वोपार ने जे नी संमाळता तो अगरचन्दजी नाहटा सायद ही इती साहित्य लेखन रौ कांम कर सकता। क्यूंके अगरचन्दजी नाहटा ने साहित्य लेखन रौ इती अवसर नी मिळतों। इण मांत मँवरलालजी आपरे काकाजी अगरचन्दजी ने साहित्य सिरजण सारू पूरी अवसर देय जो अमोजो सेयोग दियो वो भी सरावग जोग जिण री वजह सूं हैं। आ रचन्दजी नाहटा आपरो पूरी जीवण साहित्य रै नाम सप्रयित कर सक्या। काका रे जातर मतोज रौ और त्याग अर माव बखाणण जोग। राजस्थानी रा लाडेसर आं दोनूं काका मतीज रा वखांग करां जिता ही थोड़ा।

मॅवर**लालजी नाहटा रें इण अमिनन्दन** अवसर माथै म्है मायङ्माजा रा हेलाळ् सपूत री इम **सबदां में अ**मिनन्दन करूं —

समझगहःर सुजांग, वीकाणै रौ बांकुरी। धना'र विद्या र पांण, ओळख वणाइ आपरी॥१॥

गरवी घणे गुमेज, गुवाड़ ज नाहटां तणी। भँवर अगर रै काज, अँजसै रजशांनी अजै॥२॥

भँवर जिसो भतरीज. हरस्यो अगर रो हिवडो । रूड़ी वणी आ रीझ. काका नै भतीज तणी॥ ३॥

भँवर भरिया भण्डार, पूर पुरांणी पोश्चियां। सिरजण रौ सुअधार, रजधानी ने थैं दियों ॥ ८ ॥

भंदर पणां रौ भेस, भंदर पदै न धारियौ। मुळकै मरूधर देश, नर नाहट जुझ कारणे॥ धु॥

सुरसत तिक्षमी दोय, अंकण साथ अराधणौ। कसर न राखी कोय, सांचे मन सेवा करी॥ ६॥

> विक्रमसिंह गून्दे ज राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर

> > [२१

श्री मैंवरलालजी नाहटा से मेरी मुलाकात केवल एक वार की है। सामान्य से मारवाड़ी पहनावें में वे एक सैठ तो लग सकते हैं. पर वे इतने वड़े सरस्वती पुत्र हैं. यह कलपना ही दुरुह है। लगता है स्वयं सरस्वती ने आश्रय खोजते-खोजते शककर श्री मैंवरलालजी को ही अपना आश्रय स्थल वना लिया है। उनके पास अकादमीक शिक्षा की कोई डिग्री नहीं है, इसके वावजूद वे हिन्दी. संस्कृत, प्राकृत, वंगला तथा राजस्थानी के उद्भट विद्वान हैं।

उन्होंने बहुत लिखा, विभिन्न विद्याओं में लिखा । कहानी, संस्मरण, शोध-प्रवन्ध और कविता में उनकी कई पुस्तक प्रकाशित हैं । उन्होंने जितना लिखा, वह व्यक्ति के रूप में नहीं, एक नाहटा वन्धु के रूप में लिखा और इसीलिये श्री अगरचन्दजी नाहटा के नाम से जाने-पहचाने प्रचुर साहित्य में उनका वहुत बढ़ा भाग है। यह अलग नहीं किया जा सकता है यानि जितना साहित्य उनके नाम से जाना जाता है वे उससे कहीं अधिक के लेखक हैं।

श्री नाहटा जी जितने वड़े विद्वान हैं, उतने ही विनम्न और समर्पित वृत्ति वाले भी हैं। उनका लेखन आधिक अर्जन के लिये तो हुआ ही नहीं है, यश्-प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी नहीं हुआ है। यद्यपि बीसवीं सदी के इस नौवें दशक में यह तथ्य स्वीकार करने को मन नहीं मानता है, पर यह सर्वथा सत्य है। श्री मँवरलालजी नाहटा समर्पित साहित्यकारों की उस कड़ी में अग्रणी हैं, जो समय की परतते आच्छादित नहीं होंगे। उनके ७५वें जन्मदिवस के अवसर पर मेरी कानना है कि हमें उनकी शताब्दी मनाने का भी अवसर प्राप्त हो।

—हर्षचन्द्र संपादक, कशालोक, टिल्ली

श्री भँवरलाल नाहटा की समाज-सेवा से परिचित हैं। उन्होंने सभी समुदायों के हित के लिए कार्य किया है। ऐसे प्रतिभाशाली और क्षमतावान व्यक्ति का अभिनन्दन करना ही चाहिए। मेरी शुभकामनाएं।

> —राजेन्द्र अवस्थी कादंविनि. नई दिल्ली

श्री न।हटा जी ने अपनी प्रतिमा, अध्ययन, चिन्तन तथा मनन द्वारा तथा अज्ञात ग्रन्थों की खोज. संपादन तथा अनुवाद द्वारा जिन शासन का गौरव बढ़ाया है। मैं उनकी हीरक जयन्ती के अवसर पर हार्दिक मंगल कामना करता हूं। —ज्ञानचन्द जैन

सम्पादक, .तारणवंध, भोपाल

श्री भँदरलालजी नाहटा एक प्रतिमावान भाई हैं। आप संस्कृत- प्राकृत, पाली, हिन्दी, वंगला, गुजराती और राजस्थानी भाषाओं के अच्छे जानकार हैं। साथ ही आपका लिपि-ज्ञान भी अद्भुत है। आपने अनेकों लेख और कई पुस्तक भी लिखी हैं। इतिहास की खोज में भी आपकी अधिक रुचि है।

इस मंगळमय अवसर पर हम भी नाइटाजी के दोर्घजीवी होने की प्रार्थना करते हैं । साथ ही नाइटा जी को 'जैन रहन' की उपाधि से अलंकृत करने का प्रस्ताव पेश करते हैं ।

—जवाहरलाल लोदा

सम्पादक, ३वेसाम्बर जैन, आगरा

श्री मँवरलाल नाहुटा जसे कम ही व्यक्तियों की वैश्य सामज में सरस्वती का सीमाग्यशाली पुत्र बनने का शुमाक्सर मिनता है। वे आना कार्य करते हैं, सम्प्रान या यश के लिये नहीं, अपितु साहित्य के विकास के लिय, वो भी आंतरिक मूख और इंद्र संकल्प के साथ। स्वयं सरस्वती साधना से प्रसन्न होकर ऐसे व्यक्तियों की मार्ग-प्रदिशका बन जाती है। धनिक, उद्योगपति, व्यवसायी गली-गली में मिलते हैं, किन्तु सरस्वती के सच्चे साधक दुर्लम होते हैं।

हमें उनका सम्मान कर नयी पीढ़ी को उनकी तैजस्विता एवं साधना से परिचित कराना है। सरस्वती की उपासना करने वाले के अभिनन्दन में मेरा भी स्वर साथ है।

—कृष्णचन्द्र अग्रवाल

सम्पादक, दैनिक विश्वमित्र, कलकत्ता

यह सुनकर वड़ी प्रसन्नता हुई कि पूज्य भाईजी श्री मैंवरलाल जी नाहटा की ७५वीं वर्षगांठ 'अमृत-महोत्सव' के रूप में कलकत्ता के प्रवुद्ध नागरिकों की ओर से मनायी जा रही है । वैसे सन् १९७६ ई० में स्वनामधन्य स्व० अगरचन्द्र जी नाहटा को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया था—तंयुक्त रूप से आपका भी अभिनन्दन 'नाहटा बन्धु अभिनंदन ग्रन्थ' के रूप में किया गया था।

हमारे नाहटा परिवार में दूसरी पीढ़ी में मंवरलालजी ही उम्र में सबसे बड़े हैं इसलिये सभी भाई जी के नाम से इन्हें युकारते हैं। जिस वर्ग मेरा जनम हुआ उसी वर्ण भाईजी का विवाह छोटा देवी से हुआ था। इनकी गोद में में पला हूँ—और वचपन से ही न जाने क्यों मेरे मन में इनके प्रति श्रद्धा, प्रेम एवं अटूट विश्वास रहा है।

भ ईंजी गृहस्थ में होते हुए भी संत पुरुष हैं। इनके चेहरे पर कभी क्रीय की लालिमा नहीं देखी। जो कुछ भी साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व का काम किया अपने चाचा अगरचन्दजी नाहटा के साथ संयुक्त रूप से किया किन्तु स्वयं निलिप्त भाव से रहे, सभी चाचाजी के चरगों में समिपित कर रखा था। इनकी कभी भी यह आकांक्षा नहीं रही कि इनका नाम हो, इन्हें यश मिलो। यह एक ऐसा मानवीय गुग भाईजी में है, जिसकी कोई दूसरी मिशाल नहीं।

माईजी का सारा जीवन सत्यानिष्ठा से ओत-प्रोत है, कमी झूठ या गलत वात का सहारा नहीं लिया। या तो मीन रहे या स्वष्ट रूप से खुळप-खुळा कहा । आपने मुझे एक दिन एकान्त में बताया—मैंने जीवन में कोई गऊत काम नहीं किया। एक-दो वातें अनजाने में हो गई, उसका अभी भी मैं पश्चाताप कर रहा हूँ।

भ ईजी का अनेक संस्थाओं से सम्बन्ध है। जो पद भार ग्रहण करते हैं उसको कर्त्तव्यनिष्ठा से निभाते हैं। कठकता जैन समाज के ही नहीं, भारतीय जन समाज के साहित्यसेवी, समाजसेवी, धर्मानष्ठ श्रातक है। अपने निकटतम लोगों के विषय में कठम से लिखना बड़ा दुष्कर कार्य है, इसलिये कलम को यहीं विश्राम देता हूँ। प्रभु से प्रार्थना है—आपका सानिनध्य, वरद हस्त युगों-युगों तक हम सब पर छत्र छाया बनाये रखे।

—हजारोमल **बाँ**ठि**या**, कानपुर

િરરૂ

जानकर अत्यन्त आनन्द हुआ कि श्री भँवरलालजी नाहुटा का अभिनन्दन हो रहा है।

श्री नाहटाजी ने जो साहित्यसेवा की है वह बहुत काल तक याद रखने वाली है। न मालूम किसने नये ग्रंथों के जपर लेखकों की खोज उन्होंने अपने व्यापारी जीवन में व्यस्त रहकर भी की है. उसका अंदाजा लगाना भी कितन है। कई मण्डारों को उन्होंने टटोला और उनमें से रत्नों की खोज की है। आनेवाठी पीढ़ी के लिये जो सामग्री उन्होंने जुटाई वह इतनी है कि उस पर कई विद्वान शोध करने जुट जाए फिर भी उसका अन्त आने वाठा नहीं है। एक ही व्यक्ति के इतने शोध-प्रबन्ध अन्यत्र दुर्लभ हैं। मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ।

🗝 पं दलसुख मालवणिया, अहमदाबाद

श्री भंवरलाल नाहटा की सेवाएं बड़ी व्यापक है। उन्होंने जेन साहित्य को ही नहीं, जैन संस्कृति और जेन दर्शन को भी समृद्ध किया है। उनकी लेखनी बराबर गतिशील रहती है, कभी विश्राम नहीं लेती। उन्होंने अनेक विश्रयों पर साहित्य की रचना की है, आज भी कर रहे हैं।

वस्तुतः वे मानते हैं कि व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। आत्मोन्नति के साथ-साथ लोक-मंगल के लिये भी उसे कुछ करना चाहिये। यही कारण है कि वे समाज की चेतना को जागृत करने के लिये अपने सारगमित विचार अपनी विशिष्ट शेली में देते रहे हैं।

मुझे यह जानकर आरचर्य-मिश्रित हर्व हुआ कि प्राचीन छिपियों को पढ़ने की उनमें विलक्षण क्षमता है। इससे उनकी मौलिक सूझबूझ का स्पष्ट पता चलता है।

श्री नाहटाजी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे असामान्य होने पर मी सामान्य हैं । वे निरिममानी हैं हैं, विनम्न हैं, सादगी-प्रिय हैं और मधुर-माबी हैं। अपनी विद्वता को उन्होंने कभी भार नहीं बनने दिया। सहज जीवन जिया है, आज भी वैसा हो जी रहे हैं।

> —यशपाल जैन सस्ता साहित्य मंडल, नयी दिक्षी

संसार में अधिकतर व्यक्ति ऐसे हैं जिनपर न सरस्वती की कृपा है और न श्रद्धमी की। कुछ एक सरस्वती के कृपा-पात्र होते हैं तो लक्ष्मी उनसे विमुख रहती है, और जो लक्ष्मी के कृपापात्र होते हैं उनधर सरस्वती की कृपा नहीं होती। ऐसे उदाहरण अत्यन्त तिरल होते हैं जब कोई व्यक्ति सरस्वती एवं लक्ष्मी दोनों का एक साथ कृपापात्र हो। ऐसे ही विरले महाभाग सज्जनों में श्रीष्टिवर्य मंवरलाल नाहटा तथा उनके अनन्य सहयोगी एवं समे चाचा स्व० अगरचन्द नाहटा रहे। दोनों को ही शिक्षा-दीक्षा अतिसाधारण, स्थानीय शाला की पांचवी कक्षा तक ही रही। पारिवारिक व्यापार व्यवसाय जन्मस्थान बीकानेर में ही सीमित नहीं था, वंगाल व आसाम पर्यन्त विस्तृत एवं पर्याप्त उन्नत रहता आया। दोनों ही उक्त व्यापारिक संस्थान के कर्मठ एवं सफल संचालक रहे। प्रायः नगण्य-सी शैक्षणिक पृष्ठ-भूमि और गाईस्थिक एवं व्यवसायी व्यस्तताओं के रहते विविधकता एवं विपुल साहित्य-साधना के लिये अवकाश निकाल लेना



धर्मपत्नी श्रीमती जतनदेवी के साथ श्री नाहटाजी

उनकी उत्कट जिज्ञासा, अद्भुत प्रतिमा और स्वान्तःसुखाय विद्याव्यसन में अथक अध्यवसाय का ही परिणाम था । फलतः ये नाहटा बन्धु शीघ्र ही विद्वद्वजगत के प्रकाशमान नक्षत्र बनकर चमक उठे।

बन्धवर स्व॰ अगरचन्द नाहटा के साथ हमारा सम्पर्ज, पत्राचार तथा विचारों आदि का आदान-प्रदान सन् १९८० के कुछ पूर्व ही प्रारंभ हो गया था। जन्हीं के माध्यम से शनेः शनेः उनकी साहित्यिक एवं शोध-खोज विजयक प्रवृत्तियों में उनके निकट सहयोगो श्री मंदरलाल नाहटा के साथ भी परोक्ष सम्पर्क वृद्धिगत हुआ। प्रारम्भ में हम उन दोनों को सहोदर समझते रहे—कई वर्ष वाद रहस्य खुला कि वे चाचा-मतीजे हैं ' अगरचन्दजी यात्रा वहत करते थे, अतरव अनेक जैनाजेन विद्वानों के साथ उनके साक्षात् सम्पर्क रहे-हमें भी दो तोन वार उनके दर्शन एवं चर्चा-वार्ता का लाभ मिला। वह पत्राचार में भी बड़े तत्पर थे ! नित्यप्रति दर्जनों पत्र लिखते थे। स्वयं हमें मास में. कमी-कभी एक सम्राह में ही उनके दो-तीन पत्र निख जाते थे। इन दोनों ही दिशाओं में भंवरलालजी उनसे वहत पीछे रहे, किन्तु गंभीर अध्ययन तथा तलस्पर्शी सूक्ष्म शोध-खोज में वह काकाजी से कुछ आगे ही रहे ! प्रायः सभी साहित्यिक प्रवृत्तियों में दोनों का परस्पर सङ्योग, बहुधा संयुक्त प्रयास रहता रहा । वस्तुतः दोनों एक दूसरे के पूरक है । शास्त्र-मंडारों आदि में प्राप्त और मध्यकालीन विविव-लिपियों में लिखित पुरानी हस्त,लिखित ग्रन्थ-प्रतियों व अन्य दस्तावेजी को पढ़ने, उनका पाठ संशोधनादि करने और ठीक-ठीक पाठार्थ लगाने में भंवरलालजी अस्यन्त दक्ष हैं। आप सुलेखक और आश्कावि भी हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपम्रांश, राजस्थानी, हिन्दी आदि में सरलता से खत्तम कविता कर **लेते हैं. औ**र गुजराती बंगला, असमी, मराठी आदि कई अन्य मावारं भी जानते हैं । इतिअस एवं पुरातत्त्व में भी उनकी अभिरूचि है, और चित्रकला का भी शौक है। गत १८ वर्गों से आप हिन्दी मासिक 'कुशठ-निर्देश' का नियमित सुध्य सम्प्रादन करते आ रहे हैं। इवे० खरसरगच्य के आप अनुयायी हैं, आध्यातिनक सन्त स्व० सहजा-नन्दजी महाराज के शिष्य एवं अनन्य भक्त हैं. और आस्थावान जिनधर्मी हैं, तथापि साम्प्रदायिक व्यामोह अथवा स्व मत के कदाग्रह से ग्रस्त प्रतीत नहीं होते।

१९७४ के पर्युषण पर्य पर हमें कलकता जैन समाज द्वारा आमिन्त्रत होकर जब वहां जाने का अवसर मिला तो वहां जैन भवन में आयोजित संयुक्त जैन क्षमापना समारोह में श्री मंवरलालजी से हमारी सर्वप्रथम भेंट हुई। समारंभ से कुछ पूर्व पांच-सात बन्धुओं के साथ हम समामवन में बैठे थे कि पास ही बैठे. भरी हुई खड़ी हवेत मूंछों वाले. जैंचे कद-काठी के एक ह्यामवर्ण मारवाड़ी सज्जन खिसककर निकट आये और धीरे से कहा 'में मंवरलाल'— इतना ही पर्याप्त था, किन्तु बिना इस संकेत के हमारे लिये उन्हें चीन्हना कठिन था। उनसे मिलने की उत्सुकता तो थी, किन्तु उनकी जो अनुमानाधारित छवि हमारे मस्तिष्क में थो, उसके साथ यथार्थ का कोई सादृश्य नहीं था। निस्सन्देह उनसे मिलकर अतीव आनन्द हुआ, बात-चीत भी हुई। ऐसा लगा कि वहुत कम, और नपे तुले शब्द बोलने का अभ्यास है। अनावश्यक या निरर्थक नहीं बोलते। उनके कृतित्व से तो पूर्व परिचय था, व्यक्तित्व की भी हृदय पर अच्छी छाप लगी। उनके साथ पत्राचार तो पहिले से ही यदा-कटा होता रहा, उनके आदेश पर कभी-कभी कृशल-निर्देश में प्रकाशनार्थ लेखादि भी मेजे हैं।

यह ज्ञात करके कि साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में निष्पन्न उनकी अमूल्य सेवाओं के लिये उनका सार्वजनिक अभिनन्दन किया जा रहा है तथा उन्हें एक उपर्युक्त अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है अतीद प्रसन्नता हुई।

િરપૂ

श्री वाक्-युत इन स्वान्तः सुखाय साहित्य-साधक बन्धुवर सेठ भँवरलालजी नाहटा के उक्त अभिनन्दन में हमारा हार्दिक सहयोग है। उनके प्रति हार्दिक स्नेहांजलि अपित करते हुए हम उनके सुस्वास्थ्य एवं सफल चिरायुष्य की कामना करते हैं।

—डा॰ ज्योतिप्रसाद जेन, लखनऊ

मेरे मन में श्रद्धेय भँकरलालजी नाहटा के प्रति अगाध श्रद्धा और सम्मान है। इनके प्रेरक व्यक्तित्व का में सदेव प्रशंसक रहा हूँ। प्रचार और आडम्बर से रहित इस विद्वान ने अपने वेदुष्य से श्रमण संस्कृति और साहित्य के अनेक अछ्ते संदर्भों को उजागर किया है। इनका अभिनन्दन एक स्तुत्य प्रयास है।

—प्रो० कल्याणमल लोढ़ा भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय

मैं नाहटा बन्धुओं के कार्यों से चिरकाल से परिचित हूँ। श्री मंबरलालजी नाहटा ने विद्या के अनेक क्षेत्रों में कार्य किया है। लिपिशास्त्र के भी वे निष्णात है। ७५ वर्ष की उम्र में भी वे अविरल कार्यलग्न हैं यह हर्ष की बात है। जैन साहित्य को अधिक समृद्ध करने के लिये वे दीर्घकालपर्यन्त तन्दुरुस्ती भरा आयुष्य के उपभोक्ता हों ऐसी शुभकामना करता हूँ।

- रतिलाल दीपचंद देसाई आमूल सोसाइटी. अहमदाबाद

श्री मंदरलालजी नाहटा माटे जे उपमा आपीये ते ओधी छे। जुदी जुदी माषा नां अनेक ग्रन्थों नो अनुदाद करी, प्रकाशित करी जैन समाज नी तैमने अनुपम सेवा बजावी छे।

आवो हीरो जे पाणी मां तरे अने अनुपम प्रकाश फेलावे । ७५मां जन्म दिन प्रसंगे प्रभु आ अमूल्य हीरा ने हर हमेश जेन समाज माँ वारतो राखे ।

---कान्तिलाल नेमचंद शाह. बम्बई

श्री नाहटाजी जैसे अप्रतिम विद्यापुरुष का अभिनन्दन प्रज्ञा एवं पुरुषार्थ का अभिनन्दन है। ऐसे प्रज्ञापुरुष जैन समाज में ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय समाज में विरल हैं। उनकी विद्योपासना एवं सरस्वती-साधना भारतीय मनीषा का एक उदाहरण है।

> —खॉ० मोहनलाल मेहता अध्यापक, दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय

आदरणीय मंवरलालजी नाहटा के अिनन्दन के शुभ अवसर पर मुझे ऋग्वेद के उस सुपर्ण युगल की याद आ जाती है जो एक साथ जनमें. जीवन भर सखा रहे और समान शाखा का अवलम्बन लिया। मेरे जैसे कतिपय आदमीय-जन ही जानते होंगे कि आठ अगरचन्दजी नाहटा तथा आठ मंवरलालजी नाहटा में पारिवारिक दृष्टि से चाचा-भतीजें का सम्बन्ध था। विद्वज्ञगत् उन्हें सुपर्ण युगल की तरह ही जानता है। हमलोग उन्हें जीवित विश्वकोश मानते हैं। जैन विद्या के लिये ही नहीं समग्र प्राचीन भारतीय वाक्षमय के इतिहास में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान हमेशा स्मरण किया जाएगा।

मंदरलाल जी सा० से सबसे पहले अनेक वर्ष पूर्व कलकता में उनकी गद्दी पर मिला था। अगरचन्दजी सा० उस समय वहीं थे। परिचय के वे अपूर्व क्षण स्मरण आते हैं। मंदरलाल जी पर अब अगरचन्द जी सा० का भी दायित्व आ गया है।

मंवरलाल जी नाइटा जैसे मनीषी का अभिनन्दन विद्या के लिये समर्पित एक वरद-पुत्र का अभिनन्दन है। इस अवसर पर उन्हें हमारे अनेकों प्रणाम।

—डॉ॰ गोकुलचन्द्र जैन

अध्यक्ष, प्राकृत एवं जैनागम विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

राजस्थान के बीकानेर नगर ने वर्तमान युग में अनेक साहित्यक प्रतिभाओं को जनन दिया। इनमें सर्वश्री अगरचन्द जी और उनके भतीजे श्री भंवरलाल नाहटा जी के नाम दिशेष उल्लेखनीय हैं। इन दोनों महानुभावों ने अपनी दिविध उपलब्धियों से न केवल राजस्थान को धन्य किया. अपितु इस देश की शोधपरक साहित्य-साधना को गौरवान्वित किया। स्कूल, कॉलेज की औपचारिक उच्च शिक्षा दोनों को प्राप्त नहीं हुई थी, पर देवी वरदान तथा अपने विशद अनुभव से इन्होंने साहित्यक जगत् को बहुमूल्य रत्नों से विभूषित कर दिया।

श्रद्धेय भाईँ अगरचन्द जी के बारे में मैंने एक बार लिखा था कि 'नाहटाजी ने जितना जोड़ा है उससे कहीं अधिक लुटाया है। दानवीरता की यह मावना मंदरलाल जी पर भी खरी उत्तरती है। उनका दान साहित्यिक क्षेत्र में उसी प्रकार व्याप्त है जिस तरह देश के अनेक प्राचीन साहित्यकारों का अवदान विकीर्ण है। सौमाग्य से मंदरलाल जी को भी आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त रही है। इससे उन्हें जीविकार्थ अनेक कठिनाइयों से आहत नहीं होना पड़ा। जिनके कारण साहित्यकारों की क्रियाशीलता कुंठित हो जाती है और वे अपने कर्तव्य का निर्वाह सम्यक् इंग से नहीं कर पाते।

श्री भंवरलाल जी के एक समृद्ध पुस्तकालय अध्ययन हेतु उनके यहां सुलभ था, उसका उपयोग तो उन्होंने किया ही साथ हैं। कलकत्ता, दिली, प्रयाग, वाराणसी, ग्वालियर आदि केन्द्रों में उपलब्ध सामग्री का भी उन्होंने गहन अध्ययन किया। पुरातर्त्व, इतिहास, साहित्य, कला और लोक-जीवन में उपलब्ध मूल-स्रोतों के विवेचन की असाधारण शक्ति उनमें है। 'नामूनं लिख्यते किचित' मंत्र का उन्होंने आस्था के साथ पालन किया है। चाहे उनकी मूल रचनाएँ हों अथवा अनुदित-संपादित कृतियाँ सब में एक वैज्ञानिक तर्क-सम्मल भीमांसा देखने को मिलती

ि २७

हैं। प्राचीन लिपियों का ज्ञान, व्याकरण एवं साहित्य में वैद्रुष्य तथा प्राचीन रचनाओं की पृष्ठमूमि की पकड़—इन गुणों के कारण श्री मंवरलाल जी को अपनी साहित्यिक साधना में वड़ा लाम मिला। संस्कृत, प्राकृत, अपश्रंश, हिन्दी, और राजस्थानी के साथ जन्होंने दंगला, गुजराती आदि अन्य कई वर्तमान मारतीय मापाओं में दक्षता प्राप्त की। इससे अनेक मापात्मक, साहित्यिक और सांस्कृतिक समस्याओं को सुलझाने में तथा तुलनात्मक अध्ययन में जन्हें बड़ी सहायता मिली।

माँ भारती के एक महान् पुत्र श्री भंवरलाल जी नाहटा शतायु हों और साहित्य को भविष्य में नयी कृतियों से अलंकृत करते रहें. यही मेरी कामना है।

> —डा० कृष्णदत्त वाजपेयी सागर विश्वविद्यालय, सगर, मध्य प्रदेश

श्री मंवरलाल जी नाहटा जैन साहित्य, इतिहास तथा प्राचीन लिपि के विद्वान हैं। विद्वान किसी विद्वयालय या पाठशाला में पढ़ कर नहीं वने, यह उनकी विशेषता है। वर्जी इस दिशा में कार्य करने से अनुभवी जैन-साहित्य के ज्ञाता वन गये। दीर्घकाल तक आप जैन साहित्य. इतिहासी और लिपि की विशेष सेवा करते रहें यही शुम कामना है।

गुलाबचन्द जैन, दिल्ली

श्री नःहटाजी साहित्य-साधना की विरल विमूत्ति हैं। महापंडित किन्तु अत्यन्त विनम्न स्वमाव वाले श्री नाहटाजी भाग एवम् लिपि के अतिरिक्त पुरातन मूर्ति एवम् चित्रकरा के भी पारखी हैं। साहित्य की विविध विधाओं में आपने काफी लिखा है। सरस्वती के ऐसे वरद्र पुत्र का अभिनन्दन करना हमारा कर्त्तव्य है। में व्यक्तिगत एवम् भारत जैन महामण्डल परिवार की और से श्री नाहटाजी के अमृत-महोत्सव पर हादिक शुभकामना करता हूँ कि वे इसी प्रकार युगों-युगों तक साहित्य सेवा करते रहें।

—चंदनमल चाँद मंत्री. भारत जैन महामण्डल, बम्बई

श्री अंवरलालजी नाहटा साहित्य के वातायन से मेरे परिचय में आए और जीवन का वह क्षण बड़े मूल्य का रहा है जब मैं आज से लगभग पत्नीस वर्ज पूर्व आदरणीय प्रिय माई अगरचन्द जी नाहटा के पास बीकानेर अपने एक शोधार्थों के साथ हाजिर हुआ। मुनि शादूं लजी भी श्रावकी वैश में मौजूद थे। एक साधारण साहित्यिक गोध्ठी का भी आयोजन हुआ था। तब कदाचित परिचय कराते हुए मेरे स्थायी भ्रम का निवारण किया था नाहटा जी ने। वोले आप हैं श्री मँवरलालजी नाहटा. मेरे मतीजें। लगभग समवयस्क-से मिलते-जुलते व्यक्तित्व के सुधी साहित्यिक साधक माई भंवरलालजी को साक्षात् देखकर मैं दंग रह गया। मतीजा और वह भी समवयस्क। मेरे

ર도]

आश्चर्य को देखकर चक्षुपाठी नाहटा जी ने कहा भंवरलालजी जितने मुझसे आयु में छोटे हैं उतने ही ज्ञान और साहित्य-साधना में वृद्ध हैं । बात आज प्रमाणित हो गई हैं । पिछले दिनों इस महारथी से मेरा पत्राचार हुआ ! पहली बार पत्राचार में कोई औपचारिकता नहीं । तुरन्त उत्तर ।

वे शतायु हों और सहस्रवर्षीय आयु जीवें साहित्यायु की।

—डा॰ महेन्द्रसागर प्रचंडिया, अलीगढ

अधुनिक काल के द्विदेरी युगीन किंदगों में जिस प्रकार श्री मैशिली शरण गुप्त और सियारामशरण गुप्त, गुप्तबन्धु के रूप में प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार प्राचीन भाषा और साहित्य के अनुसंधान - अनुशीलन में भी अगरचन्द नाहटा एवं मंदरलाल नाहटा, नाहटा बन्ध् के रूप में जाने-पहचाने जाते हैं। ये पारिवारिक रिश्ते की दृष्टि से काका-मतीजे हैं। आ० अगरचन्द नाहटा पार्थिव रूप से अब इस संसार में नहीं हैं पर प्राचीन माषा, साहित्य, इतिहास, कला और पुरातस्य के क्षेत्र में शोध सर्वेक्षण की जो ठो उन्होंने प्रउउदालित की, उसे उनके मतीजे श्री मंदरलालजी नाहटा ७५ वर्ज की अवस्था में भी पूरी निष्ठा और सजगता के साथ अमंद किये हुए हैं। वीकानेर स्थित श्री अभय जैन ग्रन्थालय प्राचीन हस्तिजित ग्रन्थों और कठात्मक नमूनों की तीर्थ मूमि है। इसे नाहटा बन्धुओं ने अपने तन, मन, धन से समृद्ध किया है। इसी तीर्थ-मूमि में आज से लगभग ३२-३३ वर्ष पूर्व मेरा नाहटा-बंधुओं से परिचय और संपर्क हुआ था। तब से आज तक किसी न किसी रूप में मेरे साहित्यक संबंध उनसे और इस तीर्थ मूमि से दने हुए हैं।

श्री मंदरलालजी नाहटा बुहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। एक और आधमें माखाड़ी सेठ और कुशल व्यापारी की प्रबंध संचालन-क्षमता. प्रामाणिकता, लगन, व्यावहारिकता, परिश्रमशीलता है तो दूसरी ओर एक सिद्धहस्त अनुसंधाता की तध्य-भेदिनी दृष्टि और सूक्ष्म पकड़ है। अपने पहनावे, रहन-सहन, चाल-दाल और वाणी-व्यवहार में आप ठेठ राजस्थानी संस्कृति के प्रतीक हैं।

कुशल व्यापारी होने के कारण आप सुख-समृद्धि रूप लक्ष्मी के उपासक तो हैं हो । कलकत्ता को केन्द्र बनाकर आप अपने विभिन्न व्यापारिक प्रतिष्ठानों का संचालन करते हैं । व्यापारिक प्रवंध-कौशल और संग्रह-संचय दृत्ति का सदुपयोग आपने ज्ञान-स्वरूप लक्ष्मी के सात्विक रूप की उपासना में भी किया । आपका यह अभिनन्दन आपके इसी उपासक स्वरूप का अभिनन्दन है ।

नाहटा जी बहुश्रुत और बहुमाषाविद् हैं। संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, बंगला, राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी आदि माषाओं पर आपका अच्छा अधिकार है। माषाशास्त्र के साथ-साथ आप लिपि-विज्ञानवेता भी हैं। प्राचीन ब्राह्मी और कुटिल लिपि के आप विशेष अध्येता और अर्थ विवेचक हैं। आपका अध्ययन विशाल और गंभीर है। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के संग्रह, संपादन और अर्थ-विवेचना में आपने जीवन का अधिकाश समय समपित किया है। आपके द्वारा जैन साहित्य-कृतियों का संपादन हुआ है, विषय व शेली की दृष्ट से वे वेविध्यपूर्ण हैं। धर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य, काव्य-रूप, लोकाचार की दृष्ट से उनका विशेष महत्त्व है। आपके द्वारा प्रकाश में लायी गयी कृतियों न केवल हिन्दी साहित्य के इतिहास में नवीन सथ्यों का उद्घाटन करती हैं वरन् साहित्यक प्रवृत्तियों को नया मोज भी देती हैं। उनके द्वारा इतिहास, घटनाओं और पात्रों पर नया प्रकाश पड़ा है।

[28

नाहट। जी की रूचि साहित्य और इतिहास तक ही सीमित नहीं हैं। पुरातत्व, चित्रकला और सर्जनात्मक साहित्य में भी आपने गहरी रूचि ली है। जहाँ एक ओर आपने हस्तिलिखत ग्रन्थों के माध्यम से कई अछूते अज्ञात सन्दर्भ साहित्य-संसार के समक्ष प्रस्तुत किये हैं वहीं विस्मृति की परतों से जुड़े अनेक शिलालेखों को संग्रहित-प्रकाशित कर भारतीय संस्कृति के विवेध पहलुओं को उद्ग्राटित किया है। चित्रकला एवं काव्यकला के क्षेत्र में भी आपका महती योगदान है। आपकी काव्य-भृजन का धरातल मूलतः अध्यात्म-प्रधान है। उसमें आत्म-दर्शन एवं परमात्मा-दर्शन की विशिष्ट छटा है। राजस्थानी भाषा में लिखी गई आपकी कहानियाँ, रेखांकित और संस्मरण बड़े रोचक, प्रेरणादायी और मामिक बन पड़े हैं। इनमें घरेलुपन और मिठास के साथ व्यापक जीवन-अनुभव संचित है।

व्यापारिक एवं साहित्यिक व्यक्तित्व के साथ-साथ आपका सामाजिक एवं धार्मिक व्यक्तित्व भी प्रभावपूर्ण है। आप अनेक धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं से सिक्रय रूप से जुड़े हैं। 'कुशल निर्देश' के सम्पादक के रूप में आप सन-सामयिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक चेतना को प्रबुद्ध करने में प्रभावकारी भूमिका निमा रहे हैं। समाज में व्याप्त अंधविश्वासों और रूढ़ियों के प्रति आप कड़ा प्रहार करते हैं। आपकी वाणो और लेखनी में ओज और तेज हैं। गत वर्ग जनवरी १९५४ में जैन विद्यालय, कलकत्ता, के स्वर्ण जयन्ती महोत्सव पर अ० मा० जैन विद्यत् परिषद के तत्त्वावधान में आयोजित अ० मा० जैन पत्रकारिता संगोष्ठी में आपने जैन पत्रकारिता और पत्रकारों की भूमिका और दायित्व पर जो समीक्षात्नक विचार प्रकट किये थे. वे बड़े उत्प्रेरक थे। उनसे उनके जीवन के खड़े-मीठे अनुभव प्रगट हुए थे।

श्री नाहटा जी के हृदय में प्राचीन साहित्य और विशेषकर जैन साहित्य और संस्कृति की अमोल विशासत को सही परिप्रेक्ष्य में विश्व के सामने प्रस्तुत करने की अगाध निष्ठा और तड़प है। फरवरी १९५५ में श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई व संमात तालुका सार्वजनिक केलवणी मंडल के तत्वावधान में संभात में आयोजित छठे जैन साहित्य समारोह के प्रमुख पद से बोलते हुए आपने साहित्यकारों एवं अध्येताओं को एकजुट होकर मनोयोगपूर्वक कार्य करने का जो आहुान किया, वह आपके सतत् साधनाशील, जागरूक, कर्मठ जीवन का उद्ग्रोष था।

नाहटा जी से मुझे कई बार मिलने का अवसर मिला! मैंने उन्हें सदैव विनम्न, सहज और व्यस्त पाया। आप यश-लिप्सा, पूजा-प्रतिष्ठा और माम-सम्मान से कोसों दूर हैं। 'नच्चा नमई मेहावी' अर्थात् मेधावी पुरुष नम्न होता है। यह उक्ति नाहटा जी के व्यक्तित्व पर चरितार्थ होती हैं! नाहटा जी की प्रतिमा नव-नवोन्मेपशालिनी हैं। शब्द और अर्थ के सम्बन्धों को पकड़ने में आप सिद्धहस्त हैं। प्राचीन ग्रन्थों के अर्थ-विश्लेषण में आपकी मौलिक मेधा-शक्ति प्रगट हुई हैं। ७५ वर्ष की अवस्था में भी आप साहित्य-साधना में पूरे जोश-खरोश के साथ तल्लीन हैं। किसी तरह का प्रमाद और आलस नहीं है। 'नाणी नो पमायए' आचारांग की यह सूक्ति 'ज्ञानी कमी प्रमाद नहीं करता' नाहटा जी पर लागू होती है।

—ङा० नरेन्द्र भानावत मंत्री, अखिल भारतीय विद्वत् परिषद्, जयपुर भंवरलाल जी नाहटा थे पंडित सरनाय, शांरे अमरित बरस पर सादर करूं प्रणाम, कवि, लेखक, इतिहासविद्र बहु भाषा रो ज्ञान, जिन साहित रा थां जिस्या विरला ही विद्वान, शोध-ग्रन्थ केई लिख्या लिख्या कथा, आख्यान, कलावन्त थे पारखी संवेदनमय प्राण. लिप्यां पुरातन शे पढी खुल्या भेद अज्ञात, सदा गुणीजन बीच में चाले थां री बात. करूं कामना नित भरो सुरसत रो भंडार. सरधा रा अे सबद दो करो सहज स्वीकार!

> —कन्हैयालाल **सेठिया** कलकत्ता

मॅंबरलाल जी नाहटा का विचित्र व्यक्तित्व।
कैसे हम वर्णन करें. साहित्यिक कृतित्व।
साहित्यिक कृतित्व। चित्र-कविता व कहानी।
वैज्ञानिक, प्राचीन शिला - लेखों के ज्ञानी।
कहंं काका. दिन-दूनी प्रतिभा बढ़े तुम्हारी,
हों शतायु, स्वीकारो शुमकामना हमारी।
—काका हाथरसी
हाथरस, उ० प्र०

बीकानेर सहावणो. मारू धर सिणगार । मोद अपार ॥१॥ सम्पत सार्थे सुरसती, विलसै बङ्गा-बङ्गः ग्यानी गुणी, कविजन सुधी अनेक। पुरातण सेवरा. पाली निरमल टेक् ॥२॥ अगरचन्द संचित कर्यो. विद्या : धन अणपार । चित रे चावसं, दोनं हाथ बांटचो उदार ॥३॥ इण ही मारग रो पश्चिक, भवरलाल दिन-रात । करवो नाहटा नांव नै, भारत में विख्यात ॥४॥ जुनै जुग रो च्यानणो, परगट करचो प्रदीण। दीपायो निज देस नैं. ले सुरसत री वीण ॥५॥ मस्वाणी साहित्य री. सेवा करी अनुप् । सोध्या रतन अनेक विध. जन - हित सार सरूप ॥६॥ कला - पारसी, गुण - रसिक, माया - मद संदूर। भँवरलाल थिर जस लियो, भगती रस भरपूर ॥७॥

> —मनोहर शर्मा बीकानेर

> > [39

भँवरलाख जी का अभिनन्दन, शतशः बार प्रणाम है। जैन-जगत की अविरल सैवा, जो करते निष्काम हैं॥ भरत-भूमि की अप्रतिम प्रतिमा प्रज्ञा पुरुष प्रकर्ष से! यह अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित, पुलक उठे हम हर्ष से॥ युग की अमर विभूति 'नाहटा', सरस्वती शृंगार हैं। पन्नहत्तरवाँ वर्ष वरद हो खुशियाँ अपरंपार है॥

वर्तमान आलोकित उनसे, बना देश अभिराम है।
मंवरलाल जी का अभिनन्दन, शतशः बार प्रणाम है।।
हे गुग के इतिहास ! अमर हो. यही कामना है मेरी।
पंडित नहीं, महापंडित हो, धन्य हुई जननी तेरी।।
संस्कृत - प्राकृत - अवहट्टी, गुजराती - बंगाली - अपभ्रंश।
पाली - राजस्थानी - हिन्दी, आदि आपके प्रतिमा अंश।

मॅक्रलाल नाहटा, उसी प्रज्ञा - प्रतिमा का नाम है। जैन जगत की अविरल सेवा, जो करते निष्काम हैं॥ पुरातत्त्व के प्रमुख पारखी, मूर्तिकला अनुपम मर्मज्ञ। वास्तु-चित्र औं ललितकलाओं के विद्वान, श्रेष्ठ धर्मज्ञ॥ अग्रगण्य अनुसंधानों में, भाषा - शास्त्र संवारे हैं। ज्ञानोदिध की 'मॅवर' मॅवर जी, प्रतिपल पूज्य हमारे हैं॥

मातृभूमि की गोद धन्य है, धन्य धरा यह धाम है।
मँदरलाल जी का अभिनन्दन, शतशः बार प्रणाम है।।
अध्यवसाय-मनन-चितन में, अविरल जिनकी निष्ठा है।
अजर-अमर इतिहास पुरुष जो, प्रतिपल प्रचुर प्रतिष्ठा है।।
चित्रांकन में चतुर-चारुता, आशु कवि की उत्तमता।
शोध लेख में अधिक लोकप्रिय, नहीं विद्वता में समता।

गहरी पैठ, धर्म-दर्शन में, लेखन आठो याम है। भँवरलाल जी का अभिनन्दन, शतशः बार प्रणाम है।। यह अभिनन्दन समारोह, दो अक्टूबर को आयोजित। जैन समाज, शहर कलकत्ता, से इस दिन पंडित पूजित।। ग्रन्थ मेंट शुभ जन्म दिवस पर, हों शतायु नाहटा महान। है कृतित्व-व्यक्तित्व अनुठा, अंतस मन करता गुणगान॥

दो अक्टूबर इस दुनियाँ में, अमर अलौकिक नाम है। मँबरलाल जी का अभिनन्दन, शतशः बार प्रणाम है॥

—डा॰ शोमानाथ पाठक, मोपाल, मध्य प्रदेश

आज से चालीस वर्ग पूर्व मैंने लधुआड़ जैन मंदिर में एक लम्बे कदवाले व्यक्ति को देखा जिसके मरा ओर स्वस्थ चेहरे पर शांति विराज रही थी और जो चिन्तन-मनन की मुद्रा में मंदिर के पीछे भाग के चबूतरे पर बैठा था। मेरा ध्यान आकृष्ट हुआ। फिर क्या था? मैंने उससे बातें शुरू की। मालून हुआ कि यही मंवरलालजी नाहटा हैं। जन्मस्थान के संदंध में काफी देर तक उनसे बातें होती रही। सिकन्दरा के इर्द-गिर्द प्राचीन स्थानों को देखने के लिये मैंने इन्हें आमंत्रित किया। दूसरे दिन निश्चित समय पर पूरे परिवार के साथ अपनी छोटी हवागाड़ी से मेरे निवासस्थान सिकन्दरा पर वे पहुँच गये। इनके साथ इनके अनुज हरखचंद जी भी थे। उसी दिन में सबों को लेकर कुमार गांव चल पड़ा। उसी गांव के एक किसान श्री विशेश्वर सिंह को लेकर वहाँ के पुरातत्व अवशेषों को देखने के लिये हमलोगों ने गांव की परिक्रमा की। वहां के खण्डहरों-अवशेषों को देखकर नाहटा जी विस्थित हो गये। उन्होंने महावीर की जन्मभूमि संबंधी साक्ष्य जुटाने और इस संबंध में शोध-कार्य करने की प्रेरणा दी। नाहटा जी के रूप में मैंने प्रथम जैन-विद्वान का दर्शन किया जिन्होंने मुझे इस काम में लगे रहने के लिये प्रोत्साहित किया।

तभी से मैं इस कार्य में लगा हुआ हूँ। मैंने महावीर की जन्मभूमि संबंधी बहुत-सारे साहय जुटाये हैं।
मुझे आश्चर्य है कि आजतक इनकी जन्मभूमि विवादास्पद बनी हुई है जबकि सारे साहय क्षत्रियकुण्ड के पक्ष में ही
ठहरते हैं। आदरणीय नाहटा जी इन्हीं स्थानों को महावीर की जन्मभूमि की मान्यता दिलाने के लिये सजग और
प्रयत्नशील हैं। इनके सारे प्रमाण मेरे पास मौजूद हैं।

कलकत्ते में जब भी नाहटा जी से साक्षात् होता. इनका पहला प्रश्न होता क्या लिख रहे हैं ? आज से ४० वर्ष पूर्व इन्होंने मुझे अपने छोटे भाई की तरह जो प्यार दिया था, आज वह मेरे पूरे परिवार का प्यार और स्नेह बन गया है। कलकत्ता जाने पर बड़े भाई आदरणीय भँवरलाल जी से भिले बिना में लौटता नहीं हूँ। मैं जो कुछ लिख रहा हूँ वह इन्हीं की प्रेरणा का श्रेय हैं: माई साहब एक व्यक्ति नहीं, वरन् एक संस्था हैं—एक विशाल पुस्तकालय, जिसमें ज्ञान का असीन भण्डार मरा पड़ा है। ये एक ही साथ इतिहासकार, साहित्यकार एवं शोधकर्ता हैं। इनका प्रशस्ति-गान मुझ जैसे अल्पन्न से संभव नहीं। मैं बड़ा गौरवशाली और भाग्यशाली हूँ जो मैं इनके सानिनध्य और सम्पर्क में हूँ।

—डॉ॰ भगवानदास केसरी सिकन्दरा, मुंगेर

सन् १९७६ में मेरी पुस्तक "भगवान महावीर का जन्मस्थान : क्षत्रियकुंडग्राम, जमुई" के प्रकाशन के परचाल् बड़े आहाद से भरकर, बधाई और आशीर्वाद का संदेश मेजकर हिन्दी साहित्य के अविस्मरणीय अनुसंधायक प्रणम्य विद्वान, पंडित अगरचन्द नाहटा जी ने मुझे पंडित मंवरलाल नाहटा जी से संपर्क स्थापित करने का स्नेहिसक्त आदेश दिया । जनकी यह प्रवल आकांक्षा थी कि मेरी इस पुस्तक को सनीक्षा मँवरलाल जी वि प्रेका "कुशल निर्देश" में अवश्य प्रकाशित होनी चाहिए । आदेशानुसार मैंने इन्हें अपनी वह पुस्तक समीक्षार्थ मेज दी । "कुशल-निर्देश" (फरवरी १९५२) में मंवरलालजी नाहटा ने उसकी विश्रद्ध, सुविचारित समीक्षा तो की ही अपने बहुकोणिक सुझावों से भी मेरी शोध-साधना को एक नया आलोक दिया । यह मेरा सौमाग्य था तथा मन ही मन मैं अपनो

इस सारस्वत साधना की सिद्धि पर इसिलए भी प्रसन्न था कि जैन साहित्य और इतिहास के अधिकारी विद्वान भंवरलाल जी का आशीर्वाद प्राप्त हो गया था।

फिर तो पत्र-सम्पर्क बदते ही गए और में उनका स्नेह माजन बनता गया। उनके शिव्र प्रत्यक्ष दर्शन की आकांक्षा बलवती हो गई। भगवान महावीर देव मेरी इस प्रार्थना को सुन रहे थे। मेरी उक्त पुस्तक के प्रकाशन ने इतिहास के विदानों को एक बार फिर से महावीर के जन्म-स्थान की वास्तविक पहचान के सन्दर्भ में सोचने-विचारने को मजबूर कर दिया। वैशाली के पक्षधरों के लिये संचमुच एक प्रश्नवाचक चिन्ह बन गया। पक्ष और विपक्ष के विवाद से मैं आवृत्त हो गया। में चाहने लगा कि इस विवाद को समाप्त करने के लिये देश के सभी विद्वानों को एक मंच पर लाया जाना चाहिए। भगवान की असीम अनुकम्पा से मेरी यह इच्छा भी पूरी हो गई। मुझे परम-पूज्य अंचलगच्छाधिपति युगप्रमावक आचार्य भगवन्त श्री गुणसागर सुरीश्वर जी महाराज साहब एवं विद्वर गणिवर्य पूज्य श्री कलाप्रमसागर जी महाराज की अशेष कृपा प्राप्त हो गई और उनकी असीम अनुकम्पा से मैं मध्वन (गिरि-डीह) में ''अखिल मारतीय इतिहास विद्वत् सम्मेलन'' का आयोजन सम्यन्न कर सका। देश के कोने-कोने से विद्वान, इतिहासकार एवं आचारों ने पधार कर महावीर के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में मेरी शोधपूर्ण स्थापना पर अधिवेशन के अनेक सत्रों में विचार-विमर्श किया। निष्कर्शनः उन्होंने इस पर प्रामाणिक्ता की मुहर लगायी तथा सहमति के हस्ताक्षर भी दिये। यह सम्मेलन सन् १९५४ के नवम्बर माह में २८, २५ और २६ तारीख को, तीन दिनों तक चलाया गया। यहीं पहली बार मुझे पंडित श्री मंबरलाल जी नाहटा के पुण्य दर्शन हुए थे। मेरा सौमारय है कि मेरे इस इतिहास सम्मेलन के प्रथम सत्र की अध्यक्षता भी उन्होंने ही की थी, और उनके ही श्री चरणों में बैठकर मैंने स्वागताध्यक्ष की हैसियत से अपना जिखता शोधपूर्ण स्वागत भाषण का पाठ किया था।

पंडित भँवरलाल जी कलकत्ते से चलकर मधुवन प्रधारे थे। उस समय मैं किसी कार्यवश कच्छी भवन से बाहर था। आते ही उन्होंने मेरी तजाश की। हम दोनों एक-दूसरे के लिये प्रत्यक्षतः अपरिचित थे। सूचना मिलते ही मैं भागता हुआ उन कि करें में दाखिज हुआ। मुन्ने पहुंचानने में कोई कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि वर्षों पूर्व पंडित क्रो आगचन्द नाहटा जी को देखने और उनके पास उठकर घंटों वात करने का अवसर प्राप्त कर चुका था। उनके व्यक्तित्व की छाया ने मुन्ने भँवरलाल जी को पहचानने में सहायता दी। इन्हें देखते ही मैं अभिमूत हो गया। गांधार शैली की किसी सुखौल भव्य मूर्ति की तरह आकर्षक इतिहास पुरुष, संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषाओं के मर्मज्ञ, इतिहास और पुरातस्व के अधिकारी, प्रगम्य पंडित की आभा से देवीच्यमान विशाल व्यक्तित्व, जिनकी आँखों से स्नेह की शीतल उयोति निकल रही थी, घनी मूंछों से झाँकते अधरों में एक अमन्द मुस्कान तेर रही थी, जिसके भव्य ललाट पर ज्ञान की पंक्तियां रेखाएँ बनकर उपर रही थीं, चौथे वय में भो जिनकी आवाज मैं पंचम सुरु का निनाद था, जन से विशाल और ज्ञान से गहरे, ऐसे प्रज्ञा-पुरुष पंडित श्री भँवरलाल जी नाहटा को देखकर मुझे तुरंत ही यह लगा कि मैं सचमुच सरस्वती के किसी प्रशम्य वरद्रपूत के सामने एक बौना की तरह खड़ा हैं। मेरा मन बार-बार उन्हें प्रणाम कर रहा था और मेरे शब्द उन्हें उतने ही बार प्रणाम निवेदित कर रहे थे। मेरे उस मावण के बाद उन्होंने अध्यक्ष-पद से बड़ा गम्भीर भाषण दिया था। उनकी आवाज में एक खनक श्री और विचारों में विद्वता के सागर की गहराई थी। उन्होंने महावीर के जन्म-स्थान से सम्बन्धित मेरी शोध-साधना और भाषण की मूरिशः प्रशंसा की।

\$8]

प्रतिमा के धनी पंडित जी किसी विद्यालय या विश्वविद्यालय की शैक्षणिक उपाधियों से अलंकृत मले न हों परंतु विश्वविद्यालय के पंडितों के लिये अधिकारी विद्वान अवश्य हैं। तत्र मवान् आचार्यों की श्रेणी में पांक्तेय में वर्ष्यलालजी के विलक्षण माषाज्ञान, लिपिज्ञान, पुरावशेष की पहचान का ज्ञान का प्रातिभ वेदुख्य, ततोऽधिक प्रशंसार्ह है। जैन साहित्य और इतिहास के सन्दर्भ में तो उनके प्रत्येक शब्द प्रामाणिक संदर्भ सिद्ध होते हैं।

विद्वान और देवता किसी जाति-धर्म सम्प्रदाय की सीमाओं में नहीं बंधते । पंखित श्री भँवरलाल जी नाहटा न केवल जैन समाज के बल्कि सम्पूर्ण इतिहास और साहित्य जगत के अध्येताओं के नमस्य विद्वान हैं । सारस्वत वितिज के इन जयोति गुंज प्रगम्य पुरुष को. उनकी ७५वीं जन्मतिथि पर मेरा कोटिशः प्रणाम निवेदित है ।

> —खा० इयामानन्द प्रसाद रीखर, के० के० एम० कालेज, जमुई, बिहार

पू॰ श्री मंदरलाल नाहटा जी साथे नो मारो परिचय लगभग पंदरेक वर्ष थी छे। परन्तु छेला वे-त्रण वर्ष थी तेननी साथे वधु निकट ना परिचय मां आवदानुं सङ्भाग्य सांपड्यं छे।

मध्यकालीन जैन साहित्य ना संशोधन-संपादन नी प्रवृत्तिना कारणे लगमग त्रण दायका थी हुं स्व० अगर-चंदजी नाहटा ना सतत संपर्क मां हतो। पू० अगरचन्द जी नाहटा ए न्यारे पोताना मतिजा श्री मँवरलाल नाहटा नो परोक्ष परिचय कर वेजो। श्री अगरचन्दजो नाहटाए तो पोतानुं समग् जीवन जैन साहित्य समपित करी दीधुं हतुं-दिवस रात तेओ लेखन संशोधन नी प्रवृत्ति मां रोकायेला रहेता. परन्तु श्री भंवरलाल नाहटा तो व्यवसा मां पण समय आपता अने लेखन वांचन मां पण समय आपता रह्या छे।

केटलाक वर्ष पहेलां "मृगावती चरित्र चौपाई" ना संपादन अंगे श्री मंवरलाल नाहटा मुंबईमां अमारा घर मलवा पधार्या त्यारे तेमनी विद्वता थी हुं वहु प्रमावित थयो हतो. राजस्थानी पहेरवेश अने माथे बीकानेरी केसरी साफो धारण क्यों होय अंवी व्यक्ति ने रस्ता मां चाली जती जोई ने कोई ने ख्याल न आवे के एमनी विद्वता केटली हशे ! श्री मंवरलाल नाहटा ना संपर्क मां जेम जेम अववानुं थयुं तेम तेम एमनी विद्वत् प्रतिमा नो विशेष परिचय थतो गयो ! जेन साहित्य नी सँकड़ी पंक्तियों एमने कंठस्थ छे ! वली ग्रन्थों मां ना सन्दर्भों नी तथा ऐतिह।सिक बाबती नी सरस जानकारी तेओ धरावे छे । संस्कृत, ग्राकृत अने जूनी राजस्थानी भाषा न तेओ सारा मर्मज्ञ छे । अनेक पारिमाधिक शब्दोना अर्थ तेओ जागे छे । तेमनी विचार धारा पुख्त, प्रमाणयुक्त अने स्पष्ट छे । स्तवनौं अने सजझायो ने बुन्नद कंठे गवानी तेमनी रुच्च अने शक्ति पण मुग्ध करे तेवी छे । वली तेमना हस्ताक्षर पण सरस. सुवाच्य अने मरोड्दार छे । हस्तप्रत उपरथी तेओ मोती ना दाणा जेवा अक्षरे नकल उतारे, परन्तु सँकड़ो पंक्तिओं मां एक अक्षर नी पण छेक छाल जीवा न मले ! प्रथम दृष्टिए ज प्रसन्न धवाय एवं एमनं लखाण होय छे ।

मध्यकालीन जैन साहित्य माटे स्व॰ अगरचंद जी नाहटा न अवसान पछी मारे जो कोई पूछवा योग्य मुख्य व्यक्ति होय ते ते श्री मंवरलाल नाहटा छे। एमनी साथे वे एक कृतिओनुं सह-संपादन पण में कर्युं छे। आटली बधी विद्वता अने उमरे मारा पिता तुल्य एवा श्री मँवरलाल नाहटा ज्यारे मले त्यारे एक मित्र अने मार्ग दर्शक जेवा लागे। एमनी उपस्थित मां हमेशा प्रसन्नता, पवित्रता अने प्रेरकता अनुभवाय। पहेरवेश अने प्रकृति बंने मां

34

तैओं सादा संरल अने निराभिनानी । कोई वस्तु के मत ना आग्रही नहि ! सदा स्वस्थ अने उदारचित जनाय । कोई नी मूल होय तो ते तूरत जती करी दे । कोई पण प्रकार नो पूर्वाग्रह राखे नहि । औपचारिकता ना पण आग्रही नहिं ओमनी हाजरी मां सतत वालसल्य अनुमवाय ।

र्खभात मुकामें छट्टी जैन साहित्य समारोह योजायो त्यारे प्रमुख तरीके श्री मंदरलाल नाहटा प्रधायां हता । ए वखते एमता सतत सान्निध्यमां रहेदानुं सद्भाग्य सांपड्युं हतुं । ते पहेलां शिखरजी मां क्षत्रियकुंड विशे योजाएली विद्वत् परिपद मां पग तैमनो साथै रहेदानुं बन्युं हतुं । आ वंने प्रसंगे मोटा माणसो पण केटला सादा अने सरल होय छे तनो प्रत्यक्ष स्वानुभव श्री नाहटाजी नी बाबत मांथयो हतो ।

श्री भाँवरलाल नाहटा अच्छा कविषण छे । एमनी लघु पद्म रचनाओं धर्म मर्म युक्त अने तत्व ज्ञान श्री पर्मित होय छे ।

श्री भौवरलाल नाहटा ७५ वर्ष प्रवेश करे छे । ए आपणा सौना माटे आनंद अने गौरव नो प्रसंग छे । ए प्रसंगे हुं अमनुं अभिवादन करूं छुं अने तेओ शतायु धाय तथा जैन शास्त्र नी उज्जवल सेवा करे अवि। अन्तर नो अभिलाषा व्यक्त करूं छुं ।

> —खॉ० रमणलाल ची० शाह अध्यक्ष, गुजराती विभाग, बस्बई विश्वविद्यालय

एक समस्वभावी सहधर्मी के नाते, एक गुगझ विद्रत् पुरुष के नाते एवं सबसे अधिक एक परम आत्मीय 'गुरु बंधु' के नाते श्रीयुत् भंवरलालजी नाहटा से हमारा अंतरंग सम्बन्ध कई वर्षों से रहा है. उनके दिवंगत विद्रत्वर्य चाचा स्त्र० अगरचन्दजी के ही समान स्तर पर। हमारा परम पावन सम्पर्क-आधार रहा है सद्गुरु देव श्री योगीन्द्र युग-प्रधान श्री सहजानन्दघनजी का जीवन और साहित्य।

वेसे तो समग्र नाहटा परिवार की हमारे परमोपकारक गुरुदेव के प्रति अनन्य निष्ठा और समर्पण युक्त मिक्त-भावना रही है, परन्तु अपनी अन्य व्यावसायिक, साहित्यिक एवं जैन दार्शनिक-धार्मिक प्रवृत्तियों के मध्य से भी धृतरूप से इस विद्यत् द्वय श्री मंवरलालजी एवं स्वर्गीय अगरचन्दजी की जो गुरुमिक्त की धारा बहती रही है वह विरल, अनुमोदनीय एवं परम उपादेय हैं। इन दोनों का प्रदान जितना जैन साहित्य को है. उतना ही गुरुदेव श्री सहजानन्दघनजी के साहित्य के लिये भी है। सत्संग एवं प्रत्यक्ष निश्चा-सेवा मिक्त के द्वारा श्री मंवरलाल जी ने दीर्घकाल से जो धन्य सद्गुरु पश्चिय पाया है, उसे अनेक रूपों में बृहत् जगत तक पहुँचाने में वे बड़े सार्थक रूप से सफल रहे हैं। क्या 'कुशल निर्देश', क्या 'सहजानन्द सुधा', क्या 'जीवनी' अनेक रूपों में श्री मंवरलालजी की गुरुमिक्त-लिसत लेखनी ने एक गुप्त रहे हुए युग-पुरुष को सत्यशोधक-जनों के मानस-पटल पर खड़ा कर दिया है।

आज का जगत एउं वर्षमान काल कितना विश्वब्ध, विश्विष्ठात्त, विश्वंखिल एवं अशांत है। युग की इस शुब्धता, शिन्न-भिन्नता एवं अशांति के बीच वास्तविक शान्ति और समाधि का अन्तर्पथ युग-पुरुष श्रीमद्भ राजचन्द्र जी की, समर्पित शिशुमाव से अंगुलि पकड़कर स्वानुभूति द्वारा योगीन्द्र युग-प्रधान गुरुदेव श्री सहजानन्दधनजीने हड़

3G]

रूप से प्रतिपादित किया। इस पंचपकात की यह कोई छोटी उपलब्धि या छोटी घटना नहीं है। यह एक दुर्लंभ घटना है कि श्रीमद्जी एवं सहजानन्दघनजी जैसे दो-दो महापुष्ट्य इस काल में प्रत्यक्ष निकट रूप से उत्पन्न हुए। कलिकाल सर्वज्ञ श्री हैमचनद्राचार्य युग-प्रधान दादा श्री जिनदससूरीश्वरजी एवं महायोगी श्री आनन्दघनजी की ही मानौं अन्त-चॅतना धारण कर अर्वत्धर्म की वीतरागमार्ग को उन्होंने अपने परिश्चद्ध मूल रूप में जो प्रतिपादित और परिदिश्चित किया उसे शांतिकामी जैन जगत् एवं बृहत् जगत् के समक्ष लाने में स्व० अगरचन्दजी एवं श्री मंवरलाल जी का योगदान कम नहीं है।

संस्कृत, प्राकृत. हिन्दी सभी अधिकारपूर्ण भागाओं में श्री भंवरलालजी ने तो अपनी कलम की धारा मुक्तरूप से बहायी है। इन सभी भाषाओं में उनकी गुरुमिक्त भरी लेखनी माधुर्य एवं आल्हाद से पूर्ण है। संस्कृत में दृष्टब्य है उनके द्वारा रिचत ''श्रो सहजानन्दघन गुरुदेवाष्टकम्'' का यह प्रथम चरण—

भद्रः सद्गगुरुवर्यं पूज्य सहजानन्दः सदा राजतः।
आत्मज्ञो निखिलार्थवोध निपुणः कारण्यम्तिमहान् ॥
देवैः पूजित पादपद्दम विमलञ्चेन्द्रादिभिः सर्वशौँ।
वन्देऽहं विनयेने तं गुरुवरं श्री भावितीर्थं इरम् ॥
—सहजानन्द सुधा, पृष्ठ २०

संस्कृत से भी अधिक उनकी लेखनी का प्रांजल पुरुषार्थ उनकी प्राकृत रचना में दिखाई देता है। वहीं गुरुभक्तिः वहीं गुरुगुगगान, पर बड़ी विरंठ है उनकी यह अभिव्यक्ति—

अज्झत ततस्स सुपारगामी एगावयारी पूईंय सुरिंदो ।
मुणींद मजडो सुजुगप्पहाणो गुरुवरो सहजाणंद णामो ॥१॥
निव्वाणपत्तो सुसमाहिजुतो कत्तीय धवले बीया निहीए ।
निम्हात जाओ इय भरहिषत्तो धम्मस्सएगो सायार रूपो ॥२॥
खेयेण खिन्नो अमुमुक्खु संघी जाओ निरालंब समग्ग लोओ ।
विदेह खित्तिद्वय ते महप्पा मत्ताण देहि मिटवृह सुसत्ती ॥३॥
विही, पृष्ठ २९

और हिन्दी में तो उनकी लेखनी की यह गुरुमिक शासन का धन्यमाग्य दर्शित करने के साथ-साथ गुरु-विरह की अन्तर्वेदना भी सक्षम रूप से प्रतिपादित करती है —

> हम्पी के योगी ! कहाँ तुम गये हो ? आत्मा का दर्शन कराते कराते ॥ क्रिया जब बना जो तीर्थप का शासन ! मार्ग से कोशों भटक के विपथम !!

उन्हें राह सम्यक दिखाने के हेतु। हुए अवतीर्ण हैं युग के प्रवर्तक॥ करो दीर्घ साधना गिरि कन्दरा में। आहमा की जयोति जगाते-जगाते॥१॥

* * *

न सोच। था इतनो जल्दी करोगे महाविदेह जाने की तैयारी, पंचमकाल के हम हैं अभागे, पाया न तुमको हे आत्म-विहारी, समता से कब्ट सहे आत्मानंदी, विदेही गुणों में समाते-समाते ॥५॥
—वही, पृष्ठ २३

इन पंक्तियों को पढ़कर प्रतीत होता है कि श्री मँवरलालजी की लेखनी गुरुभक्ति से कितनी ओतप्रोत है एवं गुरु विरह से कितनो व्याकुछ। और सच ही उनकी इस लेखनी को और जैन दर्शन की भी लेखन प्रवृत्ति में, उतना 'स्वान्तः सुख' शायद ही मिलेगा जितना गुरुभक्तिपूर्ग आलेखन में। अन्ततोगत्वा गुरुमहिभागान में, वह भी एक अनन्य अनुभूत पुरुव के, जैन दर्शन और शासन को सेवा भी आ ही जाती है। उनकी अन्तर्स्थकामी लेखनी से अब यह अपेक्षा की जाए कि उनके इस जीवन के उत्तराई का शेष सारा सगय ऐसे विरल सहगुरु की गुप्त महिमा के प्राकट्य में ही लगे तो वह अनुचित नहीं होगी। ऐसे अनन्य गुरुभक्त से और आशा भी क्या हो सकती है। सर्व परम शक्तियाँ श्री मँवरलालजी की लेखनी को ऐसी शक्ति प्रदान करें कि वह एक अद्वितीय एवं चिरंतन गुरुगाथा इस अशांत और आत्मश्रान्त जगत पर छोड़ जाय।

प्रो० प्रतापकुमार टोलिया
 वर्धमान मारती, बंगलोर

श्री मंदरलालजी नाहटा ने धर्म और भाषा आदि के लिये जो कार्य किया है वह अभिनंदन के योग्य है। —भंदरमलसिंघी, कलकत्ता

अज्ञात ग्रन्थों की खोज करने वाले समाज-सेवी के अभिनन्दन में मेरा सहयोग अवस्य ही रहेगा। ऐसे विद्वान को में आशीर्वाद कैसे दूं, मैं अपनी शुमकामनाएं मेज रहा हूँ कि ईश्वर उन्हें दीर्घायु करें, पूर्ण स्वस्थ रखें ताकि सभी लोगों को उनसे प्रेरणा प्राप्त होती रहे।

—प्रमुदयाल हिम्मतसिंहका, कलकत्ता

श्री भंवरलालजी नाहटा ने समाज-सेवा, साहित्य-सर्जन, धार्मिक व आध्यादिमक क्षेत्र में सराहनीय एवं प्रेरणादायी कार्य किया है। श्री नाहटा के लेखन में भारतीय संस्कृति एवं जैन दर्शन का विश्लेषण (दिग्दर्शन) एक नई शैली से किया गया है, जो अनुठा एवं अनुपम है।

—प्रो० बुलाकी दास कल्ला. जयपुर

15]

श्री नाहटाजी के बारे में मेरे लिये कुछ कहना बहुत किन है क्योंकि इतने विशाल व्यक्तित्व के सामने हमलोगीं का व्यक्तित्व उनके आशीर्वाद में ही है। उनके ७५१ जन-दिवस के अवसर पर मैं उनकी दीर्घायु, प्रसन्नचित्त सुखी जीवन एवं संचित शक्ति के लिये भगवान से प्रार्थना करता हूँ एवं उनके चरण में अपनी शुभकामनाएँ प्रेटित करता हूँ। उनका आशीर्वाद हम सबके समाज पर जितना अधिक बना रहेगा उतना ही अधिक हमें मार्गदर्शन प्राप्त होता रहेगा।

—आनंदकुमार अग्रवाल उप-निदेशक, राजस्थान सरकार सूचना केंद्र, कलकत्ता

श्री माहटाजी ने जैन साहित्य के लिए बहुत सेवा की है। श्री नाहटा जी को बहुत-बहुत वधाई। —मोहनचंद दढा अध्यक्ष, अखिल भारतीय श्री जैन स्वेताम्बर खरतरगच्छ महासंग्र, मद्रास

राजस्थानी माषा और साहित्य को जिन साधकों ने उन्नित के शिखर पर आसीन किया है उनमें बीकानेर का नाहटा परिवार पांक्तेय है। पुण्यश्लोक स्व० अगरचंद नाहटा की साहित्य सेवा के साथ मंवरलाल जी की साहित्य सेवा चिरस्वरणीय है। यह सीमाग्य की बात है कि इस परिवार पर लक्ष्मी और सरस्वती की समान कृपा रही है।

स्व॰ अगरचंदजी की साहित्य साधना से सब परिचित हैं ' भारत की ऐसी कोई पत्रिका नहीं है जो उनकी साहित्य-सर्जना से धन्य न हुई हों किंतु भंवरलाल जी भी उनसे पीछे नहीं रहे।

आप जिस कुलप्रस्परा में अवतरित हुए उसमें आचरण की पवित्रता. भगवान महावीर की शिक्षाओं का पालन, शास्त्र-व्यसन और कर्मठता सदा से श्लाध्य रही है। आपके पूर्वजों के आवास को 'शुचीनां श्रीमतां गहें की विनल संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है।

स्व० अगरचंद नाहटा की तरह श्री मंवरलाल जी की स्कूठी शिक्षा मात्र कक्षा ५ तक हुई थी। किंतु अपने स्वाध्याय जल से निरन्तर सींचकर आपने अपने ज्ञान की परिधि खूब विस्तृत कर ली है। धर्म. साधना. साहित्य, कला, माणा एवं पुरालिपियों में आपकी विशेष रुचि है। पुरातत्व एवं चित्रकला के आप विशेष विद्वान हैं। प्राचीन एवं देशी भाषाओं में आप विशेष निष्णात हैं। आपके विद्याध्यसन से प्रसन्न होकर पुरातत्व वेत्ता मुनि जिनविजयजी ने आपको आशीर्वाद दिया था और मुनि कान्तिसागर जी आपसे सदा स्नेह करते रहे। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, प्राच्यविद्याविद्व महामित श्री सुनीतिकुमार चटर्जी, डॉ० सुकुमार सेन, भाषाशास्त्री डॉ० गौरी शंकर हीराचंद ओझा, डॉ० मोतीचंद तथा डॉ० बासुदेव शरण अग्रवाल का आपको निरन्तर साहचर्य मिलता रहा। आपकी रचनाओं की मूमिका, उनका सम्पादन तथा उनमें प्रतिपादित विचारों को देखकर आपकी विद्वता और विचार विश्लेषण क्षमता के प्रति सहज ही आश्चर्य होता है। ऐसा लगता है कि काव्य-मीमांसाकार को यह उक्ति सार्थक है कि प्राक्तनाशन संस्कार परिपाकप्रौढ़ा प्रतिभा ही ऋतम्मरा प्रज्ञा होती है जिसे किसी बाह्य उन्नाधियों या प्रमाण-पत्रों की अपेक्षा नहीं होती। ऐसा व्यक्तित्व सदा अक्षय स्रोत से अपना पाश्चेय जुटाता है। शायद विद्वानों को मेरा यह कथन अतिश्रयोक्ति लगे कि श्री मंवरलाल नाहटा जैसे विश्वत मनीवियों के रूप में आज भी प्राचीन ऋतियों या गृहस्थ योगियों की परम्परा जीवित है।

—ভাঁ০ रামহাক্য দ্বিবৈহী ভী০ বী০ কালিজ, তংগ্ৰ

[49

श्री मंदरलाल जी नाहटा का व्यक्तित्व अपने आप में अनुठा है। वे जैन साहित्य और इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। इतिहास-खोजबीन के लिए उनकी प्रतिभा का चमत्कार ही माना जा सकता है। असहज गुत्थियों को भी वे सरलता से प्रामाणिक आधार पर सुलझा लेते हैं। यह भी उनकी विशेषता है कि कैसी भी दुलर्भ पांखुलिपि हो उसे पढ़ने व समझने के लिए रात-दिन एक कर देते हैं, और जब तक सही निष्कर्ण पर नहीं पहुँच जाते विश्राम नहीं लेते।

वे बहुत ही मिलनसार तथा सहदय व्यक्ति हैं। जब भी मैंने उन्हें किसी विषय पर लेख के लिए पत्र लिखा उन्होंने तत्काल उसकी पूत्ति की। उनकी लेखनी सदैव चिन्तनशील रहती है और उनका ज्ञान अगाध है। वे जन्मना व्यवसायी होते हुए भी जेन साहित्य व इतिहास का कितना बड़ा कार्य कर लेते हैं—यह कम आश्चर्य की बात नहीं।

उनके अभिनन्दन के अवसर पर मैं कामना करता हूँ कि वै शतायु हों और इसी तरह साहित्य व समाज की सेवा करते रहें।

—बाबुहाल जैन, वाराणसी

कोई मी देश अपनी मौतिक उपलब्धियों से नहीं. अपने महान पुरुषों के कृतित्व से जीवित रहता है। मेरे हृदय में ऐसे ही महान पुरुष की मावना राजस्थान के बीकानेर निवासी नाहटा बन्धुओं स्व० अगरचन्द एवं श्री मंवरलालजी नाहटा के प्रति प्रस्फुटित होती है। ज्ञानालोक श्री मंवरलालजी नाहटा का सम्मान वस्तुतः ज्ञान-साधना का सम्मान है। जिस प्रकार फूठों की सुगन्ध छिप नहीं सकती, उसी प्रकार मँवरलाल जा की भी प्रतिमा छिपी नहीं रही। एक आदर्श गृहस्थ का जीवन यापन करते हुए भी अपने चाचा स्व० अगरचन्द जी नाहटा के आशीष प्रकाश में उनकी प्रतिमा विकिसित होती रही।

श्री मँवरलाल जी के व्यक्तित्व की मध्यता शब्दों की परिधि में नहीं बाँधी जा सकती। इनके व्यक्तित्व के सौन्दर्य की घोत्रणा तो नि:शब्दता हो कर सकती है। इनके जीवन के व्यक्तिगतः सामाजिक, साहित्यिक व ब्राध्यात्मिक सभी पक्षों में अद्भुत सामंजरय है। ये नितान्त अन्तरमुखी हैं फिर भो इनका सहयोग सामाजिक जीवन में परिव्याप्त है। इनके जीवन का प्रत्येक पहलू प्रेरणाप्रद है। सौभाग्यशाली नाहटा जी अभावों की दुनिया से दूर रहे हैं। लक्ष्मी और सरस्वती दोनों महाशक्तियों की इन पर सहज कृषा है। इसिलिए इनकी क्रियाशीलता को संपीड़न के काले मेघ आच्छादित नहीं कर सके अस्तु सूर्य के समान इनकी प्रतिभा और ज्ञान-रूपी रिश्मयाँ प्रकीणित होती रहीं।

कक्षा पाँच तक पढ़े इस मनीषी ने संसार की समस्त शिक्षण-संस्थाओं की सार्थकता को चुनौती दी है। इनका लिपिज्ञान धन्य है जिसने पुरातत्व अनुसंधान के अनेक अध्यामों को प्रेत्साहन दिया। ब्राह्मी, कुटिल, गुप्त आदि भारतीय लिपियों की वैज्ञानिक व्याख्या कर इन्होंने अनेक विजष्ट प्राचीन शिलालेखों को सहज और वोध्यान्य बनाया है। इस प्रकार मारतीय इतिहासाकाश के एक झिल,मिलाते हुए नक्षत्र हैं श्री मंवरलालजी नाहटा। उनकी स्तुत्य रचनाओं के बारण भारतीय इतिहास सदैव इनका ऋणी रहेगा। लिपिज्ञान के साथ ही आपका माषाज्ञान भी असीम और अद्भुत है। ये प्रायः समस्त भारतीय भाषाओं के ज्ञाता हैं। संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, अवहट्टी, बंगाली, गुजराती, राजस्थानी तथा हिन्दी के तो ये पंछित हैं ही साथ ही उन्न-कोटि के कला-मर्नज्ञ भी हैं। इनकी संवेदनशीलता कला की विभिन्न

80.]

विधाओं में मुखरित हुई है। मृतिक्जा, चित्रक्रजा, वास्तुक्रजा एवं लिलित्रक्जा में इनकी विशेष रुचि है। वस्तुतः ज्ञान की दिशा में मंवरळाजजी का हर प्रयास महान है। इन्होंने अपनी साहित्यिक कृतियों, लेखों, निवन्धों और पुरातात्विक गतिविधियों द्वारा विचारों को व्यवस्था, इतिहास को दिशा एवं लिपि को नव नता दी।

मँवरलालजी जैन-धर्म के अनुयायी हैं। भाग्यवश इन्हें मुनि जिनविजय, मुनि कान्तिसागर, कृताचनद्रसूरि और सुख-सागरजी जैसे महान जैन आचार्यों का सामीप्य प्राप्त हुआ। नाहटा जी जैसी धार्मिक प्रतिमा के लिये यह एक ईश्वरीय वरदान के समान है। फजतः इनके हृदय में धर्म-ज्योति के अंकुर फूड़े और इन्होंने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व में जेन-धर्म को साकार किया। सद्गुरू श्री सहजानन्द जी के प्रति इनकी अगाध मिक्त है। इस प्रकार इनके व्यक्तित्व को ज्ञान के साथ-साथ मिक्त ने भी वैभवशाली बनाया। मँवरलालजी ने जैन-इतिहास के अनेक दुर्बोध रहस्यों को बोधगम्य किया और उनके जिये सटीक प्रमाण भी प्रस्तुत किये। जैन परम्परा से सम्बद्ध किसी भी जटिल प्रश्न को हल करने में नाहटा जी सदैव प्रस्तुत रहते हैं।

गौरवान्वित है नाहटा परिवार जहाँ ऐसे विद्या-रतन उत्पन्न हुए जिन्होंने अपने विकास में संस्कार, वातावरण, परिवेश और पूर्वजों के आशीष, सभी को सहयोगी बनाया ।

---अर्चना त्रिपाठी शोधसात्रा, पांचाल शोध संस्थान, कानपुर

ईश्वर श्री नाहटा जी को स्वस्थ एवम् दीर्घ उम्र प्रदान करें ताकि वै राजस्थानी भाषा. साहित्य व संस्कृति की और भी सेवा करते रहें ।

कलकत्ता संघ अति भाग्यशाली है जिनको श्री नाहटाजी जैसे समाज-सेवी, कर्मठ, अद्वितीय विद्वान व किसी भी लिपि को पढ़ने में सक्षम व्यक्ति प्राप्त है। इतने प्रकांख विद्वान होते हुए, भी आपमें जो नम्रता व सहनशीलता विद्यमान है उन विशेषताओं का वर्गन करना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। दादा गुरुदेव से बारंबार प्रार्थना है कि आपकी समाज-सेवाओं के भावनाओं को दिन-ब-दिन जन्नत बनाये।

—कपूरचंद श्रीमाल, हैदराबाद

नाहटा सा० विलक्षण प्रतिमा के धनी हैं। अनेक माणओं का आपका विलक्षण ज्ञान आपकी विभिन्न कृतियों से झलकता है। आपका मातृमूमि, मातृमांवा एवं भारतीय वेषमूषा से अट्ट लगाव है जो आपकी दिनचर्या से स्पष्टतः परिलक्षित होता है। राजस्थानी माषा व साहित्य के लिये आपके योगदान को मला कौन भुला सकता है। वेपमूषा व ध्यवहार इतना सामान्य है कि प्रायः व्यक्ति आश्चर्यचिकत रह जाते हैं इतने उच्च कोटि के विदान, तत्त्ववेत्ता

[89

एवं परदुः सकतर को देखकर ! आपकी मागण शेठी बड़ी नगुर व तथ्यों से परिपूर्ण रहती है जो श्रोतगण पर अपनी अमिट छाप छोड़े बिन, नहीं रहते । आपके द्वारा जिखित कहानियाँ सरठ मापा में व शिक्षाप्रद होती हैं । आपके द्वारा सम्पादित नासिक-पत्र 'कुशल निर्देश' समाज व देश की बड़ी सेवा कर रहा है ।

-- देवेन्द्रकुमार कोचर

हिन्दी साहित्य-सेवियों में यह प्रथा रही है कि यदि कोई निवंध, कविता या पुस्तक का प्रणयन उनके ही परिवार के किन्ही दो या अधिक सदस्यों, विशेष कर दो या तीन समें या नजदीकी रिश्ते के भाइयों द्वारा हुआ हो तो उसमें लेखक के रूप में इन प्रणेताओं के नाम न देकर कुलनाम का उल्लेख कर उसके साथ वंधु या त्रयी जैसे शब्द को जोड़ कर उसका प्रयोग कर लिया जाता है। हिन्दी में ऐसे कई युग्म शब्द देखने में आये हैं। यथा मिश्रवंधु, याज्ञिकवंधु आदि। मिश्रवंधु से तो हिंदी साहित्य का प्रत्येक पाठक भली मौति परिचित होगा। निश्नवंधु से ताल्पर्य मुख्यतः चोटी के दो विद्वान् भाइयों से है—श्री श्यामिवहारी मिश्र एवं श्री शुकदेविवहारी मिश्र । कभी-कभी ग्रन्थ-प्रणयन में इनके एक और भाई श्री गणेशविहारी मिश्र का भी योगदान पाया जाता है। इसी प्रकार याज्ञिक वन्धु से ताल्पर्य श्री भवानीशंकर याज्ञिक, श्री जीवनशंकर याज्ञिक एवं श्री मायाशंकर याज्ञिक से है।

राजस्थान में और विशेषकर बीकानेर में राजस्थानी साहित्य के प्रणयन में लगे विद्वानों के लिये मी इस प्रधा का व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है । राजस्थानी-त्रयी शब्द का जब भी और जहाँ कहीं भी प्रयोग होता है उससे तात्पर्य शकुर रामसिंह, पं० सूर्यकरण पारीक एवं पं० नरोत्तमदास स्वामी से होता है। इसमें एक विशेषता यह है कि ये तीनों विद्वान लेखक अलग-अलग परिवार के थे। यद्यपि राजस्थानी के उन्नयन कार्य में वे इस तरह लगे थे कि तीन देह एक प्राण से प्रतीत होते थे। राजस्थानी व जैन साहित्य की सेवा एक अन्य परिवार की भी अनुपमेय रही है। वह परिवार है नाहटा परिवार । प्राचीन राजस्थानी व जैन साहित्य-ग्रन्थों की खोज और उनके शोध में लगे नाहटावन्धु की सेवा इस कोटि की है कि ऐसा परिश्रमी और अपनी धून में लगे इन महानुभावों के कार्य की गहराई में पहुँचना असंभव नहीं तो कठिन अवस्य है। नाहटावन्धुओं से मेरा तात्पर्य स्वर्गीय अगरचन्दजी नाहटा और उनके बड़े भाई के पुत्र तथा इस लेख के चरितनायक श्री मेंवरलालजी नाहटा से है। श्री मैंवरलालजी के पूज्य पिताजी का नाम श्री मेरूदान जी नाहटा था। चाचा श्री अमयराज जी का निधन काफी छोटी आयु में हो गया था। मैंवरलालजी आयु में अपने पितृतुलय स्व० अगरचन्दजी नाहटा से केवल छः महीने ही छोटे हैं। इसी कारण अगरचन्दजी नाहटा को अपने शिध कार्य में व पुराने हस्तिलिखत ग्रन्थों को एकत्र करने में श्री मैंवरलालजी का अनुपम सहयोग प्राप्त हुआ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक भ्रांति बहुत समय से चली आ रही थी। हिन्दी साहित्य के विद्वान, जिनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं छा० श्यामसुन्दरदास शामिल थे जटमल नाहर की गोरा बादल की कथा को हिन्दी की प्रथम गद्य रचना मानते थे। वास्तद में यह एक गद्य रचना न होकर पद्य रचना थी। इस भ्रांति के निराकरण में स्व० नरोत्तमदास जी स्वामी को भँवरलाल जी नाहटा ने अपना पूरा सहयोग प्रदान किया। स्व० पूरणचन्द जी नाहर के

8२]

संग्रह में जटमल को गोरा-बादल की कथा की पुरानी प्रति थी ऐसा मालूम पड़ा। अंततः भँवरलालजी व पूरणचन्दजी नाहर ने अथक प्रयत्नों से बड़ी दौड़-धूप के बाद रॉयल ऐसियाटिक सोसायटी, वंगाल, के पुस्तकालय में इस पुरानी प्रति को खोज निकाल। इस प्रति के अवलोकन से यह सिद्ध हो गया कि यह रचना गद्य में न होकर पद्य में है। इस भ्रान्ति के निराकरण का अधिकतर श्रेय मेंक्स्लाल जी को जाता है।

श्री भैंवरलालजी नाहटा से मेरा परिचय बहुत पुराना है। उस वक्त जब गुणप्रकाशक सज्जनालय, बीकानेर की छत पर साहित्यगोष्टियां हुआ करती थीं उसमें नाहटाजी (दोनों), नरोत्तमदासजी स्वामी, नाथूरामजी खड़गावत आदि प्रख्यात विद्वान् भाग लेते थे। मैं भी यदा-कदा वहाँ जाया करता था। वहीं पर मैंने खड़गावतजी के मुँह से उनकी राजस्थानी रचना लाभूबाबा (नौकर री) सुनी थी। वह बहुत पसंद की गई।

भँवरलालजी में परिश्रम, लगन, निष्ठा जैसे दुर्लम गुण प्रचुर मात्रा में हैं। इसके साथ साथ उनमें मानवीय गुणों की भी कोई कमी नहीं है।

आप पर भगवती सरस्वती के साथ-साथ लक्ष्मी का भी वरद हस्त रहा है। साहित्य-सेवा तो आपकी प्रशंसनीय है ही व्यवसाय के क्षेत्र में भी आपने कौशल का परिचय दिया है जो किसी के लिये भी अनुकरणीय है।

- पुरुषोत्तमदास स्वामी, वीकानेर

साहित्य-जगत के अनुषम एवं बहुमुखी विद्वान, सरस्वती के लाखले व पूर्व जन्म के शुभ एवं संचित संस्कारों से ओवप्रोत नाहटाजी पर श्रुतदेवी की अपरंपार कृपा है। न जाने कितने जन्मों की साधना व पुण्यानु धी पुण्य हैं जो सिर्फ एक ही देवी नहीं साथ में लहनी देवी की भी सत्तव् कृपादृष्टि है जो कि इस प्रमाण में कितन हैं से दृष्टि-गोचर होती हैं। इतनो विद्वात होते हुए भी अहम् प्रहार तो क्या छू भी न सका। शायद ही किसी विद्वान में इतनो संख्ता, स्थिरता उपलब्ध होती हैं। स्वयम् में एक अनुकरण योग्य उदाहरण हैं जिसे समय में नहीं बांधा जा सकता है।

ऐसी विश्ल आत्माओं की प्रतिमा-विलक्षणता विज्ञापन-रहित साहित्य-साधना के माध्यम से विश्व में इत्रवत् सर्वत्र प्रसारित हो जाती है, क्योंकि साधना अपने आप में खुशबु हैं। आपश्रो के परिवार वाले में आपश्री की तरह ही सरल व ब्रह्म रहित हैं।

—डा० पुष्पा जैन. **ब**म्दई

स्वर्गीय अगरचन्द जी नाहटा सौभाग्यशाली थे कि उन्हें घर में ही एक प्रतिभाशाली एवं अनुपम सहायक व साथी श्री भंदरलाल जी उपलब्ध हो गये।

राजस्थान समाज प्रकाशन समिति के मंत्री के रूप में मैं उनसे दो-तोन वर्ग पहले मिला था। उस समय इनकी पुस्तकों की प्रतियाँ देखी. संपादित पत्रिकायं देखी. और देखा एक सरल व्यक्तित्व के पीछे प्रतिमा संपन्न आतमा प्रं सरस्वती की प्रतिमा।

[83

प्राकृत, पाली, संस्कृत, अपभ्रांश, वंगला, हिन्दी, राजस्थानी, ब्राह्मी, गुप्त आदि लिपियों के कम्प्युटर भाषाविद् को शतशः नमन । अभिनन्दन ।

—गोविन्द अग्रवाल

वे ज्ञान के कोष हैं, यह बात जितनी सच है उससे अधिक कठोर सत्य यह है कि उनका ज्ञान आच्छादित रहा है। उनकी उपादेय और गरिमामय साहित्य-सेवा एक उपलब्धि है।

जहाँ तक मेरा अनुभव है भाई अगरचन्दजी. भंवरलालजी नाहटा को लोग दो नहीं एक व्यक्ति मानते थे । यह भ्रम तो धीरे-धीरे दूर हुआ ।

माई अगरचन्दजी का नाम लेने से श्री मंवरलालजी का नाम स्वतः आ जाता था और इसी तरह वे एक दूसरे के पूरक थे। लेकिन सत्य यह है कि दोनों ने ही साहित्य की विशेषकर इतिहास के क्षेत्र में महत्वपूर्ण सेवाएँ दी हैं।

--पन्नालाल नाहटा. दिल्ली

आधुनिक युग में प्राचीन संतों की-सी भारतीय मनीषा को विश्व के सामने उजागर करने में जिन साधकों के नाम अग्रांक्ति में सादर प्रतिष्ठित हैं, उनमें श्रद्धेय नाहटा जी का नाम कुछ अधिक आकर्षण के साथ उमर कर आया है। भारतीय वाङ्मय में आपकी महिमा इसलिये नहीं है कि आप अपने में एक विश्व-कोष हैं बल्कि इसलिए है कि हमारी विज्ञुत सांस्कृत के विरासत जो कि पांडुलिपियों में कैद है, जिसकी लिपि को जानने वाले नहीं रह गए हैं, को आपने मुक्त किया। ज्ञान का अगाध स्रोत जो अनजाने शिलाखण्डों से रुद्ध रहा, उसे आपने अपनी वज्र-वृत्ति से उन्मुक्त किया, सर्व-साधारण के लिये बोध-गम्य बनाया।

—अरुणप्रकाश अवस्थी। केलकता

स्व० अगरचंदजी नाहटा (आपके काकाजी) एवं आपका समाज के प्रति उपकार का मूल्यांकन करना कठिन है। आप इस वृद्धावस्था में भी साहित्योपासना एवं समाज-सेवा में कार्यरत हैं एवं युवकों के लिये प्रेरणास्रोत हैं। —धनसुख छाजेब, खहाणु, महाराष्ट्र

> नहीं हटा सो नाहटा, भँवरलाल श्री नाहटा, निज धर्म औ स्वकर्म पे हरदम रहा छँटा। पाया गुरु परसाद, निरंतर करतब रत है. जिन शासन से प्यार व सेवा जिसका वत है।

-- प्यारेलाल मुखा, अमरावती

88]

मुणी जनों के मुग याद करना मानव का फर्ज है। नाहटाजी श्रीमान भँवरलालजी का अमिनन्दन समारोह मनाया जा रहा है सो अति ही आवश्यक कार्य होगा। नाहटाजी के लेख व कई एक प्रतियां पढ़ी जिससे यह अनुभव होता है कि ऐसे भौतिक समय में भी अध्यात्म-ज्ञान के लेख व कृतियां जादू-सा ही काम करके मानव जीवन को सफ्छ बनाने के छिये अति उपयोगी होते हैं। नाहटाजी की सरलता व सादगी व प्रेमभरा व्यवहार हमें हमेशा याद रहता है।

--मोतीलाल लघमनदास जैन, तलोदा, महाराष्ट्र

परमार्हत श्रेष्ठी आदरणीय मँवरलालजी नाहटा एवं उनके परिवार के साथ हमलोगों के सम्बन्ध सदा से अव्यन्त आहमीय और मधुर रहे हैं। स्वर्गीय अगरचन्दजी नाहटा की माँति श्री मंवरलालजी नाहटा को यदि धर्म, संस्कृति और साहित्य के महासागर में प्रकाश स्तम्भ की संज्ञा दें तो कदावित अत्युक्ति न होगी! निस्सन्देह वे इस क्षेत्र में एक निष्ठापूर्वक समित व्यक्तित्व हैं। यदि इस तथ्य को यूं स्पष्ट करें कि भारत के धर्म, संस्कृति और साहित्य के इतिहास में यदि किसी एक ही ऐसे नाम की गवेषणा करें जो अपने आप में एक पूरा अध्याय बन कर जुड़ गया हो तो श्री मंवरलालजी साहब के नाम पर आकर ठिठक जाना पड़ेगा। सुज्ञानों से परिचय प्राप्त करना मुझे प्रिय रहा है, पर आप जैसे ममंज्ञ कभी-कभार ही मिल पाये हैं। उनके समीप बैठने का मुझे जितना बार भी अवसर पड़ा. यही अनुमृति हुई मानों में किसी व्यक्ति के समक्ष न होकर किसी शब्दकोश के सामने बैठा हूँ। मेरी निजी मान्यता है कि ज्ञानसाधना शुद्ध स्वार्थ है, और शुद्ध स्वार्थ ही जब सम्यक् विस्तार करता है तो परमार्थ में परिवर्तित हो जाता है, इसी समीकरण से सिद्ध होकर श्री नाहटाजी समाज हेत्रु एक रत्न हो गये हैं। यद्यपि हमलोग अपने को परम्परागत जौहरी बताते हैं, पर ऐसे अनमोल समाज-रत्न का सही मोल ऑक पाना तो सम्भवतः मेरी सामध्य से परे है। उनकी ज्ञानगरिमा हार कर रह गई पर उनकी सहज सरल शालीनता पर किश्चित मी हावी नहीं हो पाई. इसे भी एक दुर्लभ संयोग मान लेना पड़ेगा। उनका अभिनन्दन करके हमलोग कर्त्तव्य मात्र कर रहे हैं, वस्तुतः यह आयोजन यदि प्रतिदिन भी किया जाता रहे. तो भी अल्प ही रहेगा।

--जयचन्द्र कोठारी, बीकानेर

अभिनन्दन समारोह के शुभावसर पर हम आपके प्रति श्रद्धा के सुमन अपित करते हैं। ---शैलेश खी० कापखिया, संपादक, जैनमित्र, सूरत

स्व० अगरचन्दजी नाहटा से मेरा परिचय था और मैं ३/४ बार सार्वजिनक समारोह के अवसर पर मिला भी हूँ। पर श्री मैंवरलाल जी नाहटा तो मुझे गुदड़ी में छिपे हुए लाल की तरह प्रतीत होते हैं। पांचवी कक्षा तक पढ़ा हुआ व्यक्ति इतना अप्रतिम प्रतिमा संपन्न कुशाग्र बुद्धि वाला ऐसा बेजोड़ ऐतिहासिक विद्वान एवं धार्मिक वृत्ति-वाला होगा, ऐसी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता है।

ऐसी योग्यता यूनिवर्सिटी के प्रमाण-पत्रों से नहीं आयी. बल्कि यह पूर्वीपाजित संस्कारवश जन्म से ही आयी है। श्री नाहटा जी दिव्य पुरुष दिव्यातमा ज्ञात होते हैं

--- ज्ञानचंद्र जैन, सह संपादक, जैनमित्र, सुरत

89

कोई पचास से अधिक वर्ष पूर्व जब मैं हिन्दी मासिक पत्रों को पढ़ने लगा. तब से ही अनेकानेक हस्तिलिखित जैन ग्रन्थों तथा अन्य हस्तिलिपियों की जानकारीपूर्ण लेखों के लेखक के रूप में श्री अगरचन्दजी के साथ श्री भंवर लालजी नाहटा का भी नाम जुड़ा देखता आया हूँ। राजस्थान से प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र-पत्रिकाओं में तो अनिवार्य रूपेण उनके लेख देखने को निलते रहते हैं। स्वतन्त्र रूप से उन्होंने एकाकी भी बहुत कुछ लिखा और कई ग्रन्थों का सम्पादन किया है। पुनः जनवरी १२, १९५३ ई० को उनके काका श्री अगरचन्द नाहटा के देहान्त के बाद तो यह सारा कार्यमार एकमात्र श्री मंवरलाल नाहटा के ही कन्धों पर आ गया है. जिसे वे पूरी साधना और लगन के साथ निवाह रहे हैं। ईश्वर से प्रार्थना है कि वे उन्हें शतायु करें ताकि शासन की सेवा करते हुए वे भारतीय इतिहास और साहित्य के संरक्षण और अध्ययन-विवेचन के इस कार्य को आगे भी सतत् करते रहें।

—रघुबीरसिंह, सीतामऊ

श्री मंवरलालजी नाहटा का व्यक्तित्व अश्राह सागर जैसा है। वे वर्तमान युग के महान दृष्टा, ज्ञाता, विचारक और जीवन-सर्जं हैं। वैसे सो धर्म, अध्यातम व साधना में ही उनका जीवन प्रवाह है, लेकिन कला, साहित्य, दर्शन में भी वे अनु हे और अदितीय हैं। उनका लेखन जीवन की गम्भीर गहराइयों व अनुमू तियों से उद्गमुत है।

बीकानेरवासी श्री नाहटा न केवल राजस्थान के गौरत हैं अपितु विश्व के उन गिने-चुने व्यक्तियों में से हैं जिन पर माँ सरस्वती की अनुपम कृपा रही है। किसी स्कूल काँलेज में नहीं पढ़ने के बावजूद भी उन-सा लिपि-ज्ञान विश्लों को ही नसीब होता है।

स्व० अगरचंदजी नाहटा व श्री भंवरलालजी नाहटा से मेरा परिचय काफी पहले से रहा है। समय-समय पर धार्मिक मसलों पर विचार-विमर्श, पत्र-व्यवहार होता रहा है। ऐसे महान व्यक्ति के बारे में जितना लिखा जाए थोड़ा है। वय में बड़ा होने के नाते में उनके शतायु होने की कामना करता हूँ।

—मानचन्द भंडारी, जोधपुर

महापुरुष श्री मंवरलालजी नाहटा से मेरी मुलाकात कलकता में जब 8 दिन रहना हुआ था तब तीन बार हुई। इसके बाद नाहटाजी अपने परिवार सहित एवं काका श्री अगरचन्दजी नाहटा (प्रसिद्ध पुरुष) सहित प्रतिष्ठा के समय पालीताना पधारे थे। मैं पालिताने में रहता था। तब ३/४ बार दोनों से मेंट हुई। उन्होंने उन्हीं दारा प्रकाशित दो पुस्तक मुझे मेंट में दीं। मैंने श्री मंवरलालजी नाहटा में सादगी. सरलता, गंभीरता, विनय, सन्तोष एवं परोपकार माव और ज्ञान-अध्ययन गुण देखे, यह भी देखा कि कोई उनसे प्रश्न करें तो वे निष्पक्षता से सही उत्तर देते हैं।

ज्ञान की विशेषता के साथ-साथ आपश्री व्रतधारी भी हैं। ज्ञान के साथ-साथ धार्मिक चारित्र, दोनों बातें, एक साथ किन्हीं विरले पुरुषों में ही देखने को मिलती हैं।

—एस० सोहनलाल गोलधा, कटनी

38

It is with great eclat, alacrity and enthusiasm that I write about Shri Bhanwarlal Nahata, a savant and sage, and a store-house of knowledge on Jainism. Shri Nahata has the history about himself by his sheer study and critical acumen and honesty, and by his industry, perseverance and achievements. But the fame of Shri Bhanwarlal Nahata is not confined to the above things alone, he is also credited with a number of works and articles amounting to nearly 3000 composed by him for the scholarly world. He is a great connoisseur of art and culture and has an unbounded interest in creative activities.

I met Shri Bhanwarlal Nahata more than 35 years ago in his 'gaddi'. A tall, bald-headed man of mid-century with bright eyes and sharp looks, but gentle and sobre, received me well with his ever smiling face that tells the personality of a man. Being enchanted and bewildered by his demeanour which is inundated with commanding beauty of person and great vigour of mind, we began to talk on a subject which he handled so easily that he could be compared with any master-minded scholars of the world. I was working then on a Rajasthani manuscript, entitled 'Kanhada Kathiyara-ri Caupai'. He helped me so much in editing and getting the meaning of text that I could not express his decuman knowledge of the subject in eloquent terms. I discovered that he was a good manuscriptologist. He reads manuscripts faster than a printed book. He is a good calligraphist as well. If one has not seen him reading manuscripts, one cannot believe it. He has contributed so much from manuscripts that Jainism owes its indebtedness to him for centuries more. He has done the works of hundred scholars by himself alone.

I have been to his place thousand times for acquiring knowledge on Jainism and I have learned so much from him that I do not hesitate to call him my 'Jaina-siksa-guru'. It is said—

ekam apy aksaram yastu guruh sesye nivedayet prthivyam nasti tad dravyam yad datva so'nrni bhavet

He is out and out a businessman and studies are his pastime pleasure job: abeunt studia in mores (studies become ways of life). He used to say to me that he had no formal education. By that he meant that he had no University degrees. I found him more than that. Gradually I have also discovered that a man like him does not need any University degrees. Though, it is true, he has no formal education in the University sense of the term, he has combined in himself the learning of an oriental pandit with the argus-eyed critical faculty of a modern scholar. I have seen that the University degree-holders have studied under him for solving various problems.

His knowledge on Jainism is superb and unsurpassed, beyond the cognizance of an ordinary student. He is, in fact, a self-made scholar and reads voraciously. He peruses and writes, and he writes faster than one can read them. When any idea is dawned in his mind, he sinks deep into it, till he reaches the end of the problem.

He has written nearly three thousand papers on Jaina religion and philosophy, culture and history, art and architecture, folk-lore and tradition, language and literature. There is hardly any branch on Jainism which is not touched by him: nullum quod tetigit non ornavit.

He is a polyglot. He knows Sanskrit, Prakrit, Pali, Apabhramsa, Bengali, Hindi, Rajasthani, Gujarati and several other languages. He has helped innumerable scholars in this line.

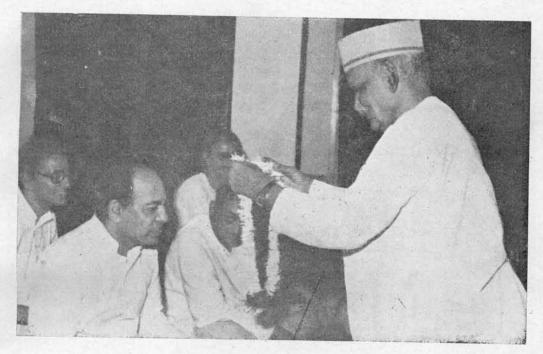
As far as I know he has no enemy; and he does not live in the realm of hostility. He is very courteous and bountiful, and is sympathetic towards young learners and scholars. He is a man of extremely simple and unostentatious habits and his attitude towards life and world is intensely religious.

Shri Nahata, a scholar and virtuoso, is an embodiment of the revival of Jaina glory, culture and history which he has unfurled for over fifty years of his life. With his unbounded zeal and inexhaustible fund of energy and unsurpassed skill, he has made himself a 'moving encyclopaedia' on Jainism, a rare honour which a non-academician can ever attain. His ideas are lofty and sacred in nature. He has an unquenchable thirst for knowledge. He is by nature taciturn, and values what is useful and seeks, what is worthy. His contributions are more thana. D. Litt.

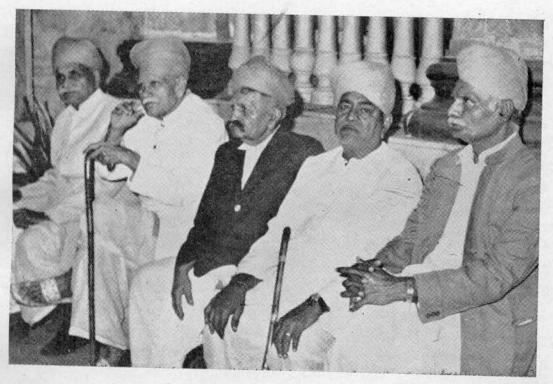
On this solemn occasion I pray to God for his hundred active life:

pasyema saradah satam, jivema saradah satam, srnuyama saradah satam,

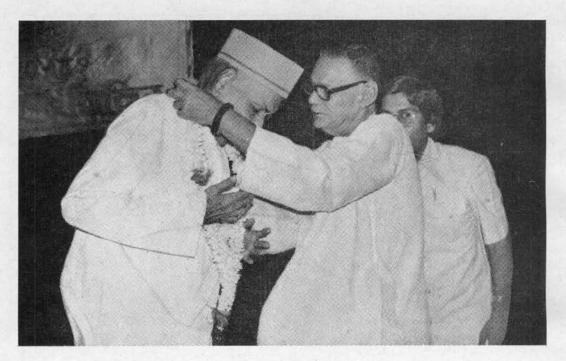
—Dr. Satyaranjan Banerjee Dept. of Comparative Philology and Linguistics, University of Calcutta



उदयपुर के महाराणा श्री भगवतसिंहजी को माल्यदान करते हुए श्री नाहटाजी



समवयस्क मित्र व आत्मियों के साथ—वाएँ से श्री नाहटाजी, स्व० हीरालालजी लूणिया, स्व० भैरुदानजी सुराणा, श्री मेघराजजी नाहटा, श्री दीपचन्दजी भूरा



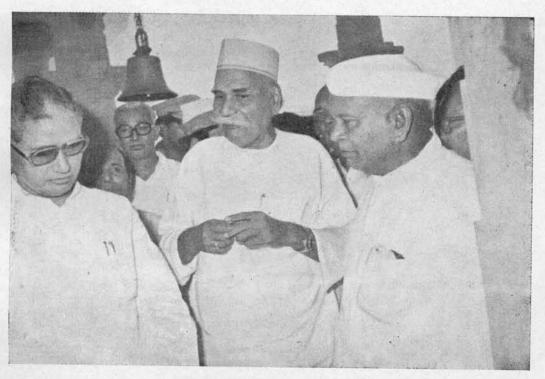
धार्मिक शिक्षण शिविर, कलकत्ता, के समापन-समारोह में श्री नाहटाजी को माल्यदान करते हुए जैन भवन के कर्मठ कार्यकर्त्ता श्री मोतिचन्दजी भूरा



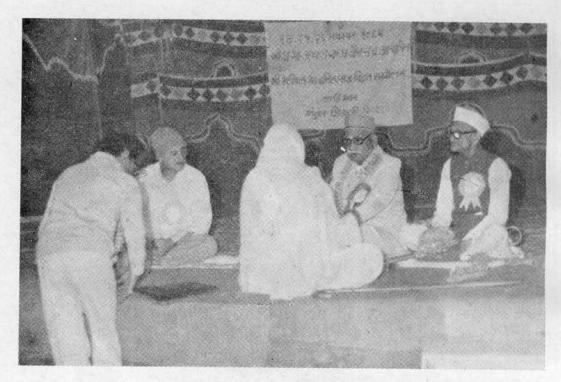
श्री जैन भवन पुस्तकालय, कलकत्ता, के उद्घाटन समारोह पर आयोजित पुस्तक-प्रदर्शनी में डा॰ सुनीतिकुमार चटजीं, श्री विजयसिंहजी नाहर आदि के साथ श्री नाहटाजी



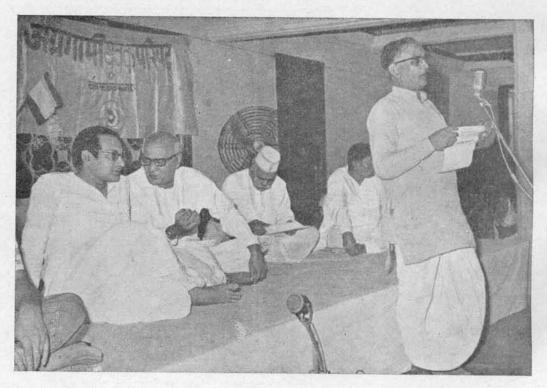
श्री अगरचन्द नाहटा अभिनन्दन समारोह पर नाहटाजी को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करते हुए तत्कालीन संसद सदस्य सुहम्मद उस्मान आरिफ



कम्पिल महोत्सर्व पर उत्तर प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल डा॰ एम॰ चेन्ना रेड्डी को मंदिर का इतिहास बताते हुए श्री नाहटाजी



मधुबन (शिखरजी) में समायोजित अखिल भारतीय इतिहासज्ञ विद्वत् सम्मेलन के सभापति रूप में श्री नाहटाजी



अग्रगामी युवक परिषद् के अधिवेशन में श्री नाहटाजी

माँ सरस्वती के वरद्वपुत्र, महान ज्ञानोघासक श्री भँवरलालजी नाहटा की जीवन-झांकी के दर्शन पाकर ऐसा लगा कि केवल पांचवीं कक्षा पास विद्यार्थी श्री नाहटाजी वास्तव में जन्म-जात स्वयंबुद्ध हैं, अपूर्व आमा-युक्त महापंडित हैं। आप संस्कृत, प्राकृत आदि अनेक माषाओं: चित्रकला, मूर्तिकला आदि अनेक कलाओं; ब्राह्मी-गुप्त आदि अनेक लिपियों के पूर्ण ज्ञाता हैं. महान साहित्यकार हैं. तत्ववेत्ता, इतिहासवेता, महान् चित्तक, महाकवि हैं। जिनशासन के रसिया हैं, सच्चे पुजारी हैं।

—शांतिलाल जैन 'नाहर'. होशियारपुर, पंजाब

आप साहित्यिक एवं इतिहासज्ञ तो हैं हीं. आपको कई लिपियों का मी ज्ञान है। जो लिपि पढ़नें में विज्ञ अपने को असमर्थ पाते हैं उसे आप उस लिपि के संकेत तैयार कर इतना स्पष्ट पढ़ देते हैं जैसे कोई अपनी मातृमाण (लिपि) पढ़ता हो।

आपमें मैंने एक विशेषता यह देखी कि आपको मातृभूमि का अधिक गौरव है। मारवाड़ से जब कोई बाहर अर्थ उपार्जन के लिये जाता था, तब बुजुर्ग यह हितशिक्षा देते थे--माया देश छोड़े पण, द,णी, पाणी (गौरव), रहेणो (वैषमुषा) मत छोड़े। यह तीनों बातें आपके जीवन में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है। इस दिशा में मातृभूमि का गौरव रखने वाले विरले ही मिलेंगे।

—भीखमचंद **मुणो**ल

श्री मान् नाहटाजी से मेरा घनिष्ठ पारिवारिक सम्बन्ध होने के साथ-साथ व्यक्तिगत भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी भी साहित्यिक एवं सामाजिक कार्य के लिये मैंने आज तक आपके मूंह से 'नहीं' शब्द नहीं सुना। क्योंकि आपके शब्दकीय में नहीं अथवा असम्भव शब्द है ही नहीं। जिस किसी भी कार्य को आपने हाथ में लिया उसे निष्ठापूर्वक पूरा किया। आपको अनेकों भाषाओं का ज्ञान है। अभी कुछ दिन पूर्व की बात है कि श्रद्धेय मुनिवर महोपाध्याय चन्द्रप्रमसागर जी में साल अपनी एक काव्य-पुस्तिका का आद्योपान्त हिन्दी से राजस्थानी में अनुवाद करवाना चाहते थे। इसके लिए उन्हें श्री नाहटाजी से उपयुक्त कोई व्यक्ति न लगा। संयोग की बात है कि पूज्य मुनिवर ने मुझे यह पुस्तक नाहटाजी से अनुवाद करवाने के लिये दी। श्री नाहटाजी ने सहर्ष पुस्तक ले ली। एक सप्ताह के उपरान्त मैंने श्री नाहटाजी को याद दिलाया। तब उन्होंने कहा कि अनुवाद आज कर दूंगा। मैंने सीचा कि १०० पृष्ठ की काव्य-पुस्तिका के अनुवाद में एक सप्ताह का समय अवस्य लगेगा। अतः एक सप्ताह बाद पुनः श्री नाहटाजी से कहुँगा। किन्तु अगले ही दिन प्रातः श्री नाहटाजी ने मुझे मूलकाव्य पुस्तिका व उसका राजस्थानी भाषा में अनुवाद एक खायरी में लिखकर मेरे हाथ पर दिया। में आश्वर्य के साथ सोचने लगा कि इतनी वृद्धावस्था में भी कितनी कर्तव्य-निष्ठा है इनमें ? विनम्न, शान्त-स्वमावी, सहिष्णु और मृदुमानी श्री नाहटाजी गुण-रत्नों की सान हैं। श्रीमान् नाहटाजी के विषय में साधारण सा व्यक्ति भी एक स्वतन्त्र ग्रंथ लिख सकता है। श्री नाहटाजी अनेक दशकों तक समाज, देश, साहित्य, धर्म की सेवा करते हुए हम सबके बीच रहें इस शुम-मंग्न कामना के साथ में श्री नाहटाजी का हार्दिक अमिनन्दन करता हूँ।

---प्रकाशकुमार दक्तरी, कलकत्ता

{88

प्रतिभासम्पन्न, आशुक्रवि, बहुविध व्यक्तित्व एवं कृतित्व के धारक, कलाविद्न, परमधर्मिष्ठ श्री मंवरलालजी नाहटा का अभिनन्दन शीप्र ही किया जाएगा—संवाद से मेरा मन-मयूर थिरक उठा। क्यों न थिरके ? किसी बहुश्रुत और उपकारक विद्वान, का अभिनन्दन हो तो थिरकना स्वामाविक है।

नाहटा बन्धुओं—हर् अगरचन्दजी ए। श्री मंवरलालजी नाहटा से मेरा सम्पर्क आज का नहीं है । चार दशाब्दियों से भी अधिक समय से सम्पर्क रहा है, जो अब घनीमूत हो चुका है। इन दोनों के ही मेरे जीवन पर परम उपकार रहे हैं। इनके सम्बन्ध में पूर्व में भी में 'प्रतिष्ठा लेख संग्रह' एवं 'अगरचन्द नाहटा अभिनन्दन ग्रन्थ' में अपने भावोद्गारों को प्रकट कर चुका हूँ, तदिव उन स्मृतियों का अब भी मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ, अत्वव पुनः अंकन कर रहा हूँ।

वि० सं० २००० में मेरे परमाराध्य सहज्ञान चूड़ामणि परमक्रियापात्र पूज्य गुरुदेव श्री जिनमणिसागरसूरिजी महाराज के सान्निध्य में मेरा चातुर्मास शुभविलास. बीकानेर में था। उस समय मेरी अवस्था १५ वर्ण की थी। यहीं से मैं इनके सम्पर्क में आया. नहीं-नहीं, इन्होंने मुझे अपने सम्पर्क में लिया और कुशल शिल्पी की तरह मेरे जीवन का निर्माण करने की ठान ली। अपने पुत्र पारस के समान ही मुझ पर वात्सल्य/धर्मस्नेह रखते हुए, मेरी जीवन की गति/प्रवाह को मोड़ देना प्रारम्भ कर दिया।

सर्वप्रथम इन्होंने हस्तिलिखित ग्रन्थों की लिपि को पढ़ने की ओर मुझे प्रेरित किया। अभ्यास बढ़ने पर पिंड-मात्राओं का ज्ञान कराया। इसमें गित होने पर इन्होंने मूर्तिलेखों की लिपि का ज्ञान कराया और साथ में बैठकर अभ्यास करवाया। जब इसमें भी मेरी गर्त बढ़ने लगी, तो मुझे प्रोटसाहित करते हुए पाण्डुलिपि करने की कला भी सिखाई। प्रेरणा. परामर्श, सहयोग और ग्रोटसाहन दे-देकर इन्होंने मेरी गतिविधि को साहित्य-सेवा की ओर उन्मुख कर दिया. सूत्रधार की तरह संचालन कर दिया। फलस्वरूप मेरे जीवन का लक्ष्य बदला और प्रयत्न करते हुए मैं कुछ बन गया। आज मैं जिस रूप में भी हूँ और जो कुछ भी हुँ, उसकी नींव इन्होंने ही डाली।

मेरे जीवन का निर्माण करने में, योग्य बनाने में इनकी प्रवलतम् महती अभिलाषा थी कि मैं सरतराच्छ का एक असाधारण विदान, लेखक और गच्छ का अम्युद्य करने वाला बनूं। पर काश में ने उनकी अभिलाषा की पूर्ण करने के स्थान पर उसे आच्छन ही नहीं, बल्क तहस-नहस भी कर खाला। इसमें मेरी ही ब्रुटियां, दुर्बलतायं, आचरण और आवेश मुख्यतः दोषी हैं।

इतना सब कुछ घटित हो जाने पर भी मेरे प्रति तो उनका वात्सल्यवत् असीम स्नेह, गुरुतुल्य श्रद्धामाव, सौहार्द और सन्नित्रभाव पूर्वत् आज भी सुरक्षित है। इसमें तिनक भी कमी नहीं आने पाई है। इसे मैं इमकी महानता ही कह सकता हूँ। यह हुई आप बीती।

वि० सं० १९८४ में सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्री जिनकृपाचन्द्रस्रिजी महाराज एवं उपाध्याय श्री सुखसागरजी म० के बीकानेर चातुर्मास में नाहटा-बन्धु अगरचन्दजी मंवरलालजी उनके घनिष्ठ संपर्क में आए। उनके संसर्ग में आने से इन दोनों की जीवनधारा में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और तभी से ये दोनों श्रेष्ठीपुत्र से सरस्वतीपुत्र बनते हुए महान् से महान्तम् बनते चले गये।

प्**र**्]

इन दोनों काका-भतीजों का साहिष्टियक-जगत् की प्रत्येक गति-विधि में इतना अधिक सामञ्जस्य रहा है कि ये प्रस्पर एक-दूसरे के पूरक बनकर अभिन्न/अदौत रूप में आगे बढ़ते ही रहे। इन दोनों के कार्यों का विभागीकरण करना वस्तुतः टेढ़ी खीर है। किन्तु इनकी वह अजस्रवारा भी कुछ वर्गों से नान और अर्थ की दृष्ट से एक पक्ष की और से सम्बद्धत होती हुई-सी दृष्टिपथ में आती है।

इन दोनों के सम्मिलित एवं सक्रिय प्रयहनों से दो वैशिष्टचपूर्य एवं चिरस्थायी कार्य सम्पन्न हुए थे:

- १. अभय जेन प्रन्थालय (वीकानेर) जैसा विशालतम संग्रहालय स्थापित हुआ। जिसमें ७० हजार हस्तिलिखित ग्रन्थ, लगभग ४० हजार मुद्रित पुस्तकें, खताधिक पत्र-पत्रिकाओं की फाइजें, राजाओं, आचार्यों आदि की पत्राविलियों और सहस्राधिक ग्रन्थों की पाण्डुलिपियां सुरक्षित हैं। संग्रहालय की सामग्री का उपयोग कर शताधिक शोधार्थी पी० एच० डी० कर चुके हैं।
- २. शंकरदान नाहटा कल। भवन की स्थापन। । इसमें प्राचीन चित्र, चित्रपष्ट, पुरातात्विक अवशेष, मुद्राएं, सचित्र ग्रन्थ, काष्ठ-पट्टिकाएं एवं विविध प्रकार की सामग्री प्रचुर परिमाण में संग्रहीत है।

श्री मंदरलालजी के कलकता रहने के कारण एउं श्री अगरचन्दजी के स्वर्गदास के पश्चात् ये दोनों संस्थायें दुर्व्य-वस्या के चंगूल में जकड़ती जा रही है ।

यहाँ पर यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि मंवरलालजी के शताधिक लेख अगरचन्दजी के नाम से भी छपे हैं ! सर्वेदा अगरचन्दजी के वशंदद होकर चलने में ही इन्होंने अपनी गरिमा समझी है ।

8२ वर्षों के सतत् सम्पर्क में मैंने श्री भँवरलालजी में जो कुछ वैशिष्टच देखा, उसका संक्षिप्त लेखा-जोखा अब प्रस्तुत करता हूँ।

- १. आशुकित हैं। किवपदधारक न होते हुए भी, प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी भाषा में तत्क्षण छन्दो-बद्ध रचना कर लेते हैं। रचना में यत्र-तत्र व्याकरण की दृष्टि से स्खलना अवश्य हो जाती है. किन्तु भावों की दृष्टि से रचना प्रशस्त हो होती है। भक्तामर स्तोत्र का हिन्दी पद्यानुवाद तो एक रात्रि में ही पूर्ण कर दिया था।
- २. विधिवत् क्रमिक अध्यक्षन के अमाद में भी प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती माषाओं का अच्छा ज्ञान है। पढ़ने और अर्थ करने में भी पूर्ण दक्ष हैं।
- 3. ग्रन्थों की पड़िलिपि मात्रा के अतिरिक्त प्राचीन मूर्तिलेखों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों की उत्तर भारतीय लिपि पढ़ने में सिद्धहस्त हैं। यही नहीं, ब्राह्मी और कुटिल लिपि के लेखों को भी दक्षतापूर्वक पढ़ लेते हैं।
- भूतिकला और चित्रकला की सूक्ष्यताओं का विशिष्ट ज्ञान है और उसमें अच्छी पैठ है। कालानुसार उसका निरूपण भी गहराई के साथ कर लेते हैं।
- थ्, अक्षर सुवाच्य, सुन्दर एवं मनमोहक हैं । साथ ही सूक्ष्य अक्षर लिखने में भी सिद्धहस्त हैं । मेरे जैसा तो उसे आईंग्लास बिना पढ़ नहीं पाता।

[હુવ

- ६. रेखाचित्र, संस्मरण और कहानियाँ लिखने में अत्यन्त निष्णात हैं। राजस्थानी और हिन्दी देनों में लिखते हैं। पात्र का चित्रण अत्यन्त सजीव और मार्मिक होता है। पुस्तक पठनीय है।
 - ७. लगमग दस वर्थों से एकाकी ही 'कुशल निर्देश' मासिक पत्रिका का सम्पादन सफलता पूर्वक कर रहे हैं।
- प् स्वतन्त्र रूप से लिखित, अनुदित, संपादित, संशोधित पुस्तकें एवं शताधिक लेख भी विभिन्न पत्र-पत्रि-काओं, अभिनन्दन-स्मृति ग्रन्थों में प्रशाशित हो चुके हैं। और अब भी निरन्तर लिखते रहते हैं।
- ९. आज मी खरतरगच्छ का इतिहास, वच्छावत वंश का इतिहास, विचाररत्मसार का अनुवाद, सहजानन्द पत्रावली आदि के कार्य भी उसी मनोवृत्ति और लगन के साथ पूर्ग करने में संलग्न हैं।
- १०. इतने अधिक निःस्पृह हैं कि कोई भी कलात्मक वस्तु, ग्रन्थ या मुद्रित पुस्तकें प्राप्त होती तो तत्काल ही उन्हें काकाजी के पास संग्रहालय हेतु भिजवा देते थे । अपनी कहकर, अपने पास नहीं रखते थे ।
- ११. पारिवारिक सम्बन्धों में अग्रजों के कारण आधिक हानि भी उठानी पड़ी, तो उसे मूक दर्शक की तरह सहते रहे। वड़ों के प्रति उनके हृदय में आदर-बहुमान होने के कारण कभी मुंह नहीं खोल सके। सम्पत्ति को कर्माधीन ही समझ कर शान्ति धारण कर ली। इससे अधिक समस्व मिलना भी दुष्कर है।
- १२, धर्म, आगम, साहित्य, कला, इतिहास और पुरातत्व के अधिकृत विद्वान हैं। इस सम्बन्ध में कोई लेखक तथ्यविरुद्ध लिखता है, तो तत्काल ही पत्राचार द्वारा या लेख द्वारा आलीनता के साथ वस्तुस्थित का दिग्दर्शन करा देते हैं। यदि कोई भाषण के मध्य में मननाने दंग से विपरीत प्ररूपणा करता है, तो तत्क्षण ही जोशीली वाणी में प्रामाणिकता के साथ निराकरण कर देते हैं।
- १३. जिस कार्य को कृत-संकलप होकर हाथ में ले लेले हैं. तो खान-पान. आराम को मूलकर साहसपूर्वक एक आसन से घंटों तक बैठकर उसे पूर्व करके ही विश्राम करते हैं। चाहे प्रतिदिन १५-१६ घंटे भी काम क्यों न करना पढ़े। आज भी दलती अवस्था में भो इनकी यही मनोवृत्ति है।
- १८. नाम-लिप्सा रखे बिना आज भी अन्य लेखकों और सम्पादकों की पुस्तकों के संशोधन और प्रूफ आदि रात्रि में देखते ही रहते हैं।
- १५. एक समय जयन्तो के अवसर पर प्रसिद्ध विद्वान् मुनि श्री नगराजजी ने श्री पूज्य जिनचन्द्रसूरिजी को 'युगन्नज्ञान' और श्रो पूज्य जी ने उन्हें 'राष्ट्रसन्त' की उनायि से अलंकृत किया, तो इन्होंने उसी समय 'दासानुदासा इव च:हुकारा'''' पद्य बनाकर, मुनिश्री को सम्बोधित कर दिया था। निर्मयतापूर्वक विरोध करने में तिनक भी नहीं हिचकिचाते हैं।
- १६. विनम्रता और शिष्टता की प्रतिमूर्ति हैं । अशिष्ट वाक्यों का प्रयोग यहाँ तक कि उपहास में भी अशा-लीनता इनको किंचित भी रुचिकर नहीं हैं । एक संस्थरण स्मृतिपटल पर उमर रहा है :

वि० सं० २००१ में ये कटिदर्ध से अत्यधिक पीड़ित थे। वैठना या वैठकर काम करना इनके लिये दूमर था। फिर भी ये उन्हें लेटकर घण्टों तक प्रतिलिपि करते रहते थे। श्री जिनपानोपाध्याय की खरतरगच्छ मुर्वावली के

पूर]

अनुवाद की मैंने प्रतिजिदि करवाई थी। व्याधिग्रस्त अवस्था में भी लेटे-सेटे उसका मिलान करवा रहे थे। मिलान करते समय प्रसंग आया—"जिनपतिसूरिजी के साथ शास्त्रार्थ में निरुत्तरित हो जाने से आ० पद्धमप्रम की नानी मर गई।" मुझमें वचपना तो था ही। मैंने उसी समय जोर से आवाज दी—"देख पारस, नानी मर गई।" पारस मंदरलालजी का ही सुपृत्र है। समदयस्क होने के कारण हम साथ में खेला भी करते थे। उक्त शब्दों को सुनते ही इन्होंने आक्रोश और विनम्रतापूर्वक मुझे छाँटा और समझाया भी। "आप क्या बोल गये हैं, आपको ध्यान भी है? इन शब्दों का अर्थ क्या होता है? आप साधु हैं, अतः आपको सोच-विचारपूर्वक माणा का उपयोग करना चाहिए। आप को पारस को बुलाकर कहना ही था, तो 'पारस । शाखार्थ में पद्मप्रम की नानी मर गई' कहना था। आगे-पीछे के वाक्यांशों को छोड़कर, बीच के वाक्यों को पकड़ने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। आप जानते हैं न ? मत-मतान्तरों के उद्भव भी अपूर्ण वाक्याविलयों से हुए हैं और होते हैं। मूर्तिपूजा के विरोध के रूप में स्थानकवासी और तेरह पंथ का उद्भव भी अपूर्ण वाक्यांशों का ही परिणाम है।"

उस समय यह फटकार मुझे अखरी भी। किन्तु मेरे लिये वरदायी बन गई।

१७. ज्ञान और अर्थ समृद्ध होते हुए भी इनके जीवन में निरिममानता. निश्च्छलता और निःस्पृहत्व है। इसका प्रमुख कारण है जीवन में धार्मिक संस्कारों की परिपूर्णता। परमधर्मनिष्ठ होने के कारण १७ वर्ष की दीर्घ पर्याय एवं चरण में तकलीफ होते हुए भी नियमित रूप से देव पूजन करने मंदिर जाते हैं। गुरु विद्यमान हों तो वहाँ भी जाते हैं। प्रातः सामायिक करते हैं। रात्रि मोजन कदापि नहीं करते हैं। तपश्चर्या भी करते हैं। पर्युषण में तेला करते हैं। इनकी धर्मिनिष्ठा के कारण परिवार में भो धार्मिक संस्कार दिवान होते हैं। परिनन्दा में भाग/रस नहीं लेते हैं और गुग ग्रहण करने में पीछे नहीं रहते हैं। किसी में गुणों को देखकर उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए अधारी नहीं हैं।

१५, खरतरगच्छ के सुद्ध स्तम्भ और अनम्य भक्त हैं। इन ज्ञानवृद्ध की समानत। में वैठने वाला खरतरगच्छ के चतुर्विध संघ में आज कोई भी दब्दिगोचर नहीं होता है।

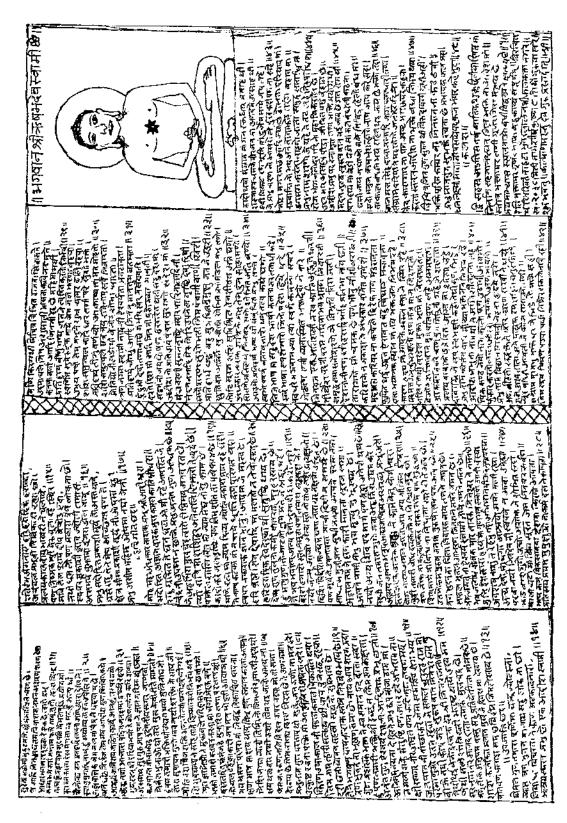
१९. बड़ा मंदिर और जैन भवन, कलकता, सम्मेतिशखर तीर्थ कमेटी आदि बीसों संस्थाओं से सम्बद्ध हैं । उनकी व्यवस्था में अपने तन एवं समय से योग भी देते हैं ।

काकाजी श्री अगरचन्दजी नाहटा के स्वर्गवास के पश्चात् मँवरलालजी साहव हतोत्साहित नजर आते हैं । ये मानते हैं कि 'मुझे निर्देश और सक्रिय प्रेरण। देने वाला साधी नहीं रहा' । इस कारण इनका मन उचाट-सा भी रहने लगा है ।

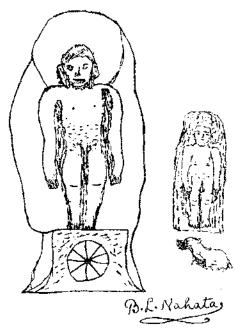
अन्त में गुरुदेव से मैं यही प्रार्थना करता हूँ कि वे श्री भँवरलालजी साहब में आन्तरिक शक्ति स्पृरित करें जिससे कि यह ज्ञानवृद्ध दीर्घकाल तक स्वस्थ रहता हुआ पूर्ववत् साहित्य-सेवा में तन्मय रहे त्रोर धर्मिष्ठों एवं साहित्य-सेवियों का मार्गदर्शक बना रहे। इसी शुभाशंसा के साथ श्रद्धा सुमन अपित करता हूँ।

—महोपाध्याय दिनयसागर

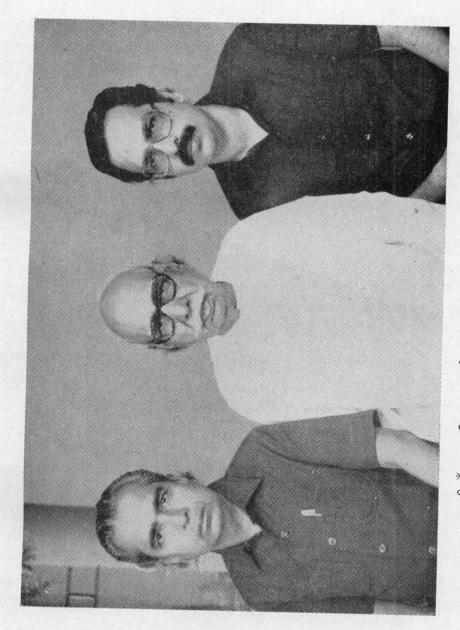
श्री मक्ताम्रर गूर्जर माषाबद्भ काव्यम् —श्री मैंवरलालजी की सूक्ष्त अक्षर लेखन कला का नमूना



व्यक्तित्व



तीर्थंकर मूर्ति, श्री सूरजपहाङ्ग्वालपाङ्ग, असम श्री मेंवरलालजी कृते रेखा-चित्र



श्री भेंबरलालजी नाहटा अपने सुपुत्र पारसकुमारकी व पद्मचन्दजी के साथ

श्री भँवरलाल नाहटा

—शास्त्री शिवशंकर मिश्र

जीवन स्वयं एक साधना है और सिद्धि की प्रतीति भी। जीना, जीनेकी कामना और जीनेकी जीवन का लक्ष्य बनाये रखना, तीनों ही चेंब्टायें साधारण मानव-जीवन में अभीब्ट होती है। पर महापुरुपीं, चिन्तकों व मनीबियों के जीवन की कलायें इनसे सर्वथा भिन्न होती हैं। वस्तुतः अन्तर हक्ष्य में है। जीने के लिये जीना एक अलग चीज हैं, जीने को शाश्वत बनाये रखने की साधना अलग हैं। इसी प्रवृत्तिगत मेद में मानवजीवन की साधना-विधाओं में भी अन्तर हो जाता है। मौतिक सुख की खोज में व्यस्त जीवन के क्रियाकलाप और आध्यात्मिक सुख की सिद्धि की साधना तथा सामाजिक सुख-समृद्धि की कामना को प्रतिफलित करने की रससाधनाओं में पर्याप्त अन्तर राल होता हैं। परन्तु कुछेक कर्मयोगी ऐसे भी होते हैं, जो भौतिक, आध्यात्मिक व सामाजिक सभी सुखों के प्रयास में सामंजस्य बनाये रखने में सफल होते हैं। ऐसे महामानव प्रायः विश्ले ही होते हैं। प्रारब्ध इनके लिये इस्तामलक वत् होता है। ये संचित कर्म के प्रातिमद्यान के धनी होते हैं और इसीलिये इनके क्रियमाण कर्म इन्हें सशक्त बनाये रखने में समर्थ होते हैं। ऐसे विरल कर्मठ व्यक्तियों का जीवन प्रायः आत्मोन्मुख ही होता है क्योंकि आसिक में इनकी आस्था नहीं होती. केवल कर्म ही अथ होता है और वही इति भी। सम्मान, यश और प्रतिष्ठा इनके मोग्य नहीं। श्रद्धा और आदर इनको देय हैं, ग्राह्च नहीं। सम्भवतया इसीलिये श्रेय और प्रेम दोनों ही इन्हें दुंदते फिरते हैं। समाज की सजग चेतनायें इनके समक्ष स्वयं श्रद्धावनत होती हैं और इन्हें अपनी कृति का सुयश प्राप्त करने का सहसा अवसर प्राप्त हो जाता है।

अपनी स्वामाविक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने का जो मुझे अवसर मिला है. उसकी प्रतीति के आधार 'श्री नाहटा-बन्धु' हैं।

डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने श्री अगरचन्द नाहटा और श्री मँवरलाल नाहटा की इसी नाम से पुकारा है और इनकी देन को विज्ञापनरहित साहित्य-साधना की अमर प्रवृत्ति की संज्ञा दी है। मेरा अपना सम्पर्क दोनों ही चिन्तकों से रहा है। आप दोनों चाचा और मतीजे हैं। एक साधना है तो दूसरा सिद्धि। इनके पूरक प्रयत्न इतने मिश्रित हैं कि "को बड़ छाट कहत अपराध्, गणि गुण दोप समुझिहिंह साधू", महात्मा नुलसीदास की विनम्न प्रार्थना ही स्टायक हो पाती है। वैसे एक कारण है तो दूसरा कार्य, एक प्रतीति है तो दूसरा प्रतिकलन, एक ज्ञान है तो दूसरा मिल या महाप्राण निराला के शब्दों में एक विनल हदय उच्छ्वास है तो दूसरा कान्तकामिनी कविता का प्रतीक। फहतः जीवन, जीवन की विधि, उसकी गति व जीवन की समस्त सारमूत प्रक्रियाओं में अभेद समानता इन्हें पृथक् रूप में नहीं देख सकती। वैसे सेव्य-सेवक मावनाओं में जो एकरसता है, वह अनिवार्य रूप से इनमें आत-प्रोत है।

श्री मँवरलालजी नाहटा के व्यक्तिगत, सामाजिक, साहित्यिक व आध्यात्मिक जीवन की झाँकी यहां में प्रस्तुत करने जा रहा हूँ । प्रस्तुत आकलन अंतरंग साहचर्य को कहाँ तक सजीव बना सकेगा, सहदय पाठकों की

90

प्रज्ञाचक्ष् ही इसे विश्वास दे सकेगी । इस गम्भीर चेतना-पूंज, सरस्वती के वरदू-पुत्र के जीवन का जितना भी अंश साकार हो सकेगा. उतनी अपनी समझ, शेप अपनी अल्पज्ञता की विवशता ही होगी। शास्त्र कहता है---''क्वचित्र-खल्वाट निर्धनम्'', यह धन-सम्प्रति, भोगोपकरण भी हो सकते हैं और विद्या-बुद्धि, यश, मान, ज्ञान और मिक भी । प्रशस्त ललाट, मांसल-एकंघ, विस्तृत वक्षस्थल, घनी मुंछें, निर्मल दृष्टि तथा चिन्तन शील भक्टि-विलास, आपके प्रमावशाली व्यक्तित्व के प्रतोक हैं, रीति नीति परम्परा के परिवेश में अतीत के उज्जवल व तपस्यारत महर्नि के ओज़से आमासित मध्यरूप सहज आकर्षक बन जाता है । लक्ष्मो आपको प्यार देती है और सरस्वती प्रातःकालोन सनीर के समान दुजार तथा शक्ति स्वयं अनवरत अध्यवसाय की सतत् प्रेरणा में दत्तन्ति रहती है । मगवान् महावीर का अनुशासन आपको आत्नवीध देता है और सद्गुरु सहजानन्दचन की दीक्षा आपको आत्नवल । संयम आपका आचरण है आर अध्ययन आपको आत्मनिष्ठा। निष्काम कर्म आपमें साकार हुआ है और ध्यान व धारनाओं की संगति ने आपके भीतर और बाहर की अनुभृति और कृतिको समन्वित कर रखा है। निर्मेल चित्त, विमल मानस तथा तपःपूत आचरण जिस दुर्लम व्यक्तित्व का निर्माण कर सके हैं. वह अन्यत्र दुर्लम है । आश्चर्य यह है कि नितान्त आत्मोनमुख होकर भी आपका साम।जिक जीवन इतना व्यस्त है कि अन्तर्विरोध के कारण भी कारणों का आधार चाहते हैं। सम्भवतया बोध की स्थिति में व्यक्ति व्यक्ति न रहकर समाज हो जाता है। समरसता शायद समर्हाष्ट्र की अमर साधना का ही फल होती हैं । कहते हैं कि अनुभूति की तीवता ही अभिव्यक्ति की आधारशिला होती है और इसोलिये संवेदनशोल प्रकृति साधारणीकरण के आवेग के प्रवल प्रवाह को रोक नहीं पाती. और इसीलिये आपमें अवरोध नहीं. अस्वीकार नहीं । जो कुछ है सहज है, सरल है, ग्राह्य है और अनुकरणीय है ।

एक धनीमानी और समृद्ध परिवार ने आपको जन्म दिया है। अभाव के संसार से दूर, भावनाओं के संसार में आत्मविश्वास के चरण सतत् गतिशोल रहे हैं। इसका प्रधान कारण एक वृहत् परिवार की संयुक्त व समन्वित पवित्र प्रेरणा, परिचर्या तथा पावन परम्परा ही रही है। अर्थ, धर्म और काम के लिये जीवन कभी व्यग्न नहीं हुआ। पूर्वज कर्मठ थे। पिता श्रो मेंस्दानजी तथा पितृव्य श्री शुमराजजी, मेधराजजी, व अगरचन्दजी की छत्र-छाया में साधना और सिद्धि की मौतिक संतुष्टि आपको तीनों ही पुरुषाशों को सुलम बना रखी थी। आज भी वही वातावरण बना रहा है। पितामह श्री शंकरदानजी की व्यावहारिक एवं व्यापारिक कुशलता आपको निद्धंत, निर्भीक एवं निरापद वनाने में सहायक हुई है यह अस्त्रीकार नहीं किया जा सकता। इतने वड़े कुदुम्त में व्याप्त पूज्य-पूजक भावनाओं की धानिक तिहुक्ता आज के त्रेयक्तिक परिवारों की दुनिया में अत्रम्मत्र नहीं तो दुर्जन अत्रश्य है। अर्थोपार्जन व कर्मभोग की स्वामाविक गति में धर्म-साधना का मण-कांचन संयोग भी आपके परिवार की ही विशेयता रही है। साधु-समागम, तीर्थाठन, जब, तप, दान व मन्दिर-निर्माण, धार्मिक-उदसवों के अवसर पर सक्रिय धार्मिक कृत्य आदि त्याग, संयम व अपरिग्रह की मनोवृत्ति परिवार के प्रत्येक प्राणी के लिए अभीष्ट है। फलतः कर्तव्य-निष्ठा के साथ-साथ आपकी प्रकृति में सौजन्य, कुलीनता तथा निर्ममानी व्यावहारिक, सामाजिक व धार्मिक चेतना का समन्वय मिलता है तो आश्वर्य नहीं, वरन्न संतोष ही होता है। आप कुलदीपक हैं, परिवार की मर्यादा हैं, अपने सागाज के प्रकाश-स्तम्म हैं और अपने जीवन की ज्योति हैं जो अनेक जन्म-सिद्धि के रूप में आपको अनायास सुलम हुई है।

धूफ]

वस्तुतः मेरा अपना परिचय सर्वप्रथम श्री पारसकुमार से हुआ था। ये पूर्णतया आपकी प्रतिकृति हैं। "आत्मा व जायते पुत्रः" की प्रतिति तो मुझे आपके सान्नध्य से ही प्राप्त हुई है। परम सुशील, संयमी, सम्य व पूर्ण व्याव-हारिक पुत्र, जो सम्पत्तिशाली कहे व माने जाने वाले वर्ग के परिवारों में खोजने से ही प्राप्त हो सकते हैं, मुझे यह आभास दे दिया था कि धन की परिधि में भी धर्म के केन्द्र बिन्दु, मानवता, सज्जनता, सहृदयता का अभाव नहीं है। ठीक यही माव मुझे प्रिय अनुज श्री हरखचन्द के साहचर्य से झात हुआ। मुझे वे आपके पूरक प्रतीत हुए। मौतिक एवं शाध्यात्मिक प्रकृति के अद्भिता समनवया, जहाँ आँसुओं की कीनत है, विराण का राण है और है अनुराण में विराण की अद्भात झजक। हरखचन्दजी सम्भवतया आंसू और मुस्कान के बीच की कड़ी हैं। धर्म उनका सन्यक है, अर्थ उनकी प्रेरणा है और काम उनकी सृष्टि का संस्थान। शीज और संकोच जो आदर और सम्मान की भूमिका अदा करते हैं, आप दोनों भाइयों को ईश्वरप्रदत्त हैं। मेरा तालपर्य मात्र इतना ही है कि श्री मैंवरलाल जी की परिधि इतनी सान्त व मनोहर है, इतनी सर्जनकील व प्रभुताविहीन है कि ऐसी परिस्थित में ही उनके सम्पूर्ण गुणों की परख हो सकती है।

सत्य. अहिसा, अस्तेय व अपरिग्रह आदि जैनधर्म के मुल-भूत सिद्धान्तों की विस्तत व्याख्यायें हैं. विविध परिणतियाँ हैं । साध व गृहस्थ-धर्मों के पृथक पृथक आचरण भी हैं । विधि-निर्पेध की विभिन्न मर्यादाओं की भी सीमावं नहीं हैं। लेकिन सतत् जागरूक व्यक्ति मत-मतान्तरों, दार्शनिक-विवादों एवं विधि-निर्पेधों से ऊपर होता है। सिद्धान्त वस्तुतः आचरण की मर्यादा निर्धारण करने में सहायक होते हैं। वे स्वयं आचरण नहीं होते फलतः विश्वासों में तर्क, सिद्धान्त के निर्गय के लिए गौण वन जाते हैं । कर्त्तव्य श्रद्धा चाहता है और आचरण सामाजिक विश्वास । या थोड़ा ऊपर उठने पर हम क्हेंगे कि आचरण आत्मविश्वास चाहता है जिसमें पर का भी समान अस्तित्व होता है। वस्तुतः परम्परा-निर्वाह अन्य वस्तु होती है और कर्त्तव्यनिष्ठा अलग । यदि कहीं दोनों का सम्मिश्रग उपलब्ध होता है तो वह अद्भुत होता है। इसीलिये साधारण व्यक्तित्व से वह व्यक्तित्व विशेष हो जाता है और उसे हन महान् आतमा कहने को बाध्य होते हैं । श्री मँवरलालजी में जैनधर्म साकार दृष्टिगोचर होता है। जहाँ जो कुछ है. मनसा-वाचा-कर्मणा है, दिधा नहीं और इसीलिये दिधा के प्रति आवेश भी नहीं । आक्रीश नहीं और न ही शिकायत ही है क्योंकि आवरण में किफायत नजर नहीं आती। यहाँ परम्परा है। परम्परा की आनुभृतिक धरोहर है। तर्ह और सिद्धान्तों के मनन की चिन्तनधारा है, विश्वास और श्रद्धा है। तेरापंथ भी उनके लिये उतना ही सहज वोध्य है, जितना मन्दिर मार्ग । यहाँ धर्म वाह्याखम्बर नहीं जितना दिखादा है, वह लोकाचार है । फलतः आपकी साधना एकांगी नहीं, सर्वांगीण है। मुनि जिनविजय तथा मुनि कांतिसागर, कृपाचन्दसूरि और श्री सुखसागरजी. मुनि पुण्यविजय, श्रो हरिसागरसूरि, मणिसागरसूरि, कवीनद्रसागरसूरि के सत्संग ने आपको धर्म-चेतना दी है तो मुनि नगराज, मुनि महेन्द्रकु शर 'प्रथम' जैसे व्यक्तित्व ने आपको अपना स्नेह दिया है। बुद्धिगम्य-प्रहण आपकी मानसिक पुकार है. संस्कार-जन्य स्वीकार आपके हृदयं की । नयन की भीख भँवरलालजी को अनुकूत है. पर अन्तरचेतना की पावन धारा, जिसमें आपका मन अवमूध स्तान करता है, वहाँ आपका एक अलग अस्तित्व भी है। उस मानस-तीर्थं में सबके लिये समान स्थान है। अनेकान्तवादी विचारधारा ही आपके एकान्त व सार्वजनक चिन्तन का मार्ग प्रशस्त कर सकी है। सद्गुरु श्री सहजानन्दजी, जिन्हें देखने व सुनने का एकदार मुझे अवसर मिला है और जो आपके दीक्षागुरु भी हैं: मुझे यह लिखने का साहस देते हैं कि मँवरलालजी मन और वाणी से अपने गुरु

[48

की मुक्त अनुभृति के क्रयल हैं। श्रो सहजानन्दजी शुद्ध बुद्ध अनुभुत योग के प्रतीक श्रमण रहे हैं। उनमें धर्मी की, मारतीय दर्शनों की, और मारतीय नैतिक जीवन मुल्यों की अदमुत समन्वित रही है। मँवरलालजी में जो गौरव है, वह गुरु का है. परिवार का है, पूर्वजों का है और है लोकाचार का मर्यादित व स्वीकृत संयोग । स्पष्टतः यह मनीपी महा-मानव समुद्र ही तरह गुरु गम्भोर है। समस्त संसार की विचार सरिता इस महासागर में निमित्जित होकर इसमें एकरस हो चुकी है। लगता है, भगवान महावीर की वाणी 'भित्ती में सव्बभूएसु वैरं मज्ज्ञं न केणई' ने ही आपको आतिश्य की कामना दी है। अ.ट.न.करयाग, लोक मंगल तथा विश्वजन हिताय के जैनानुशासन का सार्वभौम उद्देघोप आपका अमीब्द है, इसीलिये आनकी धर्नहब्दि उदार है। करूणा और दया आपके उपजीव्य आधार हैं। धर्म यद्यपि शोध-विजय नहीं है, भात्र विश्वात ही उतका शोध है जिसे अ.टननिरीक्षण या आंत्नविश्वेषण कहा जाता है, फिर मी आपको सज्जा चेतनः परम्परा और सत्य के बीच सामंजस्य स्थापित करने में सतत् संलग्न रही है। सत्य यह है कि कालमेद से मतमेद होता है और मतमेद से मनमेद। यही मनमेद विकल्प को जन्म देता है और विकल्प असमंजस की हियति में मानव चेतना को अस्थिर बना देता है जिसे क्रान्ति का धरातल कह लेते हैं। यहीं द्रिधा उत्पनन होती है। फ़्रुज़तः विचारों में संतुज़न रह नहीं पाता और वाद-विवाद की स्थिति व्यक्ति, समाज, राष्ट्र व अन्तर्रांद्र-मन को विचलित कर देती है। यह सारी स्थिति कालमेंद्र को लेकर चलती है। काल स्वयं वंधता है क्षणों में, घंटों और दिनों में, मास और वर्ज़ें में और फिर युगों और शताब्दियों में। शायद इसीलिये सामाजिक चेतना के प्रतीक धर्म के अविरल विभाजय-विनद्धों के प्रवाह की काल भी नहीं पचा पाता है क्योंकि महापुरुषों और कालपुरुय के इसी अन्तर्द्धन्द्र के शोधन की आवश्यकता मनीवियों व चिन्तकों की कालजयी मेधा, सदा अनुभव करती रही है। अतीत को वर्तमान और भविष्य को भी सजग वर्तमान दनाने की साधना कितनी स्तुत्य है, यह मनीषी पाठक ही विचार करेंगे। मैंने तो इस व्यक्तित्व की चेष्टाओं की प्रतीति के लिये अपनी अनुभूति भर व्यक्त की है। मैंबर-लालजी की अन्तर्दाष्ट इतनी सूक्ष्म रही है, जितनी काल की गति। इसीलिये इस मौनचिन्तक की प्रज्ञा सदा वाता-वरण-सापेक्ष्य होते हुए भी विखरी हुई धर्म की किड्यों में व्यामोहरहित गांठ बांवती चली आयी है। वे कहा करते हैं कि :

> वेदा विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्नाः नेको मुनिर्यस्य मित्न भिन्ना । धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

आप अखिए हैं, निश्चल हैं। सचमुच विज्ञापन-रहित हैं। अपने विश्वासों को ही जीवन के नैतिक मूल्यों का आधार मानते आए हैं। यदा-कदा ऐसे अवसरीं पर जब वे आलोच्य बने हैं. इन्होंने कहा है कि भतृहिरि ठीक कहते हैं:

निन्दतु नीति-निपुणा, यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् । अद्योव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात् पथः प्रविचलन्तिपदं न धीराः ॥

अध्ययन, चिन्तन, मनन, अध्यवसाय व निदिध्यासन, आपके जीवन के स्थिर चित्र हैं। सद्गुरु साथ हैं. जिनानुशासन पास में है, अविचल निष्ठा है, फलतः इनमें विकल्प नहीं, द्विधा नहीं, एक बोध है। प्राणवान् विश्वास है। क्योंकि आपके लिए धर्म साधन और सिद्धि दोनों ही है। प्रमाण के लिए अभी-अभी एक जीवन्त प्रश्न पर आदके विचार देखने को मिले हैं। भगवान् महावोर के दिव्य प्रयाण के पावन स्थल पावापुरी को लेकर एक

ξο]

विवाद उठ सड़ा हुआ है । कन्हैयालालजी सरावगी की इस विषय में एक पुस्तक मुझे भी पढ़ने को मिली थी। मैंने मैंवरलालजी से प्रश्न किया था कि आपकी इस विषय में क्या सम्मति है ? आपने स्पष्ट उत्तर दिया--"भाई भगवान् महावीर की २५००वीं जयंती मनाने का भारत सरकार ने निश्चय किया है। युगपुरुष एकदेशीय नहीं होते. उनका आदेश समस्त संसार के लिए होता है । उनके जन्म और निर्वाण के स्थान के निर्णय. विशुद्ध ऐति हासिक व पुरातास्विक प्रश्न हैं । इस पर एकान्तिक विचार करना किसी भी सम्प्रदाय के लिये उचित नहीं । मैरा तो अपना ख्याल है कि हजारों वर्षों से लोक-श्रद्धा मध्यम पावा, जो बिहार प्रान्त में स्थित है. को ही प्रभु का प्रयाण-स्थल समझकर अपनी भक्ति प्रकट करती आ रही है। इसलिए राजनैतिक या निहित स्वार्थ में लिप्त कुछेक वर्ग या सम्प्रदाय की तारित्रक व्याख्या सामयिक लाभ के लिये ही है। विदेशो विद्वानों ने प्रायः बौद्ध-त्रिपिटकों ही को अपने इतिहास-लेखन में सहायक माना है। जेन-सिद्धान्त व जेनाममों में व्यक्त विचार उन्हें एकांगी नजर आये हैं। कञ्चतः उनका निर्गय स्वष्ट नहीं हो सकता क्योंकि सम्प्रदायगत विद्वेष एक दूसरे को हेय समझने को बाध्य हैं। मेरा अपना विचार है कि यदापि लोक-परम्परा लोकाचार के द्वारा बिहार स्थित मध्यम पावा की युगपुरुष की निर्वाणभूमि को अपने विश्वास का केन्द्र मानली आयी है सी हम उस लोक मंगलमंथी लोकभावना के समक्ष नत होने को बाध्य हैं. हमारा इतिहास इसके विरूद्ध नहीं है ।' आपने 'जैन भारती' में एक निबंध लिखकर इस भ्रा को असामधिक. अतात्त्रिक तथा अने तिहासिक प्रमाणित करने का प्रयास किया है । तात्पर्य यह कि यह मनीषी सत्य और आचार में सामंजस्य का समर्थक है।

मॅंबरलालजी शिक्षित और दीक्षित दोनों ही हैं। पर शिक्षा, जिस रूप में आधुनिक युग द्वारा प्रमाणित किया जाता है, मात्र भवीं क्लास तक की है। इसे हत प्रारंभिक या प्राइमरी एजुकेशन कहा करते हैं। में एक मुहावरा है द थी आर्'स (The three R's): लिखना, पढ़ना और हिसाब-किताव (रीडिंग, राइटिंग तथा रिथमेटिक) नितान्त अपर्याप्त । पर प्रतिमा स्कूल, कालेज व युनिवर्सिटियों में निर्मित नहीं होती । वह जन्मजात होती है। इनके तो पेट में ही दाढ़ी थी। पूर्व जन्त के पूत संस्कारों ने इस महान् व्यक्तित्व को देश की समस्त भाषाएँ विस्तृत संसार की मुक्त पाठशाला में सहज में ही, समय और अम्यास के अम्यस्त अध्यापकों द्वारा पढ़ा दी हैं । वस्तुतः प्रातिभन्नान स्वयंभू होते हैं । प्रारव्ध और क्रियमाण कर्म जिन संस्कारों को जन्म देते हैं वे संचित होते रहते हैं। उसी संचय की सिद्धि एक 'जीनियस' के रूप में प्रगट होती है। कुछ तो संस्कार. कुछ व्यक्तित्व की अभिकचि और कुछ वातावरण, सभी के पारस्परिक सहयोग को परिणति एक ऐसे विवेक का सूजन करती है, जिसे हम मानसिक शक्ति कहते हैं । यही मानसिक शक्ति प्रतिभा के नाम से जानी जाती है । इसे प्रमाणपत्र की आवश्यकता नहीं होती । यह स्वयंसिद्ध प्रमाणपत्र होती है । संसार की शिक्षण संस्थाएँ इनकी कायल होती है । विद्वत् समाज इनका सम्मान करता है। इसलिए कि प्रतिभा स्वयं शुद्ध-बुद्धज्ञान की अधिष्ठात्री होती है। वह सानाजिक स्वीकृति की अपेक्षा नहीं रखती. प्रत्युत स्वीकार हो स्वयं उसकी योग्यता स्वीकार करने को बाध्य होता है। संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, अवधी, बंगला, गुजराती, राजस्थानी तथा हिन्दी आदि समस्त भाषाओं में पारंगत. प्राचीन, ब्राह्मी, कुटिल आदि युग की भाषाओं की सतत् परिवर्तित लिपियों की वैज्ञानिक वर्णभाला के अद्भुत ज्ञान के .अभ्यस्त श्री मेंवरलालजी की प्रतिमा के कायल, प्रायः इनके सभी अन्तरंग विद्वान् मित्र हैं । मृतिकला, चित्रकला, वास्तुकला तथा ललिलकलाओं की आपमें परख है। आपकी अभिरुचि प्रायः भाषाशास्त्र, लिपि-ज्ञान में है।

फंडतः पुरातात्विक अनुतंधान की ओर अग्रसर होने में आपका लिग्विस्टिक एप्रोच पर्याप्त सहायक हुआ है। न जाने कितने ज्ञात-अज्ञात ग्रन्थों की प्रतिलिपियों जो विशिष्ट विदानों से लौटकर आर्थों, बीकानेर के अपने संग्रहालय में उपस्थित हैं। अनुसंधान और शोध हेतु अनेकानेक दुर्लम चित्रकलाओं के नमूने, वास्तु व मूर्तिकला की प्रामाणिक प्रतिमाएँ, अमूल्य प्राचीन ग्रन्थों की प्रतिलिपियों आपने संग्रह की हैं, देखने मात्र से इस नर-रत्न की प्रकृति का परिचय प्राप्त हो जाता है। पुरातत्त्व व मृतत्व-विज्ञान के अतिरिक्त इतिहास-शोधन की प्रकृति ने भी आपका झुकाव शिला लेखों की ओर उन्मुख किया है। प्रायः सभी शिलालेखों की, चाहे प्राचीनत्तम् ही क्यों न हों, लिपि पढ़ने व उसका उचित अर्थ लगाने में आपको किंचित् मात्र भी किंवनाई नहीं पढ़ती। अतीत के गर्म में मानव अर्जित ज्ञान की संचित राशि को दूंढ़ कर बाहर निकालने में आपने जो समय-समय पर सहायता की है, वह स्तुस्य है। प्राचीन संस्कृति व सम्यता के विस्तृत तथ्यों के संग्रह करने की इनकी प्रवल आक्रांक्षा ने इन्हें गहन अध्ययन की अमिरुच प्रदान की है। राजनीतिज्ञ, सामाजिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों की समाजशास्त्रीय विश्लेषणात्मक चिन्तन-धाराने ही आपके अतीत और वर्तमान के वीच सामंजस्य-संस्थापन में योगदान किया है।

पाउक लोग जिज्ञासु अवश्य होंगे कि आखिर इस अपरिचित ज्ञान के उपजीव्य स्रोत क्या हैं ? आपकी बहुज्ञता व तथ्य-संग्रहकारिणी प्रवृत्ति के मूल स्रोत क्या हैं ? प्रश्न स्वाभाविक होगा ! निश्चय ही व्यक्तित्व व्यक्तिगत और वातावरण की शक्ति के संतुलन का परिणाम होता है। वस्तृतः भँवरलालजी पितृत्य श्री अगरचन्दजी के आग्रह के परिणाम हैं । उनके आज्ञापालन की उरकट अभिलाधा के क्रियान्वयन में अपनी शक्ति का उपयोग कर आपने अपना स्वतःनिर्माण किया है। जिज्ञासा उनकी, कार्य इनका। विचार उनके और लेखनी इनकी। भावना उनकी और प्रतीति इनको । इसप्रकार भक्ति, श्रद्धा, विनय, आज्ञाकारिता तथा अपनी स्वामाविक रुचि की सम्मिखित-साधना के परिणामस्वरूप श्री भँवरलालजी व श्री अगरचन्दजी ज्ञान की अभीष्ट प्यास के सरोवर बनते गये हैं। विवयवस्तु के भावपक्ष के जिज्ञास काकाजी के कलापक्ष और कभी भावपक्ष के रूप में, आपने कला की साकार प्रतिमा का निर्माण अपनी अनवरत लेखनी से किया है । कहते हैं वेदव्यासज़ी की अभिवयक्ति को लि.पेबद्ध करने की शक्ति किसी देव-शक्ति को नहीं हुई । केवल गणेशजी ने यह भार ग्रहण किया । लेकिन गणेशजी ने यह स्पष्ट कर दिया था कि यदि आप (वेदव्यासजी) कहीं रूजेंगे तो उनकी लेखनी भी बंद हो जाएगी। वेदव्यासजी ने हाँ भर ली। उन्होंने कुछ इलोकों के परचात् एकाध इलोक गृढ़ अर्थवाला बोलना प्रारम्भ किया और श्री गणेशजी से मात्र इतना है कहा कि आप अर्थ समझ कर ही लिखेंगे । गणेशजी गूढ़ार्थ-श्लोकों पर रुक जाते और तब तक कृष्णद्वैपायन श्री वैदव्यास की चिन्तनधारा नवीन २लोकों का निर्माण कर लेती । यह क्रम चलता रहा और एक अद्भुत वाङ्मय का निर्माण होता रहा । कथा के अंश में कितनी सत्यला है. आजका वैज्ञानिक व्यक्ति शायद न समझ पाये पर फलितार्थ समझने में वह भी भूल नहीं करेगा कि दोनों महान थे. दोनों में ही दैवी शक्तियाँ थीं । यहां भी भावपक्ष जितना अभिव्यक्ति के लिये व्याकुल है तो कलापक्ष भी उतना ही आतुर । दोनों की इन्टेन्शिटी समान है और तभी सहवाङ मय की सृष्टि सम्भव हो सकी है। राजस्थान के ये दो सजग प्रहरी कला, ज्ञान, विज्ञान, सम्यता, संस्कृति, धर्म, नीति और व्यक्ति-गत व सामाजिक जीवन के मूल्यों की खोज में सतत् व्यस्त रहे हैं। यह मुख्या बुरी नहीं है। ये अध्यवसायी, स्वाध्यायी, कालक्षेप के प्रमाद से रहित हैं। इनके समक्षः

६२]

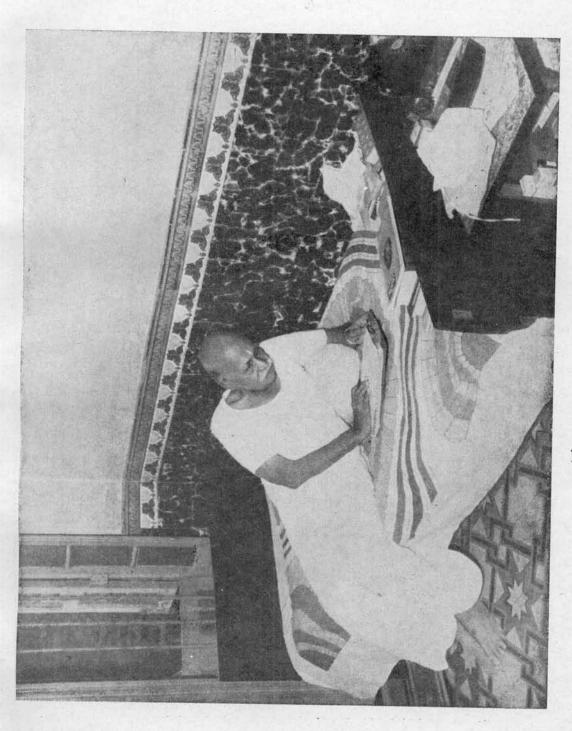
भोगा न मुक्ता वयमेव मुक्ताः, तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः। कालो न यातो वयमेव याताः. तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥

एक वरदान है, निराशामय अमिशाप नहीं. क्योंकि ये स्रव्टा के शोधक हैं तथा नवीन सर्जन के कारण और कार्य दोनों ही हैं। मध्यदेशीय संस्कृति के संरक्षण, पोषण में किसी प्रकार की बाधा इन्हें प्रिय नहीं हुई है। जब कमो किसी प्रकार का आक्षेप आया है, बीकानेर की दृष्टि इस व्यस्त नगरी की ओर उठी है और संवेत मात्र ने भँवरलालजी के रोम-रोम को जागृत किया है । इतिहास जागृत हुआ है, लिपि नवीन हुई है, विचार व्यवस्थित हुए हैं। विद्वत्-समाज कृतार्थं हुआ है । तात्पर्यं यह कि अगरचन्द के मैंबर, अगर के सुगंध का आमासमात्र पाकर गुनगुनाने लगे हैं। मँवरलालजी पराग के प्रेमी हैं। इनका स्रोत बीकानेर के पुष्पराज श्री अगरचन्द हैं, इनमें दो मत नहीं हो सकते । काका और भतीजे की यही दैवी शक्ति इनके वाख्मय की मृष्टि करती रही है । ऐसा ही हुआ है और इसी वातावरण ने इनके एक पृथक् ट्यक्तित्व का निर्माण किया है । देश, काल, परिस्थिति और वातावरण प्रायः अपना सभी अलग अस्तित्व रखते हैं पर जगत् की गति में वे सामूहिक योगदान देते हैं । राजस्थान, बंगाल, आसाम. मणिपुर आदि पूर्व से लेकर पविचम पर्यन्त तथा हम्पी से लेकर आबू पर्वत तथा दक्षिणी व पविचमी प्रान्तों के धार्मिक व साहित्यिक संस्थान इनके विचार-बिन्दुओं के अविरल प्रवाह में अपने पद-चिह्न छोड़ते गये हैं। गण-मान्य विद्वानों के साम्यिक सहयोग, सम्पर्क व साहचर्य ने इन्हें समुत्सुक किया है, कर्तव्य की प्रेरणा दी है, अध्ययन की विधा दी है । जो विद्वान् आपके सम्पर्क व साम्निध्य में आये हैं पाठक स्वयं विचार करेंगे कि इस मनीषी का अक्षर-ज्ञान कितना अ-क्षर होता गया होगा । प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता मुनि जिनविजय के आप कृपापात्र हैं। मुनि कान्तिसागरजी का कर्मंठ जीवन इन्हें दुलार दे सका है। त्रिपिटकाचार्य महापंडित राहुल सांकृत्यायन इनके निकट सम्पर्क में रहे हैं। ओरियन्टल लैंग्वेजेज के प्रसिद्ध विद्वान खॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी. खॉ० सुकुनार सेन, डॉo गोरीशंकर ओझा जैसे मापा-शास्त्री लिपि∙विशेषज्ञों का सान्निध्य आपको सम्वल देता रहा है। प्रिंस आफ वेलस म्यूजियम के डायरेक्टर डॉ० मोलीचन्द आपके मित्रों में हैं। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल से आपका सम्बन्ध एक अविदित्त कहानी बन गया है। प्रसंगवश उसका उल्लेख किया जायेगा। हिन्दी साहित्य के मुर्धन्य विद्वान् व आलोचक डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० दशरथ शर्मा तथा अन्य समसामयिक मनीषी-वर्ग का स्नेह द सौहार्द आपको अनायास उपलब्ध होता आया है। अब हम अनुमान कर सकते हैं कि प्राइमरी शिक्षा समाप्त करने वाला यह भारतीय चिन्तक कितना शिक्षित. दीक्षित व प्रामाणिक ज्ञान का स्वाध्यायी धनी है और इस धन की धरोहर का उद्गम स्थान कहाँ है ? प्रकाशित पुस्तकों की मूमिका में अंकित विद्वानों की सम्मतियाँ उक्त कथन की साक्षी हैं। स्थान विशेषपर इनकी चर्चा पाठकों को इस विषय की प्रतीति दे सकेगी। विश्वास है प्रसंगात् आपके लिपि ज्ञान के बारे में खा० सुनीति कुमार चटर्जी के उद्गगर पर्याप्त होंगे । महानुसावी संप्रदाय का एक ग्रन्थ है "पावापाठ"। ग्रन्थ प्राचीन नहीं. प्रत्युत २०० वर्ज पहले की कृति है। ग्रन्थ मराठो में लिखा गया है पर लिपि उसको सांकेतिक है। अगरचंदजी ने उस पुस्तक को देश के जानेमाने विद्वानों के पास पढ़ने तथा उसका अर्थ करने सानुरोध भेजा था। पर पुस्तक वेरंग वापस लौट आयी । अब बीकानेर की प्रतिमाने कलकत्ता स्थित अपनी शक्तिका समरण किया। भेंबरलालजी ने लिपि की एक वर्गमाला तैयार की और ग्रन्थ आद्योपान्त पढ़ डाला। आवश्यकता हुई कि वैज्ञानिक पद्धति पर लिपि विज्ञान के मार्गदर्शक, भाषावैज्ञानिकों द्वारा अपने पठन

के औद्वित्य को विश्लेषिल किया जाए । भँवरलालजी ने सुनीति बाबूको वह ग्रन्थ दिखाया और पढ़कर सुनाया। सुनीति बाबू ने आपकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और कहा--''आपनी चमत्कार काज करेंछेन ।'' सुनीति बाबू के हाथों पर शब्द खेलते हैं, भाषाएँ उनकी चेरी हैं, विश्रुत विदान हैं। उनकी यह आरचर्य भरी स्वीकृति इस मुक साधक के ज्ञान की अविदित कथा है। ऐसे ही एकवार श्री जिनदत्तसूरिकृत 'अपभ्रंश-काव्यत्रयी" की व्याख्या में आये एक प्रसंग पर मैंवरलालजी ने आपत्ति की और महापश्चित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी मनःस्थिति ठीक की । प्रसंग था 'कज्जों करह बुहारी बुढढी'। महापण्डित ने अर्थ किया था 'घर में बुढढी औरतें झारू देने का काम करती हैं।' आपने लिखा कि--'पता नहीं मात्रा-मर्मेश और समाज-मनोवैज्ञानिक तथा प्रसिद्ध समाज-शास्त्री ने ऐसा क्यों लिखा । पद्म तो कहता है कि वज्जो (कुड़ाकरकट) बुड़दी (बद्ध, संगठित-बंधे हूर) वहारी (झाड़) से ही सम्भव है। कुउ ऐसी ही पचासों आनुमानिक व्याख्याओं का प्रत्याखान इस प्राचीन भाषा नर्मज्ञ ने किया है। 'ढोलामारू दोहा' के कई स्थलों पर की गईं उचित आपत्ति नागरी प्रचारिणी पत्रिका में अंकित है। डॉ॰ माताप्रसाद गप्त जो इलाहाबाद युनिवर्सिटी के एक इने - गिने प्राध्यापकों में रहे हैं, उन्होंने हिन्दी के आदिकालीन ग्रन्थों, जो विश्वविद्यालयीय उच्च कक्षाओं में पाठ्य थे, की व्याख्याएँ प्रस्तुत की, जैसे हम्भीरायण तथा वसंतविलास जोकि इनकी आलोचना के केन्द्र बन गये हैं। दस्तुस्थिति यह है कि हिन्दी साहित्य का आदिकाल जैन व बौद्ध महास्माओं, साधकों व सिद्धों की पृष्ठभूमि पर खड़ा है। नाथपंथ की साहित्यिक देन भी हिन्दी के लिये एक स्तम्भ है, जिसने मध्यकालीन साहित्य को पूर्ण रूप से प्रभावित किया है। फत्ततः अपभ्रंश साहित्य की वैज्ञानिक विधाओं की जान-करी के अभाव में वस्तुस्थिति का ज्ञान असम्भव है । शौरसेनी प्राकृत में उपलब्ध समस्त ज्ञान-गरिमा अपभ्रंश भाषा में लिपिबद्ध हैं और यह सारा वाङ्मभय देश के पश्चिमीत्तर भाग में लिखा गया है। फलतः त्रांचलिक भाषाओं की बास्तविक परस किये बिना हम तत्कालीन साहित्य के प्रति न्याय नहीं कर सकेंगे । राजस्थान की समस्त आंचलिक भाषा, लोक-संस्कृति तथा लोक-भावनाओं के क्रभिक विकास के लिए यदि हम विज्ञान के चिसेपीटे नियमों व सिद्धांतों की कसीटी पर कसते रहे तो वह हमारे अज्ञान के प्रयास का विकल्प ही होगा ! १००० से लेकर १३७५ तक सम्पूर्ग दाङ्गमय के सुचार रूप से अध्ययन के लिए तत्त्रह्रदेशीय प्रतिभाओं को ही अधिकारी निर्देशक स्वीकार करना पुढेगा. अन्यथा विश्वविद्यालयीय अध्यापनशैली व शोध-प्रणाली केवल सिद्धान्त वन कर रह जायेगी और हम अज्ञानाः न्धकार में आँख मुंद कर टटोलने की मान्य प्रणाली पर चलने के अभ्यस्त हो जायेंगे । लोकभाषा, लोकाचार की भावनाओं से ओलप्रोत होती है. चारणों की कृतियों को मात्र माषा-वैज्ञानिक ही निर्णय कर पाये, यह तात्विक दृष्टि से असम्भव है। यही बात सिद्धों व योगियों की अभिव्यक्तियों के प्रति लागू है। मेरा आग्रह मात्र इतना ही है साहित्य जनमानस का संज्ञित प्रतिबिम्ब होता है, फजतः जनमानस की भावना जो सामयिक रससाधना का वर्चस्य पाकर अभिव्यक्त होती है उसकी अभिव्यक्ति को विधा उसके सम्पर्क व सान्निध्य में रहने वाले विद्वान ही कर सकते हैं और वहीं मान्य भी होना चाहिये।

दश्वीं शताब्दी के परचात् का पश्चिमी मारत विशेषतया राजस्थान और उत्तरी मारत (पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार तथा वंगाल) ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उतना भ्रामक नहीं होना चाहिये। तत्कालीम सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश मी उतने धुँधले नहीं हैं। फिर माषा के प्रश्न को लेकर १०वीं से १४वीं शताब्दी तक साहित्य-सृजन के प्रति भ्रामक विचारों की आवश्यकता ही क्या है ? शौरसेनी, मागधी तथा अर्द्धमागधी प्राकृत से निःसृत क्षेत्रीय माषाओं

ξ8]





की वदलती हुई व्यंजनाशक्ति, ध्वनि, शब्द तथा वाक्यांशों में अंतर की स्थित तत्त्द्देशीय विद्वानों द्वारा निर्णित होनी चाहिए। रासो प्रन्थों के विषय में रामचन्द्र शुक्ठ, श्यामसुन्दर दास, राहुल सांकृत्यायन, डॉ० रामकु गर वर्मा, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ० मोलानाथजी के विचार असमंजस की स्थित उत्पन्न कर सकते हैं पर डॉ० मोलीलाल मेनारिया. गौरीशंकर ओझा तथा अन्ततः डॉ० दशस्थ शर्मा आदि विद्वानों की सम्भित क्यों न निर्णायक मानो जांय । नाहटा-बन्धुओं ने इस दिशा में प्राचीनतन प्रतियों की अनेकानेक प्रतिलिपियों तैयार करके जो स्तुत्य काम किया है. इनका यह प्रयास इस दिशा में विशेष सहायक हुआ है। अन्तः और बाह्य-साहय की प्रामाणिक स्थिति के लिए इनका अमूल्य सहयोग हिन्दी साहित्य के आदिकाल के लेखकों, आशोचकों व मनोवैज्ञानिकों के लिये वरदान सिद्ध हुआ है और होता रहेगा। उक्त विचार श्री मँवरलालजी ने अनेकों बार व्यक्त किया है, मैंने तो प्रसंगवश उनकी चर्चा की है। बंगला और मागधी को लेकर भी यही विवाद विद्यापत्ति के विषय में चर्चा का विषय दनता रहा है। मेरी समझ में दोष Methodist Scholars के मानस की विकल्प स्थिति का है। किसी विषय का प्रारम्भ ही वस्तुतः विवादप्रस्त होता है, पर उसकी अक्षुण्ण परम्परा विवादों को वाग्जाल समझ कर त्यागती रही है। नाहटा-वन्धुओं ने आलोचना की मूनि दो है, आलोचनाएँ कम की हैं। साहित्य का उद्धार किया है, निर्णय की पृष्ठ-भूमि दी है। यह निर्विवाद सत्य है।

साहित्य-साधना कर्म और ज्ञान-साधना से पृथक् नहीं रखी जा सकती क्योंक साहित्य-साधना के साथ कर्म और ज्ञान का पूरा सम्मिश्रग होता है। फलतः अभिव्यक्ति चाहे स्वान्तः सुखाय हो या बहुजन हिताय, दोनों में अन्तर नहीं होता। इसलिये कि जो स्वान्तःसुखाय है. वह बहुजन के परिवेश का ही परिणान है। व्यक्ति और समाज की आवश्यकताओं से सम्बन्धित मावनायें ही अभिव्यक्ति के माध्यम से साहित्य की संज्ञा पाती है। अतः 'स्व' और 'पर' के ज्ञान की प्रेरणा का फल कर्म यदि मावानुभृति की तीव्रता के प्रवाह को साहित्य की विधा देता है तो सुजन की प्रकृति तीनों ही मनःप्रवृत्तियों की प्रकृति स्वीकार की जानी चाहिये अन्यथा कर्मयोग व ज्ञानयोग दोनों ही मावयोग से पृथक् केवल एक शाख्यीय मर्यादा बन कर रह जायेंगे। यदि मनेन रागादिमका वृत्ति ही काव्य के आधार माने जायेंगे तो विरागजन्य भावाभिव्यक्तियों को नोटिस मात्र समझ कर हम तिरस्कृत करते रहेंगे और मित्तर्स साधकों की विशाल कृतियाँ साहित्य की श्रेणी से अलग पुस्तकालयों की निधि बन कर ही रह जायेंगी। मेरा तत्य्य यह है कि मन की समस्त स्थितियों व प्रकृतियों को राग-विराग किसी भी स्थिति में यदि रसानुमृति होती है और वह अभिव्यक्ति पाने के आवेग से व्याकृल होकर, विभल उच्छावास होकर, व्यक्त होती है तो आलोचकों की रसव्यजन। को श्रेणी में गिनी जानी चाहिये अन्यथा हम मानव मन के प्रति न्याय नहीं कर सकेंगे और अनेकानेक प्रतिभाए विज्ञास हो का धारोंगी। नाहटा-वन्धुओं के सृजन स्वान्तःसुखाय व बहुजनहिताय दोनों ही है। मँवरलालजी ने प्रायः स्वान्तःसुखाय रचनायें ही की है और जहाँ झान और कार्य दोनों का ही समवेत सृजन हुआ है वहाँ सामा- जिल चेतना का प्रतिकल ही स्वीकार करना पड़ेगा।

इनकी कृतियों की महत्ता प्रायः विशिष्ट विद्वानों की प्रज्ञाचक्ष से परीक्षित हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डॉ॰ हीरालाल जैन, डॉ॰ गौरीशंकर ओझा, डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ॰ मोतीचन्द, मुनि कान्तिसागर तथा मुनि जिनविजयजी आदि जैन साहित्य के मर्मज्ञ, पुरातत्त्ववेत्ता, प्रकाण्ड आलोचक व इतिहास विशेषज्ञों की दृष्टि में इनके कार्य

[दध्

स्तुत्य तथा महत्वपूर्ण हैं। कार्य या कृतित्व प्रयास को कसीटी चाहते हैं और उनकी सफलता या असफलता पंछितों पर निर्मर करती है। व्यक्तित्व की परस्र के लिए वस्तुतः व्यक्तित्व की अन्तर्द िट के ज्ञान की आवश्यकता होतो है पर आज तक मानवमनीषा सतत् अम्यास के बावजूद भी किसी भी व्यक्तित्व की सही परस्र करने में असमर्थ ही रही है। इसलिये कि समय समाज परिस्थित और व्यक्ति की चित्तवृत्ति के जितने अध्ययन हो सके हैं. सभी अध्ययन के प्रोसेस में हैं। फलतः प्रोसेस से संतुष्ट होकर अन्तिमेत्थम की बात पर बल देना हास्यास्पद ही हुआ है। विज्ञान की कसौटी के लिये तो स्थिर मानदंख हैं। इसीलिये उनके सिद्धान्त कथन में बहुधा एक्युरेसी देखी जाती है पर पदार्थ के गुणात्मक परिवर्तन की परिणित जिस चेतना को जन्म देती हैं उसके गुणात्मक तथ्य के गुणात्मक अन्तर्द द से उनकी चेतना विधाओं का आकलन आज भी अधरमें लटका हुआ है। अतः मासद अन्तर्द सो उनकी चेतना विधाओं का आकलन आज भी अधरमें लटका हुआ है। अतः मासद अन्तर्द सो उनकी चेतना विधाओं का साक्तान का मी अधरमें लटका हुआ है। अतः मासद अन्तरात्मा की ग्रंथि खोलने के प्रयत्न मात्र वारिवलास होकर निर्णय के लिये किसी स्वस्थ मानदंख की खोज में अब भी व्यस्त हैं। किन्तु सामाजिक चेतना का यह अस्थिर मानदंख ही श्रेयस्कर है। इसलिये कि इसमें चेतना की स्वतन्त्रता का आमास मिलता रहा है जिसे एंगिल आफ थाट्स कहते हैं। नाहटा-बन्धुओं की कृति भी पृमिल आफ थाट्स से द्रष्टव्य है क्योंकि रुचि विशेष की विभिन्तता ही एकता की कड़ी होती है। अतः समग्र रूप से छटेश्य के धरातल का मूल्यांकन करने वाले रस-साधकों व रसज्ञ आलोचकों से मेरा यही आत्मनिवेदन होगा, वेसे कोई जोर-जबर्दस्ती नहीं है, मात्र सदाग्रह है जो अमान्य नहीं ही होगा। ऐसा विश्वास पालने में मुझे रती भर भी स्वेह नहीं इंग्टिंगोचर होता। अन्यशा ये महाकवि भवमृति की मामिक उक्ति की ही दुहराकर संतोष रखेंगे कि—

उत्परस्यते च मम कोऽपि समानधर्मा, कालो ह्ययं निरवधिः विपुला च पृथ्वी !

इस "सादा जीवन उन्न विचार" के प्रतीक शान्त व गम्भीर व्यक्तित्व में कितनी वाक्यपटुता है. प्रत्युत्पन्न मति है. आशुकाव्य-स्फुरण के बीज हैं । इनके कुछ संस्मरणों के उद्धरण इसे प्रमाणित करेंगे—

बात बहुत पुरानी है। एकबार बीकानेर में सर मनू माई मेहता के माई श्री वी० एम० मेहता, जो महाराजा के प्रधानमन्त्री थे, की अध्यक्षता में एक कवि सम्मेलन का आयोजन था। श्री मेंवरलालजी वहाँ उपस्थित थे। अध्यक्ष ने आपसे भी कुछ सुनाने के लिये कहा। आप उठे और एक आशुक्रि की माँति आठ माषाओं में, जिनमें संस्कृत, अपभ्रंश, अंग्रेजी, बंगला, हिन्दी भाषायें भी सम्मिलित थीं, एक कविता पढ़कर सुनायी। कविता में भगवान महावीर की स्तृति थी जिसका संकलन इस प्रकार हुआ है—

अष्ट भाषा मयैषा वद्धंमान प्रभुस्तुतिः । स्वभक्त्या सकौतुकेन विक्रमाख्यपुरे कृतः ॥

प्तकार आप श्री अगरचन्दजी के साथ, राजस्थान हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर (रतनगढ़ में) उप-स्थित थे। वहाँ पुस्तकों की प्रदर्शनी में आप दोनों महानुभाव अपनी रुचि के अनुसार पुस्तकें उलट-पलट रहे थे। अगरचन्दजी के हाथ नेवारी लिपि की कई प्रतियाँ आयीं। आपने देखा और समझने की भी चेष्टा की। किन्तु लिपि का कोई ओर-छोर न मिला। आपने श्री भँवरलालजी से उन्हें देखने को कहा। आपने पुस्तकें ली और वर्णमाला बनाने में ट्यस्त हो गये। दूसरे दिन सारी प्रतियां पढ़कर चाचाजी को सुन। दी तथा उसके सम्बन्ध में एक लैस भी प्रकाशित किया।

EE]

ऐसे ही एकबार आप बीकानेर जैन संघ की ओर से श्री हरिसागरजी के पास उन्हें बीकानेर ले आने के उद्देश्य से नागौर पदारें। आपके साथ बीकानेर के कुछ सम्भ्रान्त व्यक्ति भी थे। श्री हरिसागरजी नागौर में ही चातुर्मास बिताने के लिये वचनबद्ध थे। अनुनय, विनय के पश्चात् भी कुछ हठ नहीं निकला। अन्त में श्री मैंबरलालजी की काव्य-चेतना प्रस्फुटित हुई और आपने श्री गुरु के चरणों में निवेदनार्श अपनी विवशता व्यक्त की, जो द्रष्टव्य है—

कुत्वानेक परिश्रमं 5पि गुरुदः
न स्वीकृता वीनती !
श्रीमन्नागपुरीयसंघविदिता
हृदयेन कृपणा महा ॥
गच्छं,न्नति च शासनस्य शोभा
सम्मान संघस्य च ।
न श्रुर्वा विभविता कथंचित्
कलयामि कथ्यामि किम् ॥

श्री ताजमलजी बोधरा कलकत्ते के एक विशिष्ट संपाजसेवी, धनी मानी व्यक्ति हैं। आपने एक दिन मँवरलालजी से आग्रह किया कि वंगाल में सराक जाति लाखों की संख्या में निवास करती है। ये जैन श्रावक जाति के वंगज हैं। उनके लिये वंगला में श्रावककृत्य की विशेष आवश्यकता है। यदि ऐसा ही कुछ हो जाय तो बड़ा उपकार होगा। मावुक श्री मँवरलालजी को यह बात मन में बैठ गईं और बात ही बात में इस कविमनीषी ने बंगला भाषा में २७ पद्यों में श्रावककृत्य लिख डाला—

श्रावक तुमि उउँ पड़ो अत्यन्त सकाले । दुइ दण्डो शांकित उपार अन्तराले ।। अल्पो लामे अल्पारममें ह्य जे व्यापार । शोषण दूषण रहित नीतिश्रम आधार ।। नदी पुकुर वन ठीका हिंसामय व्यापार । लोहारस बीज अस्थि आदि परिहार ।। जल दुग्ध घृत तेज छाकमा दिया राखो । प्रमार्जन आदि काजे जीव यत देखो ।।

जैन भवन में वैद्य जसवंतरायजी के अनुरोध पर श्री विजयबल्लभसूरिजी जयन्ती में आपको जब कुछ वहने के लिए कहा गया तो तत्काल आपने प्राकृत में गाथायें बनाकर सुनायी और सभी सम्मान्त व्यक्तियों की आश्चर्य में खाल दिया। गाथायें इसप्रकार थीं—

> सिरीवल्जह सुगुरुणं तवगच्छायण सुर चंदाणं। वंदामि मित्त-भावेण सग्गारीहण दिणो अज्ज ॥१॥ आसीय कण्ह पक्षे इक्कारसी राइय तहय पहरे। मुंबाणामा णयरी बहु सङ्ढ समाकुले दीवे ॥२॥

> > [&9

सावय जण उवयारी किच्चा संठावियोऽणेगे। विज्ञालयादि पवरा सव्वपिओ मूय कय अरश्रो ॥३॥ पत्तो सुरालयम्मि इंदादि पिडबोहणा कज्जे। भारहवासी भत्ताण पूरिज्जंतु सथलमण इच्छा ॥४॥

इसी प्रसंगमें आपकी आत्नाभिव्यक्तिका एक नमूना उपस्थित करनेके लोभका संदरण नहीं कर पा रहा हूं। आपके दीक्षागुरु श्री सहजानंदजीके नियनका समाचार आपको अजमेरसे वीकानेर जाते समय ट्रेनमें मिला ओर आपने पूज्य श्रीपादके प्रति अपनी भावनाओंको सकृतका यह रूप दिया—

> अउझत तत्तरस सुपारगामी एगावयारी पूह्य सुरिन्दो। मुगीन्द मखड़ी सुजुगप्पहाण गुरुवरो सहस्राणंद णामो॥१॥

> निव्दाणवत्तो सुसमाहिजतो कत्तीय धवले त**इयातिहीए।** निच्छत्त जाओ इह भरहिखितो धम्मस्स **ए**गो सायार रूवो ॥२॥

> खेयेण खिन्नो सुमुमुक्ख् संघो जाओ निरालंब समग्गठीओ। विदेह खित्तिष्ट्रिय ते महप्पा भत्ताण देहि निव्वुइ सुसत्तो॥३॥

प्राकृतके एक ग्रन्थ जीवदया प्रकरणकी प्राचीन प्रति उपलब्ध होनेपर जब आपने उसे श्री हरखचंदजी बोधराको दिरायी थी, आपने आग्रह किया कि प्राकृत पद्योंका हिन्दी पद्यानुवाद भी प्रस्तुत करनेका प्रयास करें तो ग्रन्थ अधिक मूल्यवान हो जायगा । आपने अनुरोध स्वीकार कर लिया और प्रायः चार-पाँच दिनोंमें ही गद्य-पद्यानुवाद हिरगीतिका छंदमें कर खाली। काव्य-प्रतिमाके धनी आपकी सहज अनुवादकी शेली मूलमावोंकी कितनी अंतरंगिणी बन सकी है एक-आध उदाहरण पाउकों के लिए पर्याप्त होंगे—

संशय तिमिर पयंगं भवियायण कुमय पुन्निमा इंदं । काम गईद भइंदं जग जीव हियं जिणं नमिल ॥१॥

संशय तिभिरहर तरिण सम जिनका परम विज्ञान है, भविजन कुमुद सुविकास कारक चंद्रसम छविमान है। करिवर्य मकरध्वज विदारण सिंहसम उपमान है, जग के हितंकर तीर्थपति को नमन मंगल सान है।।१'।

दियहं करेह कम्मं दारिद्द हुएहिं पुट्ठ भरणत्थं। रयणीसु गेय णिद्दा चिताए धम्म रहियाणं॥३८॥

(5)

लाया नहीं है पूर्व के सहकर्म अपने साथ में तो पेट भरने के लिये कैसे बचेगा हाथ में? दिवस भर है कष्ट करता कठिन श्रम बिन धर्म के रात में निद्रा न पता, फल मिले दुष्कर्म के ॥३८॥

और अन्तमें प्राकृत माषाके एकमात्र अलंकार शास्त्र: 'अलंकार दप्पण' नामक-ग्रन्थ जैसलमेरके मंडारसे ताड़पत्रीय प्रतिलिपि में प्राप्त हुआ था। श्री अगरचन्दजी के अनुरोध पर प्रतिभाशाली शारदा के वरदपुत्र ने हिन्दी अनुवाद के साथ-साथ संस्कृत छ।यानुवाद कर इस दुर्लभ ग्रन्थ की महत्ता पर चार चाँद लगा दिया जो विद्वानों के लिये स्पर्धा की वस्तु है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

संखल वमा

सगस्स व कणअ-गिरी कंचन-गिरिण महिअलं होउ। महि बीदस्सवि भरधरणपच्चलो तह तुमं चेअ।।

शृं खलोपमा स्वर्गस्ववकनकशिरि कंचनगिरिणैव इत महीतलं भवतु । महीपीठस्यापि भारधरणणप्रवक्तस्तथा सर्व चैव ॥

(यह) भूतल स्वर्ग की तरह कनकिंगिरि और कंचनिंगिरि का-सा (पीला) हो जाय। (क्योंकि) तुम ही महीपीठ के भू-भार को धारण करने में समर्थ हो ।

इस प्रकार अनेकानेक संस्मरण आपके सान्निध्य में मुझे सुनने को मिले हैं जिन्हें अंकित कर अपने विषय को बढ़ाना उ जित नहीं समझता। गद्दी पर बेठकर क्षण में पुस्तकावलोकन, प्रतिलिपिकरण, निबन्धलेखन तथा क्षण में व्यापारिक सम्बन्धों का रक्षण व पोषण न जाने कितनी बार देखा है। कोई आयाम नहीं, प्रयास नहीं, स्वामाविक गति से लेखनी बही-खातों पर चलते चलते साहित्य लेखन में व्यस्त हो जाया करती है। धन भी है धर्म भी, ज्ञान भी है विवेक भी, राग भी है विराग भी, कितनी समरसता है एक रसता में भी, आइचर्च होता है। नाम की भूख नहीं, केवल कर्तव्य की प्रेरणा है। सम्मवत्या इसीलिये इनकी सज्जनता का फायदा उठाने वाले कितने ही मान्य विद्वानों ने इनकी कितनी अज्ञात कृतियों को अपने सन्मान का विषय बनाया है। प्रसंगवश एक उदाहरण देने में मुझे संकोच नहीं है। प्रसिद्ध प्राच्य विद्या विश्वारद पुरातत्त्ववेत्ता डां० वासुदेवरशरण अग्रवाल. जो इनके साहित्य के समर्थक व सहायक भी थे, श्री में वरलालजी की दो कृतियाँ—'कीतिलता' तथा 'द्रव्य परीक्षा' के साथ न्याय नहीं कर सके! अवधी माषा की कृति, कीतिलता का अनुवादक में वरलालजी ने डां० साहब को वह प्रनथ देखने के लिये मेजा था, पर अग्रवाल साहब ने इनका नाम वहां से लोप कर दिया। यही बात पुरातत्त्व-सम्बन्धी द्रव्यपरीक्षा के विषय में भी कथ्य है। इस अमूल्य ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद का उन्होंने अंग्रेजी में अनुवाद कर अपने नाम से छपा डाला। उनके दिवंगत होने पर शायद ये दोनों पुस्तकं बीकानेर संग्रहालय में सुरक्षित

रखी गई हैं. जिसे उनके पुत्र ने लेंटाई है । शायद विज्ञापन ही व्यक्तित्व की सच्ची परल है और इनके पास विज्ञापन नहीं । आप अगरचन्दजों के अनुरोध के वर्शवद रहें ।

मँवरलालजी का जीवन सीधासादा है। आपका अन्तर जितना निर्मल व पवित्र है उतना ही व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन भी। धोती कुर्ता तथा पगड़ी यहां सामान्य परिधान है। व्यवहार कुशल, वाणी सुखद, जीवन कर्मठ और कृति सुन्दर। यहां कारण है कि सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक समाओं, सभ्य व संस्कृत विचारगोष्टियों व अन्यान्य संस्थाओं से आपका जीवन सम्बन्ध है। ऐसे ही पुरुगों के लिये शायद यह उक्ति चरितार्थ है—

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।

विषम परिस्थित में धेर्य आपकी विशेषता है। धन है. यश है, पर अभिमान नहीं, अभिरुचि नहीं, कोई व्यसन नहीं, भागणपटुता और लेखन सिद्धि का विचित्र समायोग है। अतः भर्नृहिरिजी के शब्दों में आप महान् आत्माओं की सिद्ध प्रकृति के प्रतीक हैं। लोकमंगल को लालसा है और पर-जन्म को कृतार्थ करने की कामना। हृदय में विश्वास है और परमशक्ति नान में श्रद्धा तथा मित । व्यतीत आपकी स्मृति में है और सजग वर्तमान हाथों में, फिर नियति के लिए अधिक चिन्ता नहीं। जैन धर्म, जैन साहित्य, जैन समा, जैन सम्मेलन आपके बिना अपूर्ण हैं। आपके सार्वजनिक जीवन के लिये इतना ही कहना पर्याप्त है।

अन्त में जेसा मैंने लिखा है किसी भी व्यक्तित्व के मूल्यांकन के लिये जितनी दृष्टि अपेक्षित है उसके मान-दृण्ड की उतनी विभिन्न विधाय हैं। मेरा अपना आकलन पूर्ण है, मैं स्वीकार नहीं कर सकता। विशव्हजी की बुद्धि महासागर के समान भरतजी के व्यक्तित्व की महिमा के तौर पर अवला की तरह खड़ी जैसे नौके व तट का चिन्ह नहीं पा सकी उसी प्रकार कोई भी चिन्तक इस महान् गम्भीर व्यक्तित्व की शाह नहीं पा सकता। मैंने तो न्यूटन की तरह इस ज्ञान-गरिमा के सागर तट पर वच्चों की तरह खेलते हुए कुछ कंकिड़्या ही बटोरी हैं। हर तरंगों को पहचानने की शक्ति मला तट पर खड़े रहने वाले कायरों को केसे सुलभ हो सकती है ? मैं तो मात्र सीपी से सन्तुष्ट हूँ, डूबने की शक्ति नहीं, फलतः मोती के आबका दर्शन ही कैसे होगा ? यह भार तो मैंने सक्षम व साहसी व्यक्तियों पर ही छोड़ दिया है। पाठकों की जिज्ञासाय और अधिक जानने की होगी पर उनसे मेरा विनम्न निवेदन होगा कि इनकी कृतियों के माध्यम से इन्हें जानने का प्रयास करें : एक बात मैं अवश्य कहुँगा कि मैंवरलालजी ने वही किया है जो इनकी चेतना ने स्वीकृति दी है और वह करेंगे जिसे इनका अपना निर्मल मन स्वीकार करेगा। इनमें अब भी कुछ कर गुजरने की साध है और ७५ वर्ष की अवस्था मैं भी इनमें जीवनशक्ति का अमाव नहीं है। अतः कुछ नवीन, कुछ सुन्दर, कुछ सत्य तथा कुछ शव देखने, समझने व ग्रहण करने की हमारी कामनायें प्रतीति अवस्थ चाहेंगी। परमात्मा आपको चिरायुष्य करें। जैन समाज कृतज्ञ होगा, सृजन को गति मिलेगी और साहित्य व समाज आपकी अमरता पर गर्व करेगा। शेष अचिन्त्य है। और शास्त्र कहता है ''अचिन्त्या खलु ये मावाः न तांस्तकेंग योजयेत्। सुतराम्।

ज्ञाने गतिर्मीतिभौवे बुद्धिलोकारंजने । संसिद्धिस्तेन श्रीवृद्धिरायुर्विद्या यशो बलम् ॥" इत्यलम्

00 }

संक्षिप्त जीवन परिचय

मैंवरलालजी का जन्म संवत् १९६८ के आहिवन महीने के कृष्ण पक्ष की द्वादशी को हुआ है । परम साध्वी. सञ्जेला, श्रीमती तीजावाई की गोद में इनका लालन-पालन हुआ। पिला श्री मैरूदानजी एक कर्मठ व्यवसायी, लोकप्रिय तथा धार्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे। अध्यवसाय उनका लक्ष्य था और जीवन पवित्र। फ़रुतः पुत्र की मावनाओं में कभी अन्तर नहीं आ पाया । वैसे पूरा का पूरा नाहटा परिवार अपनी एक पूज्य परम्परा रखता है । केवल उदर-पति व भोग-विलास की कामना से धनोपार्जन इस परि र की चेष्टा नहीं रही। तपःपूत चरित्र, धार्मिक निष्ठा तथा सतत् प्रयास जिनका विकास श्री भैवरलालजी में क्रमशः हुआ इनके व्यक्तित्य की समय-शिलापर चित्र बनता गया । जेन शिक्षालय, वीकानेर में ही आपका विद्यारम्भ मृहत् हुआ पर शिक्षा इन्हें मात्र ध्वीं कक्षा तक मिली । चाचा अभय राजजी, जिन्हें संसार प्रिय नहीं लगा. स्वर्ग सिधार गये, आपकी संयम व व्रत की शिक्षा दे गये। फलतः होश संभालने के साथ ही जेनशासन की विभिन्न साधनाओं में आपका मन रभने लगा, जिसका क्रम हम आज भी यथा-वस पाते हैं। अध्ययन की रुचि आपको श्री अगरचन्द्रजी काकाजी से मिली। दोनों ही महानुभाव प्रायः हमउम्र रहे हैं लेकिन पुज्य-पूजक की भावना यशावत् है। मर्यादा ने आँख की शर्म का शान बनाये रक्खा है। व्यापारिक उत्शान-पतन की चिन्ता से दूर, भावनाओं के संसार में खुले पंख उड़ने की अनन्त कामना वरद्वपुत्रों को सशक्त बनाये रखे हैं। पूज्य मालाजी का प्यार कुछ समय तक हो मिल पाया था क्योंकि उनकी पुकार आ गयी थी। पिताश्री ने तीन विवाह किये थे। आप उनकी दितीय पतनी की देन हैं। माताजी की मृत्यू के १० वर्ष पश्चात् आप श्री लक्ष्मीचन्द जी की गोद में चले गये । आपको पूरे परिवार का स्नेह सुलभ रहा । १४ वर्ष की अवस्था में आपका श्रम पाणिग्रहण संस्कार सं० १९५३ की मिती आषाद बदी १२ को श्री रावतमल सुराणा की सौमाग्यवती। कन्या श्रीमती जतनदेवी के साथ सम्पन्न हुआ। आपके दो पुत्ररत्न श्री पारसकुमार और पदमचन्द तथा दो सुशीला पुत्रियाँ श्रीकान्ता तथा चन्द्रकान्ता हैं। पुत्रियों अपने सम्पन्न घरों में पुत्र, धन-धान्य पूर्ण सुखमय जीवन व्यतीत कर रही हैं प्रथम पुत्र श्रो पारसकुमार कुशल व्यवसायी, शुद्ध व्यावहारिक, হাদের पर गम्भीर व्यक्तित्व से समन्वित तथा वर्तमान युग की उच्चतम शिक्षा, एम० काम०, एल० एल० वी० की रपाधि से विभूषित योग्य नवयुवक हैं । इनमें सामाजिक व नेतिक मर्यादा है, व्यक्तित्व को परखने की अपनी दृष्ट है । समय, समाज व परिस्थितियों के साथ गतिशील होने की शक्ति है। साहस है और है एक आत्मबोध, जिसमें संतुष्टी के समापन की विचित्र शक्ति संनिहित है। कर्तव्य इनका लक्ष्य है और सिद्धि इनकी प्रेरणा। वर्तमान इनसे संतुष्ट है और ये वर्तनान से संतुष्ट । फज़तः भविष्य इनका अपना है। इनकी आकांक्षायें इनके प्रयत्न की सीमाओं में ही शरण पाती हैं। आप अपनी प्रिय पतनी और अपने चार पुत्रों तथा एक पुत्री के साथ सुखी हैं। दितीयपुत्र श्री पद्रम ने बीo एस-सीo तक अध्ययन क्रम जारी रखा, आजकल पिताजी के साथ व्यवसाय में संलग्न हैं। नितान्त इन्टोवर्टी कर्मठ शान्त व लुशील परिवार की मर्यांदा के अनुकूल इनका जीवन है। आपका विवाह एक सुशिक्षित व धर्मशीला महिला से सम्पन्न हुआ है । एक सुन्दर-सा पुत्र आपकी गोदका शृंगार है । इसी छोटे से परिवार के साथ मेंवरलालजी पर्याप्त संतुष्ट रहते हैं । भाग्य की बिखम्बना ने कभी भी इन्हें निराश नहीं किया ।

श्री मँवरलाल नाहटा: एक विहंगम दृष्टि

जन्म

ः सं० १९६८ आर्श्वन कृष्ण १२

सन् १९११. २ अक्टूबर

कोचरों का मेहल्ला, बीकानेर

पिता का नाम

: श्री भैरुदानजी नाहटा

माता का नाम : श्रीमती तीजाबाई

गोत्र

ः नाहटा (ओसवाल)

अध्ययन

ः जैन पाठशाला, बीकानेर से ५वीं कक्षा में उत्तीर्ष

विवाह

ः सं० १९५३ आषाद् वदी १२

धर्मपत्नी

ः श्रीमती जतनदेवी (सुपुत्री : स्व० रावतमलजी सुराणा)

दत्तक

: पितामह के जयेष्ठ भ्राता स्व० लक्ष्मीचन्दजी नाहटा के, सं० १९८९

अभ्यास

ः संस्कृतः, प्राकृतः, राजस्थानीः, हिन्दीः, बंगलाः, गुजरातीः, प्राचीन लिपिः, भाषा विज्ञानः, इतिहासः, ब्राह्मीः

अपभ्रं श, अवहट्टी, कला, पुरातस्व

संग्रह

ः लगभग ९० हजार हस्तलिखित ग्रन्थ, ७५ हजार मुद्रित पुस्तकें, पुराने सिक्के, मृतियाँ, चित्र, हथियार

आदि अनेक दुर्लभ सामग्री

सद्गुरु

: श्री सुखसागरजी महाराज, श्री कृपाचनद्र स्रिजी महाराज, श्री सहजानन्दघनजी

माताजी धनदेवी जी

पहली रचना

ः सती मृगावती सं० १९५७

प्रेरणा स्रोत

: श्री सुखसागरजी, श्रो कृपाचन्द्र सूरिजी व श्री पुरनचन्दजी नाहर

अध्यक्ष एवं टर्धी ः श्री जैन श्वेताम्बर पंचायती मन्दिर, कलकत्ता

उपाध्यक्ष एवं टुष्टी : श्री जैन भवन, कलकत्ता

भूतपूर्व अध्यक्ष : श्री जैन व्वेताम्बर सेवा समिति, कलकत्ता, वर्तमान में कार्यकारिणी सदस्य

ट्रसी

ः श्री जैन भवन, पालीताना

संग्रहक व टुष्टी : श्री अभय जैन ग्रन्थालय. बीकानेर

: श्री शंकरदान नाहटा कला भवन, बीकानेर

कोषाध्यक्ष

: श्री जिनदत्त सूरि सेवा संघ. मू० पू० मंत्री

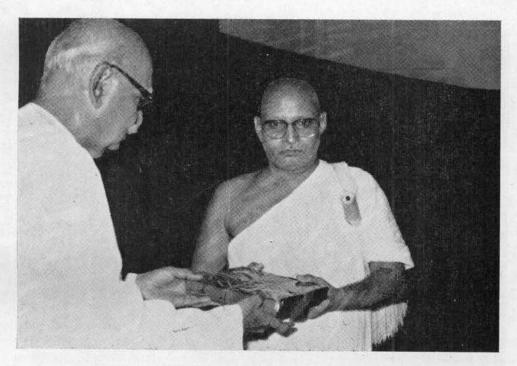
सदस्य

ः श्री अखिल भारतीय खरलरगच्छ महासंघ, दिल्ली

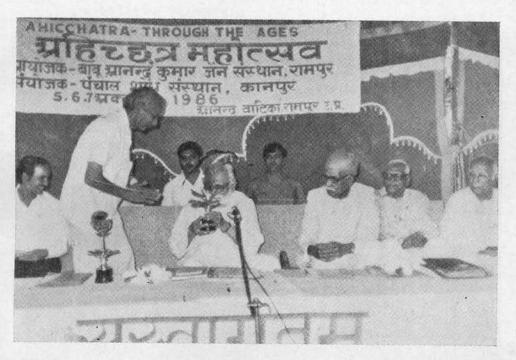
भूत पूर्व मंत्री

ः राजस्थानी साहित्य परिवद, श्री जैन २वै० उपाश्रय कमिटि, श्रीमद देवचन्द्र ग्रन्थमाना

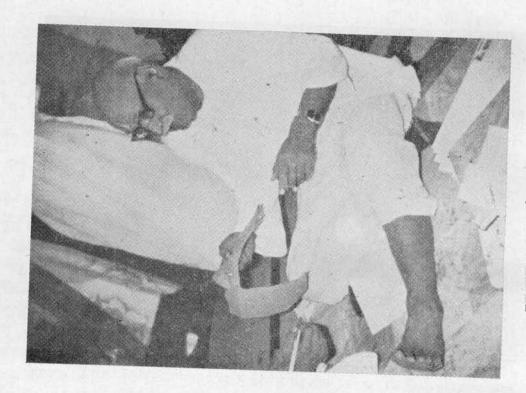
७२]



सहजानन्दघन-पत्रावली का विमोचन करते हुए मुनिश्री महिमाप्रभसागरजी म० के साथ श्री नाहटाजी



अहिच्छ्रत्रा सेमिनारकी अध्यक्षता करते हुए श्री नाहटाजी। उनके दाहिनी ओर हैं उड़ीसाके राज्यपाल श्री विश्वमभरनाथ पाण्डेय, बायीं ओर सागर विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ० के० डी० बाजपेयी



पूफ पढ़कर कुछ समझाते हुए श्री नाहटाजी



अध्याहिका महोत्सव पर स्नानाभिषेक करते हुए श्री नाहयाजी

सदस्य : शार्द् ल राजस्थान रिसर्च इन्स्टिट्यूट: बीकानेर

एल० डी० इन्स्टिट्यूट आफ इन्डोलॉजी, अहमदाबाद

श्री जैन साहित्य प्रकाशन समिति, कलकत्ता

श्री नागरी प्रचारिणी समा, वाराणसी

श्री जैनसमा, कलकृता

ओसवाल नवयुवक समिति, कलकत्ता

श्रीमद्भ राजचन्द्र आश्रम. हम्पी

भूतपूर्व कोषाध्यक्ष ः श्री जैन सभा, कलकत्ता

तैयोजक व ट्रब्टी ः श्री जोगी पहाड़ी तीर्थ

अध्यक्ष ः श्री चातुर्मास प्रवन्ध कमेटी, कलकत्ता

व्यावसायिक प्रतिष्ठानः नाहटा ब्रदर्स. कलकत्ता. सिरुचर

शंकरदान शुमैराज, कलकत्ता, करीमगंज, अगरतला, बोकाने।

ओसवाल टेक्सटाईल इन्डस्ट्रीज, कलकत्ता

कार्यालय : ४ जगमोहन न्मिलक लेन, कलकत्ता-७

कोन : ३३-४७५५

निवास : २२ राजा बृजेन्द्र स्ट्रीट, कलकत्ता-७

फोन ः ३२-२१४२

सम्पादक : 'कुशल-निर्देश' मासिक-पत्र (१९७२ से)

रचनाएँ

१. सती मृगावती

२, राजगृह

३. समयसुन्दर रास पंचक

८. हम्मीरायण

५, उदारता अपनाईये

६, पद्मिनीचश्ति चौपाई

- ७. सीताराम चरित्र
- ८, विनयचन्द्र कृति कुसुमांजलि
- ९ जीवदया प्रकरण काव्यत्रयी
- १० सहजानन्द संकीर्तन
- ११. वानगी
- १२, महातीर्थ पावापुरी
- १३. जैन क्वे॰ पं॰ मन्दिर सार्द्ध शताब्दी स्मृति ग्रन्थ
- १८ जिनदत्त सूरि सेवा संघ स्मारिका
- १५. जिनदत्त सुरि सेवा संघ €मारिका
- १६. नालन्दा (कुण्डलपुर)
- १७. चम्पापुरी
- १८, वाराणसी
- १९, कंपिल्यपुर
- २०. अहिच्छता
- २१. विविध तीर्थंकलप
- २२. जेन कथा संचय, भाग १ व २
- २३. द्रव्य परीक्षा
- २४. तरंगवती
- २५. सहजानन्द सुधा
- २६. सती मृगावती रास सार
- २७. मक्तामरस्तीत्र, कल्याणमंदिर स्तात्र (हिन्दी पद्मानुदाद)
- २८, युग प्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि चरित
- २९, चार प्रत्येकबुद्ध
- ३०. क्षणिकाएँ
- ३१. सहजानन्दघन पत्रावली
- ३२. निन्हवदाद
- ३३. जेसलमेर के कलापूर्ण जेन मन्दिर
- ३४. कलव ते का कार्तिक महो**त्स**व
- ३५. विचार स्टनसार
- ३६, जैन मुनियों के नामान्त पट
- ३७, अनुभूति की आवाज
- ३८. अस्म सिद्धि

98]

- ३० बीकानेर जेन लेख संग्रह*
- ४८. समयसुन्दर कृति कुसुमांजलि*
- ह१. युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि*
- _{स२} ऐतिहासिक जैन काव्य संप्रह*
- ४३ मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि*
- _{२४} दादा जिनकुशल**भू**रि*
- 83. युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि*
- ४६ वस्वई चिन्तामणि स्तवन संग्रह*
- 8%, ज्ञानसार ग्रन्थावली*
- ४८ सीताराम चौपाई*
- हर, रतन परीक्षादि सप्त ग्रन्थ संग्रह*
- प**्रत्न परीक्षा***
- 4१. क्यॉमखॉ रासो^{*}
- प्र. मणिधारी अब्टम शताब्दी प्रन्श*
- ५३, **क्ष**त्रियकुण्ड*
- ५१. सरतरगच्छाचार्य प्रतिवंधित जाति व गौत्र*
- ५५, कान्हड कठियारा की चौपाईँ* *
- ५६. थावच्चा पुत्र ऋषि चौपाई* * *
 - * स्व० आगरचन्द नाहटा के साथ सह सम्पादित
 - * * श्री सत्यरंजन बनर्जी के साथ सह सम्पादित
 - * * श्री रमणलाख साह के साथ सह सम्पादित

अप्रकाशित

- १ आहमदृष्टा धनदेवी माताजी
- ३ खरतरमच्छ इतिहास
- ३ ढोलामारू रा दूहा
- 🛪 नगरकोट कॉंगड़ा का इतिहास
- ३ जःलोर स्वर्णगिरि तीर्थ
- ६ सागर सैठ चौपाई
- ७ मंत्रीश्वर कर्मंचन्द वंश इतिहास
- फ आगरे के लोड़ों का सम्मेतशिखर संघ **वर्ण**न
- ९ विज्ञप्ति पत्र संग्रह
- १० शास्त्र प्रद्यास्न कथा

सम्बन्धित पत्र-पत्रिकाएँ

कुशल-निर्देश

आकृति

तेरापंथ भारती

कल्पना

नागरी प्रचारिणी पत्रिका

राजस्थान भारती

रुवेताम्बर जैन

धर्मदूत

जैन सत्य प्रकाश

आत्मामन्द

राजस्थानी

जैन ध्वज

भारती विद्या

ओसवाल नवयुवक

हिन्दुस्तानी

जैन जगत

वीर संदेश

<u>বি</u>কাহা

कथालीक

साधना

स्वाध्याय

Jain Journal

विशाल मरुधर

२वेताम्बर जैन

जैन युग

उत्थान चक्र

नेणसी

राजस्थली

दैनिक विश्वमित्र

कादस्बिनी

e&]

पत्र-मित्र

राजस्थान क्षितिज

जैन ज्योति

अवन्तिक।

तित्थयर

जैन सिद्धान्त मास्कर

विश्व वाणी

विशाल भारत

अनेकान्त

मस्वाणी

तिनवाणी

जीवन साहित्य

मरु भारती

राष्ट्र भारती

अमर भारती

जेन

ज्ञानोदय

ब्रमण भारती

विश्वस्मरा

परम्परा

भारकर

श्रमण

वरदा

तुलसी प्रज्ञा

जैन संदेश

ओलभो

शास्वत धर्म

माणक

नवनीत

जैन भारती

[00.

संबंधित महत्वपूर्ण ग्रन्थ

- १ श्री विजयबल्लभसूरि स्मारक ग्रन्थ
- २ हरी पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ
- ३ श्री महावीर जैन सुवर्ण महोत्सव ग्रन्थ
- ४ कर्मयोगी केशरीमलजी सुराणा स्मृति ग्रन्थ
- ५ श्री सोहनलाल दूगड़ रमृति ग्रन्थ
- ६ श्री आर्य कल्याण गौतम स्मृति ग्रन्थ
- ७ मृति हजारीमल स्मृति ग्रन्थ
- ५ आचार्यं राधेरयाम मिश्र अभिनन्दन प्रन्थ
- ९ श्री छोटेलाल जेन स्मृति ग्रन्थ
- १० श्री विजयसिंह नाहर अभिनन्दन ग्रन्थ
- १९ श्री आगरचन्द नाहटा अभिनन्दन ग्रन्थ
- १२ श्री गणेश ललवानी अभिनन्दन ग्रन्थ
- १३ माहेरवरी महासभा अमृत वसरी
- १४ दादा जिनकुशल सुरि जन्म सप्तम शताब्दी समुति ग्रन्थ

मुमिकाएँ

- १ महावीर षट् कल्याणक पूजा
- २ सम्मेत शिखर तीर्थ
- ३ शान्तिपथ
- ४ श्रीपाल चरित्र
- **४ कल्पसूत्र (हिन्दी अनुवाद)**
- ६ अनोखी आन
- ७ राजस्थानी कहावताँ
- प सद्यक्रका
- ९ इक्केवाला
- १० नव रूमरण आदि स्तोत्र संग्रह
- ११ चारों दादा साहब का चरित्र
- १२ भजन मंजुषा
- १३ सहजानन्द विलास
- १४ जैन धर्म प्रवेशिका
- १५ उत्तमकुमार चरित्र
- १६ वृहद, पूजा संग्रह

45

प्रमुख कार्यंकर्ता एवं सम्मानित सदस्य

- र श्री जैन स्वे॰ सुरक्षा कमेटी, महत्तियाण पाङ्गा, विहार शरी.क
- श्री जैन इवै० पंचायती मन्दिर, कलकत्ता साद्धै शताब्दी समारोह
- ३ श्री मणिधारी अष्टम शताब्दी समारोह, दिल्ली
- ४ श्री जिनचन्द्रसूरि दादाबाड़ी प्रतिष्ठा महोत्सव, बीलाड़ा
- श्री हरिभद्रसूरि स्मृति मन्दिर प्रतिष्ठा महोहसव, चित्तीं
- ६ भगवान महावीर २५वाँ निर्वाण शताब्दी समारोह, कलकत्ता, पावापूरी
- ७ जैन धार्मिक शिक्षण शिविरः कलकता
- ८ अखिल भारतीय ऐतिहासिक विद्युत सम्मेलनः मधुवन
- २ छठा जेन साहित्य समारोह, खंभात
- १० श्री गौतम स्वामी २५वाँ निर्वाण शताब्दी समारोह
- ११ अहिञ्चात्रा महोत्सव, रामपुर

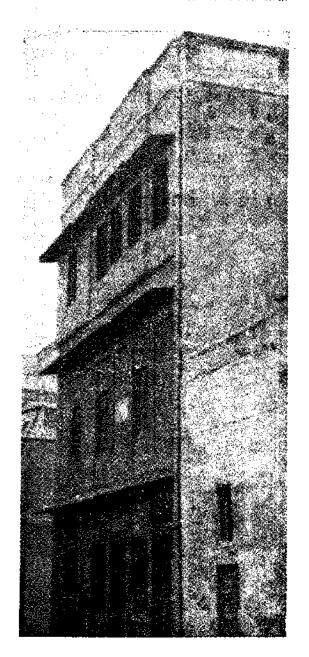
श्री अभय उँन ग्रन्थालय, बीकानेर

-श्रीलाल नथमल जोशी

पुस्तकालयों व ग्रंथागा ों की उपादेयता आज इतनी स्विदित है कि इस विषय में कुछ भी वहने की आवश्यव ता नहीं। इन संस्थाओं की स्थापना तो सरल है किन्तु संचालन कठिन। देश में जितने ग्रन्थागार है उनमें से अधिकांश राजकीय संरक्षण प्राप्त हैं, कुछ का संचालन विविध संस्थाओं द्वारा होता है और इने-गिने मण्डार ऐसे हैं जो व्यक्तिगत प्रयासों के परिणाम हैं। श्रीअभय जैन ग्रंथालय व्यक्तिगत प्रयासों के परिणाम हैं। श्रीअभय जैन ग्रंथालय व्यक्तिगत प्रयास का सुन्दर प्रतिफल है जिसने देश-विदेश के दिरगजों का ध्यान अपनी और आकृष्ट विया है।

अनुकूल धरती मिलने पर बीज के प्रस्कृटित एवं फलित होने में देर नहीं लगती। बात वि० सं० १९८४ की है जब श्री जिनकृपाचनद्रसूरिजी जैसलमेर के प्राचीन ज्ञान भंडार का जीगोंद्वार करके चातुर्मास के लिए बीकानेर पधारे और अपने प्रवचन में उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों एवं पाण्डुलिपियों के संरक्षण पर बल दिया ताकि मनीषियों दारा समाज को समर्पित ज्ञान-राशि का लोप न हो जाय! आचार्यश्री के श्रोता तो सहस्रों थे. पर उनके वचनों को सहेज कर हृदयंगम करने वाले केवल दो ही व्यक्ति शे-एक चाचा, दूसरा मतीजा । ये चाचा-मतीजा कांधलजी-वीकोजी के समान किसी भु-खण्ड पर आधिपत्य जमाकर वहां अपना राज्य स्थापित करने के अभिलाषी नहीं, प्रत्युत तीव्र गति से निरन्तर काल-कवलित हो। रही ग्रंथ-राशि को संरक्षण देकर उसके दिवंगत सन्दाओं को अमरत्व प्रदान करने की आतुर थे; चाचा-अगरचन्द नाहटा. भतोजा--भंवरलाल नाहटा ।

उस समय इस नाइटा युगल की आयु साढ़ें सीलह-सन्नइ वर्ष थी—एक ऐती आयु जिसमें समस्त उमंगों के साथ गाईस्थ्य-जीवन में प्रवेश तकी तैयारी करते हुए स्वर्गिन स्वर्गों का संसार बसाया जाना था. पर इसके सर्वथा



(So]

विपरीत, सांसारिक सुखों को गौण समझते हुए ये दोनों युवक प्राचीन ग्रंथों के संरक्षण कार्य में मिशनरी उत्साह एवं जोश-खरोश के साथ जुट गए---एक ऐसी रुचि, जिसके कारण इनके साथी लोग इन्हें संसार से उपराम, साधु-सन्तों के समान समझकर अपनी मित्रता के अनुपयुक्त समझने लगे।

अब समस्या थी ग्रन्थ-संग्रह के श्रीगणेश की। ग्रंथ उपलब्ध कहां से होंगे? संयोगवश बम्बई हाईकोर्ट के एक वकील मोहनलाल दलीचन्द का 'कविवर समय सुन्दर' निबन्ध नाहटों ने देखा। आश्चर्य हुआ—एक वकील वम्बई में बैठकर समयसुन्दर पर इतनी विस्तृत जानकारी दे सकता है, तो हम पीछे क्यों रहेंगे। प्रोत्साहन का कारण धा—रांगड़ी चौंक में एक उपाश्रय का खुलना जो बड़ा खरतरगच्छ उपासरा कहलाता है, जिसके ट्रस्टी दानमलजी नाहटा व पूनमचन्दजी कोठारों थे। इससे प्राचीन ग्रन्थों के अवलोकन का सुयोग सहज था। बीकानेर के महावीर जैन मण्डल के ग्रंथालय का अवलोकन करते समय सं० १५०४ में लिखित एक गुटका मिला जिसमें समयसुन्दर की अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं उपलब्ध थीं। युदकों का हौसला बढ़ा और वे द्विगुण उत्साह के साथ अपने कार्य में तस्त्रीन हो गए। समयसुन्दर की खोज करते समय अनेक ग्रन्थों को देखा। जिन कवियों की रचनाएँ श्रेष्ठ लगतीं उनकी नकल करके अपने संग्रह के लिए तैयार कर लेते। किंव के संबंध में देनेवाली आवश्यक टिप्पणियों को अपनी नोटबुकों में उतार लेते।

उन्हीं दिनों नाहटा वंधुओं ने देखा कि बड़े उपासरे में प्राचीन ग्रंथों के खंतड़ रखे हुए थे और उनका उपयोग ठाठें बनाने को किया जाने वाला था। यति मुकनचन्दजी आदि ने उस देर में से काम के कागज छाटकर अपने अधिकार में रख लिए थे। नाहटों ने उनको क्रय कर लिया। परिणाम सुखद निकला। काफ़ो सामग्री उस देर में से प्राप्त हो गई। उसके बाद जहां कहीं भी ऐसी सामग्री की जानकारी मिलती, वे उसे लेने का प्रयत्न करते. निःशुल्क अथवा खरीदकर। बीकानेर से बाहर जाना पड़ता तो वहाँ भी जाने पर हर हालत में प्राचीन पांडुलिपियों की रक्षा का प्रयत्न करते। इस प्रकार की सामग्री में ग्रन्थों के बिखरे हुए पन्ने ही अधिकांश में होते थे। उन्हें ये दोनों अध्यवसायी युवक तस्तीबवार रखकर ग्रन्थ को पूरा बनाने की कोशिश करते। जब ग्रन्थ पूरा हो जाता तो इनके हर्ष का पारावार नहीं रहता। इस प्रकार से पन्ने जोड़-जोड़ कर इन्होंने अनेक बहुमूल्य ग्रन्थों की रक्षा कर उन्हें अपने संग्रह में सुरक्षित रख लिया।

यह ज्ञातव्य है कि प्राचीन पाण्डुलिपियों को पढ़ने व उनका अर्थ लगाने में भी मँवरलालजी का अभ्यास स्व अगरचन्दजी से भी अधिक है। रामचरितमानस में सीता अपने पति के साथ जाकर भी राम के साथ पूजी जाती है, जबकि उमिला सर्वथा अनबूझ पड़ी है। प्रायः उमिला जैसी स्थित मँवरलाल नाहटा की है. पर चाचा-भतीजे में इतना स्नेह रहा कि भंवरलालजी को कभी इस बात का ध्यान ही नहीं आया कि उनका नाम अगरचन्दजी के बराबर चल रहा है या नहीं। अगरचन्दजी का नाम अधिक चलने का कारण संभवतः यही है कि भँवरलालजी अपने पारिवारिक व्यवसाय के साथ-साथ प्रेस कापी, प्रूफ पठन, अनुवाद, नकर्ले. शब्दकोशः सम्पादनादि तथा ग्रन्थ-संग्रह-कार्य दोनों ही सम्हालते थे. जबिक अगरचन्दजी व्यावसायिक कार्यों से लगभग पराङ्मुख हो गए थे।

59

जब इनका संग्रह विस्तृत होने लगा, तो प्रारंम में उसे तीन आलमारियों में रखा जा सका, परन्तु वह तो निरन्तर वृद्धि की ओर अग्रसर था और उसे व्यवस्थित रूप देने के लिये किसी उचित स्थान की आवश्यकता का अनुभव होने लगा।

इस प्रसंग को बीच में छोड़कर अब हम संस्था के नामकरण की चर्चा करेंगे। अगरचन्दजी के पिता थे शंकरदानजी नाहटा। अगरचन्दजी से ठीक वारह वर्ष बड़े माई थे अमयराज नाहटा जिनका जन्म वि० सं० १९५५ की चित्र कृष्ण पठी को बीकानेर में हुआ था। समस्त मानवीय गुणों से सम्पन्न यह वैश्य-वालक छोटी आयु में ही अपने से बड़ों के सम्मान का भाजन बन गया था। साहित्य और धर्म में इसकी अपार रुचि और विलक्षण गति थी। परन्तु सुसंपन्न नाहटा परिवार मो इस अलौकिक सम्पदा को अपने पास अधिक समय तक नहीं रख सका। अमयराज रूगण हो गये। चिकित्सा के लिए उन्हें जयपुर ले जाया गया। डाक्टरों ने इनकी व्याधि को असाध्य घोषित कर दिया। सम्पूर्ण नाहटा परिवार पर विपाद के घनघोर बादल छा गये। गीता में अर्जुन ने दूसरे अध्याय में स्थित-प्रज्ञ के लक्षण पूत्रे हैं। श्रीकृदग कहते हैं—'दु:खेडवनुदिग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृह'। सारा परिवार शोक-सागर में निमरन है, पर स्थितप्रज्ञ अमयराज को विचलित करने की क्षमता किसमें थी ? उनके लिये काल विकराल नहीं था। शरीर-त्याग केवल वस्त्र बदलने के समान था। अभयराज जानते थे कि वे आसत्रमृत्यु हैं. पर उनके स्वाध्याय में, चिन्तन में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया। मीष्म पितामह शरशैया पर अविचलित थे, तो समझ में आता है कि उनके पास दीर्घायुख्य का अथाह अनुमव था, पर वाईस वर्ष का अमयराज यदि योगियों के समान देह-त्याग करते हए सबको अन्तिम प्रणाम कर जाये तो निःसन्देह विलक्षण, परम विलक्षण है।

यह बज्रवास हुआ वैशाख कृष्णा सप्तमी वि० सं० १९७७ को जिसने नाहटा परिवार का न केवल क्लेजा ही निकाल लिया, कुछ समय के लिये उसका विवेक भी छीन लिया ! वालक अगरचन्द, मेंवरलाल जो उस समय लगभग दस वर्ज के थे, विद्याध्ययन से वंचित कर दिये गये । परिवार में अभयराज सर्वाधिक शिक्षित थे और वै इस प्रकार असमय में चले गये, तो परिवार में एक धारणा बन गई कि—पढ़ाई में आपां ने लैणियों कोनी।

सैठ शंकरदान इस पुत्र-रत्न के लिये कोई अनुपम स्मारक वनवाना चाहते थे, इधर अगरचन्द-मँवरलाख अपनी पांडुलिपियों की व्यवस्था करना चाहते थे, अतः स्व० अभयराज नाहटा की स्मृति में अभय जैन ग्रंथालय की स्थापना की गई। ग्रंथालय पर लगे हुए शिलालेख में स्थापना का वर्ण १९७७ वि० सं० अंकित है, फिर भी यह वर्ष विचारणीय है। सं० १९५४ की वसन्त पंचमी पर जैन मुनि का वीकानेर में चातुर्मास हुआ और तभी नाहटा बन्धुओं को पाण्डुलिपि-संग्रह की प्रेरणा मिली थी। कुछ वर्ष ग्रन्थों के संग्रह में भी लगे तब कहीं ग्रन्थालय स्थापित करने की बात उत्पन्न हुई, अतः वि० सं० १९७७ को इस ग्रंथालय का स्थापना वर्ष नहीं माना जा सकता। यह हो सकता है कि सं० १९७७ में जब अभयराज की मृत्यु हुई तो सेठ शंकरदान नाहटा ने उनकी पुण्य स्मृति में कोई स्मारक स्थापित करने का संकल्प लिया होगा, अतः १९७७ को हम स्थापना वर्ष के स्थान पर संकल्प वर्ष कहेंगे तो समीचीन होगा। हाँ, श्री अभयराजजी की स्मृति में अभय जैन ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प सं० १९५२ में अमयरतनसार प्रकाशित हुआ जिसका सम्पादन पं० काशोनाथ जैन ने किया था। इसके अतिरिक्त अगरचन्दजी के अग्रज मेघराजजी नाहटा के पुत्र कैसरीचन्द नाहटा तथा अगरचन्दजी के जयेष्ठपुत्र धर्मचन्द नाहटा

52]

से प्राप्त जानकारी के अनुसार जिस भवन में यह प्रंथालय अवस्थित है, उसका निर्माण वि० सं० २००० में ही हुआ था. उससे पहले ग्रंथों की आलमारियां पिरोल के जपरवाले कमरे में थीं और वाद में ग्रुम विलास में भी पुस्तकालय रहा। वर्तमान भवन के निर्माण से पहले तो वह स्थान मात्र गार्थों का एक बाड़ा था। इसके अविरिक्त भवन की पहली मंजिल पर जो शिलालेख लगा हुआ है, उस पर शंकरदान नाहटा कला भवन अंकित है और उसका स्थापना वर्ग वि० सं० २००० लिखा गया है। स्वष्ट है कि जब वि० सं० १९९९ में शंकरदानजी का स्वर्गवास हुआ. तो उनके पुत्र मेरूदान, सुमैराज, मेधराज, अगरचन्द नाहटा ने तत्काल इस भवन का निर्माण करवाकर अपने पिता की स्मृति में कला भवन स्थापित किया और धरातल मंजिल (ग्राउन्ड फ्लोर) पर अभय जैन ग्रंथालय की स्थापना की। इस प्रकार वि० सं० १९७७ में जिस ग्रंथालय का संकल्प किया गया था, उसे मूर्चरूप वि० सं० २००० में ही दिया जा सका। भवन निर्माण में सुमैराजजी का विशेष योगदान रहा।

जिस समय ग्रन्थालय को स्थापना हुई. केवल धरातज मंजिल में ही पांखुलिपियों के वस्ते रखे गये, पर उत्साही नाहटा वन्युओं की अदम्य लगन के कारण शीघ्र ही धरातल मंजिल की सारी आलमारियां ग्रन्थों से मर गयीं और जो कला-भवन प्रथम मंजिल में अवस्थित था उसे दूसरी मंजिल में सरकाना पढ़ा। यही नहीं, जो अंतमींम मंजिल (तलघर) कवाढ़खाना वना हुआ था, उसका भी भाग्योदय हुआ और अभय जैन ग्रन्थालय की पाण्डुलिपियां उसमें भी रखी गयों। इस प्रकार तीन मंजिलों में तो अभय जैन ग्रन्थालय अवस्थित है और अपरी एक मंजिल में शंकरदान नाहटा कला-भवन।

इस ग्रन्थालय में सुरक्षित पांखुलिपियों की संख्या मैं ४०-४५ हजार सुनता आ रहा था जो मुझे अत्युक्तिपूर्ण लग रही थी। अभी तीन दिन पहले जब मैंने ग्रन्थालय के सूची पंजिका का अवलोकन किया तो पता चला कि वह संख्या भी वास्तव में त्रुटिपूर्ण थी क्योंकि रजिस्टर में चढ़ी हुई अन्तिम पांखुलिपि का क्रमांक है ५६९३४ (छप्पन हजार नो सो चौतीस) तथा पुस्तक का नाम है 'नस शिख वर्णन'. रचयिता हैं—बलमद्र किव।

क्रमांक २४६ पर 'जम्बूदीप पण्णित चूणि' दर्ज है जिसका लेखन समय वि० सं० १४८० और लेखन स्थान खूंगरपुर है। पुस्तक में ३१ पत्र हैं. जिनका आकार २९.६×१०.५ से० मी० है। प्रत्येक पत्र में १५ पंक्तियाँ व प्रत्येक पंक्ति में ६६ अक्षर हैं। इसी प्रकार क्रमांक ५८९ पर 'उत्तराध्ययन सूत्र' दर्ज है जिसकी माणा प्राकृत है। यह ३९ पत्रों में है. पत्रों का आकार ३०×६ से० मी० है। प्रत्येक पत्र में १५ पंक्तियाँ व प्रत्येक पंक्ति में ६३ अक्षर हैं। इसका लेखन समय १५१७ वि० सं० है। क्रमांक १३४ पर 'उपासक दशांग सूत्र-वृत्ति' ग्रंथ है जिसके लेखक अभयदेव सूरि हैं और लेखन समय वि० सं० १५३२ है। यह वेल-बूटेदार है और इसमें १३ पत्र हैं। पत्रों का आकार २९.२×११.२ से० मी० है। प्रत्येक पत्र में १७ पंक्तियाँ व प्रत्येक पंक्ति में ७१ अक्षर हैं। लेखन समय है—१५३२ वि० सं०। मूल ग्रंथ प्राकृत में है व टीका संस्कृत में।

लगभग सात हजार पांडुलिपियां ऐसी हैं जो अभी रिजस्टरों में दर्ज नहीं हुई हैं। इस समय श्री दाजदयाल शर्मा इन ग्रन्थों का परिचय एक नये रिजस्टर में लिख रहे हैं। अधिकांश पांडुलिपियां सत्रहवीं शती की है।

अगरचन्द नाहटा पर लक्ष्मी से भी अधिक सरस्वती की कृषा थी। वे इतनी प्रबल धारणाशक्ति के धनी थे कि अपने संग्रह के सभी ग्रन्थ उनके लिये हस्तामलकदत् थे। उनके रहते किसी शोध-छात्र को ग्रन्थोपलाउँघ मैं

[53 ¹

कोई कष्ट महीं होता था, पर अब उनके स्वर्गारोहण के परचात् स्थित बदल गई है। अब किसी ग्रन्थ को दूंद्र निकालना आसान काम नहीं रह गया है क्योंकि न तो ग्रन्थ भाषावार दर्ज हैं, न विषयवार तथा अकारादिक्रम का तो प्रश्न हां नहीं है। यद्यपि ग्रन्थालय के लिये एक न्यास बना हुआ है, पर वह संमदतः आधिक पहलू की ओर ही जागरूक प्रतीत होता है। अमी-अभी 'अगरचंद-मँवरलाल नाहटा शोध संस्थान' की स्थापना की गई है। आशा है यह संस्थान शीव्र ही प्रत्येक माथा के लिये अकारादिक्रन से विषयवार रिजस्टर तैयार कराएगा ताकि आने वाले शोधार्थी इस दुर्जम सम्पदा से लामान्वित हो सर्जे और यह सम्पदा केवल बस्तों-बुगचों की सम्पत्ति न रहे।

शोध संग्राहकों में कितनी तल्लीनता अपेक्षित है, यह मँवरलाल नाहटा के शब्दों में पढ़िये : "उन दिनों हमें एक ही धुन सवार थी कि संग्रह कैसे हो ? रात में सोते हुए स्वप्न भी ऐसे ही आते. कभी तो किसी ऐतिहासिक स्थान के दर्शन होते, कभी हस्तिलिखित ग्रन्थ-चित्रादि दीखते । आश्चर्य की वात है कि हरे रंग का एक चित्र स्वप्न में दिखाई दिया जिसमें मगवान ऋगमदेव अपनी पुत्रियों बाह्मी व सुन्दरी को लिपि सिखा रहे हैं और सामने पूरी वर्णमाला (ब्राह्मीलिपि) लिखी हुई है । श्री देवचंदजी महाराज के जन्मस्थान के सम्बन्ध की जहापोह में स्वयं देवचंद जी महाराज ऋषमदेवजी के मन्दिर (नाहटों की गवाद) के सामने मिलते हैं और अपना जन्मग्राम बतलाते हैं जो कि बीकानेर रियासत या जोधपुर रियासत में है इस खहापोह में विस्मृत हो जाता है । समयसुन्दरजी के माता-पिता के नाम की खोज में दूसरे ही दिन बड़े उपाश्रय के एक संग्रह के पत्रों में उन्हीं के शिष्यों द्वारा निर्मित गीत मिल जाते हैं और स्वप्न साकार हो जाता है । चित्त की एकाग्रता और संग्रह की अभिलाधा हो इसके मुख्य कारण हैं।"

प्राचीन सामग्री का एक-एक पन्ना और उसका एक-एक टुकड़ा भी कितना महत्त्वपूर्ण हो सकता है, यह चौंकाने वाली घटना भी मंवरलालजी से सुनिए:

''दी इंच के एक पन्ने में हमें कुछ बारीक अक्षरों में लिखे दोहे मिले जिसमें ज्ञानसागरजी के माता-पिता का नाम, जन्म-स्थान, संवत्, दीक्षाकाल, गृह नाम, राज्य-सम्बन्ध आदि प्राप्त हो गए।''

अगरचन्दजी नाहटा का अभिनन्दन ग्रन्थ सन् १९७६ में प्रकाशित हुआ था। उसमें श्री मंदरलालजी नाहटा के लेख से पता चलता है कि इस संस्था ने इन दर्षों में किस प्रकार प्रगति की:

"गत 8२ वर्षों से हस्तलिखित प्रतियों के संग्रह का प्रयत्न निरन्तर चालू है। पर गत २५ वर्षों में इस दिशा में जितना अधिक कार्य हुआ है उतना पहले नहीं हो सका था क्योंकि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हस्तलिखित प्रतियों किकने के लिए जितनी वाहर से आई हैं, इससे पहले कभी नहीं आई । मुद्रण-युग में हस्तलिखित प्रतियों का पठन-पाठन बन्द-सा हो गया। अतः जिनके पास भी हस्तलिखित प्रतियों का संग्रह था वे अब उनकी उपयोगिता नहीं रहने से बेचने को तेयार हो गये। राजा-महाराजाओं ठाकुरों, यतियों, विद्वानों और किवयों के वंशजों ने अपने संग्रह बेचने प्रारम्भ कर दिये। जब ऐसे संग्रह उचित मूल्य में मिलने की खबर पहुँचतो तो काका श्री अगरचन्दजी वाहर जा करके भी और लोगों को पत्र लिखकर भी ऐसे संग्रह खरीदने प्रारंभ कर दिये। स्व० मुनि कांतिसागरजी का जब ग्वालियर में चौमासा था, तो उन्होंने सूचना दी कि जैनेतर, वेद आदि, ग्रन्थों का एक अच्छा संग्रह बिक

58]

रहा है, तो अगरचन्दजी वहां पहुँचे और उसे खरीद लिया । इसी तरह जयपुर के कवाज़ियों से अच्छा संग्रह विकने की सूचना मिली ता वहाँ पर जाकर ले लिया गया ।

"भारत का विभाजन होने पर पंजाब का ग्रन्थ-संग्रह भी खूउ बिकने लगा। हमारे मित्र स्वर्गीय डॉ० बनारसी दास जैन ने एक कबाड़ी को कह दिया था कि नाहटाजी हस्तिलिखित ग्रन्थों का संग्रह कर रहे हैं। उन्हें तुम प्रतियों का बन्डज भेजते रहो, वे उनका उचित दाम लगाकर भेजते रहेंगे। फज़तः उस पंजाबी कबाड़ी ने कई वर्षों तक बड़े- बड़े पुलिन्दे पार्सल करके भेजे। इस तरह इधर-उधर से प्रयत्नपूर्वक संग्रह करते-करते हो इतना बड़ा संग्रह हो सका है।

'हस्तिलिखित ग्रंथों की खोज के लिये अनेक जैन-जैनेतर ज्ञान भण्डारों में जाना पड़ा है और लाखों हस्तिलिखित प्रितियाँ देखकर उनमें से जो-जो महत्वपूर्ण एवं अमूल्य तथा दुर्लम प्रतियाँ देखने व जानने में आई. उनके नोट्स ले रखे हैं। जड़ां तक सम्भव हुआ अन्यत्र के महत्वपूर्ण दुर्लम ग्रन्थों को जो अपने संग्रह में भी रखना आवश्यक समझा ऐसे सैकड़ों रचनाओं की नकलें करवाई हैं और बहुत-सी प्रतियों के तो काफो खर्च करके, फोटो और माइक्रो-फिल्म करवा ली गई हैं। इस तरह जो महत्वपूर्ण ग्रंथ मूल हस्तिलिखित प्रति के रूप में प्राप्त नहीं किया जा सका उसकी प्रतिलिप करवा कर अभय जैन ग्रंथालय में संग्रहीत की गई है।''

हिन्दी, संस्कृत, राजस्थानी, गुजरातो, प्राकृत, अपभ्रंश के अतिरिक्त इस ग्रंथालय में उत्कल, शारदा, ठाकरी, कन्नड़, तिमल, बंगला, पंजाबी, सिन्धी, उर्दू, फारसी, कश्मीरी आदि मापओं की पांडुलिपियां भी विद्यमान है।

हस्तिलिखत ग्रन्थों के समान ही मुद्रित पुस्तक मी यहां उपलब्ध हैं जिनकी संख्या ५०,००० के आस-पास है। पांडुलिपियां और छपी हुई पुस्तक प्रायः सभी विषयों पर पायी जाती हैं। पुस्तकों के अलावा अगरचन्दजी के समय में यहां पत्रिकाएँ बहुत बड़ी संख्या में आती थीं और विशेष बात यह है कि कोई भी पत्रिका रही में नहीं फंकी जाती थी। सारी पत्रिकाओं की व्यवस्थित फाइलें इस ग्रन्थालय में विद्यमान हैं। एक उल्लेखनीय बात और—अन्य विद्यानों के जितने भी पत्र नाहटाजी को प्राप्त होते, उन्हें वे नष्ट नहीं करते थे। ये पत्र आज भी बोरों में भरे हुए हैं।

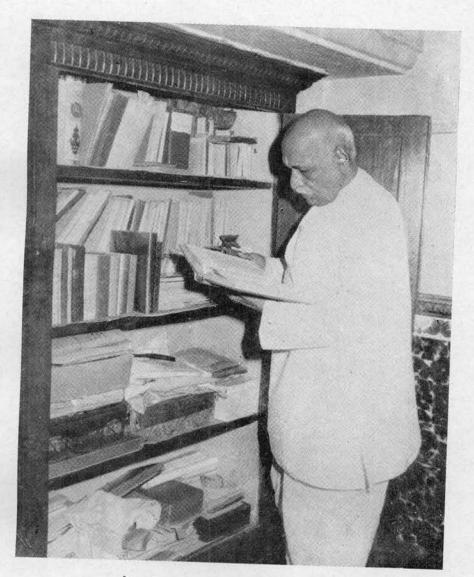
इस ग्रन्थालय के सम्बन्ध में विद्वानों की सम्मतियां भी ज्ञातब्य है : बासुदेवशरण अग्रवाल के विचार से "नाहटाजी ने अकेले एक संस्था का काम पूरा किया है । आगे आने वाली पीड़ियां इसके लिये उनकी आमारी रहेंगी।" वाडिया कॉलेज, पूना में संस्कृत के प्रोफेसर पी० एल० वैद्य ने अंकित किया—"I am pleased to see the wonderful and valuable collection of Nahata family at Bikaner." डॉ० मोगीलाल जे० सांडेसरा के शब्दों में—"Any person interested in Indological research and Indian art coming to Bikaner will be immensely benefited if he pays a visit to Shri Abhaya Library and the Museum located in it, so ably and efficiently managed by Shri Nahata." अहमदाबाद के जितेन्द्र जेटली के शब्दों में, "यह संग्रह देखकर मुझे विशेष प्रसन्नता इसलिए हुई कि इस जमाने में भी उच्च अम्यास और संशोधनों के योग्य प्राचीन ग्रन्थों का और कलाकृतियों का ऐसा संग्रह इतने व्यवस्थित रूप से, किसी संस्था ने नहीं, वरन् एक व्यक्ति ने किया है। भारत के प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास, साहित्य और संस्कृति

[5¥

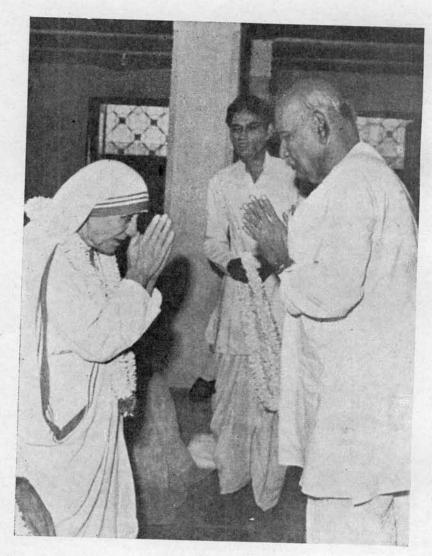
के अभ्यासकों को जब भी अवसर मिले. यह संग्रह अवश्य देखना चाहिए।" राजस्थान पुरातत्त्व संग्रहालय विभाग के डॉ.० सत्यप्रकाश के अनुसार. 'जो अब तक राज्याश्रय द्वारा न हो सका, वह श्री नाहटाजी अपने अथक परिश्रम से पूरा करने की चेव्टा कर रहे हैं और बहुत अंश तक सफल भी हुए हैं। आपके भतीजे श्री मंवरलाल जो का योग सोने में सुहागे का कार्य कर रहा है। भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान में और विशेषतया राजस्थानी संस्कृति को जीवित रखने एवं गौरवान्वित करने में आपके सदश कलाग्रेमियों की स्वतन्त्र भारत को आवश्यकता है।" हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के उदयशंकर शास्त्री के अनुसार "इस अद्भात संग्रह में इतने रत्न भरे पड़े हैं कि युगों तक उनका मूल्य बदला ही जायेगा।" लन्दन विश्वविद्यालय के डब्ल्यू० एस० कुला के अनुसार "This has been a most interesting collection. It is truly a great credit that one has organised so fine a collection of books, manuscripts and objects of art."

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने विद्या-व्यसनी पुत्र अमयराज नाहटा की स्मृति को अक्षुण्ण रखने के लिए उनके यशस्त्री पिता शंकरदान नाहटा ने जिस अमय जैन प्रन्थालय की स्थापना का संकल्प किया और जिसे उनके पुत्रों, पीत्रों ने मूर्त्त-रूप दिया, उस अमय जैन प्रन्थालय की देश-विदेश के पण्डितों एवं कला-मर्मज्ञों ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। एक समय आ गया था जब इस अद्वितीय संग्रह का स्थानान्तरण दिल्ली में करने की चर्चा चली थी। राजस्थान के सौभाग्य से यह संग्रह अभी तक बीकानेर में बना हुआ है और विश्वास है कि अब यहीं बना रहेगा। जिस भावना के साथ स्वर्गीय शंकरदानजी ने इनकी स्थापना का संकल्प लिया, जिस अदम्य उत्साह के साथ अगरचन्दजी, मँवरलालजी आदि ने उसे स्थापित किया और जिस लगन के साथ अगरचन्दजी नाहटा ने इसे पनपाया उसी का फल है कि यह संस्था अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर सकी। आवश्यकता इस बात की है कि इसके सम्अंध में व्यक्ति पूर्णतया जागरूक रहे ताकि जिस उद्देश्य से इसकी स्थापना की गई है, उसका निर्वाह निरन्तर होता रहे।

कृतित्व



अपने पुस्तकालय में ग्रन्थ देखते हुए श्री नाहटाजी



मदर टेरेसा के साथ श्री नाहटाजी



श्रमण भगवान महावीर

वोर प्रमु जग-तारक की पद-धूलि धार हुई धन्य धरा क्षत्रियकुण्ड नरेश्वर का घर धान्य-स्वर्ण से खुब भरा। धन्य धन्य त्रिञ्जला माता जिसने जाया तीर्थंकर को शरण-स्थल मात्र मुमुक्षु के वे वर्द्धमान जग हितकर जो ॥ १॥ चैत सुदी तेरस जनमे छप्पन दिशिकुमरी मिल चौसठ इन्द्रों ने मेरु शिखर ले जाकर पाण्डुशिला ठाई। अभिषेक सहन कैसे होगा शक्रेन्द्र चित्त में है शंकित जान प्रभु ने वाम पैर अंगुष्ठ चाँप गिरि कृत कम्पित ॥ २ ॥ आमल क्रीड़ा में जीत देव महावीर नाम संप्राप्त किया चटशाला में शक्रेन्द्र प्रश्न जैनेन्द्र व्याकरण नाम दिया। मातपिता के भक्त आप करुणामृत्ति संकल्प विद्यमानता में इनके नहीं गृह त्याग् अहो धन्य हिया । ३ ॥ म्राता नन्दिवद्धन आग्रह दो वर्ष और गृहवास रहे देकर संवत्सर दान अनर्गल लो इच्छित ये शब्द कहै। अगहन दशमी था कृष्णपक्ष हो श्रमण शीघ्र वनदास लिया बन दीर्घ तपस्वी और अकिंचन योग ध्यान में चित्त दिया ॥ ८ ॥

सीर पकाई ग्वाले ने प्रक्षेप कृप में चोर बना संगम ने चिर कष्ट दिए पर अंडिंग मेरू सम धीर धना। चण्ड दृष्टि-विषधर कौशिक का दंश दुग्धधारा बुज्झ ! बुज्झ ! इन शब्दों से प्रतिबोधित अष्टम स्वर्ग लही ॥ ५ ॥ ञूलपाणि देवगृह में सह परिष्ह प्रभु उत्तीर्ण बने कानों में कीलें ग्वाले ने ठोके तो भी समभाव धने। तेजोलेश्या से दग्धमान संरक्षण कृत गोशालक के दुष्टों पर भी करुणा करते प्रभु भावदया के धारक थे।। इ॥ छः चार मास दो एक मास पक्षक्षमणादिक उपवासी अभिग्रह धरके विचरे चन्दनवाला ने पारे कुलमाधी। वैशाख शुक्ल दश रिजुवालु तटिनी तट में श्यामाक खेत गोदोहन मुद्रा में दैठे कर छाति कर्म क्षय ध्यान खेता। ७॥ आ महासेन वन पावा में प्रभू तीर्थ प्रवर्तन आप किया ग्यारह गणधर को चार हजार चारसी सह चारित्र दिया। इन्द्रभूति गौतम स्वामी थे लब्धिवंत गुरु भक्त गुणी चन्दनबाला छत्तीस सहस आर्यागण में श्री मुख्य सुणी॥ ८॥ सार्द्धलक्ष नव सहस श्राद्ध आनंद कामदेव पुणिया थे लख तीन अठारह सहस संख्य सुलसा जयन्ती श्राविकाएँ। दशार्ण-शालिभद्रादिक ने दीक्षित हो आत्मोद्धार किया लघुवय अतिमुक्तक ने भी पा कैवल्य चमत्कृत लोक किया॥ ९॥ कोणिक श्रेणिक चेंडाराजा उदयन नन्दिवर्द्धन भक्त अनेकों नरपति गग थे भारत मू के विख्याता। स्यादाद कर्म सिदान्त अहिंसा अध्यात्म रस से पूरित वाणी जिनकी फैली जग में दर्शन ज्ञान चरण संयुत्त ॥ १०॥ द्विसप्तति वर्षाय में चौमास अपापा में आये हस्तिपाल रजजुगशाला अष्टादश नृप पौषध ठाये । दो दिन व्यापी उपदेश दिया कात्तिक अमावस रात्रि में प्रहरान्तिम में प्रभु मेक्ष गए नाग करण अरु स्वाती में ॥ ११ ॥ प्रवचन प्रभु का विस्तार जगत में इस शुभअवसर पर होवे सार्द्धद्वयं सहस संवत्सर का उत्सव सब पापों को धोवे। सुखी बने सब ही प्राणी प्रभु नाम हमें सुखदायक हो 'भँवर' कामना मात्र यही जय जय जय शासन नायक हो ॥ १२ ॥

फलौधी की कुटिल लिपि

फलीधी अर्थात् मेड्नारोड मारवाड् का सुप्रसिद्ध प्राचीन जैन तीर्थ है। वहाँ आदिवन और पौष कृष्णा १० के दिन वर्ण में दो बार मेला लगता है. जिसमें सहस्रों की संख्या में जैन और जैनेतर जनता एकत्र होती है। विगत आदिवन के मेले में सौभारयवश में भी वहाँ गया। तेइसवें जैन तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् की सप्रमाव स्थामवर्ण प्रतिमा लगभग ५०० वर्ण पूर्व भूमि में से निक्ष्ली हुई है। मंदिर भी १२ वीं शताब्दी का बना हुआ है। इस तीर्थ की उत्पत्ति चमत्कारमय होने के कारण यह मारवाड़ का मुख्य जैन तीर्थं कहलाता है। प्राचीन और अर्वाचीन सभी तीर्थमालाओं में इस तीर्थ का नाम स्मरण किया गया है।

दशमी के मध्याह में मंदिर से पार्श्वनाथजी की रथयात्रा निकालकर निकटवर्ली तालाव पर के जाते हैं। इस उत्सव में गायन-वाद्यादि द्वारा प्रमु-भक्ति करने के हैतु सभी यात्री सम्मिलत हुआ करते हैं। मैं इसके कुछ आगे बदकर एक विशाल मंदिर की शोभा देखने के लिए चल पड़ा। वह मंदिर ब्रह्माणी माता का था। उसके आस-पास कुछ मूर्तियाँ और प्राचीन देवलियें भी पड़ी हुई थीं, परन्तु उन पर कोई लेख नहीं था। मंदिर के समक्ष एक पीले पाषाण का विशाल और सुन्दर उत्तंग तोरण दृष्टिगोचर हुआ। उसका मध्यवर्ती छवनां टूटकर गिरा हुआ था। शिल्पकला को देखने पर मंदिर १०००-१२०० वर्ष प्राचीन प्रतीत हुआ, अतः कोई शिलालेख प्राप्त होने की आशा से मैं मंदिर में गया। इस मंदिर के गर्भगृह के दाहिनी ओर एक स्तंभ पर खुदे हुए कई लेख मिले जो शुद्ध और सुवाच्य नहीं थे। उनमें से एक की लिपि बहुत पुरानी थी। उस लिपि का पर्याप्त झान न होने से अपनी मोटबुक में उसकी नकल न कर, एक ऐसे मुद्रित विझापन पर, जो दूसरी तरफ खाली था. कुछ समय के परिश्रम द्वारा पेंसिल से मैंने धीरे-धीरे अविकल नकल कर खाली। उसी स्तंभ पर जो दूसरे लेख उत्कीण थे वे संवत् १४६०, १४३५, १४५१ और १४७९ के थे जिनमें संवत् १५३५ चत्र शुक्रा १५ वाले लेख में प्रासादोद्धार का वर्णन था।

वीकानेर आकर उस लेख को कुछ तो मैंने स्वयं पढ़ा और कुछ माननीय डा० दशरथ शर्मा एम० ए० महोदय ने । अंत में जो अक्षर अस्पट्ट रह गये उनका, बीकानेर-नरेश की गोल्डन-जुबिली पर महामहोपाध्याय राय बहादुर पंडित गोरीशंकर हीराचन्द ओझा के पधारने पर उनसे पूज कर, जो नागरी अक्षरांतर हुआ वह इस प्रकार है:

७ ओं नम श्री फड़वर्द्धिका दे वि। श्री पुष्करगांक वारी वासी सूत्रधार वाहुक । तस्य समुल्पनो भद्रादित्य। तत्र च जाती मचारवि। तस्य पुत्रोत्पन सिसुरवि सूत्रधार। अण्डज स्वेदजौ वापि। उद्भिजं च ज (१) गंगुजं।

यह लेख कुटिल लिपि का है। ईसवी सन् की छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी पर्यन्त अर्थात् गुप्त लिपि के पश्चात् और नागरी लिपि से पूर्व इस लिपि का प्रचार था। इसके अक्षर बहुधा प्रतिहार राजा बाउक

[3

के जोधपुर के शिलालेख से विशेष मिलते हैं जो कि 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' के २३वें बिलिपि-पत्र में प्रकाशित है। वह लेख वि० सं० ८९४ का होने से इस लेख का समय भी विक्रम की नवीं शताब्दी समझा जा सकता है।

इस शिलालेख का पहला अक्षर ७ गुप्तकालीन ओंकार का तत्समय प्रचलित प्राचीन रूप है। उसके पश्चात् 'ॐ' से कुटिल लिपि प्रारंभ होती है। इस लिपि में हं नागरी 'ख' के सदश और 'ख' वर्तमान 'र' के सदश है जैसे छठी पंक्ति के दूसरे अक्षर में 'अंडज' लिखा गया है। 'ज' बंगला लिपि 'ज' से और 'स' मारवाड़ी के 'स' से खूब मिलता है। इसके विरुद्ध प्रतिहार वाउक के लेख का 'स' नागरी के वर्तमान 'म' से विशेष मिलता-जुलता है।

इस लेख की प्रथम पंक्ति का 'फ' और 'ल' अक्षर प्रतिहार राजा बाउक के लेख के अक्षरों से अधिक विकसित रूप में है। दीर्घ ईकारान्त की मात्रा जिन-जिन अक्षरों में है, पूरी दी गई है; परन्तु दूसरी पंक्ति के अंतिम अक्षर 'सी' लिखने में मात्रा को सामान्य-सा टानकर छोड़ दिया है। तीसरी और पाँचवी पंक्ति में सूत्रधार लिखने में दीर्घ ऊकार की मात्रा को लंबी न खींचकर 'स' के नीचे 'त' की माँति लगा दिया है, जैसा कि कुछ प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों में भी देखा जाता है। इसके विरुद्ध प्रतिहार वाउक वाले शिलालेख में मात्रा के स्थान में 'स' को ही संयोजित कर दिया है। तीसरी, चौथी और पाँचवी पंक्ति में जो 'त्र' लिखा है उसे 'त' के नीचे 'र' लिखकर संयुक्त कर दिया गया है।

यह लेख वड़े-बड़े अक्षरों की सात पंक्तियों में उत्कीर्ण है जिनमें क्रमशः ११, ११, १३, १३, १४, १३ और अंतिम पंक्ति में केवल दो अक्षर ही हैं। अंतिम पंक्ति में खिंध देखते 'र' अक्षर छूट गया प्रतीत होता है, क्योंकि इसका पूरा शब्द 'जरायुज' होना चाहिए।

इस शिलालेख के नीचे आठवीं पंक्ति के रूप में नागरी लिपि में 'उ० सनाढा कापड़ी' खुदा हुआ है। इन शब्दों की लिपि देखने से ज्ञात होता है कि कई शताविद्याँ व्यतीत हो जाने पर किसी ने पीछे से लिखा होगा, क्योंकि यह लिपि उससे बहुत अर्वाचीन है।

ब्रह्माणी माता का मन्दिर सेवगों (भोजक, सेवक या शाकद्वीपीय ब्राह्मणों) का है। सुना है कि ग्राम भी इसी मंदिर के लिए राज्य की ओर से मेंट है।

श्रीयुक्त जगदीशसिंह गहलोत अपने 'मारवाड़ राज्य के इतिहास' के पृथ्ठ ३१२ में इस मंदिर के वारे में इस प्रकार लिखते हैं:

"फलोदी गाँव में (जो मेड्ना रोड कहलाता है) ब्रह्माणी माता और पार्श्वनाथ का जैन मंदिर है। शिलालेखों से ज्ञात होता है कि ब्रह्माणी माता का मंदिर सं० १०५५ में या उसके पहिले बना था। फिर मुसलमानों द्वारा तोड़े जाने पर जब-जब अवसर मिला, उसकी मरम्मत की गई। पहली मरम्मत सं० १४६५ में गहलोत दूढा ने की। उस समय गहलोतों का राज्य मेड्ने में था, जिनका नाम इस परगनें के और भी शिलालेखों में मिलता है। वाद में सं० १४५५, १५३५ और १५५१ में इसकी मरम्मत हुई। यह मंदिर पुराने शिल्प और पत्थर के काम का अच्छा नमून। है। इसका बहुत-सा माग मुसलमानी राज्यों में मुसलमानों के मूर्ति तोड़नेवाले प्रबल हाथों से नष्ट हो चुका है। तो भी जितना कुछ बाकी है वह अब इस गिरी हुई दशा में भी अपनी झीनी और अनोखी कारोगरी की वारीकी और सुन्दररता का चमत्कार दिखाने के लिए बहुत है।"

श्री गहलोतजी ने जो बातें लिखी हैं उससे अधिक मैं कुछ नहीं कह सकता। संभव है. उन्हें वहाँ कोई सं० १०५६ का लेख प्राप्त हुआ हो। मेरे पास जो ३-४ अन्य लेख हैं वे अशुद्ध हैं. अतः पढ़े नहीं जा सकते।

सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्री जिनप्रमसूरिजी अपने विविध तीर्थ कल्प' नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ में भी इस मंदिर का उल्लेख इस प्रकार करते हैं:

"अत्थि सवालक्ल देशे मेड्तय नगर समीविठओं वीर भवणाइनाणाविह देवालयाभिरामो फलवद्धी नाम गामो । तत्थ फलवद्धि नामधिज्ञाए देवीए भवणमुत्तुंग सिहरं चिट्टइ । सोअ रिद्धिसमिद्धोवि कालक्कमेण उठ्यसपाओ संजाओ । तहावि तत्त्थ कित्ति आ वि वाणिअगा आगंतूण अवसिसु ।"

अर्थात् सपादलक्ष (सवा लख) देश मेड़ता नगर के निकट वीर मंदिर* आदि देवालयों से सुंदर फलविद्धि (फलोदी) नाम का गाँव है। वहाँ फलविद्धि नाम की देवी का ऊँचे शिखरोंवाला मंदिर प्रतिष्ठित है। वह गाँव ऋदि से समृद्ध होने पर भी कालक्रम से ऊजाड़ हो गया। फिर भी वहाँ कितने ही व्यापारी आकर बसे।

इस अवतरण से यह स्पष्ट है कि यह मंदिर चौदहवीं शताब्दी तक तो फलविद्धिका देवी के नाम से ही पिहचाना जाता था, क्योंकि श्री जिनप्रमसुरिजी का समय चौदहवीं शताब्दी है। फलविद्धिका देवी का नाम ब्रह्माणी माता कब से प्रसिद्ध हुआ ? या ब्रह्माणी का अपर नाम फलविद्धिका देवी है, यह बात विचारणीय है। दूसरा प्रश्न यह है कि ब्रह्माणी माता का नाम फलविद्धिका देवी, फलौदी गाँव के नाम से हुआ या देवीजी के नाम से गाँव का नाम फलविद्धि (फलौधी) प्रसिद्ध हुआ ? पार्श्वनाथ मगवान का जैन तीर्थ होने से पिछं से 'पारसनाथ फलौधी' प्रसिद्ध हो जाने के कारण नाम में भ्रम न हो, इस से माताजी का नाम 'ब्रह्माणी देवी' कहने लग गये हों. यह भी संभव है।

इस शिलालेख में मंदिर के निर्माण करने वाले सूत्र-धारों के वंश-पुरूपों के नामों के अतिरिक्त 'पुष्करणांक वारी' जो नगर का नाम आया है वह वर्तमान 'पुहकरण' का ही नाम है या दूसरा ? और अन्त में अण्डज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुज जीवोत्पत्ति-संस्थान का जो नाम आया है उसका क्या कारण है ? विद्वान लोग खुलासा करें।

इस लेख में संवत् या ऐतिहासिक घटना का उल्लेख नहीं है, फिर भी लिपि की दृष्टि से यह महत्त्व का है।

मैं लिख चुका हूँ कि मंदिर के समक्ष एक सुन्दर उर्तुग तोरण गजराज की माँति अवस्थित है। उस तोरण का टूटा हुआ विशाल पत्थर सामनेवाले तालाब के नाले में पड़ा हुआ है। व्यवस्थापकों को चाहिए कि वहाँ से उठाकर उसे यथास्थान लगवा दें अथवा संमालकर रख दें जिससे भगनावशिष्ट प्राचीन शिल्प का नाश न हो।

*इससे वहाँ महावीर जिनालय की भी सत्ता मालूम होती है जो अभी नहीं है।

[y

'ढोलामारू रा दूहा' के अर्थसंशोधन पर विचार

शब्द शास्त्र अनंत है। एक-एक शब्द के अनेक अर्थ हैं। देश और काल के मेद से शब्द रूपों में इतना अधिक परिवर्तन आ जाता है कि मूल शब्द की खोज का काम बड़ा विकट हो जाता है। एक ही शब्द का अर्थ किसी एक प्रदेश में कुछ किया जाता है तो अन्य प्रदेश में कुछ किया जाता है तो अन्य प्रदेश में उससे मित्र—सर्वथा विपरीत ही। वैयाकरणों ने भी एक शब्द की व्युत्पति कई प्रकार से बतलाई है और उससे उसके अर्थ में बहुत मित्रता आ जाती है। इसलिये सही अर्थ को प्राप्त करने में बड़ी किनाई होती है। बहुत से प्राचीन शब्द भूला दिए जाते हैं कुछ नए गढ़ दिए जाते हैं. कुछ का अर्थ विकृत हो जाता है अर्थात् दीर्घकाल के बाद शब्दों का रूप ही परिवर्तित हो जाता है अर्थात् श्रीमंग्र संयोग्त संयोग्त से वहने बड़े विद्वान भी पूर्ण सफल नहीं हो पाते।

उत्तर भारत की सबसे प्राचीन भाषा कौन सी थी, यह तो नहीं कहा जा सकता पर उपलब्ध साहित्य में 'वेद' ही सबसे प्राचीन हैं और उनकी भाषा संस्कृत है, इसलिये विद्वानों की राय है कि संस्कृत से प्राकृत का विकास हुआ है पर प्राकृत एवं संस्कृत दोनों शब्दों पर विचारने पर यह सहज ही में पता चल जाता है कि प्राकृत ही मूल भाषा होनी चाहिए, संस्कृत उसका संस्कारित रूप है। संस्कृत भाषा तो व्याकरण के कारण बहुत कुछ नियमबद्ध तथा एक से रूप में रही पर प्राकृत तो जन-साधारण की बोलचाल को भाषा थी उसपर व्याकरण का वंधन लागू नहीं हो सकता था। इसलिये प्रकृति से ही देश-काल-भेद से उसमें परिवर्तन होता ही रहा, और वह परिवर्तन इतना अधिक हो गया कि संस्कृत वैद्याकरणिक भी बहुत से जनप्रचित शब्दों की ट्युल्पत्ति ठीक से नहीं कर पाए । इसलिये उन्होंने उन शब्दों को देशी और अपभ्रंश के नाम से अलग वर्ग में रखकर ही धुट्टी ले ली। ऐसे शब्द हजारों हैं जिनमें से कुछ का संग्रह आचार्य हेमचंद्र ने 'देशी नाम माला' में किया है पर उसमें नहीं आए हुए तथा साहित्य में व्यवहृत और भी हजारों देशी शब्द मिलते हैं जिनके संग्रह का प्रयत अभी तक नहीं हुआ, जिसका होना नितांत आवश्यक है। इस महत्वपूर्ण और उपयोगी कार्य में सदसे अधिक सहायक जैन साहित्य एवं लोकभाषाओं में निर्मित साहित्य ही हो सकता है।

प्राचीनकाल से व्याकरण तथा कोशग्रंथ समय-समय पर निर्मित होते रहे हैं जिनसे अर्थानुसंधान में पर्याप्त साहाय्य मिला है पर अधिकांश व्याकरण-कोश संस्कृत के विदानों ने ही बनाए, इसलिये प्राकृत, अपभ्रंश और लोक-माषाओं में प्रचलित हजारों शब्द उनमें प्रतिष्ट न हो सके और वहुत से शब्दों की व्युत्पत्तियाँ भ्रांत रूप में पाईं जाती हैं। प्रचीन काल में समस्त ग्रंथों की प्राप्ति सुलम नहीं थी। बड़े-बड़े संग्रहालय भी इतने नहीं थे और जिज्ञासुओं की पहुँच भी सर्वत्र संभव नहीं थी। ऐसी स्थिति में हमारे व्याकरण और कोशकार जितना भी कर पाए, वह भी वहुत है और हमारे लिये वह अन्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ है पर आज के युग में उन कोशों या नाममालाओं से ही काम नहीं चल सकता। मुद्रणयुग में हजारों ग्रंथ प्रकाशित होकर सर्वसुलभ हो गए हैं। सारा विश्व यातायात के साधनों की सुलमता से एक दूसरे से संबद्ध हो गया है।

हजारों मील दूर पड़े ग्रंथों को भी हम माइक्रोफिल्म, फोटोस्टैट आदि के द्वारा सहज प्राप्त कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक ढंग से संपादित विश्वाल कोशग्रंथों का निर्माण होना परमावश्यक है।

भारतवर्वं में प्रधानतया तीन संस्कृतियों का विशेष प्रभाव रहा है-वैदिक संस्कृति, श्रमण संस्कृति और द्रविड संस्कृति । इनमें से द्रविड् संस्कृति का प्रसार तो दक्षिण भारत में रहा और इन द्रविड़ों की अपनी स्वतंत्र भाषाएँ हैं। यों तो श्रमण व वैदिक संस्कृति का उधर में। प्रचार रहा ही है पर उत्तर भारत तो इन दोनों संस्कृतियों की मुमि रहा है। विदेशों के संपर्क से उनकी संस्कृति का भी भारत पर प्रभाव पड़ा । उनके हजारों शब्द और अनेक रीति-रिवाज भारतीय जनजीवन में घूल-मिल से गए। इसलिये आज के युग में कोशकार का दायित्व वहुत वद्र जाता है। उसका अध्ययन अत्यंत विशाल और विश्वसाहित्य का विशाल मंडार उसके लिये सुलभ होना चाहिए! आयु बहुत सीमित और यह कार्य विशाल होने से चिरकालापेक्षित है। किसी एक ही व्यक्ति का अध्ययन और चिंतन एकांगी या सीमित ही हो सकता है अतः कई विद्वानों का सामृहिक प्रयत्न वर्षी तक चालू रहे तभी इच्छित फल प्राप्त हो सकता है।

राजस्थान में प्राचीन साहित्य अधिक सुरक्षित रहा है। विशेषतः जैन मंखारों में आदिकालीन राजस्थानी रचनाओं की अनेकों प्राचीन हस्तिलिखित प्रतियाँ मिलती है। प्राचीन लोकगाथाओं या कथाओं पर जैन विद्वानों ने बहुत-सी रचनाएँ की हैं। 'ढोलामारू रा दूहा' प्राचीन राजस्थानी लोकगाथा है जो पहले दोहों में किसी जैनेतर कि ने गुंफित की थी। जैन कि कुशललाम ने अपनी 'ढोला मारू की चौपाई' में 'दूहा घणा पुराणा अछइ चौपई बंध कियों में पछई', द्वारा उन प्राचीन दोहों का उल्लेख किया है। उन प्राचीन दोहों की पचासों हस्त-लिखित प्रतियाँ राजस्थान के जैनेतर ग्रंथ-संग्रहालयों में प्राप्य हैं। वीकानेर के ठाकुर रामसिंह, स्वर्गीय सूर्यकरण पारीक और नरोत्तमदास स्वामी विद्वत्रयी का ध्यान उस ढोलामारू रा दूहा के महत्त्व की और गया और उन्होंने सन् १९३१ में इसका सुसंपादित संस्करण नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित कराया। जैसा कि डा० माता-प्रसाद गुप्त ने लिखा है— "वस्तुतः इतने परिश्रम और योग्यता के साथ हिन्दी की कम ही रचनाओं का संपादन और अर्थ-स्पष्टीकरण हुआ है।" इसके कतिपय दोहों के संवंध में गुप्त जी ने 'संशोधन विषयक कुछ सुझाव' नामक लेख ना० प्र० पत्रिका वर्ष ६५ अंक १ में प्रकाशित किया है। यद्यपि उन्होंने इसके लिये काफी श्रम किया है, पर संशोधन की जगह बहुत से शब्दों के अर्थ भ्रमोत्पादक ही गए हैं इसलिये यहाँ उनमें से कुछ शब्दों के अर्थों पर हम विचार करेंगे!

जिम जिम मन अमले किअइ 'तार चढेती जाइ' ।
 तिम तिम मारवणी-तणइ तन तरणापुष्ठ शाइ ॥१२.

डा० गुप्त ने 'तार चढंती जाइ' के अर्थ के संबंध में लिखा है कि "चढती" क्रिया स्त्रीलिंग की है। अर्थ कदाचित् होना चाहिए 'तारकमाला चढ़ती जाती थी' अर्थात् उसके नक्षत्र अपने उन्न स्थानों पर होते जाते थे", पर वास्तव में 'तार' का अर्थ यहाँ 'तारकमाला' नहीं, तरंग है। राजस्थान में तार इसी अर्थ में आज भी प्रयुक्त है। इससे पूर्व 'अमले कियड' शब्द से रसका सीधा संबन्ध है। यहाँ 'अमल' शब्द अफीम के लिये प्रयक्त हुआ है-अधिकार के लिये नहीं। इसी ग्रंथ के ६२८ वें दोहें में अमल का अर्थ अफीम ही किया गया है और वही अर्थ यहाँ भी होना चाहिए। सामंती युग में राजस्थान में अमल अर्थात् अफीम का प्रचार बहुत ही अधिक था। युद्धादि के समय अफीम गाला जाता था और पिया जाता था। राजपूतों में तो विशिष्ट मनुहार इसी की होती थी। पंक्ति का अर्थ इस प्रकार का होना चाहिए-अमल का नशा करने पर ज्यों ज्यों मन में तार—तरंगें चढ़ती जाती हैं। यहाँ तार शब्द का अर्थ तरंग या लहरें ही है। आज भी 'अमल रें तार में बके हैं इत्यादि कहा जाता है। 'तार' या तरंगें स्त्रीलिंग 'चढ़ंती' के साथ प्रयुक्त होना यहाँ उपयुक्त ही है।

२. बाबहिया 'तर' पंखिया तइँ किउँ दीन्ही लोर । मइँ जाण्याउ पिउ आवियाउ ससहर चंद चकोर ।'३२

यहाँ 'तर' का अर्थ 'गहरे रंग' का पर आपति करते हुए, पपींहे का रंग लाल होता है और ४५१वें दोहे में 'रत-पंखिया' होने के कारण यहाँ भी तर की जगह पाठ रत और अर्थ रत लाल होना चाहिए, ऐसी संमावना की है। पर तर शब्द गहरे रंग के अर्थ में आज भी प्रयुक्त है, मले ही वह हरा रंग न होकर लाल रंग आदि हो, जैसे गुलाबी रंग में हलका गुलाबी और तर गुलाबी। वैसे 'तर' शब्द 'तरु' के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है और तब इसका अर्थ होगा 'तर-पक्षी' अर्थात् पेड़ का पक्षी!

३. ढाढी गुणी बोलाविया राका तिणही ताल ।
 नरवर गढ ढोलइ-कन्हइ जावज वागरवाल ॥१०५

इस दोहे की संख्या १०६ लिखकर गुप्त जी ने आलोचना की है पर दोहा नं० १०५ ही है। अतः मुद्रण दोष होना संभव है। इसमें गुप्त जी ने वागरवालं का अर्थ वागड़ प्रदेश का निवासी बतलाया है। पर वागड़ का प्रयोग कहीं भी राजस्थानी में वागर नहीं मिलता।

४. ढोला 'ढीली हर किया' मृंक्या मनह विसारि ।
 संदेसउ इन पाठवइ जीवां किसइअधारि ॥१३५

"यहाँ 'ढीली' और 'हर' स्पष्ट ही क्रमशः 'दिली' और सं० 'गृह' है'' लिखकर गुप्तजी ने प्रथम चरण का आशय 'ढोला ने दिली में घर किया है—विवाह कर गृहस्थी जमाई है—और मुझे उसने मन से दिस्मृत कर छोड़ दिया है" बतलाया है। पर यह अर्थ सर्वथा गलत और हास्यास्पद है। ढोला नरवर का अधिवासी था, अतः दिल्ली में घर करने का अर्थ नहीं जंचता। 'ढीली' का अर्थ 'शिथिल', सर्वथा ठीक है और 'हर' शब्द का प्रयोग राजस्थान में 'प्रेमस्मृति' के लिये प्रसिद्ध है अतः 'ढोलामारू रा दूहां के संपादकों ने 'प्रेम को शिथिल कर दियां जो अर्थ दिया है वही सही है। गुप्त जी ने 'ढीली' स्त्रीलिंग सकर्मक क्रिया के 'स्मर' पुलिंग कर्म के साथ लगने में आपित उठाई है। पर 'हर' देशी शब्द है और उसका अर्थ 'प्रेम-स्मृति' या 'ओलूँ होतः है जिसका स्त्रीलिंग ढीली के साथ भी प्रयोग आपित-जनक नहीं है।

ध. ढोला 'ढीलो हर मुझ' दीठउ घणे जणेह!
 चोल-वरन्ने कप्पड़े सावर धन अणेह ॥१३९

इस दोहें का अर्थ 'ढोलामारू र' दूहा' के संपादकों ने 'मेरी प्रेम स्मृति को शिथिल कर किया है। किंतु गुप्तजी ने न जाने कहाँ से 'मुझ' का मुझे कर दिया और उसका अर्थ 'मेरी' की जगह 'मुझको' कर दिया है। दोहा नं० १३८ की माँति 'ढीली हर' का अर्थ 'दिल्ली में घर' न कर यहाँ 'ढीली हर' स्पष्ट ही ढीली घरा—दिल्ली प्रदेश हैं लिखा है। उपर्युत्त दोहे की भाँति इस दोहें का अर्थ मी संपादकों ने ठीक किया था पर गुप्तजी ने गलत अर्थकलपना की है।

६. वीजुलियाँ 'जालउमिल्याँ' ढोला हूँ न सहेसि । जुड आसादि न आवियंड सावण चमकि मरेसि ॥१५१

गुप्तजी ने 'जालंख मिल्याँ' को 'जाल खमिल्यां' करके अमिल < उन्मील = प्रकाशमान, खलसित अर्थं दिया है पर हमें उसकी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती! जालंख शब्द ज्वाला के लिये प्रयुक्त हो सकता है और तब उसका अर्थ होगा — "यदि तुम आपाढ़ में न आए तो दिद्युत् जवाला के प्रकाशमान होने पर है दोला. वह मैं नहीं सह सक्रोंगी और श्रावण में (उस विजली की चमक से) चौंक कर मर जाजेंगी।"

७. बीजुलियाँ 'पारोकियाँ' नीठ ज नोगमियाँह। अजइ न सज्जन बाहुड़े विल पाछीविलियाँह ॥ १५३ यहाँ गुप्तजी ने 'पारोकियाँ' का अर्थ 'परकीयां न.ियकाओं की माँति' को असंभव बतल ते हुए 'परोक्ष हुई और किठनता से गईं' लिखा है। पर परोक्ष होना और निर्गमन करना दोनों एक ही अर्थ के द्योतक हैं जिसे स्वीकार करने पर दोहे में पुनरुक्तियोप आ जाता है पर संपादकों का उपर्युक्त अर्थ आलंकारिक होने के साध-साथ राजस्थानी भाषा-पद्धति से भी विपरीत नहीं जाता।

प्त. मन सींचाणउ ज**इ हुवइ, पाँखाँ हुवइ त प्राँ**ण । जाइ मिलीज**इ साजणाँ डोहीज**इ 'महिराँण' ॥ २११

इस दोहै के 'महिराँण' शब्द का अर्थ महारण्य और उसकी व्युक्त्पत्ति संस्कृत महार्णंव से संपादकों ने बतलाई है। पर गुप्तजी ने दोनों को संभव न मानते हुए "वह तो मही+राण है. यह राण है < प्रा० रण्ण < सं० अरण्य" लिखा है, पर यहाँ पाठ के 'महि' को 'मही' कर दिया है जिसका कोई कारण नहीं बतलाया। अगे फिर अर्थ अरण्य कर दिया है जो संपादकों ने लिखा ही था फिर उसे संभव नहीं लिखना कहाँ तक ठीक है? मही+राण का अर्थ स्पष्ट नहीं किया।

महिराँग राजस्थानी और गुजराती साहित्य में अति प्रसिद्ध शब्द है और उसे कोशकारों और विद्वानों ने महार्णव से ही व्युत्पन्न माना है। प्राचीन फागुसंग्रह पृ० २७६ पर महिराण पु० महासागर ३२-९ [सं० महार्णव सर० गुजर महेराण, महेरामण] लिखा है तथा गुजराती

जोडणीकोश के पृ० ५९० पर महेराण (डिं० महेराण) सं० महार्णंव—समुद्र लिखा है।

त्रति घण जिनिमि आवियउ 'झाझी रिठि' झड़वाइ।
 वग ही भला त वध्पड़ा धरणि न मुक्क पाइ।! २५७

इस दोहे के दूसरे पद का अर्थ 'अत्यंत शीत झड़ी की वायु चल रही हैं' लिखा हुआ है, जिसकी ट्युत्पत्ति पर आपत्ति करते हुए गुप्तजी ने 'झाझी' [इंझ-क्लेश] = क्लेशपूर्ण तथा 'रिठि' रिष्टि = तलवार] से "झड़ीवाली वायु कप्टप्रद तलवार [जैसी] हो रही हैं' लिखा है। पर झाझी शब्द गुजरात और राजस्थान में पर्याप्त प्रसिद्ध है। इसका अर्थ अत्यंत व बहुत के रूप में ट्यवहत होता है। जोडणी कोश में झाझुं का अर्थ ज्यादा व पुष्कल लिखा है यही अर्थ गुजराती-इंगलिश डिक्शनरी में (मोर, ग्रेटर) किया गया है। एवं 'रिठि' का अर्थ अधिक शीत का पर्यायवाची है। अधिक ठंड पड़ने पर कहते हैं—'सी कई पड़े रिठ्ठ पड़ें हैं' अतः संपादकों का अर्थ ठीक लगता है।

१० वीधुड़तां ई सज्जर्षां राता किया रतन्त । वारां विहुँ चिहुँ नांखीया आँसू मोती-वन्त ॥ ३६९

इसके तृतीय चरण का अर्थ संपदकों ने दिन रात लगातार गिराएं किया था। गुप्तजी ने दोनों दिन मैंने चारों (ओर) गिरायें किया है। यहाँ दिन और 'ओर' शब्द अपनी तरफ से लगाने की आवश्यकता नहीं थी। यदि वारों शब्द का अर्थ दिन' और ओर किया हो तो सर्वथा असंगत है क्योंकि दो दिन चारों ओर आँसू गिराने का कोई अर्थ नहीं। हमारी राय में यहाँ वारों का अर्थ कुएँ से पानी निकालने का 'वारा' होना चाहिए जो कि राजस्थान में पर्याप्त प्रसिद्ध है। यह झोलीनुमा बढ़ा-सा डोल होता है। मुहावरा भी प्रसिद्ध है कि 'आख्यांसु आँसू रा वारा रा वारा नाँखें हैं' अतः इसका अर्थ होना चाहिए—नेन्न-कूप से मोती-वरणे अश्वआं के दो चार वारे गिराए।

[8

११. सज्जिपयाँ वजलाइ कइ मंदिर बइठी आइ। मंदिर कालज नागजिज 'हेलज दे दे खाइ'॥ ३७१

हिलउ दे दें का अर्थ संपदकों ने 'पुकार पुकार कर' किया था पर गुप्तजो, "हेला का अर्थ अनादर, उपेक्षा होता है: इसलिए हेलउ दे दें का अर्थ होगा अनादर या उपेक्षा करते हुए" लिखते हैं! पर महल क्या अनादर उपेक्षा करेगा? और काला न ग मी, जिसकी यहाँ उपमा है, उपेक्षा से नहीं काटता, क्रोध से काटता है। अतः यहाँ हेला शब्द का अर्थ पुकारना ही होगा जो राजस्थान में अत्यधिक प्रयुक्त होता है। यहाँ किव का अभिप्राय है—प्रियतमा के चले जाने पर सूने महल की प्रतिध्विन का गुंजार ऐसा लगता है मानो काला नाग पुकार-पुकार कर खाने को उदाव हो।

१२. सज्जणिया ववलाइ कइ गजसे चढी लहक । भरिया नयण कटोर जयजं. मुँधा हुई 'डहक्क' ॥३७२

इस दोहे के 'डहक़' शब्द का अर्थ संपादकों ने विल-खना किया है, पर र गुप्तजी उसे अनुमानिक अर्थ बतलाते हैं किंत बात ऐसी नहीं है। प्रामाणिक हिंदी कोश में भी **दहकने का अर्थ बिलखना, दिलाप करना, दहाड़** मारना पाया जाता है और 'मुँधा हुई डहक पूरे वाक्य पर विचार करने से गुप्तजी ने जो 'हुईं उहक का अर्थ 'दग्ध हुई' किया है वह समीचीन नहीं लगता। दोहा सं० ४७६ में भी **खहक शब्द आता है, वहाँ 'दग्ध' अर्थ की किसी त**रह संगति नहीं बैठती। संभव है इसीलिये उपर्युक्त दोहे की आलोचना करते हुए आगे गुप्तजी ने डहक को हडक लिखकर उसकी कोई आलोचना नहीं की है। हमारे ख्याल से मुंधा शब्द का अर्थ यहाँ मुग्धा न होकर ऊँघा (उलटा) होगा । राजस्थान में आज भी यह शब्द इसी अर्थ में पर्याप्त प्रचलित है। डहकने का अर्थ गुजराती जोडणी कोश में उभरना या छलकना किया गया है। इन दोनों शब्दों के इन अर्थों के प्रकाश में इस पंक्ति का अर्थ

होगा—भरे हुए कटोरे के उलट जाने की तरह नेत्र (उमर कर आँसू) छलक,ने लगे।

१३. वर मेहाँ पवनाहँ जयउँ करह उडंदउ' जाइ। पूगल जाइ प्रगडउ करह मारवणि दाइ॥ ३८७

न मालूम क्यों गुप्तजी ने इस दोहें के 'उडंदउ' शब्द को 'उदंडउ' लिखकर एक गंभीर मूल की है। संपादकों ने जैसा कि उन्होंने लिखा है 'उदंडउ' का अर्थ 'उड़ता हुआ' किया है पर मूल पाठ में 'उडंदउ' है और उसका अर्थ उड़ता हुआ करना सर्वथा उपयुक्त ही है। गुप्तजी ने भ्रांतिवश पाठ 'उदंडउ' को "किंतु यह प्रगट ही उद्दंड है", बतलाया है। 'उडंतउ' या 'उडंदउ' राजस्थानी उन्नारण का भेद है—कर्रत =करंदा, लहंता=लहंदा आदि उन्नारण उत्तर राजस्थानी और पंजाब में पर्याप्त प्रचलित हैं।

१४. करहा इण 'कुलि गाँमखड़' किहाँ स नागरदेलि । करि 'कइराँ' ही पारणउ अइ दिन यूँही ठेलि ॥ ४३०

यहाँ संपादकों ने 'कुलि गाँमख्इ' का अर्थ छोटा-सा गाँव किया है। राजस्थानी में कहावत 'कुल गाँव में इरिंडियो ईं रू'स' (सं० निरस्तपादपेदेशे एरण्डोपिद्र मायते) प्रसिद्ध हैं। इसमें छोटे से गाँव से ही राजस्थानी कहावत का अभिप्राय है। गुप्तजी ने कुलिगाँम < प्रा० कुड्यगाम < सं० कुटजग्राम = झोपिड़यों का गाँव, बतलाया है, यह ट्युत्पत्ति विचारणीय है। दोनों का आशय एक हो है।

तीसरे चरण में 'कइर!' शब्द के करीर अर्थ पर आपत्ति करते हुए, "कहर (सं० कदर नाम का वृक्ष) जिसे श्वेत खदिर भी कहा जाता है तथा सं० करीर, प्रा० करील ही हो गया है 'कइर' नहीं' लिखा है। पर राजस्थान में कैर का वृक्ष बहुतायत से होता है। किव बद्रीदान जी ने 'कैरसतसई' बनाई है जिसमें ७०० दोहे कैर वृक्ष पर लिखे हैं। प्रा० कयर पुं० [क्रकर] १. वृक्ष विशेष करीर, करील : (सं० २५६)। २, करीर

का फल (पमा० १४)—'पाइयसद्द महाण्णवो', पृ० २८४। कयर—कहर में कोई अंतर नहीं। ब्रजमूमि में भी कैर (करीर) वृक्ष होता है यथा—''कोटिन हूँ कलधौत के धाम, करील के कुंजन जपर वारों'' (रसखान)। अतः खदीर वृक्ष गुप्तजी की कल्पना मात्र है। इसी 'पाइयसद्द महाण्णवो' के पृ० ३३७ में खहर को खदिर वृक्ष वत्तलाया है जो कहर वृक्ष से अलग है।

१५. सुणि ढोला करहेउ कहइ, मो मनि मोटी आस । 'कइराँ' कूंपल नवि चरुँ, लंधण पड़ह पचास ॥ ४३१

इस दोहे के अर्थ में भी गुप्तजी ने कहर को कदर वृक्ष वतलाते हुए उपर्युक्त दोहें के विवेचन में 'करीर में ऐसी कूँपलें होती भी नहीं जिन्हें जाँट चर सकें' लिखकर नई आपत्ति उठाई है पर कैर वृक्ष में कूँपलें. फूल, 'वाटा' तथा 'कैर', फल आदि सभी होते हैं। जाँट कैर को खाता है। राजस्थान में कहावत प्रसिद्ध है कि 'जाँट छोड़ें आक, बकरी छोड़ें दाक'।

१६. ढोलइ करइ विमासियउ देखे दीस वसाल। ऊँचे थलइ ज एकलो, 'वजालइ' एवाल॥ ४३५

यहाँ 'तम्रालह' शब्द का अर्थ संपादकों ने 'बीच में' किया है। राजस्थानी में आज भी इसके 'विचाल' रूप का प्रयोग इसी अर्थ में पर्याप्त प्रचलित है। गुप्तजी इसे वच्च धातुं से वम्रालह = 'कहा' लिखते हैं। पर यह कष्ट कल्पना और अध्यावहारिक है। अब तक कहीं यह शब्द 'कहा' के अर्थ में प्रयुक्त नहीं देखा गया है!

१७, दुरजण केरा बोलङ्ग मत 'पाँतरज्ज' कोय । अणहुंती हुंती कहह, खगली साच न होय ॥ ४४६

इस दोहे के 'पाँतरजख' का अथ' 'घोखा खाना' किया गया है जो 'प्रतारणा' से व्युत्पन्न होना संभव है। गुम्नजी "प्रा० पत्तिज्ज < सं० प्रति+इ (चिश्वास करना, प्रतीति करना) से बना हुआ ज्ञात होता है" लिखते हैं। पर यह कब्ट कल्पन है। धोखा न खाना या प्रतीति न करना दोनों का फलितार्थ तो एक ही है।

१५, आदीता हूँ जजलो, मारवणी - मुख - व्रन्न । झीणां कप्पड़ पहिरणइ 'जॉंणि झँखइ' सोवन्न ॥४६३

यहाँ 'झंखइ' का अर्थ संपादकों ने झलक रहा है किया है पर गुप्तजी ने "प्रा० झँख का अर्थ 'संतप्त होना है' अतः 'जाणि झँखइ सोप्रन्न' का अर्थ होगा 'मानो सोना तप रहा हो' लिखा है। पर झाँखना क्रिया प्रसिद्ध है और जैसे झरोखे में से झाँकते हैं उसी प्रकार झीने क्यों में से स्वर्णवर्णी देह झाँकती है या झलकती है, अर्थ समीचीन है। प्रामाणिक हिंदी कोश आदि से मी आड़ में से झुककर देखने का अर्थ समर्थित है। झीने क्स्त्रों में से मानो सोना तप रहा हो' लिखना कोई अर्थ नहीं रखता।

१९. दोहा ४६४ में 'झाँखउ' शब्द आया है जिसके लिये गुप्तजी ने दोहा सं० ४६३ का विवेचन देखने की सूचना की है अतः यहाँ भी उपर्युक्त दोहे का विवेचन देखना चाहिए!

२०. डींभू लंक. मरालि गय, पिक-सर एही वाँणि। ढोला यही मारुईं, जेह 'हंझ निवाँणि'।। ४६०

इस दाहे में हंझ निवाँणिं का अर्थ संपादकों ने 'सरोवर में स्थित हैस' किया है जिसपर आपित करते हुए गुम्रजी हंझ < कन्या व निर्वाण — 'परम सुख' से 'निर्वाण कन्या' अर्थ होना चाहिए लिखते हैं. पर हमें यह अर्थ असंगत लगता है। निर्वाण — मोक्ष को कहते हैं। राजस्थानी में निर्वाण नीचे स्थान के लिये प्रयुक्त होता है। 'नीर निर्वाण — धरम ठिकाणें' कहावत प्रचलित है। कविवर समयसुंदर जिनसिंह सूरि चौमासा गीत में माद्रव मास के वर्णन में लिखते हैं, 'मलइ आयुष्ठ माद्रवर' नीर भरया नीवाणो जी' यहाँ निर्वाण का अर्थ

99

जलाञाय स्पष्ट है। अतः संपादकों का अर्थ अधिक ठीक लगता है।

२१. उरि गयवर नइ पग ममर, हालंती गय हंझ ।

मारू पारेवाह जयूँ, असी रत्ता मंझ ।। ४७४

इस दोहें में 'हालंती गय हंझ' के अर्थ 'हंस की
चाल से चलती हैं' पर आपत्ति दर्शाते हुए गुम्रजी
'गय हंझ' का अर्थ 'गजकन्या होना चाहिए' बतलाते हैं
पर इसके लिये उपर्युक्त दोहा सं० ४६० देखना चाहिए।

२२. कसतूरी काँड़ केवड़ो, 'मसकत' जाय महक्क । मारू दाड़म फूल जिम, दिन दिन नवी डहक ॥४७६

यहाँ संपादकों के किए हुए 'महक उड़ती जा रही हो अर्थ को निराधार बतलाते हुए गुप्त जी ने जाय को जाती-पुष्प और मसकत शब्द के लिये "किसी विदेशी पुष्प का नाम लगता है, जो कभी 'मसकत' नाम के नगर से इस देश में आया हुआ होगा" की निराधार कल्पना की है। जाय का अर्थ जाही पुष्प होना असंभव नहीं पर यहाँ 'मसकत' शब्द मस्तक का विपर्यय लगता है क्योंकि राजस्थानी बोलचाज में ऐसा विपर्यय व्यवहृत है। अतः 'उसके मस्तक से उपर्युक्त फूलों की सौरम उड़ रही थी' के भाव से लिखा जाना संभव है।

२३, ढोला, सायधण 'मॉणने' झीणी पाँसलियाँह । कइ लामे हर पूजियाँ, हेमाले गलियाँह । ४७७ इस दोहे के 'माँणने' शब्द के अर्थ पर आपत्ति करते

हुए गुप्तजी ने लिखा है कि संपादकों ने 'मांगने' का अर्थ बड़ी किया है पर वास्तव में उन्होंने 'मांगने' का अर्थ बड़ी नहीं किया है। उन्होंने तो 'झीणी पाँसलियाँह' का अर्थ 'पंसुलियाँ बड़ी सुकुमार है'. किया है और माँगने का अर्थ रंग (प्रेम) करने के लिये किया है। यह शब्द इसी अर्थ में राजस्थान में पर्याप्त प्रसिद्ध है। इसी ग्रंथ के पू० ५२९ पर 'प्रेयसी से रंग करो न!' एवं पृष्ठ ६१५ (शब्दकोश) पर 'उपमोग करो न!' स्वष्ट लिखा है। गुप्तजी ने रंग करो न' शब्द को सर्वथा कल्पित दतलाया है पर राजस्थान के लोकगीत आदि में रंग माणना शब्द मोगने के अर्थ में सर्वविदित है।

२४. दंत जिसा दाङ्म 'कुती' सीस फूज सिणगार । काने बुंडल मलहलइ कंठ टंकावल हार ॥ ४५०

गुप्तजी ने लिखा है कि ''कुली का अर्थ कली किया गया है (पृ० १५८)'' पर वास्तव में 'कजी' अर्थ किया ही नहीं, कुली का अर्थ 'दाना' किया है जिसे गुप्तजी ने दांडिम बीज लिखा है अतः सपादकों की कोई गलती नहीं है। मुप्तजी ने न मालूम कहाँ से कली शब्द लिखकर आजोचना की है। आगे वे 'कुली' का अर्थ 'कुल का है' करते हैं. अतः चरण के पूर्वार्द्ध का अर्थ होगा. 'उसके दाँत मानों दांडिमकुल के हैं' पर दांडिमकुल का क्या आशय है? दांडिम कुली से जो उपमा दी जाती है वह दांडिम के दानों (बीजों) से ही संबंधित है।

२५. डेडरिया खिण-मइ हुवइ, घण बूठइ'सरजित्त' ॥५८८

यहाँ 'सरजित्त' शब्द का अर्थ संजीवित किया गया है. किन्तु गुप्तजी लिखते हैं—''किंतु यह स्वष्ट ही < सं० सर्जित (= बनाया हुआ) है।' यह वास्तव में गलत है। राजस्थान में संजीवन को सरजीवण कहते हैं जिसकी भूतकालिक क्रिया सरजित का यहां प्रयोग हुआ है। मेंढक के लिये तो यह प्रसिद्ध ही है कि यदि उसके शरीर को चूर्ण करके बरसाती पानी में डाल दिया जाय तो वह पुनर्जीवित हो उठता है। वर्षा के अमाद में जो मर जाते हैं वे वर्षा होते ही संजीवित हो जाते हैं। मेंढक वनाए या सर्जित किए नहीं जाते, विलक वर्षा में अपने आप संजीवित हो उठते हैं।

२६. जिण भुइ पन्नग पीयणा 'कयर'-कंटाला रूख ॥६६१

यहाँ 'कयर' शब्द का अर्थ गुप्तजी सं० कदर बतलाते हैं। इसका अर्थ कर ही होता है। दोहा सं० ४३० में इसका विवेचन किया जा चुका है।

यहाँ कितपय दोहों के अर्थसंशोधन पर ही प्रकाश खाला गया है। इसके अतिरिक्त और भी उनके किए हुए वहुत से शब्दों के अर्थ विचारणीय हैं। तोस वर्ष पूर्व स्वामी जी आदि ने अर्थानुसंधान का जितना संदर प्रयत्न किया था वह अवस्य ही सराहनीय है। गुप्तजी जैसे विद्वान ने अर्थ संशोधन करते हुये कितनी अधिक भूलें को हैं यह उपर्युक्त विचारणा से पाठकगण स्वयं समझ लेंगे।

शब्दों का सही अर्थ जानने के लिये जो रचना जिस प्रांत की हो, उस प्रांत में वे शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त होते हैं. यह जान लेना भी अत्यंत आवश्यक होता है क्योंकि वहीं उसके अर्थ की परंपरा सही रूप में प्राप्त हो सकती है। केवल एक प्रंथ में ही नहीं, अनेकों प्रंथों व बोलचाल में भी वे शब्द व्यवहत होते हैं इसिलये कहाँ और किस अर्थ में कौन-सा शब्द प्रयुक्त हुआ है, इसे ध्यान में रखते हुए अर्थसंगति ठीक से बैठाई जा सकती है। उपर्युक्त विचारणा से विद्वान एवं पाठकगण इस बात को अच्छी तरह अनुभव कर सकेंगे कि 'दे'ला मारू रा दूहा' में प्रयुक्त शब्द आज भी राजस्थान में पर्याप्त प्रसिद्ध और व्यवहत हैं। गुप्त जी के किये हुए कई अर्थ तो बड़े विचित्र से लगते हैं। अस्तु, अन्य विद्वान भी इस संदंध में विशेष प्रकाश डालेंगे, ऐसी आशा है। अभी वहत से शब्दों के अर्थ विचारणीय हैं।

चौरासी संख्यातमक बातें

काव्यग्रन्थों में कई अक्षरों को दग्धाक्षर बता कर काव्यरचना में उनका प्रयोग निविद्ध किया गया है। ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जिनमें उनके प्रयोग से बहुत अनिष्ट होना पाया जाता है। इसीप्रकार लिपिलेखक लोग भी कई अक्षरों को अशुभ समझ कर लिख कर उठते समय प्रति में उन अक्षरों को अन्त में लाकर नहीं छोड़ते। संख्याओं में भी तीन. तेरह आदि संख्याएँ कई बातों में अच्छी नहीं समझी जातीं। कई संख्याओं को उत्तम समझ कर उनका अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है।

चौरासी संख्या का व्यवहार भी बहुत स्थानों में मिलता है, जिनमें से कई सार्थक भी हैं, और कइयों की संख्या न्यूनाधिक होने पर भी लोकप्रियता के कारण "चौरासी" ही बताई गई हैं। इस निबन्ध में हमें चौरासी संख्या वाली जितनी वातें ज्ञात हुई हैं, इतलाने का प्रयत्न करते हैं। सर्वप्रथम २५०० वर्ष प्राचीन जैन समवायांग सूत्र के 58 वें समवाय में इस संख्या के विषय में जितनी वातें मिलती हैं, उनका निर्देश, मूल पाठ के साथ किया जाता है:

"चउरासीइ निरयवासंसहस्सा. पननता। उसमेणं अरहा कोसलिए चउरासीइ पुव्व सया-सहस्साई सव्वाउयं पालइता सिद्धे बुद्धे जाव प्यहीणे. एवं भरहो वाहुबलो वंमी सुन्दरी! सिउजंसेण अरहा चउरासीइ वास सय-सहस्साइ सव्वाउरां पालयिता। सिद्धे जाव ध्यहीणे । तिविद्धेण वासुदेवे चउरासीई वास सय-सहस्साई सठवाउयं पालइता अप्पइहाणे नरइ नेरङ्यताए उववन्ते । सक्कस्सणं देविदस्स देवरन्तो चउरासीइ सामणिय साहस्सीओ पंः । सव्वेविणं वाहिरया मंदरा चउरासीइं २ जोयण सहस्साइं उड्डं उच्चतेणां पं०. सब्वेविणि अंजिण पव्वया चउरासीइं २ जोयण सहस्साइं उडू उन्नतेणं पंः, हरिवास रम्मय वासियाणं जीवाणं धणुपिट्टा चउरासी जोयण सहस्साइ सोलस जोयणाइ चत्तारिय भागा जोयणस्स परिक्खेवेषां पं । यंक बहुलस्सण कंडस्स उवरिक्षाओ चरमंताओ हेड्रिले चरमंते एसणं चउरासीइ जोयण सहस्साइ अवाहाए अंतरे पं०, विवाह-पन्नती:एण भगवतीए चंडरासीइ पय सहस्सा पदग्गेणं पं० चउरासीइ नागकुमारा वास सय सहस्सा पं०. चउरासीइ पइन्नग सहस्साइ पं०. चउरासीरं जोणि पमुह सय-सहरूस पं० पृव्वाइयाणं सीस-पहेलिया पज्जवसाणाणं चउरा-सीए गुणकारे पंं, उसमस्सणं अरहओ चउरासीइ समण साहस्सीओ होत्था। सव्वेवि चउरासीइ विमाणा वास सहरसा सत्तागउइंच सहरसा तैवीसंच विमाणा भवतीति मक्खायं !!" सूत्र ५४

अर्थात्—चौरासी लाख नरकावास. अर्हन्त श्री ऋषभदेव की आयु भी ५४ लक्ष पूर्व, ब्राह्मी, सुन्दरी और भरत

बाहुबली की भी इतनी ही आयु, श्रेयांसनाथ अरिहंत की प्रथ लक्ष वर्षों की आयु, त्रिपृष्ट वासुदेव की आयु भी प्रथ लक्ष वर्षों की थी। देवेन्द्र शक्र के प्रथ हजार सामानिक देव हैं। वाहर के सब मेरु पर्वत प्र४००० योजन जंचे हैं. इसी प्रकार समस्त अंजनिगरि भी हरिवास और रूम्यक क्षेत्र के जीवों की धनुपृष्ट का विस्तार प्र४×१६ योजन का है। पंकबहुल नामक पृथ्विकांड के जपर के चरमान्त से नीचे के चरमान्त तक प्रथ लाख योजन का अवाधित अन्तर है। पंचमाङ्ग भगवती सूत्र के प्रथ हजार पद हैं। नागकुमारों के चौरासी लाख आवास कहे हैं। प्रथ हजार प्रकीर्णक, प्रथ लक्ष जीवा योनि* पूर्व से लेकर शीर्वप्रहेलिका तक पहले से पीछे तक चौरासी लाख का गुणाकार कहा है। श्री ऋषभदेव भगवान की साधुसम्पदा भी प्र४००० की थी। सब मिलकर वैमानिक देवों के विमान प्रथ लाख ९७ हजार और २३ हैं ऐसा श्री भगवान ने फरमाया है।

जपर जो पूर्व से लेकर शीर्षप्रहेलिका की गणना का उल्लेख किया गया है उसका विस्तृत खुलासा पंचम अंग भगवती सूत्र में इस प्रकार किया है—

प्रवास वर्ष का १ पूर्वाञ्च. प्रश्न लाख पूर्वाञ्च का १ पूर्व. इसी प्रकार प्रत्येक संख्या को ५४ से गुणन करने से जो संख्या आती है उसे अनुक्रम से त्रृंटितांग. त्रृंटित, अुदुद्धांग. अडड. अववाँग. अवव. हृहुआंग. हृहुअ. उत्पलांग. उत्पल. पद्मांग. पद्म. निलनांग, निलन. अर्थनिउरंग. अर्थनिउरं. अयुतांग. अयुत. नयुतांग नयुत.

चूलिकांग, चूलिका, शीर्पप्रहेलिकांग शीर्पप्रहेलिका कहते हैं। **

चौरासी की संख्या हमारे साहित्य एवं दैनिक व्यवहार में इतनी व्यापक हो गई है कि धर्म. समाज, वैद्यक. ज्योतिष. तंत्र. संगीत. छन्द. योग. भोग (कामशास्त्र) आदि अनेक विषयों में इसकी प्रधानता के दर्शन होते हैं। पाठकों की जानकारी के लिये ज्ञात ५४ बातों की सूची नीचे दी जा रही है। इसमें जैनागम समवायांग सूत्र के ५४ समवाय को पहले उद्दश्चत करने के कारण जैन सम्बन्धित ५४ बातों का परिचय पहले देकर फिर सार्वजनिक ५४ वातों का परिचय कराया जायगा।

१. जैन मुनियों का दीक्षित होते समय नाम बदल दिया जाता है तब जेसे संन्यासियों में गिरी. पुरी. भारती आदि १० नामान्त पद वाले नाम रक्खे जाते हैं. उसी प्रकार खरतरगच्छ में मुनियों के ५४ नामान्त पदों को 'नंदी' कहा जाता है। हमारे अन्वेषण से यद्यपि ऐसे नामान्त पद ५४ से अधिक मिले हैं। मुनियों की भाँति साध्वियों के भी ५४ नामान्त पद कहे जाते हैं।

2. जैनधर्म के दो प्रधान सम्प्रदाय हैं—दिगम्बर एवं श्वेताम्बर । इन दोनों सम्प्रदायों में मान्यता भेद ५४ माने जाते हैं जिनके सम्बन्ध में हेमराज का हिन्दी पद्या-हमक ग्रन्थ एवं उसके प्रत्युत्तर में उपाध्याय यशोविजय जी का 'दिगंबर ५४ बोल' ग्रन्थ उपलब्ध है। इन ५४ मेदों की सूची को भी अनेकांत वर्ष २ अंक २ में

*जैन शास्त्रानुसार ७ लाख पृथ्वीकाय. ७ लाख अप्काय, ७ लाख तेऊकाय. ७ लाख वायुकाय. १० लाख प्रत्येक वनस्पति काय. १४ लाख साधारण वनस्पति काय. २ लाख दो इन्द्रिय.२ लाख तीन इन्द्रिय. २ लाख चार इन्द्रिय.४ लाख देवता. ४ लाख नारकी, ४ लाख तिर्यंच पंचेन्द्री. १४ लाख मनुष्य इस प्रकार ५४ लक्ष जीवयोनि की संख्या मानी जाती है तब जैनेतर ग्रन्थों में जलचर ९ लाख, मनुष्य ४ लाख, स्थावर २७ लाख, कृमि ११ लाख, पक्षी १० लाख, चतुष्पद २३ लाख इस प्रकार ५४ लाख जीवयोनि कही जाती है।

[94

^{**} अनेकांत, वर्ष ३ अंक ९, "जैनग्रन्थों में समयगणना" शीर्षक लेख।

प्रकाशित कर चुका हूँ । वैसे दिगम्बर श्वेताम्बर के ७१६ मेद भी कहे जाते हैं पर वे प्राप्त नहीं हुए ।

- ३. भगवान ऋषभदेव के पुण्डरीकादि ५४ गणधर थे।
- ४, आचार्य स्थूलिमद्र का नाम ५४ चौवीशी तक प्रसिद्ध रहने का कहा जाता है।
- ५, जैन मंदिरों में 58 कार्य निषिद्ध हैं जिन्हें 'आशातना' कहते हैं। हमारे प्रकाशित 'जिनराज-भिक्त आदर्श' में 58 आशातनाओं की सूची प्रकाशित है।
- ६. १४वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध जैन श्रेष्ठी पेथड़शाह ने ८४ स्थानों पर जैन मंदिर बनाये थे। सोमतिलकसूरि के 'चेंत्य-स्तोत्र' में उनके नामों की सूची प्राप्त हैं।
- 9. पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध पोखां वंशीय धरणाशाह ने राणकपुरमें कलापूर्ण त्रैलोक्यदीपक जैन मंदिर बनाया जिसमें ५४ देहरियों के होने का उल्लेख महोपाध्याय समयसुन्दर जी ने किया है—"देहरी चौरासी दीपती रे लाल।"
- 5. देसे जैनागमों की संख्या 84 कही जाती है पर 'जैन ग्रन्थावली' में आगमों की संख्या 58 बतलाते हुए उनके नामों की तालिका प्रकाशित की गई है। 'जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास' एवं 'शीघ्रबोध' में ये नाम भिन्न प्रकार से दिये गये हैं।
- ९, जैनागम 'सूठकृता इ सूत्र' में तत्कालीन ३६३ पासंडियों—मतवादों का उल्लेख है उसमें अक्रियावादी के ५४ मेद बतलाये गये हैं।
- १०. दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रधान एवं प्राचीन आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के नाम 'पाहुड़. (प्रामृत) संज्ञक कहें जाते हैं एवं उनकी संख्या भी ५८ होने का प्रेमी जी आदि ने उल्लेख किया है. पर सूची अभी तक ५२ पाहुड़ों की ही ज्ञात है. एवं उनमें से उपलब्ध तो वहुत थोड़े से ही हैं। (दे० परिशिष्ट)
- ११. अंचलगच्छ की बड़ी पट्टादली में ५४ गच्छ स्थापक ५४ आचार्यों के नाम दिये हैं।

१२, उपकेशगच्छ के ५४ आचार्य परंपरा की नामा-वित 'जैनजातिमहोदय' में प्रकाशित है ! (देखो परिशिष्ट)

१३. वीकानेर के वृहद् जैन ज्ञान भंडार में ५४ विरुद छंद हैं जिनमें ५४ विरुदों के नाम हैं।

१४. 'प्रभावक - चरित्रानुसार' शांतिसूरिजी ने ५४ वादों में विजय प्राप्त को थी एवं राजा भोज से उन्हें ५४ लाख रुपयों की प्राप्ति हुई थी।

१५. पत्तन मंखार सूची के पृ० २४५ के अनुसार अमयदेवसूरिजी भी ५४ वादविजेता थे। 'मरतवाहुवलिरास' की प्रस्तावनानुसार राजगच्छ के प्रद्युम्नसूरि भी ५४ वाद-विजेता थे।

१६. 'उपदेशतरंगिनी' एवं 'पट्टावली समुच्चय' के पृ० २४५ में वादिदेवसूरि को भी 58 वादविजेता वतलाया गया है।

१७. सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचंद्रसूरि की आयु ८४ वर्ष की थी।

१८. 'प्रभावकचरित्रा' नुसार 🖫 ८४ श्रावकों ने नवाङ्ग टीकाओं की ५४ प्रतिलिपियें करवा के आचायाँ को भेंट की।

१९. 'गणधर साधंशतक वृहद्वृति' के अनुसार वर्द्धमान-सूरि जी के गुरु जिनचंद्राचार्य ५४ देवगृहों के नायक थे। 'प्रभावकचरित्रा'नुसार वर्द्धमानसूरि भी ५४ चैत्यों के नायक थे।

२०, उपर्युक्त ग्रन्थ में पाटण में सूराचार्यादि ८४ चैत्यवासी आचार्य थे. लिखा है।

२१, वादिदेवसूरि के 'स्याद्वाद्ररलाकर' ग्रन्थ का परिमाण ५४ हजार इलोक प्रमाण है।

२२. चौरासी संख्यासूचक वर्वें में जो-जो प्रधान घटनायें हुई उनमें से कतिपय ये हैं।

- (१) वीरात् ८४ अजमेर म्यूजियम का सबसे प्राचीन जैन लेख ।
- (२) वीरात् १८४ में चंद्रगुप्त का स्वर्गवास । बिन्दुसार का राज्यारोहण ।
- (३) वीरनिर्वाण सं० ४५४ में आर्थ खपुट जैनाचार्य

का स्वर्गवास हुआ।

- (४) वी० नि० सं० ५८४ में आर्य वज्र का स्वर्गवास हुआ।
- (५) वी० नि० सं० ५८४ में सप्त निन्हव उत्पत्ति।
- (६) वी० नि० सं० ५५४ में आर्यरक्षित का युगप्रधान पद या मतान्तर से स्वर्गवास हुआ ।
- (७) वीं निं सिं प्रपष्ट में मल्लवादी ने बौद्धों को जीता '
- (८) वी० नि० सं० १२८४ में महेन्द्रसूरि ने 'मन-स्थिरीकरण प्रकरण' एवं 'सारसंग्रह' ग्रन्थ बनाया ।
- (९) वि० सं० १६८४ में विजयसिंहसूरि का गणानुङ्गा-पद का महोत्सव द्वाा ।

२३, स्व॰ पूर्णचंद्र जी नाहर ने प्रश्न तीर्थ कहे जाने का प्रवाद मात्र लिखा है, वास्तव में उसका आधार जिनप्रम-सूरि रचित 'चतुराशीति महातीर्थ कल्प' है। इसमें उल्लिखित स्थानों की संख्या अधिक है पर चौरासी संख्या के महत्व के कारण ही उसका नाम 'चतुराशीति महातीर्थ नामसंग्रह-कल्प' रखा प्रतीत होता है।

28. चौरासी गच्छों की नामाविल भी कई प्रकार की मिलती हैं। किसी-किसी सूची में नाम न्यूनाधिक भी हैं।

> अब सार्वजनिक वातों का निर्देश किया जाता है— २५, हमारे संग्रह के 'रत्नकोष' नामक ग्रन्थ में एक ही

२५ हमारे सग्रह के रिल्नकार्य नामक ग्रन्थ म एक हा संख्यात्मक वस्तुओं के प्रकारों की सूची है। उनमें ८४ प्रकार के विज्ञान की सूची है जो इसी लेख के परिशिष्ट में जा रही है।

२६. भुवनभक्ति एवं महिमाभक्ति भंडार. वीकानेर की एक प्रति में ५४ तंत्रों की तालिका है।

२७, रामिवनोद वैद्यक ग्रन्थों में 58 प्रकार के वायु के नाम हैं जिन्हें अन्य ग्रन्थानुसार परिशिष्ट में दिया जा रहा है।

२८. हमारे संग्रह के ज्योत्तिष संबंधी पत्रों में ८४ योगों के नाम दिये हैं। उन्हें भी परिशिष्ट में दिया जा रहा है। २९. कतिपय छन्द ग्रन्थों में ५४ रूपकों के नाम हैं जिनमें से दो ग्रन्थों की नामाविल परिशिष्ट में दे रहे हैं। 'चतुराशीतिरूपक' नामक छन्दग्रन्थ भी उपलब्ध है। कवि केशवदास की 'छन्दमाला' में भी ५४ छन्दों के लक्षण एवं उदाहरण हैं।

३०, गंगा के पुरातस्वांक में ५४ सिद्धों की नामावित प्रकाशित हैं। 'वर्णरत्नाकर' में भी ५४ सिद्धों के नाम हैं। (देखो परिशिष्ट)

३१. वैष्णवों की संख्या भी ५४ प्रसिद्ध है. जिनका परिचय 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में पाया जाता है। राजसी. तामसी. सात्विकी ५४/ ५४/ ५४ वैष्णवों को मिलाने पर २५२ वैष्णव होते हैं. जिनका परिचय 'दो सौ वावन वैष्णवन की वार्ता' में पाया जाता है।

३२. श्री जिनकृपाचन्द्रसूरि ज्ञानभण्डार की एक प्रति में मुखाँ के भी ५४ लक्षण बतलाये हैं।

३३. बीकानेर की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी की १ प्रति में ५८ मुद्राओं का भी उल्लेख हैं।

38. महिमाभक्ति भंडार में 'राग चौरासी' नामक संगीत का ग्रन्थ है जिसका परिचय मेरे सम्पादित 'हिन्दी ग्रन्थ-विवरण' भा० २ में प्रकाशित हो चुका है।

३५. विद्यादिभाग काँकरोली से प्रकाशित 'प्राचीनवार्ता-रहस्य' के पृ० २१/२२ में ५४ कुंजों की नामावलि दी गई है। (देखो परिशिष्ट)

३६. सं० १२८५ के लगभग रचित विनयचन्द्र के 'कविशिक्षा' नामक ग्रन्थ में ५८ देशों का उल्लेख है पर नाम ७१ ही दिये हैं। हमारे संग्रह के रहनकीष में उससे भिन्न प्रकार के ५८ देशों की नामाविल है. अतः दोनों की परिशिष्ट में दिया जा रहा है।

30. चौरासी जातियों की सूची भी ग्रन्थान्तरों में मिन्न-भिन्न प्रकार की पाई जाती है जिनमें से सं० १४७५ के 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र' आदि में जो नामाविल है वह परिशिष्ट में दे रहे हैं। सं० १९५० में शिवकरण रामस्तन दरक ने 'इतिहासकल्पद्रुम-माहेरवरी कुलशुद्धदर्पण' नामक ग्रन्थ

[99

प्रकाशित किया है, एसमैं ५४ संख्या वाली कई जातियों की सूचियां हैं।

- (१) गुजरात देश की ५४ जातियाँ
- (२) दक्षिण देश की ५४ जातियाँ
- (३) दक्षिण देश की ५४ जाति कवित्त
- (४) मध्यदेश की ५४ न्यात
- (५) खंडेलवाल के ८४ गोत्र
- (६) खंडेल नगर के ५४ गाँव
- (७) चौरासी गच्छ
- (८) दत्तक पुत्र विषयक ८४ प्रश्न

इनमें से खंडेलवाल के 58 गोत्रों के सम्बन्ध में कवि वस्तराम रचित 'बुद्धिविलाक्त' ग्रन्थ में विशेष परिचय पाया जाता है।*

३८, चौरासी चोहट्टों की एक सूची नाहर जी ने प्रकाशित की है पर माणिक्य-सुन्दर सूरि के 'पृथ्वीचन्द्रचरित्र' (सं० १४७८) में भिन्न प्रकार की है। अतः उससे उद्धत कर परिशिष्ट में दी जा रही है।

39. जगन्नाथ कवि की 'चौरासी-शिक्षा' नामक हिन्दी भाषा की रचना अनुष संस्कृत लाइब्रे री में है।

80. चौरासी संग भी हमारे संग्रह की प्रति में नाहर जी द्वारा प्रकाशित से मिन्न प्रकार के हैं।

82. महिमाभक्ति मंडार में 58 'त' कार वाले एक काव्य वृत्ति सहित उपलब्ध है। ४२-४३-४४ ग्रन्थांतरों में प8 रत, प8 नरक, प8 दोषों का भी उल्लेख है। हमारे संग्रह के 'रत-परीक्षा' (तत्वकुमार रचित) नामक ग्रन्थ में 58 रतों का उल्लेख है, पर सूची में नाम ६० ही प्राप्त हुए हैं। वे एवं अन्य ग्रंथों की नामावलि परिज्ञिष्ट में दी गई हैं।

४२. रामदास वैरावत की ५४ आखडी (नियम ग्रहण) हमारे संग्रह में हैं।

४३. मारवाड़ में कहावत प्रसिद्ध है--

"चार चोर चौरासी वाणिया. एके के इकीस इकीस ताणिया'

* देखें हमारा लेख किंव बखत राम रिनत 'वृद्धि वेजास' (जैन सिद्धान्तभास्कर) ।

प्रसिद्ध ही हैं।

📍 🥵 प्रसंगवश चीरासी संख्या जिन-जिन अंकों के गुणन द्वारा वनती है उनमें से कुछ संख्यायें बड़ी प्रसिद्ध हैं. अतः उनका भी उल्लेख कर दिया जाता है।

58×8 = £8

82×2=58

२५ × ३ = ५४

२१×४≔*५*४

88×E=58

१२×७= ८८

इनमें से जैनधर्म में मृनियों के आहार सम्बन्धी ४२ दोप. पुण्य की ४२ प्रकृतियें, नामकर्म की ४२ प्रकृतियें एवं अञ्च के ४२ भेद प्रसिद्ध हैं।

इसी प्रकार २८ संख्यक लब्धियें. मोहनीय कर्म की प्रकृतियें, नक्षत्र, अनुयोग, दाता के २८ गुण, मतिज्ञ न के २८ भेदों का विवेचन 'जैनसिद्धान्तवोलसंग्रह' म० ६ में है।

२१ संख्यावाली बातों में श्रावकों के गुण, प्रासक जल, पारिणामिकी बुद्धि के दृष्टांत, सबल दोषादि का विवेचन भी उक्त ग्रन्थ में है। इक्कीस की संख्या बहुत श्रम मानी जाती है।

चौरासी की भांति १४ की संख्या भी वहुत प्रसिद्ध है । इस संख्या वाली अनेक बातों का उल्लेख यत्र-तत्र पाया जाता है जिनमें से कुछ ये हैं-

१४ राजलोक, पूर्व, गुण-स्थान, स्वप्न, चक्री-रत नियम, उपकरण, अजीव भेद, परिग्रह, महानदियां आदि, जैन ग्रन्थोक्त १४ संख्यक २५ बातों का दिवेचन जिन-सिद्धान्त वोलसंग्रह' में प्रकाशित है।

वैसे १४ स्वर, विद्या, रतन, यम, इंद्रियाँ, मनु आदि

वारह संख्यावाली उल्लेखनीय वातें इस प्रकार है: १२ उपांग, चक्रवर्ती, भावना, अरिहंत-गुण, तप, श्रावकव्रत भिष्-प्रतिमा आदि जैन धर्म विषयक बातों का विवेचन 'जैनसिद्धान्त वोलसंग्रह' मा० ४ में प्रकाशित है।

१२ मास आदि सर्वत्र प्रसिद्ध हैं।

पुरातत्व एवं कला के महान प्रेमी स्व० पूरनचन्दजी नाहर ने 'विशालमारत' (सितम्बर १९३०) में चौरासी शोर्षक लेख प्रकाशित किया था। उसमें आपने कई ज्ञालव्य वार्तो की जानकारी उपस्थित की है एवं १ चौरासी आसन, २ चौरासी संग, ३ चौरासी ज्ञाति, ४ चौरासी चौहट्टे, ६ चौरासी गच्छों की सूची भी प्रकाशित की है। नाहरजी के उक्त लेख से यहाँ पाठकों की ज्ञानवृद्धि के लिये कतियय वार्ते उद्धत की जा रही हैं—

- (१) चतुर्दश राजलोक के जीव-मेद की संख्या चीरासी लक्ष के 58 अङ्क को महत्वपूर्ण समझ कर बहुत-सी जगह इसका व्यवहार प्रचलित होना संभव ज्ञात होता है।
- (२) 'घेरंड संहिता' के मत से जीव-जंतुओं की संख्या जितनी हैं.ती हैं आसन की गणना भी उतनी ही निकली हैं। शिवजी के आसनों की संख्या वही चौरासी लक्ष कही गई है। उसमें ५४ प्रकार के प्रधान आसन बताये गये हैं। 'शिव - संहिता' के मत से भी चौरासी प्रकार के आसन है।

'कामशास्त्र' के अनुसार चौरासी प्रकार के आसनों की संख्या भी प्रसिद्ध है। पूना से 'चौरासी आसन' नामक जो मराठी भाषा की सचित्र पुस्तक प्रकाशित हुईं है उसमें ९३ आसनों के नाम और चित्र पाये जाते हैं।

(३) जौहरी लोग जिन रत्नों को संग कहते हैं उनकी संख्या भी वे चौरासी बताते हैं परन्तु यह संख्या करिपत मालूम होती हैं । पाठकों को यहाँ एक और वात की ओर ध्यान दिलाता हूँ कि जौहरी लोग चौरासी के फैर में पड़ जाने के भय से इस चौरासी संख्या से इतने सशंकित रहते हैं कि अपने व्यापारादि में इस संख्या का व्यवहार कदापि नहीं करते अर्थात् यदि चौरासी रूपये के भाव में उन लोगों से कोई सौदा मांगा जाय तो स्वीकार नहीं करते पौने चौरासी में वेचने को सहर्ष तैयार हो जाते हैं। इसी प्रकार वे न तो वजन में कदापि प्रश्र रत्ती माल बेचते हैं और न किसी पुड़िये में प्रश्र नगीने रखते हैं।

- (४) भारतवर्ष के कई देशों में ऐसे नाम के परगने और तालुके मिलते हैं जिनकी सृष्टि चौरासी ग्रामों को लेकर हुई होगी।
- (५) नृत्य के समय पैरों में वहुत से धुंघर बांधे जाते हैं. सरुयाधिक्य के कारण उनको भी चौरासी कहते हैं।
- (६) चौरासिया—यह गौड़ ब्राह्मणान्तर्गत एक ब्राह्मण-समुदाय है । इनकी बस्ती जयपुर या जोधपुर राज्य में है । किसी समय चौरासी ग्रामों की वृत्ति इनके यहाँ थी. अतः ये चौरासिये ब्राह्मण कहलाये ।
- (७) ब्राह्मणों की तरह जैनियों में भी श्रावकों की जाति की संख्या चौरासी कही जाती है। इन श्रावकों की जातियों के नाम वहीं चौरासी अंक के महत्व के लिये एकत्रित किये गये होगें।
- (प) इसीप्रकार जैनियों के आचार्यों में जो गच्छ भेद हैं उनकी संख्या भी प्रसिद्धि में चौरासी वतलाई जातो है परन्तु वास्तव में चौरासी से भी अधिक मिलते हैं।
- (९) कई स्थानों में जैन तीथीं की संख्या भी चौरासी देखने में आई है।
- (१०) दिगम्बर जैन लोग मथुर। के पास वृन्दावन के रास्ते में एक स्थान को भी चौरासी कहते हैं और वहाँ अन्तिम केवली श्री जंबू स्वामी का निर्वाण मानते हैं। परन्तु वे लोग स्थान का नाम चौरासी होने का कुछ कारण नहीं बताते हैं।

अपनी साहित्य प्रवृत्ति के प्रारंभिक काल से स्वर्गीय नाहर जी से हमारा उनके जीवन-पर्यन्त वड़ा मधुर सम्बन्ध रहा है, अतः जब उन्होंने अपने 'चौरासी' वाले लेख की प्रति हमें दी तो हमने कतिपय नवीन सूचनायें उन्हें दीं पर वे प्रकाशित न ही सकीं। इधर हमने उसी समय से चौरासी संख्या वाली जितनी भी बातों का जहाँ कहीं उल्लेख देखा, नोट करते गये। कई वर्षों से उनके प्रकाशन का विचार हो रहा था। पर अन्य साहित्यिक कार्यों में लगे रहने से वह कार्य न हो सका। सुयोगवश

99.

अब वह पाठकों के समक्ष आ रहा है। इसी बीच कई अन्य बातों के उल्लेख भी नजरों से गुजरे पर नोट न करने से वे विस्मृति में विलीन हो गये।

हमारा अध्ययन जैनसाहित्य का अधिक होने से संभवतः सर्व-जन प्रसिद्ध ८४ संख्यात्मक बहुत-सी वातों का हम इस लेख में उल्लेख न कर सके हों। खोज करने पर ग्रंथान्तरों में अन्य ऐसे अनेक उल्लेख प्राप्त होने की सम्मावना है, अतः पाठकों को जो कोई मो संख्यात्मक बात जानने में आवे उन्हें 'प्रकाशित करें।

परिशिष्ट

(१) चौरासी देश (विनयचंद्र कृत 'कविशिक्षा' से)

.8	गौढ़	१९ कुंकण	३७ औसीर	५५ सिंघल
ર	कान्यकुब्ज	২০ লাভ	३८ वाकाण	५६ चौड
3	कौल्लाक	२१ श्रीमाल	३९ उत्तराप्थ	५७ কীহাল
8	कलिंग	२२ अर्बुद	४० गूर्जर	भूम पांडु
벟	अंग	२३ मेदपाट	४१ सिधु	५९ अंघ
ξ	बंग	२४ मरुवरेंद्र	8२ केकाण	६० विध्य
ø	कुरंग	२५ यमुना	४३ नेपाल	६१ कर्णाट
5	आचाल्य	२६ गङ्गातीर	88 टक	६२ द्रविष्
ዓ	कामक्ष	२७ ग्रांतर्वेदि	४५ तुरुष्क	६३ श्रीपर्वत
१०	ओडू	२८ मागध	४६ ताइकार	६४ विदर्भ
११	पुंड्र	२९ मध्यकुख	८७ बर्बर	६५ धाराजर
१२	उड़ी सा	३০ ভাইনা	४५ जर्जर	६६ লাজী
१३	मालंब	३१ कामरूप	४९ कीर	६७ तापी
88	लोहित	३२ कांची	५० काश्मीर	६८ महाराष्ट्र
۶Ã	पश्चिम	३३ अवंती	५१ हिमालय	६९ आभीर
१६	काछ	३४ पापांतक	५२ लोहपुरुष	७० नर्मदातट
१७	বাল্	३५ किरात	५३ श्रीराष्ट्र	७१ द्वीप देशश्च
१८	सौराष्ट्र	३६ सौवीर	५४ दक्षिणापथ	

^{*} विनयसंद्र का समय सं० १२८५ के लगभग है (पत्तन जैन भाण्डागारीण ग्रन्थ सूची, पृ० ৪८)।

(२) चौरासी देश (रित्नकोश से)

۶	पूर्व देश	२२ जालंधर	४३ वीणकाण	६८ अंध्र
ર	अंग देश	२३ लोहपाद (लोहव)	४४ उत्तराय	६५ विध्य
3	वंगदेश	२४ पश्चिम	८५ गूर्जर	६६ ड
8	শী ঙ্	२५ स्थल	८६ सिंघु (सैंघव)	६७ श्री पर्वत
ų	कान्यकुञ्ज	२६ वालंभ	८७ केकाण	६८ वैदर्भ
Ę	कलिंग	२७ सौराष्ट्र	४८ नेष	६९ दिराट
9	गोष्ट देश	२८ कुंकण (कोंकण)	४९ रथ	७० ओरलांजी
5	वंगाला	२९ लाट	५० নাজিক	७१ महाराष्ट्र
٩	कुरङ्ग	३० श्रीमाल	५१ वर्वर	७२ आभीर
१०	सरठ	३१ द	५२ खस	७३ नाम्मंद
११	वारंखी	३२ मेदपाट	५३ कीर (कीरक)	७४ कामाश्व
१२	यामुन (यमुना)	३३ मरुमंडल	५८ काश्मीर	७५ कंडु
१३	सरयूपार	३४ कच्छ	५५ वजुल	७६ पापण
88	अंतर्वेद	३५ मालव	५६ हिमालय	७७ चोड
१५	मगध	३६ अवंती	५७ लोहपुर	७५ आराध्य
१६	कु रु	३७ पारियात्रपारिजात	५ ८ श्रीराष्ट्र	७९ वरेंद्र
68	ভা ह ल	३८ कंकोज	५९ दक्षिणापथ	८० गङ्गापार
Şζ	कामरू	३९ নাম্মলিম	६० मलय	८१ सौसष
१९	(ठड) पांचाल	४० किरात	६१ शीघल	८२ का
૨૦	सोरसेन	४१ सेरटक	६२ पांडू	5३ तापीतट
২१	मध्य	४२ सौदीर	६३ কীহাল	५८ द्वीप

प्रत्यंतर में निम्नोक्त देशों के नाम हैं

१ अंजन देश	९ मालवदेश	१७ वर्षर	२५ करण
২ কথা	१० परित्व	१८ कैलाश	२६ इदिङ
३ कुराष्ट	११ मोजदेश	१९ पुराजिकर	२७ विषलंधिक देश
४ जहर	१२ राक्देश	२० केरुष	२५ कर्णाट
५ दंड पउण	१३ रामलिह देश	२१ कर्ण	२९ गोलदेश
६ बाहल	१४ स्त्रीराज्य देश	২২ ভবীহা	३० बलावद्र देश
७ रङ्ग देश	१५ धारावर देश	२३ कणविरण	३१ अधंक देश
८ कर्दर	१६ उत्तरापथ	२४ तासल	३२ पाढ देश

[29

(३) चौरासी चौहट्टे (माणिक्यसुन्दरसूरिकृत 'पृथ्वीचंद्र-चरित्र' से)

۶	सोनीहटी	२२ त्रांबहरा	४३ कागलिया	६४ सांथुआ
ર	नाणावटहटी	२३ सांख हटा	४४ मंघपहटी	६५ पेरूआ
3	जवहरी हटी	२४ पीतलगरा	८५ वेश्या	६६ आटीआ
8	सौगंधीया हटी	२५ सोनार	४६ पणगोला	६७ दालीया
ų	फोफलिया	२६ सीसाहडा	८७ गांछ।	६८ दउढीया
Ę	सूजिया	२७ मोती प्रोया	४८ माडमुजा	६९ मुंजकूटा
19	पडसूत्रिया	२८ सालवी	४९ वीबाहटा	७० सरगरा
5	घीया	२९ मीणारा	५० त्रांदेखीया	७१ भरशहा
९	तेलहर।	३० कुआरा	५१ भइंसायत	७२ पीतलह्डा
१०	दंतारा	३१ चूनारा	५२ मलिनानापित	७३ कंसारा
११	वलीयार	३२ तूनारा	५३ चोखानापित	७४ पदत्रसागीया
	मज़ीयार हटी	३३ कूटारा	५४ पाटीवणा	७५ सासरीया
23	दोसी	३४ गुलीयारा	ध्र त्रांगडीया	७६ मजीठीया
7 8	नेस्ती	३५ परीयटा	५६ वाहीना	७७ साकरीया
१५	गाँधी	३६ घांची	५७ काठवीठीया	७८ संबूगर
१६	कपासी	३७ मोची	५५ चोखादीठीया	७९ लोहार
१७	फ़डीया	३८ सुई	५९ सूखडीया	८० सूत्रहार
१८	फड़ीहटी	३९ लोहटिया	६० साथरीया	५१ वजकर
१९	एरंडिया	४० लोढ़ारा	६१ तेरमा	५२ तंबोली
૨૦	रसणीया	४१ चित्राहरा	६२ वेगडीया	५३ कंदोई
२१	प्रवालिया	४२ सत्अारा	६३ वसाह	५४ बुद्धिहरी
				कुत्रिक पणहटी

(४) चौरासी छंद (किव केशवदास के 'छंदमाला'** से)

१श्री	६ माया	११ विज्ञहा	१६ नगस्वरूपिणी
२ नारायण	ः ७ मालती	१२ मंद्यान	१७ मदनमोहन
३ रमण	८ सोमराजी	१३ ललिता	१८ बोधक
৪ বংশিকা	९ शंकर	१४ प्रमाणिका	१९ तुरंगम
ध्र मदन	१० सुसकर	१५ मल्लिका	२० नागस्वरूपिणी

^{*} रचानाकाल सं० १४७८ (प्राचीन गुजरातीगद्यसंदर्भ से) ।

^{**} इस ग्रंथ का विशेष परिचाय 'हिंदुस्त नी' पत्रिका के भाग १७ में प्रकाशित है।

२१	तोमर	30	कुसुमविचित्र	৸ঽ	नाराच	६९	मकरंद
२२	हरिणी	३ ८	चंदव्रतन	48	ब्रह्मरूपक	190	गंगोदक
२३	अम्रतिगति	३ ९	मताती	44	रूपमाला	98	तन्वी
28	तोमर	80	वंसस्वनित	પ્રદ	पृथ्वेः संद	૭૨	विजया
રધ	संजुती	88	प्रमिताक्षर	ধূত	चंचरी	93	मदन मनोहर
२६	अ नुकू जा	४२	स्रग्विनी	मुद	करुना		मानिनी
२७	सुवण प्रयात	83	पंकज कर्षरका	ધુલ	गीतिका	ভদ্ৰ	हार
२५	इंद्रवज्रा	88	तारक	ξO	मूल		रोला
રઙ	उ थेंद्रवज्रा	84	कलहंस	६१	घर्म	७७	धत्ता
30	मौक्तिकदाम	8£	हरिलील।	६२	मदिरा	७८	मरहरा
39	त्रोटक	80	वसंतितराक	ξş	विजय		सोरठ।
32	सुन्दरी	४८	मनोरमा	ξ 8	सुधा	ರಂ	सिंहावलोकन
33	मोदक	४९	मालती	ξ¥	वसुधा		अनंगशेखर
38	मुजंगप्रया त	યુ૦	सुद्रिय	६६	माधवी		जमुन
3 4	तामरस	48	निसपालिका	8,3	_		रूपमाला
3&	द्र _ु त ि लंबित	પ્રર	चामर	ξÇ	अमलक माल		छलना

(५) चौरासी रुपक (छंद)

δ	सादा	88	रोडा	২৩	वत्शू	80	खंजा
ર	্ৰভি কা	84	ललाए	२८	वहरत्थाः	88	तुगाए
3	गाहाणी	१६	रंगिका	રઙ	दुमिल्लाए	४२	सिक्खा
8	गाहा	१७	বি ত্তুদালা	30	गयण्गु	83	तटिक
ų	विग्गाहा	१८	चउपाईया	38	परवंमु	88	भुयंगाए
ξ	सीहाजी	१९	पोमावती:ए	3 2	तिन्नाए	84	लीला
9	जग्गा हो	૨૦	रूपामाला संजुतीए	33	नाराइ	४६	लग्गणी
5	गही	२१	घत्ता	38	दुवई	89	अमकाणा
ዓ	गंधा णा	રર	गीतिका	રૂધ	पाठणी	४५	फारी
१०	वत्थूवा	२३	ভিষ্ণাए	3Ę	वस्रिया	८८	मोदक्का
११	दोहा	28	पद्धिय।	319	चामर	ଧ୍ୱଠ	चदागा
१२	गर्धाणा	ঽঀ	ভিক্	35	स्माणी	ধ্	चुलियारा
\$\$	उकिहा	२६	मिडिल्लाए	39	धारीसा	ધર	चामर

प 3	कमताणि	६१	11 116		पंका	છછ	। तकाए
48	दीपकी	६२	いりょどい		वाणीए	92	द्धगा । इ.स.च्या
	मुतीद म्मारा		हंसा	98	सालुरा	७९	खंडलाया
	सारंगा		নভা	7	रासात्तगीए	150	
			19	3	साचंदमाला	5.9	कवलाया
	वंधा		खंदा . ७	8	चकाए	52	धउलंगा
설도	विज्जोहा	६६	मथाण		हाट्टका		विवा
ધુલ	करहेवा	६७	हरसंखाणा		_	-	
60	पंचा	£5	पाईक	વ	ध्या	58	डंवालया

(वीकानेर की अनूप संस्कृत लाइब्रे री की प्रति से, सं० १६६९)

(६) चौरासी विज्ञान

१ हेतु विज्ञान	२२ चित्र विज्ञान	४३ अध्यातम विज्ञान	६४ नि यु धकार विज्ञा न
२ तत्व .,	२३ रंग	88 अमिन "	६५ आक्षेटक .,
३ मोहन .,	२४ सूचीकर्म	84 जल	६६ कुतुहल
४ कर्म ,,	২५ হাকুন "	४६ विद्रेपण ्	६७ केश ,
५ मर्म "	२६ छद्रम "	८७ उच्चारण ,,	६८ पुष्प ु
६ शंख ,,	२७ नैमेंल्य "	४८ स्तंमन "	६९ इन्द्रजाल
७ दंत	२८ गंधयुक्ति "	४९ वशीकरण	७० पानविधि ,
८ काच ,,	২৭ आश्चन ,,	५० हस्तिशिक्षा (गज) ,,	७१ विनोद
९ गुटिका	३ ০ হালি ,,	५१ अस्व (अस्ववाहन) ,,	७२ सौजन्य ,
१० योग 🕌	३१ कासृ कम्मं	५२ पक्षि "	७३ शीच ,,
११ रसायन	३२ कुंम "	५३ स्त्री	७४ विनय ,
१२ वचना ,,	३३ लौह ,.	५४ काम	७५ नीति
१३ कंदित्व "	३४ मंत्र .,	५५ रत्न	७६ आयुर्वेद ,,
१४ नेपथ्य ,.	३५ বহা	ध्६ वस्त्रकार (वस्त्र) ,.	७७ व्यापार ,,
१५ यंत्र	३६ नख	५७ पशुपाल्य ,,	७८ धारणा
१६ मर्दन ,,	३७ বৃগ	<u> ५</u> ८ —	(रत्नकोशः, हस्त-
१ ৩ पत्रक	३८ प्रसाद ,,	५९ वाणिजय ,,	लिखित प्रति से प्रतिलिपि
१५ धर्म "	३९ धातु (धातुमुष्टि)	६० लक्षण ,,	हमारे संग्रह में है।
१९ वृस्टिक ,,	४० विभूषण	६१ काल शास्त्र	इसी की अन्य प्रति श्री
२० लेपकर्म ,,	४१ स्व रोदय ,,	६२ शास्त्र वंध ,,	मोतीचंद्र सो खजांची
२१ सूत्र	४२ द्यूत ,,	६३ आयुध कार ,.	के संग्रह में है)।
		-	

प्रत्यंतर में निम्नोक्त अन्य नाम पाठान्तर रूप से मिलते हैं

१ वस्तुविज्ञान	१२ युद्ध	२३ पूजारंम	३४ नम्म
२ वक्तृत्व	१३ नम्म	२४ रत्न	३५ आपण
३ वयस्य	१४ मर्द् न	२५ रस	३६ भीजन
४ कांस्य	१५ गुणिका	२६ वृत	३७ दिर'ग
५ केश प्रतादन	१६ फल	২೨ লুু∌	इंड बाद
६ माजा	१७ असन	২5 কৃষ্টি	३९ संस्कार
७ खङ्ग	१८ अंजन	२९ देव	८० शृंगार
८ छ्रिका	१९ বর্জन	३० ज्योति	४१ तैल
९ वाहन	২০ হাঁল	३१ इंद्रलेख	৪২ হাব
१० शुद्ध	२१ पशु	३२ लामकंत	৪३ अग्नि
११ शास्त्र	२२ क्रीखन	३३ आकृष्टि	

	(७) चौरासी व	ज्योतिष योग	
१ वल।	২২ বত্ত	४३ पोडशावर्त	६४ इंद्रयुद्ध
२ सुंदर	२३ यव	৪৪ ভালা গুর	६५ तालाट
३ छत्र	२८ वाणी	८५ राजहंस	६६ प्रव्रज्यः
८ चतुः सागर	२५ कमल	8६ पुच्छ	६७ छद
५ सिंहासन	२६ नौ	८७ सिंह पुच्छ ,	६८ फणमुख्य
६ हंस	२७ कामुक	४८ हेयनाम	६९ काक
ও হবজ	२८ कूट	८९ एकावली	७० हुताशन
८ कारिका	२९ छन	५० इम	७१ ललाट
९ नदी	३० चक्र	५१ कनक छत्र	७२ यूप
१० एकावली	३१ समुद्र	ध्र ध्वज	৩३ इषु
११ तारण	३२ गेल	५३ भूपति	৩৪ হাকি
१२ दरिद्र	३३ केंदार	५ ९ ऐरावति	७५ दंड
१३ जीव	३४ दाम	५५ विश्व	७६ कोरा
१४ शत्रुंजय	३५ वीणा	५६ डेल	७७ व्याघ्रतुंड
१५ रज्जु	३६ दरिद्र	५७ क्तक	७८ केमदुम
१६ मुशल	३७ দাস	५८ इंद्रकनक	
१७ नल	३ ८ সূল্	५९ इन्द्रधनुष	
१८ गदा	३९ सर्प	६० इन्द्रासन	
१९ दिहंग	४० मालादल	६१ नृपसन	
২০ শূঙ্গাংক	४१ चतु श क्र	६२ पद्मपत्र	
२१ हल	४२ कनकदंड	६३ क्रोंच	

[२५

(८) चौरासी वायु

8	आक्षेपक	ર	१ पादहर्ष	88	रूक्ष	६१	बलक्षयः
ર	हनुस्तम्भ	ર	। गृधसी	४२	अंगमंग	६२	शुक्रातीप्रवृत्तौ
ҙ	उ रुस्तम ्म	વર	विश्वाची	83	विख्यह	ξ3	शुक्रकार्स्य
8	शिरोग्रह	୧୫	अपवाहक	88	वद्भ विट्कता	६४	રા क्रनाश
¥	वाह्यायाम	રધ	अपतानक	84	मूकत्व	६५	अनवस्थित चित्तत्व
ξ	आभ्यन्तरायाम	२६	प्राणायाम	४६	अति जम्भा	६६	काठिन्य
ø	पार्श्वशूल	રહ	वात्तर्भटक	89	अत्युद्धार	६७	विरसतः
۲,	करीग्रह	२८	अपतन्त्रक (हिस्टिरिया)	८८	आन्त्र क् जन	६८	क् ायवक्रत ।
ዓ	दण्डापत्त।नक	29	. अंगमेद	४९	वातप्रवृत्ति	६९	आध्यान
१०	खल्ली	30	अंगशोप	Ão	स्कुरण	90	प्रत्याध्यान
११	जिह्नास्तम्भ	:38	मिणनिण	ង្ខ	अंगविभ्रंश	१ए	शीतता
१२	अदित	3 2	कल्लुता	ધ્ર	शिर।पूरण	७२	रोमहर्प
	पक्षाचात	33	अष्ठीलिका	ધ३	कंव	93	भीरूत्व
88	क्रोष्टशीर्प	38	प्रत्यष्ठिला	48	कार्स्यः	98	भेदवायु
१५	मान्यास्तम्म	34	वामनत्व	ધધ	श्यावता	ওর	कण्डू
१६	पंगु वायु	3&	कुष्जल्य	५ ६	प्रलाप	७६	रसङ्गता
919	कलाय खंज	30	अंगपीठ	ধ্ৰ	क्षिप्रमूत्रता	७७	शब्दाज्ञता'
१५	तूनी	3 5	अंगशूल	ধূদ	দি द्रानाश	७इ	प्रसुप्ति
१९	प्रतीतूनी	39	संकोच	યુવ	स्वेदनाश	७९	गन्धाज्ञत्व
२०	खंज	80	स्तम	ξO	दुर्बेलत्व	८०	द ष्टिश्चय

(९) चौरासी कुञ्ज

ን !	রী বি	१०	हाव	१९	कटिक्षीण	২৮	नेत्र
ર !	प्रेम	११	भाव	ŹΟ	मान	રઙ	কু ण्डल
3	कंदर्प	१२	क ाक्ष	२१	भ्रमन	30	हा र
8 (লীলা	१३	अल क	ર ર	तिष्ठन	39	ताम्बूल
Ħ 3	मज्जन	8 8	मुक्ता	२३	सङ्गीत	રૂર	आड
ξĺ	बिह ।र	१५	भ्रू	२ 8	आलस्य	33	लावण्य
9	उत ्कण्ठ	१६	वेणी	રધ	कलकूजित	38	हास्य
5	मोहन	१७	रोमराजि	२६	विविधाकार	34	उत्साह
९३	युगल	१८	नीवी	২৩	दुकूल	36	उग्रता

३७ कोकिलालाप	५० अधीन	६३ दैन् ल क्ष त	७६ ठुनुक
३५ ग्रीव	५१ सु रत	६४ क्ष पेत्तरंग	७७ वारिवभ्रम
३९ आलिंगन	५२ आकर्पण	६५ विगतामरण	७५ व्यवस्त भाव
४० चुम्हन	५३ उच्चाटन	६६ मूचण	৩৭ কাদক
४१ अधरपान	५ ८ मू च्छा	६७ कम्प	८० किकिनिख
४२ दर्शन	५५ वलीकरण	६८ रति प्रजाप	८१ वीरविपरीत (सुरतांत)
४३ दर्पन	५६ स्तम्भन	६९ तुत्तल गिर	५२ कालिकाकौतुक
৪৪ प्रलाप	५७ प्रिया स्वधारोहण	७० प्रिया वास मवन	५३ सु रत
४५ उन्माद	५८ आवेश	७१ मदन गुह्य	८४ सहज प्रेम
8६ दर्व	५९ वार्तालाय	७२ आसक्त पुञ्ज	
४७ उत्साहन	६० पर्यक्	७३ परमरस	(विद्याविभाग, काँकरोली
४८ उत्≇र्ष	६१ प्रिया चरण तडकाल	७४ पीड्रावाहा	से प्रकाशित 'प्राचीनवार्ता-
४९ दीन	६२ नख क्षत	७५ सुरतश्रमनिषेध	रहस्य', पृ० २१-२२)

(१०) चौरासी बौद्ध सिद्ध

۶	लूहिपा	१७ कण्हपा	३३ तंधेपा	४९ धोकरिपा
ર	लीलापा	१८ कर्गरिपा	३४ कुकुरिया	५० मंदनीपा
3	विरूपा	१९ थगनपा	३५ कुचिपा	५१ पंकजपा
8	<i>डोम्भि</i> पा	२० नारोपा	३६ धर्मपा	५२ घंटापा
ધ્	शवरीपा	२१ शालीपा	३७ महीपा	५३ जोगीपा
ξ	सरहपा	२२ तिलोपा	३८ अचितिपा	५८ चेलुकपा
છ	कंकालोपा	२३ छत्रपा	३९ मलह्या	५५ गुंडरिपा
5	मीनपा	२४ भद्रपा	४० नलिनपा	५६ लुचिकपा
9	गोरक्षपा	२५ दो संधि	४१ मूसकुपा	५७ निर्गुणपा
१०	चोरिकप।	२६ अजोगिपा	४२ इन्द्रभूति	५८ जयानन्त
११	वीणपा	२७ कालपा	४३ मेकोपा	५९ चर्पटीपा
१२	शान्तिपा	२८ धौम्मिपा	४४ कुठालिपा	६० चम्पकपा
१३	तन्तिपा	२९ कंकणपा	४५ कुनारि	६१ भिखनपा
8 8	चमरिपा	३० कमरिपा	४६ जालन्धरपा	६२ भलिपा
१५	खंड्गपा	३१ डोंगिपा	४७ राहलपा	६३ कुमरिपा
१६	नागार्जुन	३२ मेदपा	८५ घवंरिपा	६४ चवरिपा

६५ मणिभद्रा	७० धहुः लिपा	७४ सर्वभक्षपा	५० कोकालिपा
६६ मेखलाया	७१ उँधलिपा	७६ नगशेधिया	५१ अनंगवा
६७ कनखनापा	७२ कपालपा	७७ दारिक ग	५२ लक्ष्मीक रा
६८ कजकलपा	७३ किङ्मा	ওদ पु तुलिपा	५३ समुद्रपा
६९ कन्तालीपा	७४ सागरपा	७९ पनहुना	58 मालिपा
			('गंगा' के पुरातत्वंक.
			पृ० २२१)

(११) चौरासी सिद्ध

۶	सीलनाथ	২২ নাদাউর্ভুন	४३ निर्दय	६४ नेवक
ą	गोरक्षनाथ	२३ दौली	४४ सवर	६५ चाटल
3	चौरङ्गीनाथ	२४ भिवणि	४ ५ सान्ति	६६ नायन
8	चामारीनाथ	२५ अचिति	४६ मर्नुहरि	६७ भीली
뇤	त न्तिपा	२६ चम्पक	४७ भीसन	६५ पाहिल
Ę	हलिपा	२७ मेटिली	85 ਸਟੀ	६९ पासल
9	केदारिपा	२८ चेण्टस	8९ गनगपा	७० कम्ल
ς.	ढोङ्गपा	२९ भूसुरी	५० गमार	७१ कंग्रिक
ዓ	दारिया	३० धाकति	५१ मेण्डरा	७२ चिपिल
δo	विरुपा	३१ কুনর্জী	५२ कुडारी	७३ गोविन्द
99	कपाली	३२ चर्पटि	५३ जीवन	७४ मीम
१२	कमारी	३३ मादे	५४ अद्योसाधर	७५ मेरव
\$3	कान्ह कन	३४ च।न्दून	५५ गिरिवर	७६ मद्र
88	खल	३५ कामरि	५६ सीयारी	७७ ममरी
१५	मेखल	३६ करवत	५७ नःगवः।लि	७८ भूरुकुटि
१६	उन्मन	३७ धम्मीपा	५८ धिमरह	- 23.0
१७	कान्तिल	३८ पतक्षमद्र	५९ सारङ	(रॉयल एशियेटिक
१५	धोबी	३९ पात्रलिभद्र	६० विविकिधज	सोसायटो कलकत्ता से प्रका-
१९	जालन्धर	४० पालिहित	६१ मगरधज	शित १४वीं शताब्दी के
૨૦	जे ङ्गी	४१ मा ण्ड	६२ अचित	'वर्णरत्नाकर', पृ० ५७-५८)
રશ	मरह (सरह)	४२ मीनी	६३ विचित	· · · · · · · · · · · · · · · · · · ·

২도]

(१२) चौरासी जाति (पृथ्वीचन्द्रचरित्र, सं० १४७८)

۶	श्री श्रीमाली	২३ বায়ন্তা	४५ श्रीगउंख	६७ नागउरा
২	उ पवाल	२८ वाव	४६ वालमीकि	६८ सतला
3	वाधेरवाल	२५ दसउरा	8७ टाकी	६९ क्:डकोलापुरी
8	<i>ड</i> ेंडू	२६ करहीया	੪ਙ ਰੰਗਟਾ	७० रायकवाल
뇍	पुब्करवाल	२७ नागद्रहा	৪ ৭ নি ৪ ত্ত ন	७१ पेसीपा
દ્	डीसावाल	२८ मेवाडा	५० अठवग्री	७२ पेरूया
9	मेडतवाल	२९ मटेउरा	५१ लाखीसाखा	७३ गोमित्री
ठ	भाभू	३० कशरा	५२ वधन खरा	७४ नारा यण
ዓ	सूराणा	३१ नरसिंहउरा	५३ सुहउदाल	ම දු වීදූ"
δo	গ্ৰন্থৰাল	३२ हारल	५८ वीघ्	ণ্ড শতাবস্তা
११	दोहिल	३३ पंचम वंश	५५ पद्मावती	७७ गोसरूआ
१२	सोली	३४ सिर खडला	५६ नीमा	७५ अजयमेरा
१३	खडवड	३५ कमोह	५७ जेहराणा	७९ कंडोलीया
88	खंडेरवाल	३६ रोतकी	५८ माथुर	८० कायत्थ
१५	पोरू आख	३७ अगरवाल १	५९ धःकङ्	८१ आणन्दउरा
१६	गूजर	३८ জিগাণী	६० पल्लीबाल	५२ सगउडा
१७	मोढ	३९ वांम	६१ हरसंउरा	५३ सीहउरा
१८	नागर	४० घांघ	६२ चित्रउडा	८४ जेसवाल
१९	जा लहरा	४१ पातहाउत	६३ गोला	८५ नादेवा
२०	ख ःह तः	४२ उचित	६४ गहिवरिया	দহ জাइন্তবাল
२१	कवोल	४३ वसाङ्	६५ लोहाणा	८७ च।पेल
22	जाम्ब	৪৪ এ হিন্ত রবাল	६६ माटीया	

(१३) चौरासी जाति (सं० १५०० पूर्व मोहम्मद शाह के समय में)

१ श्री श्रीमाल	७ वघेरवाल	१३ कथरूटिया	१९ खडायता
२ पोरुआङ	८ भाभु खण्ड	१४ कोरंटवाल	२० पत्नीवाल
३ ओसवाल	९ मेखतावाल	१५ जोधसोन	२१ जालह रा
८ डीसावःला	१० दाहिण	१६ जाइल वाल	२२ वापडा
থ ভী তু	११ सुराणा	१७ नागर	২३ चित्रवाल
ह हासरा	१२ खण्डेरवाल	१८ नाणावाल	२८ छांया

[२९

२५ कपोल	४१ मोढ	५६ सिरिखंडेरा	७२ वीघु
२६ पुष्करवाल	४२ लाड्आ श्रीमाली	ধুও मेवाङा	७३ माश्चर
२७ जंबूहरा	৪३ লাভ	५८ मोडिआडा	७४ नाउरा
२८ नागद्रहा	८४ जागड	५९ कारजिण्णखा	७५ पदमावती
२९ सुङ्खवाल	४५ सोरठिआ	६० जेहराना	७६ काकली
३० मुढेरा	४६ पोरूआङ	६१ सोहरिआ	७७ आगदुरा
३१ करहिया	(नयसरुस्तकी)	६२ धावङ्।	७५ सांडेर
३२ उग्रवाल	४७ नरसींघ उ रा	६३ मुहवरवा	७९ सःचुरा
३३ वांमण	४८ हालर	६४ मडिया	५० गोलावाल
३४ अच्चितवाल	४९ पञ्चम	६५ मुंगडिया	দ ং राजउ रा
३५ श्रीगुड	५० কাখন্তব্য	६६ कुंवड	प्२ वाडीसखा
३६ गूजर	५१ वाल्मीक	६७ नीमा	८३ छीसखा
३७ श्रीमालप्रौढ	५२ कम्बोतिसुरा	६५ मडाहटा	58 चउसरा
३८ अভালিज।	५३ तेलुह टा	६९ ब्राह्मण	(ंश्रीमालीज्ञाति-
३९ माडलिआ	५४ अष्टवग्री	७० वागङ्	वर्णभेद'. पृ. २३३)
४० गांभुआ	५५ वघपुरा	७१ चीलउडा	

(१४) चौरासी जाति (विमल प्रबन्ध, सं० १५६२)

श्रीमाल	१५ नाणावाल	२९ वायङ	४३ कम्बोजा
पोरवाङ्	१६ प्रौदलाड	३০ গা নু	४४ करहिया
ओसवाल	१७ लाडुआ श्रीमाल	३१ अভ্লিজা	८५ पोरुआड
गूजर	१८ हालर	३२ मोढ	४६ सोरिटया
ভীতু	१९ हरसुरा	३३ मांखलिया	४७ पत्नीवाल
दीसावाल	२० डंब्डा	३४ पंचम	४५ मडाहड
खडायता	२१ श्रोगुड़	३५ पुस्कर	४९ मंडोरा
: स्त्रंडेर	२२ जालुहरा	३६ जम्बूसरा	५ ० मेवाडा
खंडोल	२३ जगाड	३७ सुहटवाल	५१ वालमीक
कठिणुरा	२४ धाकंडिया	३८ मंडोवरा	५२ छावा
काकिला	२५ मूङ्या	३९ अच्छति	ধ্३ चित्रावाल
कपोल	२६ भूगड्	৪০ अच्छतिवाल	५४ वधेर
नाइल .	२७ व्राह्मण	४१ सुरहिया	५५ नरसंगरा
नागर	२८ वीधू	४२ माथर	५६ ह ारखंडेर
	कपोल नाइल .	पोरवाड़ १६ प्रौढ़लाड अोसवाल १७ लाडुआ श्रीमाल १७ लाडुआ श्रीमाल १५ लाडुआ श्रीमाल १५ हालर डोडू १५ हरसुरा विसावाल २० डंबडा खडायता २१ श्रीगुड़ स्त्रंडेर २२ जालुहरा खंडोल २३ जगाड किला २५ मूड़ेया कपोल २६ मूगड़ नाइल २७ ब्राह्मण	पोरवाड़ १६ प्रौदलाड ३० शांमू ओसवाल १७ लाडुआ श्रीमाल ३१ अडलेजा गूजर १८ हालर ३२ मोढ डोडू १९ हरसुरा ३३ मांडलिया दीसावाल २० डंबडा ३४ पंचम खडायता २१ श्रीगुड़ ३५ पुस्कर स्त्रंडेर २२ जालुहरा ३६ जम्बूसरा खंडोल २३ जागड ३७ सुहटवाल कठिणुरा २४ धाकडिया ३८ मंडोवरा कांकिला २५ मूझ्या ३९ अच्छति कपोल २६ मूगड़ ४० अच्छतिवाल

५७ मूमा	६५ पद्रमोदकी	७३ वनठीया	८१ वेशासा
५८ नाग्रदह	६६ गोलवाल	७४ कारटावाल	प्रश्चोशाला
২৭ ওয়বাল	६७ नागुरा (नगौरी)	७५ दाहिध	५३ सुराणा
६० वावर	६८ तेराटा	७६ सोनीसाथ	८४ राजुरा
६१ वधणुरा (धीणोज)	६९ साचौरा	७७ मपांल	८५ मेलितवारू
६२ वसुर	७० मोछेरा	७८ राजगाखा	८६ मुद्धेरा
६३ अस्थिकी	७१ जेराणा	ওৎ অঘ্ রান্তা	८७ आणंदुरा
६४ अस्टवग्री	७२ नीभानी	८० बड़ी शाखा	८८ वांगलीम

(१५) चौरासी जाति

۶	श्रीमाली	₹.	३ ভীলাবাল	83	नागरहा	દ્દપૃ	पद्मावतीसु त
ર	ओसवाल	ર	४ मोढ	88	सरसईया	ξĘ	मरहठा
3	गुजर	ર	५ वलहीया	84	गूजर गोड	63	पंचम
8	अरवाल	2	६ वायडा	८६	श्रीगउड	ξς	हलहर
엏	ऊँचवाल	२	९ कन्ह्ख	80	मेवाङा	६९	नरसाघोर
Ę	भटनागरा	21	5 टाक	85	खडायता	90	सोरोहीया
в	चीत्रोडा	સ્વ	२ पवई	४९	कपोल	७१	गयवरा
ξ	धूसड़ा	30	भदेशा	йo	जालेरा	93	दसवापोखाड
९	भटेरा	38	कायस्त	त्र१	वीत्	93	गूजर पोखाड
१०	नीमा	32	सांम वाचना	ધ્રર	करहीया	98	अषदीरा
११	ঘ াকৰ্	33	गांगराखा	রঃ	गलागा	৬५	कुंकण
१२	বীज	38	छ।पजीया	48	ला ड	७६	कपोलवाल
83	नागर	34	पोसाड	ध्य	सेहरा	ଓଡ	कषेला
88	नागरीआ	3Ę	জাগন্তা ণীকান্ত	ধুহ	जयंदा ल	1975	कयरवाल
१५	गोडोया	39	भइसिराअ	৸৽	पद्मावती मेखाङ्	७९	करणूसीया
१६	गोहरीया	३५	सोरठीया	ध्ड	लम्बेचा	50	कलंसीया
40	मायर	३ ९	मढकेशरा	મુલ	गोलराङा	দ্ৰ	: दट्ठर
ģζ	उम्बद्ध	80	पोगड	60	गौलसिंगारा	25	। कुण्डलपुरी
१९	सीवाणा		(मुकुटेश्वर जातः)	६१	कांथर	5	३ स`रखवाल
२०	आगरीआ	88		६२	पूर्वा	۲,6	३ अमदामना
૨ ૄ	सूरवाल				गोला		सौभाग्यनंदी सूरिरचित
२२	सष्टेम	82	कम्बना	६४	अवधपुरीया	'বি	मलचरित्र' . सं० ५१७८)

(৭६) चौरासी ज्ञाति (वरूतराम रचित बुद्धिविलास से)

ş	गोलापूर्व	२३ गोरीवाङ	८५ नलमा	६७ नखपापन
ર	गोलाराङा	२४ कठनेरी ¹	४६ हूँनरा	६५ सिखायल
3	लुम्वेचू	२५ घीडला साणी	৪৩ বहবভ	६९ काफडवाल
8	गोलसिंगारा	२६ मसराहेरा	४८ रायकडा	७० जेनसंगवाल
ધ	खण्डेलवाल	২৩ ধকভা	४९ चतुरथ पंचम	७१ श्रवणपगा
ξ	जेसलवाल	२८ गूजरवालीया	५० वनग्रोडा	७२ हुमंड
છ	वघेरवाल	२९ मारगङ्खा	५१ चंचलव ाल	७३ लित्रियाः
5	अगरवाल	३० वेरवडा	ध्२ गोरा	७४ वोसवास
ዓ	सहिलवाल	३१ परलीवाल	५३ करमगौत	७५ वुदीतिया
१०	खांप-पुखार	३२ गगरिकए	५४ श्रीमाल	७६ पोसव
११	अठ संखा	३३ सेतरिया	५५ चिडकरा	७७ कछर जनङा
१२	चउसला	३४ निगमा	५६ विकोरा	७८ कोरङ वाल
१३	सहसरखा	३५ गुजराती	५७ मदवेवाल	७९ खंड दूता
88	दो संखा	३६ मेवाडा	५५ लीगरा	५० मेंड तवाल
१५	सोरिंदया	३७ सरुखपा	५९ कमटी	দং अहिछत्र
१६	जॉं गड	३८ खलालंडावता	६० नुत्तपा	प्रश्र दोहला
१७	पद्मावत्या	३९ नागद्रहा	६१ तुस्नासिरी	५३ हरासूरा
१८	ढसर	५० नरप घोड़ा	६२ कचगार	प्रश्र डोडूहा
१९	वरहासेणी	8१ वेपानश्रा	६३ हपगार	দ্ধ ব্রমীত
૨૦	संथडवाल	४२ चितौडा	६४ ब्राह्मना	८६ लरीगुल
२१	सचाणा	४३ तेतरधरा	६५ लोगार	८७ पेहकरवाल
२२	अयोध्यापुरी	४४ सीदरा	६६ द्रावख	

(१७) चौरासी जैन आगम (जैन प्रन्थावली से)

१ आचारांग	५ अन्तग ड दशा	१५ पन्नवमा	२२ पुष्पचूलिया
२ सूयगडांग	९ अनुत्तरोवबाई	१६ जम्बूद्वीपपननति	२३ वन्हिदआ
३ अणांग	१० प्रश्न व्याकरण	१७ चन्द पन्नति	২৪ নিহাীথ
४ समवायांग	११ विपाक	१८ सूर्य पन्नित	२५ महानिज्ञीथ
५ भ गवती	१२ उबवाई	१९ किप्या	२६ वृ हत्करूप
६ ज्ञाताधर्मकथा	१३ रायप्पसेणीय	२० कप्पवडंसिया	२७ व्यवहार
৬ ওবাহাক दহা।	१४ जीवाभिगम	२१ पुष्फिया	२५ दशाश्रुतस्कन्ध

[#] इस ग्रन्थ का विशेष परिचय जैन-सिद्धांतमास्कर में प्रकाशित मेरे लेख में देखें।

ર્વ	आवश्यक	83	चंउरारण	ধূত	तीर्थोद्गार	७१	जम्बूपयन्ना	
30	दशवैका लिक	88	आउरपच्चकरण वाल	प्ट	अ \राधन\पता का	૭૨	आवश्यक निर	र्युक्ति
38	उत्तराध्ययन	84	भक्त परिज्ञा	ધુલ	द्रीपसागरप्रज्ञप्ति	৩३	दशवैक।लिक	,.
રૂર	नन्दी	४६	संथार पयन्ना	६०	ज् योतिषकरण्डक	98	उत्तराध्ययन	٠,
33	अनुयोगदार	8/9	तन्दुलवैयालीय	६१	अङ्गविद्या	ডখ	आचाराङ	
3 8	करूप	82	चन्दाविज्जय	६२	तिथि प्रकीर्णक	७६	सुयगडांग	1.
३ ५	जीतकल्प	४९	देविंदत्थओ	& 3	सारावली	७७	वृहतकल्प	1,
38	शाद्धजीत कल्प	પૂ૦	गणिविज्ञा	4 8	पर्यन्ताराधना	७८	दशश्रुत	**
3 9	पाक्षिक	49	महापच्चवस्राण	ĘЧ	জীববিদক্তি	७९	क ल्प	٠,
३ ८	क्षामणा	ધુર	मरणसमाधि	६६	कवच	ಽ೦	<u> বি</u> ण्ड	
39	ं दितु	43	वीरस्तव	स छ	योनिप्रामृत	25	ओध	١,
80	ऋधिमावित	4 8	अजीवकरप	६८	अङ्गचू लिया	5२	संसक्त	
८१	यतिजीत कल्प	ধৃধ্	गच्छाचार	६९	वङ्गचूलिया	53	व्यवह ार	
83	विशेषावश्यक	धृद्	सिद्धप्राभृत	૭૦	वृद्धचतुःशरण		ি ण्डविशुद्धि	

(१८) कुन्दकुन्दाचार्य कृत चौरासी पाहुड*

8	समयसार	१४ भावसार	२७ समवाय	४० दिव्व
ર	पंचास्तिकाय	१५ अगल	२८ नय	8१ सिक्खा
3	प्रवचनसार	१६ क्षपण	২৭ प्रकृति	४२ जीव
8	अष्ट	१७ द्रव्य	३० चूर्णी	४३ आचार
ų	लिटिय	१८ बोधि	३१ पंच वर्ग	४४ स्थान
ξ	ब=ध	१९ क्रम	३२ एयंम	८५ प्रमाण
в	नियमसार	२० पुर		४६ आलाप
5	जेणीसार	२१ विद्या	३४ विहिया	८७ चूली
९	क्रियासार	२२ उद्यात	३५ वस्तु	४८ परदर्शन
१०	आहारणा	२३ दृष्टि	३६ सूत्र	8९ नौकम्मा
११	रयणसार	२४ सिद्धान्त	३७ बुद्धि	५० संठाक्ष
१२	੧ ਟ	२५ लोय	३८ पर्यद्ध	५१ निताय
9 3	तस्वसार	२६ चरण	३९ उत्पाद	५२ सालमी
				इत्यादि

^{*}हि॰ जैनग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ से उद्भत ।

(१९) चौरासी रतन

8	पदमराग	१६ विपहर	38	शिवकर	४६	ज्योतिसार
ર	पुष्पराग	१७ সুল हर	3 2	कौस्तुभ	80	गुजरात ।
3	पन्ना	१८ शत्हरन	33	प्रमानाथ	85	स्वेतरु.च
8	कर्केतन	१९ रुचक	38	शिवकन्त	୪୧	पुष्टिकर
4	বস্থ	२० राग	રૂપ	वीतसोग	ÃÓ	हंसमाल
ξ	वैडर्य	२१ कार लोहिताक्ष		महाभाग		अंसम⊧लि
19	चन्द्रकान्त	२२ विद्रुम		सोगन्ध		देवानंद
5	सूर्यकान्त	२३ मनार्गल		रतनगंमोदमणि		फाटिकखीर
٩	क्रान्ति	२४ हंसगर्भ	·	प्रभंकर	48	तेलफ:टिक
90	ਜੀਲ	२५ विमर	80	सौभाग	ধ্র	चंदह
•	महानील	२६ अम्ब (अंबू)	88	अपराजित	นุ ธ	नरमेंडक्रमणि
	इन्दुनील	२७ ऋंजन		कोटीय		गरुडोद्धार
	रोगहार	২৯ এবিভ্		पु ल क ——		. भु यंगमणि
88	ज्वरहा र	২৭ খুৱাদুকা		सुभग धृतिकरि	ધુવ	९ चिन्तामणि (तत्वकुमार रचित
१५	विभवक	३० कान्त				रत्नपरीक्षा से)

(२०) चौरासी रत्न

१ हीरा	१३ जदर जद	२५ मरियन	३७ सांवोर
२ मोती	१४ अपिल	२६ मकनातीस	३८ तुरसावा
३ माणक	१५ तुरमली	२७ सिंदुरिया	३९ अहवा
४ पन्ना	१६ नर्म	२८ लिलि	৪ ০ লাजাব র্ন
५ नीलम	१७ सुनेला	२९ वेरूज	४१ कुदूएत
६ लहसूनिया	१८ घुनेला	३० मरगज	४२ आवरी
७ मूंगा	१५ कटेला	३१ पितोनिया	४३ चीती
८ पुखराज	२० सितारा	३२ दसी	८४ संगेसम
९ गोमैदक	२१ स्फटिक	३३ पुर्रेनफज	४५ मारवर
१୦ ल:लडी	२२ गोदन्त	३४ मुलेमानी	४६ लॉस
११ पिरोजा	२३ नामडा	३५ अलेमानी	४७ दानाफिरंग
१२ एमेनी	२४ लुधिया	३६ जजेमानी	४८ क्सौटी

४९ दारचना	ध्रः मकङी	६७ हक़ीक	७६ स्वारा
५० हकीकुलबहार	५९ संखिया	६८ गौरी	७७ सीरखङी
५१ हालन	६० गुदङी	६९ सीया	७८ जहरीमोरा
५२ सिजरी	६१ कांसला	७० सीमाक	७९ रात
५३ मुर्वनजम	६२ सिफरी	७१ मूसा	५० सोहन मक्खी
५४ कहरवा	६३ हदीद	७२ पनघन	५१ हज़रते छह
५५ झरना	६४ सीगली	७३ आमलिय।	५२ सुरमा
५६ संगेवसरी	६५ हवास	७४ द्भ्र	५३ पाय ज़हर
<u> </u>	६६ देखी	७५ तिलवर	58 पारस

(श्री सूर्य नारायण जी व्यास के विक्रम (अगस्त १९८४) में प्रकाशित 'रत्नों की वैज्ञानिक उपादेयता और पश्चिय' शीर्षक लेख से उद्धृत । आपका उक्त लेख कुछ संशोधन पश्वितन के साथ पारिजात के द्वितीय अंक में 'रत्न-परिचय' के नाम से प्रकाशित हुआ है।)

लाभू बाबो

लामू बाबो ठेट्र वासिंदो किसै गांवरो हो आ तो मालम कोनी पण महारा बापोतो रा गांव डांड्सरमें परिणयो हो जिणसुं महे तो उणने उठारो हो समझता। धोला मूंडारो धोरो, जवान. हो जदसुं ही महारा घर में रेवतो आयो हो। हो तो वो दो रुपियौरा महीनदार पण महारा घररा लोगां उणने कदेई नौकर को समझियोनी। काई छोटा अर काई वडा—सगला उगरो आदर करता। वड़ा लोग लामू. लुगायां लामूजी और महे टावर लामू बावो कर बतजांवता। बाररा लोग लामू वावो आप महारा घरने ही आदरी समझता। लामू बावो आप महारा घरने ही आपरो घर समझतो। टावरपणां में महे उगरे सागै जीमियोड़ा हो।

लामू बावो गोरा रंग रो. तकड़ा शरीर रो अर सपेत दाड़ीरो पैसो जवान हो। दोवटीरी जाडी धोती और बंडी पैरतो। माथा माथे मुलमुल री पाग वाँधी राखतो। गळामें हरदारी कंठी और हाथमें काठरा मिणियारी माळा हर दम रेक्ती। सीयाळामें देसी जनरी कामळ ओटतो। ओ लामू बाबारो पैरेस हो।

लाभू बाबो जातरो मंडीवाळ धनावंसी साध हो। बापरो नांव श्रीकिसनदास, काकारो बुद्धरदास अर माईरो नांव आणदो हो। काको बुद्धरदासजी रामायण, महाभारत वगेश शास्त्रांश मोटा निंडत हा। लामू वावे टावरपणांमें उगां कन शास्त्रांशे ग्यान सीखियो। टावरपणांमें सीखियोड़ा इग ग्यानसुं लामू वावो विना पिंडवाँ हीज पिंडत हुग्यो हो। उगने शास्त्रां और पुराणां तथा इतिहासरी कुण जाणे विन्ती वातां याद ही। लामू वावो मणियोड़ो कोनी हो पण ग्यानमें वडा-उडा मणियोड़ानं छेड़ें वैसाणतो। लामू बावो कह्या कस्ती—नाणीं अंटरो. विद्या कंठरी।

लामू-वाबो म्हारा घर में चाळीस बरसांसूं कम को रहाो नी। दो अंकेलो जको काम करतो दो आज चार आदिमियांसूं कोनी हुवै। झांझरके च्यार बज्यां उठतो। उठनै मजन करतो ' पछै सगळा घरमें बुवारी देतो. पाणी छाणतो, बिलोवणो करतो पोटा थापतो, ठाणांरी सफ.ई करतो, गायां-मैस्यां ने पागी पांवतो अर नीरो नासतो। पछै दूजा काम करतो।

म्हारे हुँडी-चिट्ठीरो काम हुतो। लोट चाळिया कोनो हा, हजारूं रूपिया रोकड़ी लावण-लेजयावण रो काम पड़तो। ओ सगलो काम लामू बाबो करतो। मणियोड़ो अंक आखर को हो नी पण लाखूं रूपियांरो काम भुगता देतो और कदेई-अंक पईसारी ही मूल को पड़ी नी!

गांव-गोठरी वोरगत हुणैस्ं म्हारं अठं वारजो फेटो घणो हो। रोज दस-पांच आदमी आया-गया रैवता। उग दिनांमें कळरी चक्की तो ही कोनी. हाथस्ं आटो पीसणो पड़तो! पीसारिंगयां आटो पीसती! लामू बाउँ थकां ऐन मौके आटारा फोड़ा कदेई को देखणा पड़ता नी। बिना कह्यां आधी रातरा उठ-नें घमड़-धमड़ दूंदां नाखतो दिन जगतो जद आधमणा आटो त्यार।

लामू बाबो काम करणन सदा जाणे त्यार होज रेवतो । हरेक आदमीरो काम निःस्वार्थ-मावसूं करतो । घररो तो कांई, गवाङ्ररो भी कोई जणो काम वास्सै बकारतो तो उत्तर को देतो नी । हेलो सुणंता पाण झट वोलतो- आयो । जीमतो हुतो तो शाळी छोड किनार हाय घोय-न जा हाजर हुतो । कैई काममें रूथियोड़ो हुतो तो ई आ कदेई का कवतो नी कै फलाणो काम करू हूँ। एक 'आयो' शब्द हीज सदा मूंद्रासूं नीकालतो । लामू वाबो कैंवतो—'हूं फलाणो काम करू हूं' इयान कणो एक तरांस उत्तर देणो है। काम रो उत्तर देणो लामू वाबो जाणतो ही कोनी हो।

टाबरांने. विशेषकर म्हां तीनांने—काकोजी मेघ-राजजी, काकोजी अगरचंदजी और मने, बड़ी हींयालीसूं राखतो। एकने गोदीमें, दूजाने खांधा माथै अर तीजाने मगरां माथै राखियां काम करतो रेतो। म्हांने घणा ओखाणा अर दुहा सुणावतो। सिंझ्या पड़ती जद महे ठाम् बादाने वात केंवण वासते पकड़ने बैठाय लेता। बाबो म्हांरी फरमास अर रूचि मुजब वातां सुणावतो-कंदेई रामायणरी, कदेई महामारतरी, कदेई इतिहासरी, कदेई धूजीपी, कदेई प्रहलादरी, बदेई नरसीजीरा माहेरारी।

लाम् वाबो रामरो भगत, कर्त्तव्यशील और निर्लोमी हो। शास्त्रां कथावारा आदर्श बाबै आपरा जीवण में उतारिया। दिन-रात, काम करतां वखत मी. मूंढामें राम रौ नाव हरदम रंवतो काम करतो जांवतो अर भजन गावतो जातो। महारा घरसूं लाम् बाबाने दो रुपिया महीनो मिलतो। मला-मला साह्कारां पनरें रुपिया महीनो ने रोटी-कपड़ो धामियो पण लाम् वाबै दूजै घर नौकरी नहीं करी स नहीं करी। लाम् बाबो प्रेम रो मूखो हो, टकांरो लोभी को हो नी। जवानी में लाभू दावो धणो सागतवर हो। एक वार वडा दादाजी दानमलजी री हवेली चिणीजती ही जद पथरारी रांस चढ़ावगवासते हमालांने बुलाया। दस-दस मणर भारी एकलिया देखने हमालां जीम काढ दी। जद सेटां ल:मू वावा ने बकारियो। लाभू बावे अंकेले वे दस-दस मगरा अंकलिया चढा दिया।

जित्यांरी हालत देखरें लाभू वाबी कह्या करती— केइ जती सेवड़ा सिर मंडा। करमां-री गतस्ं हुआ मुंडा॥

लाभू वाबो कई भेख, जीमण, जीवृत्तखर्च आपरा नै आपरी सामणरा करिया। हिन्दू और जैन तीरथांरी जात्रावां करी। और मरतो सईकड़ूं रुपिया आपरी लुगाई मोलार वासते छोडग्यो। दो-च्यार रुपिया कमावण आळो आदमी किण माँत सुखी जीव्ण विता सकै, लामू वाबो इणरो प्रतख उदाहरण हो।

लामू वावै आपरा जी.वणरा शेष दिन गांव में गालिया। माँचा माथै वैठो-सूतो हरदम भजन करतो रँवतो। म्होँ टाबराँ ने देखण सिवाय कैई वात री मन में ई कोनी ही। पिताजी मिलण वासलै गाँव गया जद उणाँने आया सुणताँ पाण उमाणै पर्गां सौ पाँवडाँ साम्हो आयो। लोगाँने घणो अचरज हुयो के आज वावारा वृदा पर्गांमें इती शक्ति कठासूं आयगी।

लामू बाबोने स्वर्गवासी हुयाँ आज घणा वरस हुग्या है पण म्हारा मनमें बाबारी अर बाबारा गुगाँरी याद आज ताणी ताजी है।

मेरी रणथंभौर यात्रा

भारतवर्ध के सुदृढ़ और अत्यन्त सुरक्षित प्राचीन दुगों में रणशंभीर एक विशिष्ट, महत्वपूर्ण एवं इतिहास-प्रसिद्ध दुर्ग है। दूसरे अनेक दुर्गों की माँति इसका निर्माण भी चौहानों ने करवाया था। शरणागत-प्रति-पालक राव हमीर का हठ * प्रसिद्ध है। उस प्रतापी और शक्तिसम्पन्न नरेश्वर ने अपनी राज्य. ऋदि एवं प्राण तक गँवाये परन्तु शरणागत चार मुगलोंकी सुलतान के सुपुर्द न कर आर्य संस्कृति के गौरव की सुरक्षा की। हमीर ने सुलतान को परास्त कर दिया पर यवनों के भावी उत्कर्ष-योग से रानियाँ जलकर भस्म हो गयीं, तथा हमीर का सारा उत्साह-शौर्य अस्तंगत हो गया। वीरम्मि रणधंभीर पर यवनीं का अधिकार हो गया। तदनन्तर मालवा मेवाड़ के शासकों के अधिकार में रहने के अनन्तर फिर मुसलमानों के अधिकार में आ गया। बादको चौहानों की सहायता से हाङ। राजपूर्तोने मुगल किलेदार जुझारखाँ से किला द्यीनकर राव सूर्जन हाला को सौंपा। सम्राट अकवर ने इसे युद्ध में विजय न कर सकने पर ५२ परगनों के बदले राव सूर्जन से रणशंभौर ले लिया! सं० १६८८ में राजा विष्ठलदास गौड़को यह जागीर में मिला पर औरङ्गजेव ने वापिस ले लिया। तस्परचात् मुगल सल्तनत की कमजोर हालत में मराठों के आक्रमण से रक्षा करने में असमर्थ हो किलेदार ने जयपुर वालों को विना शर्त दुर्ग सुपुर्द कर दिया और मराठों से रक्षा पायी। तबसे यह अजेय दुर्ग जयपुर राज्य के आधीन है।

जैन साहित्य से रणशंभीर का पुराना सम्बन्ध है। १२ वीं शती में हरिस्तउरगच्छीय राजा कर्ण से मलधारि-विरुद-प्रश्न श्री अभयदेवसूरि के आणा लेख से प्रथम पृथ्वीराज ने अत्रस्थ जिनालयपर स्वर्णमयध्वजदण्ड चढ़ाये थे जिसका उल्लेख पत्तनमाण्डागारीय ताड़पत्रीय पद्मदेवकृत 'सदुगुरू-पद्धति' में इस प्रकार है

रणशंभपुरे आणालेहेणं जस्स संभरिदेगः। हेमधयदंडमिसओ निच्चं नच्चाविया कित्ती ।।३॥ श्री चन्द्रसूरि-कृत 'मुनिसुव्रतचरित्र' में निम्नोक्त गाथा इसी वृतान्त की पुष्टि करती है

पुहवीरायेण सयंभरी नरिंदेण जस्स लेहेण। रणखंभउरजिणाहरे चखाविया कणयकलसा।

इसी प्रकार विजयसिंहसूरि ने 'धर्मोपदेश विवरण' में उल्लेख किया है कि—

> यस्य संदेसकेनापि पृथ्वीराजेन भूभुजा। रणस्तंभपुरे न्यस्तः स्वर्णकुंभो जिनालये॥

इन अवतरणों में जिस जिनालय का उल्लेख है. सम्मवतः मुसलमानी शासन में वह नष्ट हो चुका होगा। इसके बाद भी रणशंभीर से जैनाचायों का सम्बन्ध बराबर रहा है और श्री नयचन्द्रसूरिजो ने हम्मीर महाकाव्य ** की रचना की, जिसके वर्णनों से ग्रन्थकार का रणशंभीर से सम्बन्ध होना फलित है।

- * ''सिंह-विषय सत्पुरूष वचन फेल फले इकवार । तिरिया तेल हमीर हठ चढे न दूजी बार ॥''
- ** देखिये नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष १२ अङ्क ३ और वर्ष १३ अंक ३ में 'हमीर काव्य' नामक जगनलाल गुप्त का लेख ।

सम्राट् अकवर के अधिकार में आनेके पश्चात् सम्राट् अकवर के कृपापात्र कछवाहा वंशीय महाराजाधिराज जगन्न थ के अधिकार में रणशंभीर होने का उल्लेख जैन कवि रत्नकुश्जगणि कृत 'खीमसीभाग्याभ्युदय' में आता है। इस महाकाव्य के अनुसार महाराजा जगन्नाथ ने तोडानगर निवासी अग्रवाल गर्गगोत्रीय खेताम्बर जैन मन्त्रीश्वर खीनसी को बुलाकर सं० १६४५ पीप शुक्ला हैलि तिथि पृष्य नक्षत्र के दिन उसे "मन्त्रीस्वर" पदारूढ़ किया था ! इन्हीं मन्त्रीश्वर ने रणशंभीर दुर्ग में कीतिस्तम्भ के सदश्य जिनालय कराके उसमें वर्ड समारोह के साथ १९ वें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथ प्रभु को भव्य प्रतिमः प्रतिष्ठित करायी थी । अभी रणस्तंभपुर में दुर्ग पर केवल एक जैन मन्दिर है जिसमें श्रीसुमति-नाथ जी की प्रतिमा विराजमान है जो खेताम्बराचार्य-प्रतिष्ठित है। प्रतिमापची की हुई नहीं है। नहीं कहा जा सकता कि यह मन्दिर वही खीमसी मन्त्रीखर कारित है या अन्य है। किले (पहाड़ी) के निम्नभाग में भी जैन मन्दिर थां जो अब खण्डहर होगया है। वहाँ जंगली पश्ओं का अड्डा होने की सूचना भी वहाँ वालों ਦੇ ਮਿਲੀ थी।

सतरहवीं शती के जैन कवि कनकसोम, जो अकवर आमन्त्रित खरतरगच्छाचार्य युगप्रधान श्री जिनचन्द्र सूरिजी के साथ सं० १६४५ में लाहौर गये थे, भी रणथंभौर पधारे थे और उन्होंने 'नेमिफाग' नामक रचना भी यहीं की थी, जैसा कि उसके निम्न अंश से प्रकट है

नेमि चले अविचल पदइ हो धन-धन प्रीतम राग। कनकसोम इण परिरच्योः, गढ़-गिणशंभर फाग ॥३०॥

इसी प्रकार एक अज्ञात जैन कवि ने सं० १६२८ में साह चोखा के अनुरोध से 'सीताप्रवन्ध' की रचना की थी, जिसकी अन्तिम गाथा इस प्रकार है

> संवत सोल अठवीसा वर्षे. गढ रिणशंभर अति ही जगीसइ।

साह चोखा कहण थी कीयज. सेवक जननि सिवसुख दीयज ॥३४९॥

सं० १६६७ में अ.गरा से श्री विजयसेनसूरिजी को मेजे गये विज्ञप्तिपत्र से प्रमाणित है कि उपर्युक्त संवत् में १२ दिन की पर्यूषणापर्व-सम्बन्धी अमारि दूसरे देशों की मौति रणशंभीर में भी पालन की गई थी।

श्रीयुत् मेरू दानजी साह्य हाकिम कोठारी के यहाँ १० सुन्दर विशाल चित्र अकबरनामा से सम्बन्धित लगे हुए हैं, जिनमें रणशंभीर से सम्बन्धित ४ चित्र हैं जो बड़े ही सुन्दर और महत्वपूर्ण हैं। इनका साईज २०×१० इंच है। इन चित्रों के नीचे निम्नोक्त परिचय लिखा हआ है

- १) अकवर की फौजें सन् १५६८ में रणशंभीर किले में राव सरजन को घेर रही हैं।
- २) रणशंभीर किले पर अकबर धावे के समय तोपों
 को वैलों द्वारा पहाड़ी पर ले जा रहा है।
- ३) सन् १५६८ में रणशंभीर किले पर अकवर राव सरजनहारा के विरुद्ध धावा कर रहे हैं।
- ४) सन् १५६५ में राय सरजनहारा की अधीनता स्वीकार करने के बाद अकबर रणशंभौर किले में प्रवेश कर रहा है।

इन चित्रों में रणशंभीर दुर्ग का जैसा तत्कालीन दश्य दिखाया गया है. दुर्ग की वर्तमान परिस्थिति से तुलना करने पर वड़ा ही परिताप होता है। जहाँ मीलों की दूरी में ऊपर और दुर्ग के नीचे हजारों घरों की वस्ती थी वहाँ आज जनशून्य प्रदेश ही दृष्टिगोचर होता है. जंगलां की अधिकसा से प्रतिदिन पचासों जँटों से लकड़ी के कोयले बनाकर सवाई माधोपुर लाये जाते हैं और विक्री किये जाते हैं तथा वाहर चालान किये जाते हैं। वहाँ जलाशयों को बाँधकर विद्युत उत्पन्न करने की

રૂષ]

जयपुर राज्य की स्कीम है. जिसके फ़लीमृत होने से खेती:बाड़ी तथा इतर उद्योग धन्धों में उन्नति हो सकती है।

उपर्युक्त रणशंभीर दुर्ग देखने की अभिलाषा कुछ दिन पूर्व कोटा में विराजित जैनाचार्य श्री जिनरस सुरिजी. श्रीमणिसागरसुरिजी महाराज के वन्दनार्थ जाकर आते हुए पूर्ण हुई। सवाई माधोपुर से ४ कोस ताँगे में जाने पर 'मिसरदरा' के पास हमें ताँगा छोड़ कर पैदल जान। पड़ा । पहाड़ी रास्ता बड़ा सुन्दर है। उपर्युक्त दरवाजे में प्रवेश करते ही बड़े-बड़े जलाशय आते हैं, फिर ऊँचे-नीचे पहाड़ी रास्ते को तै करने पर मार्ग के बाँगी तरफ प्राचीन मुगलकालीन मस्जिद आती है, जिस पर लोहे के पात पर पारसी अभिलेख उभरे हुए अक्षरों में उत्कीणित हैं। आगे जाने पर एक 'दरवाजा आता है। मसरदरे के मार्ग में भी कुछ कब्रिस्तान आदि बने हुए हैं। यहाँ के पत्थर चित्र-विचित्रित नाना रंग के हैं। हरे रंग के बड़े सुन्दर पाषाण दृष्टिगोचर हुए जो दुड़े चिकने हैं। कहा जाता है कि मुगसिलिया पाषाण (मंग के रहा का) यहीं है जिसे पुष्करावर्त मेघधारा भी जलाद्र नहीं कर सकती। यहाँ के पत्थरों की सवाई माधोपुर में खरल बनती है जो बड़ी सुदढ़ होती है। रणशंभौर दुर्ग पहाड़ी के अपर और नीचे दो भागों में बसा हुआ है । इस दरवाजे में प्रवेश करने के पश्चात् पहाड़ी के नीचे की बस्ती आती है। रास्ते के बायों ओर जोगी का महल और २-३ छत्तरियाँ व खण्डहर आते हैं । आगे जाने पर दुर्ग-द्वार के वाहर कुछ मकानों के सण्डहर, कुंआ, गरुड़जी की मूर्ति आदि दृष्टिगोचर होते हैं। किले के मकानात प्रतोशी और प्राचीर वड़े ही सुट्ड

बने हुए हैं। चार-चार दरवाजों को पार करने पर दुर्ग-प्रवेश होता है। प्रत्येक प्रतोली का द्वार लोहे के मोटे पत्तरों से जड़ा हुआ है, जिन पर ताम्र लेख खुदे हुए हैं। ताम्रपत्रों में प्रतोली के मध्य द्वार बनाने वाले शासक-क्लियार आदि एवं कारीगरों के नाम हैं, जिनमें क्लियारों के नाम प्रायः दिगम्बर जीन धर्मावलम्बी श्रावकों के हैं।*

किले में आजकल कुल ५-१० घरों की बस्ती है। कुछ महलानें, इतिरयें, मन्दिर, खण्डहरादि के अतिरिक्त अव बाजार इत्यादि कुछ मी नहीं रहे। वाजार का स्थान जहाँ बतलाया गया वहाँ सकड़ी ग़ली के उभय पक्ष में प्रवश्ने के ढेर के अतिरिक्त कुछ मी शेप नहीं है। एक अत्यन्त विशाल और खँची छतरी के पास से हं कर जाने से दाहिनी ओर दो मन्दिर और वायें तरफ महलातों में जाने का मार्ग है, जहाँ सिपाही पहरेदार खड़े रहते है और दर्शनीय कुछ भी नहीं है। रणर्थभीर में श्री गणेशजी का मन्दिर अत्यन्त प्रसिद्ध है। सारे राजस्थान में विवाहादि के अवसर पर जो विनायक का गीत प्रारम्भ में गाया जाता है—'रणतमंवर सुआयो विनायक' यह इसी रणर्थभीर से सम्बन्धित है। 'रणतमंवर गढ़' राजस्थानी में अपभ्रष्ट है और संस्कृत में उसे 'रणस्तंम्भपुर-दुर्ग' कहते हैं।

गणेशजी का मन्दिर विशाल सादा और अच्छि स्थिति में है। प्राचीन कहलाने पर भी शिल्पकोरणी का नामों निशान भी नहीं है। देखने में बिल्कुल नवीन प्रतीत होता है। गणेशजी की मूर्ति अवश्य प्राचीन है जो पहाड़ में बना हुआ केवल गणेशजी का मस्तक मात्र है। उसी के सन्मुख मन्दिर निर्माण कर दिया गया है। आगे जाने पर और गुफामें उत्तरने पर गुष्ठ गङ्गा. हम्मीर के

*इन लेखों में से एक लेख नोलखा दरवाजा का यहाँ दिया जाता है:

भांडागार तहलाने, वैठने की धतरी आदि चीजें आती हैं। किले में स्थान-स्थान पर तोपें पड़ो हुई हैं। गुप्त गंगा जिसे कहते हैं गुफा के अन्दर खुब नीचे उतरने पर एक गज रूम्बा चौड़ा खड़ा है, जिसका जल अज्ञात मार्ग से परिपूरित रहता है! जल खुव स्वादिष्ट और स्वच्छ है। गुफा में हिन्दु धर्म-मान्य देव मूर्तियाँ भी प्रतिष्ठित हैं। गणेशजी के मन्दिर के पास से एक दूसरा मार्ग जाता है। तीन दरवाजों से निकलने पर बाहर पहाड़ी के ऊपर एक महदेवजी का मन्दिर है जहाँ शिवलिंग के उत्पर निरन्तर पहाड़ी झरने का स्वच्छ जल टपकता रहता है। इसके सन्मुख एक पाषाण का मस्तक रखा हुआ है। कहा जाता है कि यह हम्मीर का मस्तक है। प्रवाद है कि हम्मीर जब सारी सेना को परास्त कर उनके झण्डों को छीन कर ला रहा था तब उसकी ५०० रानियाँ शत्रु के झण्डों को दूर से देखकर अपनी पराजय के भ्रम से दारू विशे स्थान में आगी लगाकर मस्म हो गयीं। इस घटना से विजय का हुए शोक रूप में परिणत हो गया और दुःखी हुमीर ने महादेवजी के सन्मुख जाकर तलवार से अपना मस्तक उड़ा दिया। तीन बार मस्तक वापिस जुड़ गया। चौथी वार फिर काटने पर शान्त हो गया। हमीर की मृत्यु ज्ञातकर शाही सेना ने दुर्ग को तहस-नहस कर अधिकृत कर लिया। कह जाता है कि हमीर के पास पारस पत्थर (मणि) था जिसके प्रताप से वह लोहे का सोना बना लेता और धन, धान्य, सेना से समृद्ध और शत्रुओं द्वारा अजेय रहता था।

दुर्ग पर इतस्ततः घूमते-फिरते हम लोग जैन मन्दिर में पहुँचे। मन्दिर खूब विशाल है। बाह्य भाग के चौक में कुछ कोठरियां बनी हुई हैं एवं दीवाल में एक खेताम्बर मृति भी खेत पाषाण की खड़ी हुई लगी है। उसी के पास एक परिकरका ऊपरी हिस्सा तोरण रखा हुआ था। मूल मन्दिर विशाल और पाषाण निभित्त शिखर-बद्ध है। गर्भगृह में तीन मृतियाँ खेताम्बर हैं, अवशिष्ट पाषाण व धातु की सभी दिगम्बर है। यह मन्दिर दिगम्बर जंनों के अधिकार में है। यद्यपि यहाँ जेनों की बस्ती नहीं हैं परन्तु सेरपुर, जो मिसरदरा से १ मील की दूरी पर है, से पुजारी आकर पूजा कर जाता है। मिन्दर अच्छी हालत में है। मिन्दर के वाह्यमाग में एक कोठरी में तज्ञघर-सा बना हुआ है, कूड़ा कर्कट निकाल कर देखने से पता लगे कि इसमें क्या है? इस मिन्दर के निमित्ता का कोई शिलालेख दिख्योचर नहीं होता अतः निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह मिन्दर किसने बनाया है। साधन एवं अवकाशामाव से प्रतिमाओं के समस्त लेख नहीं लिये जा सके। जो लिये गये, यहाँ प्रकाशित किये जाते हैं

१—श्री सुमतिनाथ जी

क. सं० १४९४ श्रीमाल इ.ती.य सा० वीसल मा० रमणा पुत्र सं० महणितहैन मा० मृतसिकि पुत्र तिहुणावालाः हिमा लोलादि कुटुम्ब युतेन स्टकारितप्रासादे श्री सुमितनाथ वित्रं का प्र० तपागच्छे श्री सोम सुन्दर सूरिभिः।

ख. श्री सुमति सा० महणसी***

प्रतिप्ठा कारित ।

२--श्री शीतलनाथजी

क. संवत् १६६७ वर्षे माघरित ६ गुरौ सञ्चपति भला तस्य गार्या भेलसिरि तत्पुत्र धर्मदासादौ गोत्र तस्य भारज्या धरमसिरी " तत्पुत्र सोमजी शिवजी प्रतिष्ठापितं श्री शीतलनाथ बिवं महोपाध्याय श्रीविवेकहर्षं गणीनामु-पदेशात् कारितं प्रतिष्ठित श्री तपागच्छाधिराज महारक श्री विजयसेन सूरिमिः आचार्य श्री विजयदेव सूरि प्रमृति साध्संसेवित चरण कमलेः पं० महान "गणिना लेखि । स. श्री आगरानगर वास्तव्य सञ्चयति श्री चण्डपालेन

३-- धालु की पञ्चतीर्थी पर

सं० १८०८ उपकेशगच्छे ककुहाचार्य संताने चिचटगोत्रे वेसटान्वये सा० श्रीसूरा भा० सलखणदे पु० समुद्रसीहेन पितृश्रेय से श्री आदिनाथ का० प्र० श्री कक्कसूरिमिः।

89

8—दिगम्बर जैन धातुप्रतिमा के नीचे चौकीपर चारों तरफ

संवत् १५३० वर्षे माघ सुदि ११ शुक्रे श्री गोपाचल दुर्गे महाराजा श्री की:निसिंघदेव काष्टासंघे माधुरान्वये पृष्कर-गणे भट्टारक श्री हेमकीतिं तत्यष्टे भट्टारक कमलकीति देवा तत्यष्टे भ० शुभचनद्रदेव तवाम्नाए अग्रोतकान्वये गर्गगोत्रे सं० दो १ भार्या लाति तत्युत्राः पञ्च समनाजी कृताजी देग्गमनिसरि कर्मणि नामने तत्युत्र पुः सं० नराजतद्यार्था घनसिरि तत्युत्रो द्वितीयण्ण (इत्यादि)

कतिपय मूर्तियाँ सं० १५४७ जीवराज पापरीवाल प्रतिष्ठापित एवं अन्य दिगम्बर लेखाँ वाली हैं जिनके लेख अवकाशामाव से नहीं लिये जा सके। धूप काफी चढ़ चुकी थी. गरमी की अधिकता के कारण हमलोग शीघता से निकल कर जिस मार्ग से गये, वापिस मसरदरा आ पहुँचे। यहाँ हमारा ताँगेवाला तैयार था और वह सेरपुर के मिन्दर का, जो सड़क से थोड़ी ही दूर पर है. मार्ग बतलाकर छाया में ठहर गया। सेरपुर का मिन्दर भी जंगल में ही है। 'खीमसी माग्योदय काव्य' (किवरत्न कुशल कृत) के अनुसार यह रणशंमीर का शाखापुर था जहाँ मन्त्रीश्वर खीमसी ने नन्दनवन के सहश सुन्दर बंगीचा बनवा कर उसमें स्वच्छ जल का कुँआ निर्माण कराया था। यहाँ के मिन्दर पर "दिगम्बर जैन अतिशयक्षेत्र सेरपुर" का पाटी या

लगा हुआ था। मिन्दर के दर्शनार्थ कित्यय यात्री आये हुए थे, जो बाहर बनी हुई कोठिएयों में ठहरे हुए थे। मिन्दरजी में बहुत-सी सुन्दर दिगम्बर जिन प्रतिमाएँ विराजमान हैं, पर आश्चर्य है कि प्रवेश करते ही सामने की ओर चौकी पर महादेवजी, गणेशजो, माताजो, सतीजी आदि सभी जैनेतर हिन्दू देव-देवियाँ विराजमान हैं। यह बात मेरी समझ में नहीं आई कि कहर दिगम्बर बन्धुओं ने इन्हें कैसे निमन्त्रण दिया? यदि ये बिना निमन्त्रण ही पुजारो आदि के दिये हुए मार्ग से आ गये ही तो इनकी सभा की विसर्जित कर अपने अपने मुकाम भेज देना चाहिए, अन्यथा कभी साम्प्रदायिक समस्या उपस्थित होने का अवसर आ सकता है।

हमारी रणशंभीर-यात्रा राह चलते घन्टे दो घन्टे की थी। अतः न तो सब दर्शनीय स्थान देखे गये और न साधनामाव से लेखों की ही नकल की जा सकी। दिगम्बर समाज का तीर्थ अतिशयक्षेत्र सेरपुर है अतः वहाँ जाने वाले इतिहास प्रेमी यात्रीगण जिनमन्दिरस्थ समस्त लेखों का संग्रह प्रकाशित करने के साथ-साथ किले के द्वारों पर लगे लेखों की जो खास दिगम्बर श्रादकों से सम्वन्धित हैं— अवश्य संग्रह करें एवं दिगम्बर जैन साहित्य में रणशं-भौर के जो विवरण प्राप्त हों उन्हें प्रकाश में लाने के लिए विदानों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

उदयपुर का सचित्र विज्ञिपित्र

प्राचीन भारतीय चित्रकला में जैन चित्रकला अपना एक स्वतंत्र स्थान रखती है। अतः भारतीय चित्रकला के अध्ययन के हेत् जैन चित्रकला का सम्यक् परिज्ञान होना [अत्यंत आवश्यक है! भारत में मुसलमानी काल के पूर्व के संधिकालीन चित्रों का प्रायः अभाव ही पाया जाता है, परंतु जैन चित्रकला हमारे समक्ष उस काल की ताड्यत्र, वस्त्र एवं काष्ठफलकों पर चित्रित अनुपम सामग्री प्रस्तुत करती है। खेद है कि जैन समाज की संकृचित मनोवृत्ति एवं उपेक्षावृत्ति के कारण इस चित्रकला को उचित न्याय नहीं मिल सका है। इसी से यद्यपि पाटण, खंमात और जैसलमेर के ज्ञानमंखारों से 'कल्पसूत्र', 'उत्तराध्ययन' 'कालकाचार्य कथा' आदि पर चित्रित अनेक चित्र पाट्य हैं और 'कालका चार्य कथा' एवं 'कल्पसूत्र' के चित्र अमरीका देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फंड एवं सारामाई नवाब द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं तथापि जैनेतर विदानों का उधर ध्यान नहीं गया है।

जैनों ने शिल्पकला की माँति चित्रकला में भी मुक्तहस्त होकर धन का सद्द्यय किया है। आज भी देवसापाड़ा-अहमदाबाद में स्थित जैन-ज्ञानमंडार के एक सचित्र कल्पसूत्र का मूल्य एक लाख रूपया आँका जाता है। इसी प्रकार विभिन्न ज्ञानमंडारों में प्राप्य जैन चित्र- कला के हजारों प्रतीक भारतीय चित्रकला के इतिवृत्त में अपना स्वणिम पृष्ठ अंकित करने को सर्वदा प्रस्तुत हैं। संप्रति 'उत्तराध्ययन' एवं 'ज्ञातासूत्र' की कुछ सचित्र प्रतियाँ प्राप्त हैं। पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी से भाषा-ग्रंथों—रास. चौपई आदिका प्रचुरता से प्रचार हो जाने से वै ग्रंथ भी सचित्र बने। भक्तामर काव्य कथा, कल्याणमंदिर कथा, ढोलामारू चौपाई, चंद राजा नो रास. प्रियमेलक (सिंहलसुत) रास आदि ग्रंथों की प्रतियाँ भी चित्रों से अलंकृत होकर जनता के सामने आई' और इस प्रकार चित्रकला को अधिकाधिक प्रश्रय मिलने लगा।

कथा साहित्य की ही माँति. वर्षक उससे भी अधिक. चित्रांकन की आवश्यकता भौगोलिक साहित्य में रहती है. क्योंकि उसकी सहायता से सुदूर और परोक्ष क्षेत्रों को भी हृद्यंगम किया जा सकता है। क्षेत्रसमास, संग्रहणी. लोकनाल इत्यादि के चित्र इस विषय के तथा कर्मग्रंथादि की सारणी आदि तत्वज्ञान के परिज्ञीलन के लिये अनन्य सहायक हैं। वस्त्रपटों के चित्र भी इसी प्रकार भावपूर्ण. ज्ञानवर्धक और कलापूर्ण रहे हैं। पंचतीर्थी पट, रात्रंजय तीर्थादि पट, वर्धमान विद्या पट, सूरिमंत्र पट, ढाईद्वीप और जं्द्वीप पट तथा चित्रकाव्य पटों के अतिरिक्त पूठे, पटड़ी एवं डावड़ी की सुंदर कलामिन्यक्ति भी अत्यंत आकर्षक है।

टिप्पणाकार लंबे चित्र और विशेषतः विज्ञप्तिपत्र अपना अलग वैशिष्ट्य रखते हैं। इनका अस्तित्व जैनों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता । बौद्ध-परंपरा में अवश्य इस प्रकार के कित्पय महत्त्वपूर्ण अंग विद्यमान हैं जो कथावस्तु को चित्रों द्वारा सरलता से व्यक्त कर देते हैं, परंतु विज्ञप्तिपत्रों की ऐतिहासिक परि-पाटी का उसमें सर्वथा अभाव है। यह परिपाटी श्वेतां-वर जैन संघ से संबंधित है और पचासों विज्ञप्तिपत्र आज भी ज्ञानमंद्यरों में सुरक्षित पाए जाते हैं। इन कला पूर्ण विज्ञाप्तिपत्रों में से कुछ का परिचय महाराजा गाय-

कवाड़ की राज्यामिषेक ग्रंथमाला के प्रथम पुष्प के रूप में प्रकाशित 'एशंट विद्यक्षिपत्राज' नामक ग्रंथ में कराया गया है। अन्य संग्रहालयों में और भी बहुत विद्यक्षिपत्र हैं जिनका परिचय प्राप्त होने से इस विश्य एवं कला का सांगोपांग इतिहास प्रकाश में आ सकता है।

जैन-समाज के साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका संज्ञक चतुर्विध संघ में आचार्य का स्थान सर्वोपार है। उनके आज्ञानुवर्ती नाना-स्थान - स्थित मुनिगण पर्यू रणा-सांवत्सरिक महापर्व की आराधना के अनंतर आचार्य की सेवामें एक विज्ञासपत्र मेजते थे. जिसमें स्थानीय धर्मकृत्यों के संवाद. तपश्चर्या, प्रमावना, सूत्र-व्याख्यान-श्रवण तथा क्षमापनादि विनेत माव (साधु एवं श्रावकों द्वारा) व्यक्त किए जाते थे। इस विज्ञप्तिपत्र द्वारा आचार्य को अपने नगर में पधारने के लिये आमंत्रित किया जाता था। मुनिगण द्वारा प्रेषित पत्र पाण्डित्यपूर्ण संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं में लिखे जाते थे और गद्य-पद्यमय एवं काव्यगुणों से पूर्ण होते थे तथा श्रावकसंघ द्वारा प्रेषित पत्र सचित्र होते थे और संस्कृतमिश्रित लोकमाण अथवा केवल लोकमाण में लिखे जाते थे।

इस प्रकार के विज्ञप्तिपत्रों की परंपरा बहुत प्राचीन ज्ञात होती है। पाटण मंडार से प्राप्त ताड़पत्र पर लिखित प्रति के प्राप्त मध्य पत्र का उल्लेख पुर'तत्त्वविद् श्री जिनविजय जी ने 'विज्ञप्तित्रिवेणी' के पृष्ठ ३२ पर किया है। अब तक प्राप्त विस्तृत विज्ञप्तिपत्रों में सं० १४३१ की मोन-एकादशी के दिन पाटण नगर से श्री जिनोदयसूरि द्वारा अयोध्या - स्थित श्री लोकहिताचार्य को प्रेषित पत्र सबसे प्राचीन है। इसके पश्चात् सं० १४६६ में श्री देव-संदरसूरि को प्रेपित विज्ञप्तिपत्र आता है जिसका अब केवल गुर्वावली खंड ही अवशिष्ट है, जो प्रकाशित हो चुका है। तीसरा महत्वपूर्ण विज्ञप्तित है 'विज्ञप्तित्रिवेणी' जो संवत् १४८४में सरतरगच्छोय उपाध्याय जयसागर गणि द्वारा श्री जिनमद्रसूरि के प्रति प्रेषित किया गया था। इसमें सिंध प्रांत के मलिक ग्रहणपुर से नगरकोट-काँगड़ा महातीर्थ की यात्रा का विद्यतापूर्ण एवं मनोमुग्धकारी वर्णन है। इस प्रकार पंद्रहवीं शती के तोन विशिष्ट विज्ञप्तिपत्र उपलब्ध हैं। ** सोलहवीं शती में इस धारा के प्रवाह को बल नहीं मिला, फलस्वरूप उस समय की कोई विस्तृत रचना नहीं पाई जाती।

सत्रहवीं शती के प्रारंभ की एक रचना (सं० १६-०४-१६१२) नाहटा-कला-भवन (बीकानेर) में अपूर्ण विद्यमान है । यह गद्य-पद्यात्मक चित्रकाव्यमय पत्र बीकानेर से श्री जिनमाणिक्यसूरि जी को जैसलमेर मेजा गया था।*** इसके पश्चात् तो गद्य-पद्यात्मक विञ्चित्रपत्रों की परंपरा चल पड़ी और दूत-काव्य, खंड काव्य, पादपूर्ति काव्य आदि विशिष्ट कृतियों का निर्माण होने लगा. जिनका प्रचार अठारहवीं शती तक रहा। *** उन्नीसवीं शती में संस्कृत प्राकृत का स्थान देशमापाओं ने ले लिया जिसके फलस्वरूप विञ्चिष्ठियत्र भी गद्य-पद्यमय एवं भिश्रित मापा में लिखे जाने लगे। सत्ररहवीं से उन्नीसवीं शती तक नगर-वर्णनात्मक गजल शैली को प्रोत्साहन देने में यह पद्धित विशेष सहायक हुई और कित्रपय गजलें तो इसी उद्देश्य से निर्मेत हुई।

* इसका ऐतिहासिक सार कोटा से प्रकाशित विकास' वर्ज १ सं० १ में लेखक दारा दिया जा चुका है।

88]

^{**} जोधपुर के राजकीय संग्रहालय में लगभग हजार श्लोकों का विञ्चित्त-संग्रह प्राप्त है, उसके प्रारम्भ और अंत के कई पत्र प्राप्त नहीं हैं।

^{*** &#}x27;राजस्थान भारती' वर्ष २ अंक १ में प्रकाशित ।

^{****} विज्ञप्तिपत्रों का एक विशिष्ट संग्रह मुनि जिनविजय जी द्वारा संपादित सिंघी जैन ग्रंथ माला में शीध्र प्रकाशित होने वाला है। इसके अतिरिक्त नाहटा कलामवन (बीकानैर) में चित्रकोष रूप विज्ञप्तिलेख. पाणिनीय द्वयाश्रय विज्ञ-प्रिलेख ग्रादि अनेकों विशिष्ट लेख विद्यमान हैं।

विज्ञप्तिपत्रों की दूसरी विशेषता थी उनका सचित्र निर्माण । इस शैली का विकास सन्नहर्वी शती से हुआ । ऐसे पत्रों में आगरा-नगरस्थ संघ द्वारा। तवागच्छाचार्य श्री विजयसेन सुरि को प्रेयित विज्ञप्तिपत्र का स्थान सर्वी-परि है। यह सचित्र विज्ञप्तिपत्र कलापूर्ण होने के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्व है। इसमें शाही चित्रकार श्री शालिवाहन नै वादशाह जहाँगीर द्वारा वारह सुवों के अमारि उद्भघोषणा का फरमान दिए जाने तथा राजा रामदास द्वारा उसके प्रस्तुत होने के माव सहित अपनी आँखों-देखा हस्य चित्रित किया है। चित्रों के नीचे लिखे परिचय से तत्कालीन मोगोलिक, राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति का पता चलता है। इसमें आगरा का शाही दरवार, साधुओं का आगमन, दुर्गद्वारस्थित जयमल पत्ता का चित्र आदि पर्याप्त आकर के सामग्री विद्यमान है। चित्रपट के नीचे श्रावक की ओर से वंदन . तपश्चर्या. धर्म-ध्यान आदि के संवाद तथा स० चंदू द्वारा निर्मापित नवीन जिन चैत्य की प्रतिष्ठा के हेतु पधारने के लिये सूरि जी से नम्र प्रार्थना आदि वृत्तांत अंकित हैं !

इसी शताब्दी में दूसरे भी इसी प्रकार के महत्त्वपूर्ण विज्ञप्तिपत्र अवस्य निर्मित हुए किंतु दुर्भाग्यवस वे सुरक्षित नहीं रहे। इसके परचात् अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में पचासों वहुमूल्य एवं कलापूर्ण विज्ञप्तिपत्र तैयार हुए थे. जिनमें कुछ तो नष्ट हो गए और कुछ ज्ञानमंद्धारों अथवा व्यक्तिगत संग्रहालयों में अज्ञात पढ़े हैं। बढ़ोदा से प्रका शित 'एंशंट विज्ञप्तिपत्राज्' में चौबीस विज्ञप्तिपत्रों का परिचय छपा है जिनमें लगभग आधे सचित्र होंगे। उनके अतिरिक्त एक दर्जन से उत्पर सचित्र विज्ञप्तिपत्र हमारी जानकारी में हैं जिनमें से सं० १८८७ के उदयपुर के सचित्र विज्ञप्तिपत्र का परिचय यहाँ दिया जा रहा है। इसके परचात् भी यह परंपरा कुछ वर्षों तक चलती रही. अपत्र

सं० १९१६ में खरतरगच्छाचार्य श्री जिनमुक्तिसूरि जी को दिए गए विज्ञप्तिपत्र के पश्चात् अन्य किसी विज्ञप्तिपत्र का पता नहीं लगा है।

प्रस्तुत उदयपुरीय विश्विष्ठिनंत्र ७० फुट लंबा है और १ फुट २ इंच चौड़ा। दोनों किनारों पर बेल-पितयों वनी हुई हैं। इसके चित्र तत्कालीन चित्रक्रला के महत्त्वपूर्ण निदर्शन हैं और उदयपुर नगर की उस समय की स्थिति, ऐतिहासिक स्थान, सामाजिक अवस्था, धार्मिक उत्ताह आदि चित्रित करते हैं। अन्य विश्विष्ठत्रों से इसमें विशेषता यह है कि चित्र के नीचे नामोल्लेख करके प्रत्येक स्थान का परिचय करा दिया गया है। इससे धर्मस्थान, राजकीय भवन, व्यक्तिगत गृहीं और दूकानों आदि सबकी जानकारी हो जाती हैं। चित्रों की समाप्ति के पश्चात् लिखी हुई वीनित (विनत्ती) मी महत्त्वपूर्ण है। इस विश्विष्ठ से निम्नलिखित बात हाता होती हैं—

- (१) इसकी मापा मैवाड़ी न हाकर मारवाड़ी है. जिसका कारण यह हो सकता है कि लेखक पं० ऋषभदास. पं० कुशलचंद मारवाड़ी प्रतीत होते हैं। इसमें मेवाड़ के मक्की-जो के खाद्य का निर्देश है।
- (२) सेंठ जो रावरमल जी बाफगा के वहाँ न होने तथा बच्छावत मेहता शेरसिंह के काम पर न होने से विज्ञप्ति पत्र मेजने में विज्ञंब हुआ। वैशाख सुदी २ को राणाजी की कृपा से मेहता जो कार्य पर संलग्न हुए।
- (३) यह चित्र-लेख लेकर श्रीहजूर (महाराणा जी) का हरकारा वीकानेर आया था !
- (४) इस विज्ञप्तियत्र पर मेहता शेरसिंह. नगरसेठ विणीदास. वाफगा जोरावरमल सुलतानचन्द चनणमल (कोटा के दीवान वहादुर सेठ केसरीसिंहके पूर्वज) इत्यादि तत्कालीन प्रतिष्ठित एवं राजमान्य श्रावकों के हस्ताक्षर हैं।

* सं० १५९५ का सचित्र बीकानेरीय विज्ञप्तिलेख वीकानेर के वड़े उपाश्रय के ज्ञानमंडार में है, जिसका परिचय राजस्थान भारती' वर्ष १ अंक ४ में प्रकाशित हो चुका है।

84

(५) चित्रों की दृष्टि से भी यह विद्यप्तिपत्र मूल्यवान् है। इसमें उदयपुर के तत्कालीन महाराणा का चित्र चार बार आया है—(१) पीछोला तालाव के नौका-विहार में, जिसमें वे खास मुसाहबों के साथ विराजमान हैं. (२) पाक-शाला में. (३) दरीखाने में, उमराव सहित. (४) हाथी पर होंदे में, सेना एवं अंग्रेजों के प्रतिनिधि काप साहव के साथ। दिल्ली दरवाजे के बाह्यवर्ती दादावाड़ी में सूरि महा-राज बहुत से श्रावकों से परिवृत दिखाए गये हैं। तत्कालीन स्थान और दश्य सुक्ष्म ब्यौरे के साथ दिखाए गए हैं।

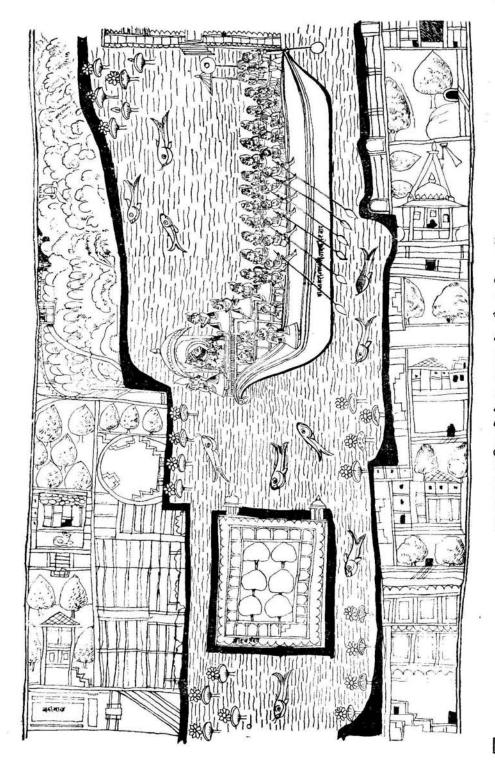
सर्वप्रथम वेल-पत्तियों से आवृत्त पुष्पों का गमला है जिसके उमय पक्ष में शुक अवस्थित हैं। फिर मंगलकलश. युगल चामरधारी युक्त शय्यासनोंके तीन चित्र तथा तीर्थंकर माता केचतुर्दश स्वप्न (गज. वृषम, सिंह, लक्ष्मी, पुष्प ाला, चंद्र, सूर्य, ध्वज, पूर्णकलश. सरोवर. क्षीरसमुद्र, देवविमान, रलराशि, निर्धूम अग्नि), परिचारिका-चतुष्क सहित शय्यासन-सुनुप्त तीर्थंकर-माता. जिन-मंदिर. एवं अप्रमांगलीक (दर्पण. मद्रासन, नंद्यावर्त, कलश. मत्स्ययुगल. शराव-संपुट. श्रीवत्स, स्वस्तिक) के जैन चित्रकला संवंधी चित्र १४। फुट की लम्बाई में विविध रंगों में चारों ओर वेल-पत्तियों के चित्र सहित अंकित हैं।

इसके पश्चात् उदयपुर नगर के ऐतिहासिक चित्र हैं। सर्वप्रथम पीछोला तालाव है जिसमें मीन, मकर, कच्छप, कमल एवं तैरती हुई नौकाएँ चित्रित है। इसके उभय पक्ष में जंगल-पहाड़ है। वाम पार्श्व में सीतादेरी तथा बैजनाथ के देवालय हैं। तालाव के मध्य में वाटिका के बीच जगमंदिर, जगनिवास, महाराणा का नौका-विहार (मीजलस की असवारी नाव की दरवार') तथा मीहन-मंदिर के चित्र हैं। दाहिनी और वृक्षों के बीच शिवालय, बड़ीपाल (घाट), मीमनिवास, नजरबाग और रूपघाट तथा बाँगों और तीन शिवालय, जिनमें एक का नाम भीमपदमेसर लिखा है और अमरकुण्ड आदि चित्रित हैं। यहाँ तक तालाव और उसके उभय पक्ष में स्थित स्थानों के चित्र ७ फुट १० इंच की लंबाई में फैले हैं। तदनंतर राजप्रासादों के चित्र प्रारंभ होते हैं। जिन स्थानों के नीचे चित्रकार ने नामोल्लेख किया है उनका ब्योरा इस प्रकार है—

महाराणा रसोईंघर में विराज रहे हैं (रसोड़ विरा-ज्या दरवार'), दाहिनी ओर दमामः वाणनाथ जी के मंदिर में दरवार प्रातःकालीन पूजन कर रहे हैं; सूर्य गोखड़ा (गवाक्ष), जनानी पोल, तोरण पोल, जनानी ड्योद़ी, मोती महल, चीनी गोखड़ा, अमर म(ह)ल। फिर लिखा है—'बड़े दरीखाना री वैठक विराज्या उमराव १६ पासवान नीज सुधी ।' इसमें महाराणा के समक्ष आट व्यक्ति वैठे हैं, चार व्यक्ति पृष्ठ भाग में खड़े हैं और आठ उमराव वैठे हुए हैं। इसके आगे दस व्यक्ति खड़े है तथा चार स्त्रियाँ वैठी हुई हैं। खुले चौक में घुड़सवार घोड़े फेर रहे हैं। हाथी और सेना भी उपस्थित है। मध्य में स्थित त्रिपोल्या के उमय पक्ष में ग्यारह द्वारपाल बैठे हैं। बाह्य भाग में दाहिनी ओर घंटाघर है। मध्यवर्ती चौक में घुड़सवार, प्यादे, पालकी,भारवाही मजदूर, काँवरधारी ग्वाले दिखाये गये हैं। फिर दख़ी पील का द्वार हैं जिसके मध्य में एक पहरेदार खड़ा है और सात देंठे हैं। बाएँ किनारे जंजीर में वंधा मदोन्भत्त हाथ खड़ा है जिसके सामने कोठार है और दाहिनी ओर धर्मखाते का कोठार है। यह दाहिनी ओर के स्थानों का परिचय हुआ, अब बाँई ओर का विवरण दिया जाता है।

धर्मखाते के कोठार के वाद कई मकानों के चित्र हैं। तदनंतर श्रीकृष्ण जी का शिखरवद्ध मंदिर है जिसमें 'वावा-यरों मंदिर' लिखा है। फिर कई मकान हैं जिनके गवाशों में महिलाएँ तथा बैठकों में पुरुष बैठ हैं। फिर बाफणों का एवं कसौटी का जैनमन्दिर है। इसके आगे प्रधान गलूंड्या शिवलाल जी अपने मकान में कई व्यक्तियों के साथ बैठे हैं। तत्पश्चात् बाजार आरम्म होता है जिसमें दूकान-दार अपनी-अपनी दूकानों में बैठे हैं। सर्बप्रथम मारवाड़ी चौक है जिसमें जोरावरमलजी की दूकान, पन्नालालजी

8**६**]



की दूकान, 'कोटवाली चौतरो वड़ो', वौहरां रो बाजार, मणि-यारी वाजार, पंसारी वाजार, हुँबड़ों का दिगम्बर जैन मंदिर खरतगरच्छीय वासुपूज्यजी का प्राचीन मंदिर, इकिंतिंग दास चोल्या की बैठक, वजाजी वाजार, 'मंदिर तलांरो माता रो', दिगंबरी मन्दिर, मोची वाजार, जोशी चतुर्मुज जी का घर, सोना रो वाजार, अग्रवालों का जैन मन्दिर, ताँबा री टक-साल (पइसा पड़े क्षे), 'कुंड वहाँ जी राजा रौ' हैं । फिर कई दुकानों के वाद दिक्षी दरवाजा आ गया है।

अव बड़ो पोल की वाईं ओर के स्थानों में से जिनका नामोल्लेख चित्र में हुआ है उनका निर्देश किया जाता है। कोठार. राजपूजनीक जगन्नाथराय मंदिर, नीरूघाट का रास्ता, फिर कई मकानों के वाद चंद्रप्रभू जी का जैन मंदिर, कुअँर पदे के नए महल, 'टंकसाल रूप्यांरी' (रुपयों की टकसाल), शीतलनाथ जी का मंदिर, तपों का उनाश्रय, जगरूपदास काँकरिया की दुकान, आणंदराम नाहटा, माण(क) चौक में नगरसेठ वेणीदासजी की दुकान, 'वहोत्तणी (?) चोतरो सायर', पसारी वजार, वजाजी वाजार, रंगरेजी वाजार, 'मसीत खेराखाँ री', मंदिर जैनमंदिर (नाम घिसा), मोची संखेरगच्छ रो'. वाजार, 'मंदिर जोसीजी रो', दुंदियों की उपाधशाला (स्थानक). खंडेलवाली का मंदिर, सायर, महेश्व रेयों का मंदिर, भैरूँ स्थान, खरतर मट्टारक शाखा का उपाश्रय (मंडी में), ऋपभदेवजी का मंदिर' खरतरगच्छ का (मंडी में), 'सहेल्या-दरीमां-पंचोल्यां से मंदिर',मेससज से मन्दिर(२)। इसके पास ज्वालामुखी तीप लगी हुई है। सामनेवाली संडक के किनारे भी तीप है। यहाँ फिर दिल्ली दरवाजा आ गया है।

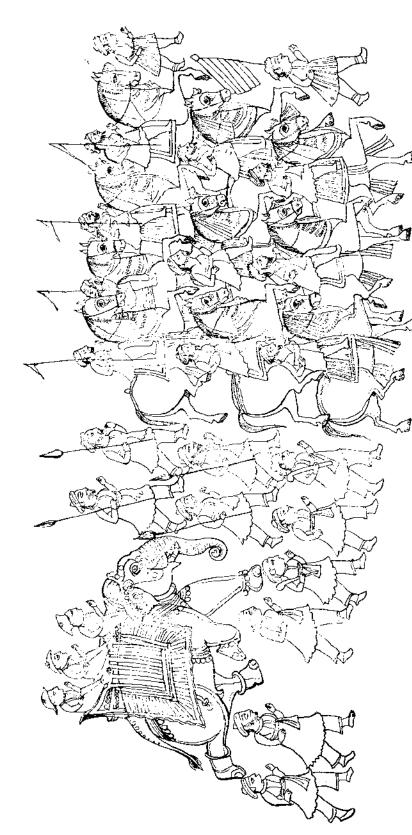
अव मध्यवर्ती भाग का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। हाथी, घोड़े, ऊँ,ट. घुड़सवार, पैदल, पालकी, रथ, पनिहारी, मजदूर, संन्यासी, पश्चिक इत्यादि सर्वत्र दिखाए गए हैं। साग बाजार में बैठी हुई मालिनें सब्जी ठेच रही हैं। महाराणा की लंबी सवारी दिखाई गई है जिसमें महाराणा हाथी के हौदे पर विराजमान हैं। आगे-पोक्टे फौज, मुसाहित, गजारूढ़ काप साहव आदि साथ चल रहे हैं। आगे कोटवाली का चोतरा और मंडही (चुंगी) का चौक दिखाया गया है: पुरुषों और स्त्रियों का समूह नगर में पधारने के लिये प्रस्तुत सूरि महाराज के स्वागतार्थ जा रहा है। वीच में फूटा दरवाजा भी आया है। वड़ो पोल से दिल्ली दरवाजे तक के चित्र ३२॥ फुट में वने हैं।

दरव जे के वाहरी भाग में उसकी दाहिनी और भट्टारक जी की वाड़ी, साजी फकीर का तिकया, 'वालकदास री जागां' (हनुमान मन्दिर), 'तालाई भिखारी नाथ री', 'छावणी फिरंगी री', 'साहव रो वंगलों' हैं। वाई 'ओर— उ(?) जागर जी को मंदिर, चेलां रो मंदिर, दादू पंथियों री जागा. मंदिर पंहड़ों रो, तथा दादावाड़ी नवी है। संलग्न दादावाड़ी के वाग में सूरि महाराज पधारे हैं और वहुत से श्रावक एवं श्राविकाएँ वैठी हुई दर्शन-पूजन वदंनादि कर रही हैं। वाग के वाहर रथ, पालकी आदि वाहन खड़े हुए हैं। दिक्षी दरवाजे के वाहर रास्ते में वहुत से यति, श्रावक, वाजित्र वजानेवाले, सिगारे हुये घोड़े, हाथी, राजकीय सेना. नागरिक इत्यदि सूरिजी के स्वागतार्थ उप-स्थित हैं। यहाँ ७ फुट तक विज्ञिधपत्र समाप्त हो जाते हैं!

इसके पश्चात् शाः फुट में विज्ञप्तिलेख और ३ फुट मे उदयपुर के प्रतिष्ठित श्रावक-समुदाय के वंदना-निर्देशाहमह हस्ताक्षर है । विस्तारभय से समग्र लेख उद्दश्व न कर यहाँ केवल आवश्यक अंश दिया जाता है।

....श्री मदिक्रमपुर नगरे सुस्थाने पूज्याराध्य.... श्री श्री जिनहर्ष सूरिस्वरान् श्री उदयपुर थी सदासेवग अ।झाकारो लिखतं समस्त श्री संघ की त्रिकाल वंदनः अवधारती जी। अत्र श्री केशिरयानाथ जी महाराज प्रसादे सुख शांति छै। श्री जी महाराज रा सदा सुख आणंद रो घड़ी सदा सर्वदा चाहीजै जी। आप मोटा हो वड़ा हो उदयपुर नः श्रीसंघ माथै सदा कृपा सुटिट रखावो जिण

8도]



महाराणा की सवारी में गजारूढ़ काप साहब आदि

सं विशेष रखावसी जी अत्र नो श्री संघ रात्रि दिन स्मरण कर रेयो है जयं चातक मोर रात दिन दर्श ने रटै जयं श्री संघ रट रैया छै। सो श्री संघ माथै कृता करके अब के चीमास उदयपुर नो करावसी आपरें तो वड़ा-वड़ा श्राबक वाट देख रेया छै श्री संघ माथै पूर्ण कृपा हुवै आछी पुण्य हुवै जिणी ठिकाणे श्री जी महाराज री पधारणी हुवै फेर मेवाड़ देश में मकी जब रो खांत है जिणी सामौ देखावसी नहीं दिन संक-ड़ाइ आया है सो जिगो सामो देखावसी नहीं धणा मव्य जीवां नै सम्यक्तव रो लाम होसी जिन शासन री घणी महिमा होसी श्री गणधर महाराज पधारसी जठे सर्व वात रो कल्याण होसी फर इतरा दिन री ढील हुई सो सेठ जी जोरावरमल जी अठे नहीं ने वच्छावत महेता श्री शेरसिंह जी रै काम नहीं हतो सो दादा साहव री कृपा ने श्री जी हजूर री कृपा सुट्रव्टि सं करके श्री हजूर सं खुसी होय के वैसाल सूदि २ रै दिन काम सूंघ्यों जठा पछे महेतै जी राजी ख़सी होय के कहाँ। श्रो जी महाराज पधारें तो घणो आछो. जिण सुं ढील हुईं सो तकसीरी माफ करा-वसी आप कृपा करकें वेगा पधारसी ढील करावसी नहीं मोटो लामालामरो कारण घगां जीवां ने सम्यक्त्व रो उदें होसी थोड़े लिख्यों घणों कर मानसी श्री हजूर रो हरकारा ने चित्रलेख ले करकें मेज्यों हैं सो वेगपधारसी श्री जी महाराज रौ. दरसन हुसी सो दिन सोनें रूपें रो जगसी श्री संघ लायक सेवा चाकरी हमेशा लिखावसी अत्र श्री जी महाराज रै हकम री वात हो सर्व साधुनंडली सपरिवार सुं त्रिकाल वंदना अवधा-रसी जी सं० १८८७ रा जेठ वंद १३ अक्खर ओहो अधिकुं लिखाणों हुवें सो तकसीरी माफ करावसी आप मोटा हों।।

लिखतं सदा सैवक आज्ञाकारी हुकमी पं० ऋपमदास । पं० कुशलचन्द री त्रिकाल वंदना १०५ वार नित्यप्रत्ये द्वादशावर्त वंदना सदैव अवधारसी श्री संघ री बीनती प्रमाण करके वेगा पधारसी ढील करावसी नहीं --

ऋप जंकार की वंदना १०५ अवधारसी जी आप वेगा पधारसी ढील करसी नहीं।

इसके पश्चात् निम्नलिखित प्रकार से श्रावकों के हस्ताक्षर हैं—
म्हेता सेरसिंह की वंदना अवधारसी कृपा है उयुं इ रखासी।
सा० वेणीदास बापणा की वंदना दिनप्रत १०५ अवधारसी जी वेगा पधारसी दर्शन वेगा देसी।
सा० रूपचंद चमना वेलावत री वंदना मालूम हुवै आप वेगा पधारसी दर्शन वेगा देसी।
लिखनु जोरावरमल सुलतानचन्द चनणमल वाफगा का वंदना वंचीजों १०५ करने वंदना अवधारीजो धर्मस्नेह
राखो छो जिण सुं ज्यादा रखावजो आपरा गुण तो अनेक धै इण मध्ये कठै सुं लिखीया जावै आप
वेगा प्रधारसी।

लि॰ पन्नालाल श्रीचंद सुखलाल फलोधियै री वंदना***

लिं० जगरूपदास तिलोकचन्द कांकरियै री वंदना १०८ दिन प्रते अवधारसी ।

लि**ं आणंदराम मगनीराम नाहटा री वंद**ना 🕶

लि॰ हेमराज मआचन्दाणी भणसाली की वंदना १०८ वार अवधारसी दर्शन वेगा दीजो.···

लि० जेठमल ताराचन्द कोठारी की वंदना १०५ अवबारसी जी ····

लिं० गुलाबचन्द जोरावरमल दूगड़ री वंदना अवधारसी जी "

लि**ः** रामदान मेघराज गोलछ[ै] री वंदना …

लि० मु० हिंदुमल की वंदना अवधारसी "

साह जेठमल वरिया ऋषभदास वरिया की वंदना ""

त्रo]

लिखतु टीकमदास महसींघ सेरसींघ चत्रमुज चोपड़ा की वंदन,*** सा० एकलिंगदास श्रीमाल री तरफ री वंदनः " संग्रदी सुखनरचा (?) नंदराम जोरावर समस्त पंचागमल चाहका (?) की १०८ वार वंदना दंचावसी.... सा० चत्रभुज वच्छराज हींगड री त्रिकाल वंदना १०८ बाचसी। मुहणोत दिलीचन्द घासीराम मैरू दास की वंदन। १०८ वार घण माना करने अवधारसी वेगा प्रधारसी । सोहनलाल जी ताराचन्द खागा री वंदना वारवार वंचीजी ! साह ॐकारलाल की वंदन।'" साह खंगरसी काटखें से त्रिकालवंदन."" साह जयचन्द वीरचन्द छाजेंड् री १०फ वार वंदना''' सा० ईसरदास भगजी कवड (कावडिया) री वंदना... सा० टेकचन्द गंगवाल री वंदना बांचसी। सा० गुलाव जी मं० अमरदास जी री वंदना बांचसी। चितोङ्। वेणीचन्द मयाचन्द अमरचन्द सिवदास री १०५ वंदना.... वणागीया सरावगी दयाचन्द दौलतराम री वंदना १०८ वार वेगा पदारसी । सा० रतना रूपचन्द सवलदास मुगौत री त्रिकाल वंदना**** सा० दौलतराम सरीपार चितौड़ा री १०५ वार वंदना"" लि॰ दुलीचन्द जोतराज पनाचन्द मालु री त्रिकाल वंदना'''' सा० ऊद जी ताराचन्द नैमचन्द पोरवाड री वंदना''' सा० खेमचन्द्र खंडेलवाल सोनी री वंदनाः... लिखत मूलचन्द वीराणी री वंदना**** मुखपृष्ठ पर निम्नलिखित लेख है—

सकल महारक शिरोमणीय चौरासी गण गच्छनायक जंगम युगप्रधान भट्टारक पुरंदर महारक प्रभु श्री १०८ श्री (२१ वार) श्री १०८ श्री जिनहर्षसूरि जी सूरीस्वरान् चरणकमलान् चित्रलेख बीकानेर में राँगड़ी में खरतर भट्टारक उपासरें पहोंचें ॥ श्रीरस्तु ॥

[y q

धातुमय जैन प्रतिमाएँ

जेनागम, इतिहास और कथा साहित्य के परिशीलन से स्पष्ट फलित होता है कि आहम-कल्याण के हैतुभूत प्रवल निमित्त कारण जिन-प्रतिमादि का अनादिकाल से होता आया है। देवलोक एवं नन्दीश्वर द्वीप आदि के शास्वत चेत्य इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । जिनेश्वरों में ऋग्भानन, चन्द्रानन, वारिपेग और वर्द्धमान चार नाम शास्वत हैं जो हर चौबीसी में एकाधिक अमिहित होते हैं। भरतक्षेत्र में कालचक्र के आरों के परिवर्तन से कृत्रिम (अञ्चाश्वत) जिनालय-जिनविम्व सीमित काल तक ही टिक सकते हैं, पर देवलोक व इतर क्षेत्रों में असंख्य वर्ष प्राचीन जिन-विम्बों की अवस्थिति सर्वविदित है । वाख्मय में वर्णित परम्परागत प्रवादानुसार वर्तमान में भी चतुर्थकाल की प्रतिमाएँ अनेक स्थानों में संप्राप्त हैं। जिन-प्रतिमाएँ पावाणमयः मृष्मयः, स्वर्ग-रजत-पित्तलादि अष्ट धातुमयः काय्तमय और रतनमय आज भी पायी जाती हैं। राजा-महाराजाओं* और सम्पन्न श्रावकों के घरों में ही नहीं प्रायः हर श्रावक के घरों में गृह-चंत्यालय होते थे और उनमें अधिकांश प्रतिमाएँ धातुनय एवं रतनमय ही रहती थीं। सार्वजनिक जिनालयों के द्वार खुले रहते हैं। उनमें पाराण-म्य प्रतिभाओं का आधिक्य था। आभूषण, मुकुट, कुण्डलादि वस्तुएँ विशेष पवाँ में धारण कराये जाते हैं और भण्डार की चाबियाँ कुंचिक, गोष्टिक आदि श्रावकों के घरों में रहती

थीं । गृह चैत्यालयों में सुरक्षा का प्रवन्ध अिक था. त्तोने-चाँदी आदि धातुमय विम्व वहीं अधिकतर पूजे जाते थे। काल के प्रभाव से अधिकांश गृह-चै.त्यालयों की प्रतिमाएँ सार्वजनिक मन्दिरों में आ गईं। और थोड़े से घर देहरासर रह गये । राजस्थान के घरों में 'मन्दिरी' संज्ञक कक्ष जो आंगन के कोने में शाल के पास में वनता था, वह उसी प्रथा का स्मारक है। आज भी कुछ लोग उसमें चित्र. गड़ाजी एवं कु उदेवियों की स्थापना रखते हैं परन्तु वह उपासना-गृह की उपयोगो पद्धति अव प्रायः लुप्त हो गई है।

जिन-प्रतिमाएँ जो लेप्यमय, पापाणमय, रत्नमय वनती थीं उनमें विविध प्रकार के प्रस्तर उपयोग में िये जाते थे। जुर्ग जिस जाति के पत्थरों की खानें निकट थीं उन्हीं पत्थरों की ज़िलिपयों ने सुकुमार हाथों द्वारा छेनी से घटित कर हृदय की भाव-उमियों की अभिव्यक्ति करके अवनी साधना व्यक्त—साकार की। किसी-किसी शिल्वी ने अपने जीवन में केवल इनी-गिनी प्रतिमाएँ ही निर्माण की परन्तु उनमें अपने हृदयगत भाव-धन को इतना उँड़ेल दिया है कि दर्शक मुग्ध होकर बाह्य भाव विस्मृत कर अन्तर्जेक में विचरण करने लगता है । कई स्थानीं की प्रतिमाओं में इस प्रकार का आकर्षण और सातिशयता हम प्रत्यक्ष देख पाते हैं । वस्तुतः पाषाण खण्ड के अन्दर प्रतिमा तो छिपी पड़ी है, शिल्पी उसके बाहरी स्तर को हटा कर सही रूप का प्रगटीकरण करता है। जैसे हृदयगत भावों को ग्रन्थकार शब्द देह में ढालकर, चित्रकार अपनी मनोगत कल्पना को चित्ररूप में साकार करने का उपक्रम करता है. वही वाल प्रतिमा शिलपी की शिलप साधना में है। यही वस्त हम पाते हैं अनेक प्राचीन प्रतीकों में, परन्तु आज के यंत्र-युग की भाँति मध्यकाल में भी जहाँ कलाकार का हृदय और मस्तिष्क भावों की गहराई में न उत्तर कर केवल हाथ ही काम करने लगे, वहाँ कारखानों के उत्पादन की माँति वाह्य

नगरकोट-कांगड़ा के राजमहलों में गृह-चैत्यालय शा जिसमें स्थित रतन-प्रतिमाओं के दर्शन करने का उल्लेख जयसागरोपाध्याय ने 'विज्ञपित्रिवेणी' में किया है। मैसूर नरेश के यहाँ भी गृह-चैत्यालय था।

ધ્રર 🕽

रूप वाली प्रतिमाओं की फसल उतरने लगीं और वह सजीवता और माव वैमव धारा जो गुप्तकाल में प्रवहमान हो अपने उन्न ते के शिखर पर आरूढ़ हुयी थी, क्रमशः हास की ओर गतिशील हो गई।

मथुरा की प्राचीन कला में हम जहाँ अनेक विधाएँ प्रतिमाओं को, आयागपट्टों की, परिकरों की व प्रतिक शिल्प आदि की पाते हैं हमारा हृदय-मयूर उन्हें देखकर नःचने लगता है। गुप्तकाल में आकर उनमें और उन्मेंब जुड़े। शालीनता, सुकु नारता, सुघड़ता, प्रमाणोपेत लचक व माव-मंगिना और वेमवशाली साज-सज्जा, प्रकृति प्रेरित दश्या-वली जो इस काल में पानाण-खण्डों में उत्तरी सदा के लिए अपना वैशिष्ट्य जन-मानस के हृदय पर, इतिहास के पृथ्डों पर मुद्राङ्कित कर गई।

कला-विकास की प्रवहमान साधना ने वास्तुविद्या— तक्षणकला की प्राह्मलता में निखार ला दिया। सप्प्र देश में वह कला अपने उन्नत शिखर पर आरूढ़ हुई पर प्रांतीय विशेयताओं ने. रूढ़ियों ने उस सुकुमारता में हास लाकर क्रमशः वने शास्त्र-नियमों के अनुकरण करते हुए भी नवीन शेली प्रविद्य कर रही। पात्राण-प्रतिमाओं, परिकरादिविधाओं में जो परिवर्तन, विकास हुआ वह धातु-प्रतिमादि में भी आना स्वाभाविक था। अलग-अलग प्रान्तों से प्राप्त प्रतिमाओं में इतना अधिक वैविध्य आया और निर्देशकों की सूचनानुसार, रुचि अनुसार प्रकारों का प्राचुर्य जो दृष्टि-गोचर होता है, आश्चर्यकारी है!

धातु-प्रतिनाओं में चौबीसी ही हो तो उनके क्रम में अनेक विधाएँ आईं। केन्द्रीय प्रतिमा के अतिरिक्त अन्य प्रतिमाएँ कहीं द्वितीय पंक्ति में, कहीं तोरण पट्ट के ऊपरी माग में. कहीं कक्ष में, कहीं सीधी सरल पंक्ति में, कहीं गोला-कार में निमित्त हुईं। पंचतीधीं, त्रितीधीं, इकतीधीं, सपिर-कर आदि प्रतिमाओं में कितने ही प्रकार के प्रतिहायों के प्रकार भेद, गगनस्थित गन्धवीं, किन्नरियों, पार्श्वस्थित इन्द्रादि, चामरधारी पुरुव, स्त्रियों में शासनदेवियों और यक्षों के विभिन्न प्रवेश ने. नवप्रह-अप्टग्रह के पूर्ण विक-सित और संक्षिप्त रूप और स्थान परिवर्तन में प्रतिमा के पद्मासन. सिंहासन, लांछन. देवी-देवताओं के अलंकार-आयुध, आसन-मुद्रा आदि के परिवर्तन और स्तम्मों. तोरण, पाये. आधार, प्रमामण्डल, सम्पूर्ण प्रतिमा के आकार-प्रकार और अंग-विन्यास में जो समय-समय पर परिवर्तन अत्ये और देश में सर्वत्र वह शिल्प अपनी-अपनी क्षेत्र-मर्यादा के अनुतार पल्लवित-पुष्पित हुआ और उसमें असंश्य उन्मेव जुड़ते गये।

लेप्यमय-बालुकामय प्रति राओं के निर्माण का हम अनेक कथानकों में उल्लेख पाते हैं। रामायण काल में वनी वालुका की प्रतिमा भी सप्रमाव होकर चिरस्थायी हो गईं तथा ओसियाँ आदि की प्रतिमा के वालुकामय होने की प्रतिद्धि है। इन्हीं विधाओं को हम धातु के माध्यम से साकार हुआ पाते हैं पर धातुमय वस्तुएँ भी अनेक वार भट्टी में गलकर नूतन पर्याय में परिगत हो गई। इतिहास के पृष्ठों में जितनी सोना, चाँदी, पीतल आदि की प्रतिमाएँ निमित होने का हवाला पाते हैं, वे अब कहाँ उपलब्ध हैं। उन्हें अवश्य ही गला कर जिकाने लगा दिया गया, इसमें दो मत नहीं है।

पापाण-प्रतिमाओं को यवनों ने तोड़ा और उनके टुकड़े गल नहीं सकने के कारण मस्जिदों-मकानों में चिन दिये गए, चूर-चूर कण-कण हो गए, सड़कें विद्या दी गई फिर भी जो खण्ड वचे अ.ज भी खुदाई में या खण्ड-हरों में प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं । मालदा (वंगाल) की आदीना मस्जिद जो कभी आदिनाध भगवान का वावन जिनालय था—की दिवालों में अखण्ड जिन-प्रतिमाओं को उक्टा चिन कर कुरान की आयातें लिख दो गई उनके प्राचीन मस्जिदों में लगे उमादान इसके साक्ष्य हैं।

मशुरा तीर्थं करूप से विदित होता है कि वहाँ का वौद्र स्तूप कुबेरादेवी ने मेरु पर्वत की स्थापनास्वरूप स्वर्ण और मणिरतनों से निर्माण किया। कालान्तर में श्री पाइवनाथ

โมูร

स्वामी के समय भी जब राजा की नियत विगड़ गईं तो भंचम काल के भावी दश्य को लक्ष कर देवी ने उसे प्रस्तरमय कर दिया । यहाँ भी पूर्वकाल के धातु शिल्प की वात स्पष्ट है।

अभयकुमार ने मगध के परम्परागत मित्र आर्द्र क देश के युवराज आर्द्र ककुमार को प्रतिबोध देने के लिये जिस प्रतिमा को मेजा था. वह भी अवश्य स्वर्णमय और रज्ञ-जटित थी उसे गले, मस्तकादि पर धारण करने की चेष्टा व उहापोह में ही आर्द्र ककुमार को जातिस्मरण होकर बोध प्राप्त हुआ था।

धातु-प्रतिमाओं के सहस्रों की संख्या में प्रतिष्ठित होने के उल्लेख प्राचीन गुर्वावलियों एवं प्रवन्ध ग्रन्थादि में पाये जाते हैं। मुसलमानी काल में वहुत-सी प्रतिमाएँ यवनों द्वारा नष्ट कर दी गईं। चिन्तामणि जी के मन्दिर (बीकानेर) की आदिनाथ चौबीसी का परिकर कामरां ने नष्ट कर दिया. जिसका उल्लेख उक्त प्रतिमा के परिकर पर पाया जाता है। यवनों के भय से कुछ प्रतिमाएँ मिही में गाड़ दी गईं। आज भी स्थान-स्थान पर खुदाई में प्राचीन प्रतिमाएँ प्राप्त होती है। अमरसर के धोरे में प्राप्त प्रतिमाएँ बीकानेर के म्यूजियम में प्रदर्शित हैं। अकवर का अधिकारी तुरसमस्त्राम सहस्राधिक प्रतिमाएँ सं १६३३ में सिरोही की लूट में लाया था जिन्हें वह गला कर सोना निकालना चाहता था। सौभाग्यवश अकबर ने गलाना मना कर उसे अपने खजाने फतेहपुर सीकरी में रख दी जिन्हें सं० १६३९ में मंत्रीश्वर कर्मचन्द्र बच्छावत राजा रायसिंह के सहयोग से प्राप्त कर बीकानेर ले आये जी आज भी चिन्तामणिजी के मन्दिर में विद्यमान हैं।

धातु-प्रतिमाएँ न केवल गुजरात, राजस्थान में ही अपितु सारे भारत में संप्राप्त हैं। क्वेताम्बर, दिगम्बर उभय परम्पराओं में धातु-प्रतिमाएँ निमित्त होती थीं। दक्षिणभारत में तो आज भी पर्याप्त परिमाण में जैन-जैनेतर धातु प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं। कहा जाता है कि बीकानेर महाराजा

अनुपसिंह भी बहुत-सी धातु-प्रतिमाएँ प्राप्त करके बीकानेर लायें थे जो बीकानेर के पुराने किले के बड़े कारखाने में स्थित तैंतीस करोड़ देवताओं के मन्दिर में देखी गई थीं। हमारे संग्रह में भी ऐसी विविध प्रतिमाएँ विद्यमान हैं । बंगाल में मृण्मय मृतिकला तो दिनों-दिन विकसित होती जा रही है किन्तु धात्मय प्राचीन जैन-जैनेतर प्रतिमाएँ भी पायो जाती हैं। जेन-प्रतिमाएँ सहस्राव्दि पूर्व की अनेक सम्प्राप्त है। नेपाल और तिब्बत की कलापूर्ण बौद्ध प्रति-माएँ तो प्रचुर परिमाण में पायी जाती हैं। प्राचीन काल से हो तीर्थयात्री संघों के साथ जो चैत्यालय-रथ रहते थे उनमें सुविधा की दृष्टि से अधिक धातु-प्रतिमाएँ ही ले जायी जाती थीं। आज तो विदेशों में सैकड़ों जैन प्रतिमाएँ सर-कारी संग्रहालय में चली गई हैं पर प्राचीन काल में भी गई हुई प्रतिमाएँ संप्राप्त हैं। आस्ट्रिया के हंगरी प्रान्त में एक खेत में जिन प्रतिमा व नवपद यंत्र निकले थे । दशवीं शती की एक जिन प्रतिमा केमला (बुल्गेरिया) के राजग्राद म्यूजियम में सुरक्षित है, जो कभी किसी भारतीय समुद्र यात्री द्वारा वहाँ ले जायी गई प्रतीत होती है। यह प्रतिमा सिहासन पर अकेली वैठी है इसमें सिहासन के स्तर व बीच में एक व नीचे वाले सिंहासन पर तीन आकृतियाँ हैं, नवप्रह नहीं । चीन के किसी बौद्धायतन में जिन-प्रतिमा पूजी जाने का उल्लेख मोतीशाह सेठ के समय का प्राप्त है ! सत्रहवीं शत बदी के वर्द्धमान पदमसिंह चरित्र में उनके चीन से व्यापार का विशद्ध वर्णन मिलता है । धर्मप्राण साहसी जैन व्यापारी अपने आराध्य देव की प्रतिमाएँ उपासना के हेतु साथ ले जाया करते थे।

प्राचीनकाल से धातु प्रतिमाओं के निर्माण होने की प्रथा सार्वात्रिक थी। न केवज भारत में ही बल्कि विदेशों में भी प्रतिमा निर्माण में मिश्रिल धातुओं से प्रतिमाएँ निर्मित होती थीं। ईसा से पूर्व चतुर्थ शताब्दी में बुटस की कांस्यप्रतिमा का मस्तक रोम में प्राप्त हुआ। था। भारत में तो लाखों वर्ष पूर्व भी मिल्लनाथ चित्र में पूर्वजन्म के मित्रों के

प्रतिबोधार्थं उनकी तदाकार स्वर्णमूत्ति बनवाये जाने का बृत्तान्त पाया जाता है ।

संखिति -उदयिति में हाथी गुम्फा के सुप्रसिद्ध शिलालेख में विणित कलिंगजिन आदिनाथ भगवान की जिस प्रतिमा को राजा नंद ले गया था. महामेघवाहन चक्रवर्ती सम्राट खारवेल मगध देश को जीत कर उस प्रतिमा को पुनः कलिंग में लाया । वह प्रतिमा अति प्राचीन और स्वर्णमय थी. ऐसा कई विद्वानों का मत है।

वम्बई के प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम में म० पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़ी हुई कांस्य-प्रतिमा है जिसका दाहिना हाथ खण्डित है। प्रभु के दोनों पैरों के वीच पृष्ठ भाग में रहा साँप मस्तक पर फण किये अविस्थित है। इस प्रतिमा का निर्माण काल ईसा के एक शताब्दी पूर्व होने का अनुमान किया जाता है। इसका प्राप्तिस्थान अज्ञात है। विद्वानों ने इसकी हड़प्पा और मीर्यकाल की कला से तुलना की है। यह प्रतिमा मोम साँचा विधि से दली हुई हल्की प्रतिमा है। जैन साहित्य में प्रतिमा निर्माण के लिये बिंब मराना शब्द प्रचलित है जो धातु रस को साँचे में ढालने-भरने की प्रक्रिया से संबंधित हैं।

पटना म्यूजियम में चौसा से प्राप्त कितपय कांस्य निमित्त जिन-प्रतिमाएँ एवं एक अशोक वृक्ष और धर्म-चक्र है। ये गुप्त और गुप्तोत्तर काल की मगध मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। दो चन्द्रप्रम प्रतिमाएँ सिंहा-सन पर स्थित हैं जिनके सिंहासन के उत्पर प्रभु के पृष्ठ भाग में अलंकृत स्तम्म व अर्द्ध गोलाकार प्रमामण्डल है। स्तम्मों पर मकरमुख है जिनकी मुड़ी हुई जिह्ता पूँछ की तरह वृत्ताकार हो गयी है। इस प्रमामण्डल पर चन्द्रलांधन बना हुआ है। प्रतिमा के उत्परी माग में लांधन इन्हीं प्रतिमाओं में देखा गया है। तीसरी प्रतिमा मगवान ऋषमदेव की है जिसके स्कन्धों पर केश-राशि स्पष्ट है। प्रमु के नीचे पहबासन या सिंहासन न होकर केवल दो पाये सामने

परिलक्षित हैं। चौथी प्रतिमा पार्खिनाथ मगवान की फणा मंडित है। जिसके नीचे दिस्तरीय सिंहासन है। देह की ऊँचाई और मुखमंडल की सौम्यता देखते म० ऋषमदेव और पार्श्वनाथ प्रतिमाएँ चन्द्रप्रम प्रतिमाओं से प्राचीन प्रतीत होती है। यहाँ एक और ऋषमदेव मगवान की प्रतिमा है जो प्रथम के सहश ही है। इन प्रतिमाओं में श्रीवत्स जिन्ह बने हुये हैं। मगवान ऋषम देव की एक खड़ासन प्रतिमा है जिसके स्कन्ध प्रदेशों पर केश-राशि फंली हुई है। मस्तक के पृष्ठ माग में वृक्ष जैसा बना हुआ प्रतीत होता है।

नालन्दा के राष्ट्रीय संग्रहालय में एक अन्विका की कांस्य-मूर्ति उपलब्ध हुई हैं. जो नीवीं-दसवीं शती की सुन्दर कृति हैं। देवी का दाहिना गोड़ा नीचे पादपीठ पर रखा हुआ है और बांयें गोड़े पर बालक बैठा हुआ है। सिंह पर विराजमान देवी के पृष्ठ माग में चतु- क्क्षेण पहिका लगी है। जिसके खपर उभय पक्ष में मकरमुख निकले हुए हैं। देवी के गले में हार-कुण्डल और एक शृंखला यज्ञोपवीत की मौति दाहिने गोड़े पर आयी हुई है। मुखकमल के पृष्ठ भाग में प्रभामण्डल सुशोमित है. जो लंबगोल है।

धनबाद जिले के अलुआरा में २९ कांस्य-मूर्तियाँ उप-लब्ध हुई हैं जो पटना संग्रहालय में हैं। इनमें अधिकांश खड़ासन प्रतिपाओं की हथेलियां और अंगुलियाँ देह का स्पर्श करती है। ललाट पर उर्गा का अंकन हैं और पाद-पीठों पर विभिन्न पष्टिकाओं में अजंकरण के साथ-साथ लांछन वने हुए हैं। जिससे ऋष्यदेव, चन्द्रप्रम, अजित-नाथ, शांतिनाथ, कुंथुनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महा-वीर और अम्बिका मूर्तियाँ सहज में पहिचानी जाती हैं। निर्माण शैली के आधार पर ये ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ की विदित होती हैं।

मानमूम से प्राप्त एक आदिनाथ भगवान की कांस्य-मूर्ति कलकत्ता के आशुतीत्र म्यूजियम में संरक्षित हैं, जो

नौवीं-दर्शवीं शताब्दी की हैं। कन्धे पर केशावली और मस्तक पर जटा-किरोट है. चौकी पर बड़ा वृषम है और कमला-सन पर आजानुबाह प्रमु की प्रतिमा है।

वंगाल के चौधीस परगना में नलगोड़ा एक स्थान है जहाँ तीर्थंकर नेमिनाथ स्वामी की अधिष्ठातृ यक्षी अम्विका की सुन्दर कांस्य-प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह प्रतिमा धनुपाकार फैले हुए वृक्ष के निम्न भाग में कमलासन पर अवस्थित है जो एक सुन्दर जालीदार पादपीठ पर है जिससे आम्र वृक्ष का तना वाम पार्ख से निकला है। इसके पास भगवती अम्बिका का वाहन सिंह वैठा हुआ है। देवी के वार्य गोद में बालक है जिसका दाहिना हाथ देवी के स्वन पर है, दाहिनो और दूसरा बालक निरावरण दशा में पादपीठ पर खड़ा है। देवी के हाथों में चूड़ियाँ, पैरों में नुपूर और गले में हार व कानों में कर्णफूल हैं। गोड़े से थोड़े नीचे साड़ी के गोल सल स्पष्ट परिलक्षित हैं। बीण किटप्रदेश और कृशोदर पर साड़ी लपेटी हुई है। यह प्रतिमा दशवीं शती की प्रतीत होती है।

मध्य प्रदेश के सभी मन्दिरों में विविध कलापूर्ण धातु प्रतिमाएँ संप्रोप्त हैं। इन सब में आरबी के सैतवालों के मन्दिर की धातु-प्रतिमा अपना विशिष्ट महत्व रखती है। प्रान्त की अन्य प्रतिमाओं की माँति यह भी अद्धीपद्मासन मुद्रा में कमलासन पर स्थित है। पश्चात् भाग में लगा हुआ तिक्या एक जिनव स्तु बाह्यविधा है। तिक्ये के उभय पक्ष में ग्रास एवं उपर के मकरमुख बड़ी ही बारीकी से अभिव्यक्त है। मूल प्रतिमा के छत्रत्र्य के चतुर्दिक पीपल-पत्तियों का अंकन है। यह चौबीसी है। सभी छोटी प्रतिमाएँ भी अर्द्धपद्मासन मुद्रा में हैं। मूल प्रतिमा के उभयपक्ष स्थित चामरधारी और चरणों के निकट स्थित देववचतुर्भुं जी देवीभी अर्द्ध पद्मासन स्थित है और विविध अलंकार व आयुधों से परिपूर्ण हैं। सारी प्रतिमा चार सम्मों पर स्थित है। इस प्रतिमा में विभिन्न आकृतियाँ उत्कीणित हैं। इसका ढांच। एक मन्दिर के शिखर का

आभास करा देता है । स्तिरपुर की आदिनाथ प्रतिनाः

स्व० मुनिश्री कान्तिसागरजी ने अपने मध्यप्रदेश प्रवास में अनेक उपलिख्यां की थी जिनमें दो धात-प्रतिमाएँ वे लगभग ४० वर्ष पूर्व कलकता लाये थे। इनमें एक तो वीद्ध देवो तारा की प्रतिमा अनुपम कला की साकार रूप थी, दूसरी भगवान ऋउभदेव की। उस समय विस्तृत अध्ययन कर लेख प्रकाशित किये गये थे। उन्हें वे प्रतिमाएँ सिरपुर के महन्त मंगलगिरि से प्राप्त हुईं थीं। मैंने पहले उनसे वीकानेर में रखने की वात की थी पर पुरावत्वाचार्य श्री जिनविजय जी के कलकत्वा पधारने पर उन्होंने उन्हें समर्पित कर दी। जिनविजय जी ने दौद्ध प्रतिमा मारतीय विद्या मवन में दे दी। कुछ वर्ष पूर्व जयपुर म्यूजियम के क्युरेटर श्री सत्यप्रकाश जी ने मुझे दत्ताया कि वह प्रतिमा तो अमेरिका में देखी थी, यह तो हुईं वौद्ध प्रतिमा की वात । दूसरी आदिनाथ प्रतिमा मेंने कलकत्वा में श्री राजेन्द्रसिंह जी सिंधी के पास देखी।

सिरपुर से प्राप्त प्रतिमा दशवीं शताब्दी की मालूम देती है। यह ताम्रवर्णी प्रतिमा कला की दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखती है। मध्य कमलासन पर युगादिदेव विराजमान हैं जिनके स्कंध प्रदेश पर केशावली प्रसारित है। पृष्ठ भाग का अलंकृत प्रमामण्डल पर्याप्त वड़ा और कलापूर्ण है। भगवान के कमलासन पर वृपम लांछन स्वष्ट परिलक्षित है और निम्न भाग में नवग्रहों की बड़ी मूचियाँ विराजमान हैं। अनेक मूचियों की माँति नवग्रह कहलाने वाली मूचियाँ आठ ही पायी जाती हैं क्योंकि वास्तुसार के अनुसार राहु-केतु को एक ही मान लिया गया है। दाहिनी और सिद्ध-बुद्ध बालक विद्यमान है। इनके दाहिनी और परिकर के निकले टोड़े पर यक्षराज विराजमान हैं। भगवान के वामपार्श्व में शासन देवी स्थित है।

भू६]

भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ द्वितीय भाग में भानपुर (उड़ीसा) के कुछ धातु निर्मित चौबोसी आदि के चित्र प्रकाशित हैं । प्रस्तृत चौबीसी प्रतिमा बड़ी ही विलक्षण और अदितीय विश्व वाली है । कटक. भुवनेश्वर मार्ग पर नदी की मिट्टी खोदते समय नकुलमट्ट खंडायत को पाँच प्रतिमाओं की प्राप्ति हुई थी । उसने एक मंदिर बनवाकर उसमें उन्हें विराजमान कर दिया है ।

इन प्रतिमाओं के मध्यवर्ती चतुर्विशति पट्ट के मध्य गोलाकार माग में १२, ऊपर प्र अंर चारों कोने में 8 कुल २८ मूर्तियाँ हैं। इनके अतिरिक्त नीचे के भाग में पार्श्वनाथ और शीर्षस्थ महावीर स्वामी की प्रतिमा है। दोनों ओर सिंह स्तम्म पर तोरण अवस्थित है। निम्नमाग में देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ परिकर में अवस्थित है। यह मूर्ति सं० १०९० की निर्मित है। इसके साथ दो-दो खन्नासन प्रतिमाएँ हैं जिनमें एक पार्श्वनाथ और तीन ऋषभदेव भगवान की है। इनकी ऊँचाई ६ इंच की दो-९ इंच की एक और एक ११ इंच की है। ग्यारह इंच वाली कमलासन पर खड़ी ऋषभदेव प्रतिमा में चतुर्दिक नी ग्रह बने हुये हैं, वह प्रतिमा भी अपने ढंग की एक ही है।

मानपुर के पास दो मील पर प्रतापपुर गाँव में भी
प्रतिमाएँ निकली थीं। उड़ीसा में जैन प्रतिमाएँ प्रचुर
परिमाण में प्राप्त हैं। कटक के चन्द्रप्रभ जिनालय में एक
ऋउमदेव भगवान की धातुमय खङ्कासन प्रतिमा बड़ी भव्य
है। प्रमु की केश-राशि उमय भाग में तीन-तीन लटों
में प्रसारित हैं। चौरस सिहासन के गोल कमलासन पर
प्रमु खड़े हैं। उमय सिहों के मध्य में कुम्भ रखा हुआ
है और आगे निकले हुए अजग पाये पर लांछन स्वरूप
बुउम दैठा हुआ है।

उड़ीसा के राजकीय संग्रहालयमें, वानपुर से प्राप्त कांस्य-प्रतिमाओं का महत्वपूर्ण संग्रह है। उनमें (१) आम्रवृक्ष के नीचे बैठी, गोद में वालक को लिये हुए अम्बिका। (२) दूस की शाखा को पकड़ कर खड़ी अशोका या मानवी देवी जिसके आसन , पर रीछ अंकित है। (३) सप्त फणा पत्रीयुक्त पार्श्वनाथ। (४) सर्प लांछन से अंकित पादपीठ पर खड़े पार्श्वनाथ। (५) कमल पुष्पयुक्त पाद-पीठ पर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी आदिनाथ की मृति।

इनमें आदिनाथ प्रतिमा उत्कृष्ट कला-कौशल का उदाहरण है। सुन्दर जटाजूट मण्डित प्रमु की प्रशांत मुखमुद्रा और शरीर का सौम्य गठन प्रेक्षणीय है। उस पर उत्कीणित अभिलेख के अनुसार यह श्रीकर संज्ञक व्यक्ति द्वारा निर्मापित है। ये प्रतिमाएँ कला की रुष्टि सै दशवीं शताब्दी की हो सकती हैं जिनका अध्ययन होना आवश्यक है।

उड़ीसा के कटकपुर से प्राप्त ऋषमदेव मगवान की एक सुन्दर प्रतिमा कलकता के इण्डियन म्यूजियम में प्रदर्शित है। यह कांस्य-प्रतिमा सुन्दर पादपीठ पर कमलासन के ऊपर अवस्थित है। पादपीठ पर मध्य माग में वृश्म (लांउन) वैठा हुआ है। प्रभु की कायोत्सर्ग मुद्रा में हांशों की श्रंगुलियां देह का स्पर्श कर रही हैं। मस्तक पर र्जंचा उष्णीष और स्कंध प्रदेश पर दीनों और तीन-तीन लटों में केश-राशि फैली हुई है। प्रतिमा के पादपीठ पर म्यूजियम का क्रमांक १२४३ लिखा हुआ है। दूसरी चन्द्रप्रम प्रतिमा आशुतोष संग्र-हालय में है जो ११वीं शती। की मालुम देती है।

छठी शताब्दी के शैलोद्रभव राजा धर्मराज के बानुपुर ताम्रलेख में उनकी रानी कल्याण देवी द्वारा एक शतप्रबुद्ध-चंद्र नामक जैनमुनि को कुछ भूमि देने का उल्लेख है! (बाबू छोटेलाल जैन रमृति ग्रन्थ, पृ० १७०)

अभ्विका प्लोरा की कांस्य मूर्ति खड़ी अभ्विका के पास में एक बालक खड़ा है। द्विस्तरीय सिंहासन पर गोल कमलासन है। नीचे बालक बगल में खड़ा है। झवारी-मन्दिर कांस्य-जिनालय अनुकृति लगभग ११वीं

[yo

राती की है। इसका शिखर चीरस है व चारों और चीमुख भगवान विराजनान करने का स्थान है। यहाँ एक मूज प्रतिगाविहीन परिकर मांजाता (निमाङ्) से प्राप्त हुई है, जिसमें सं० १२४१ का अभिलेख है। इसमें विद्यापर, यक्ष, चामरधारी पुरुष और मक्तजन बने हुए हैं।

सं० ११८८ की वनी एक शांतिनाथ प्रतिमा विक्टो रिया व अजवर्ट म्यूजियम में है।

वैकुगम्—यहाँ के जैन मन्दिर में ७ खड़ी कांस्य-मूर्त्तियाँ हैं जिनमें पार्श्वनाथ के सिर पर सर्वफण है। इनमें घुंघराले वाल. आँखें व मुखाकृति में स्क्षता है। आकोटा की प्रतिमाएँ:

आकोटा (गुजरात) से प्राप्त धातु-प्रतिमाएँ वड़ीदा संप्रहालय में प्रदर्शित हैं जिनका परिचय दिया जा रहा है:

१. ऋषमदेव--यह कांस्य-प्रतिमा खङ्गासन मुद्रा में अत्यन्त सुन्दर, ७६ से० मी० ऊँची और कलापूर्ण है। एक हाथ इसका सर्वथा और आंशिक रूप में अन्यत्र मी जर्जिरत-क्षतिग्रस्त हो गया है। पादपीठ तो सर्वथा लुप्त है पर इसके नीचे तक अधोवस्त्र—धोती धारण किया हुआ है। इस गुप्तकालीन कंबुग्रीव और क्षीण किट-प्रदेश वाली प्रतिमा के नेत्र रजत-मंडित और अधर ताम्रवर्णी हैं। स्कंध प्रदेश पर लटकती केश्वराशि वाली इस आजानुबाह प्रतिमा को उत्तर भारत की सुन्दरतम् प्रतिमा कहा जा सकता है। यह प्रतिमा पाँचवीं शती की है।

2. जीवन्त स्वामी—यह प्रतिमा कुछ क्षतिग्रस्त हो जाने पर भी अत्यन्त सुन्दर है। मस्तक पर मुकुट और उसके पीछे चौरस टोपी जैसा परिधान है जिस पर गौल बातायन अलंकृति युक्त है! ललाट के ऊपरी माग में मस्तक के केश मुकुट के नीचे दिखाई देते हैं और स्कंध प्रदेश पर वालों की कुण्डलित लटें तीन भागों में विखरी हुई हैं। सगवान महावीर के अद्धोनिमिलत नेत्र. नासाग्र दृष्टि

कायोद तर्ग ध्यान की उच्चतम अवस्था को उजागर करती है। नगवान के ललाट पर गोल टीकी दी हुई है। प्रभु के मुजबंद सकंब प्रदेश के नीचे पहनाये हुए हैं जिनके मुकुट की गवाब शली मणिमालावज् परिल क्षित होती है। कम्युप्रोव प्रभु के गले का हार पर्याप्त विशाल है और हाथों में वजय पहने हुए हैं। कटिमेखला से कसी हुई धोती नीचे तक अयी हुई है। धोती के सुबढ़ सल स्पष्ट हैं और मध्यमाग में अलकृत पर्यस्तक वंधा हुआ है। धोती की चुन्नटें वल्ली जेती लगने लगी हैं। यह प्रतिमा पूर्व-गुप्तकाल की कला का उत्कृब्द नमुना है।

३. जीवन्त स्वामी—यह प्रतिमा भी भगवान महावीर के जीवनकाल में बनी प्रतिमाओं के अनुधावन में बनी जानेवाली प्राचीन और कलापूर्ण गुष्टकालीन प्रतिमा है। जीवन्तस्वामी की इस प्रतिमा के दोनों हाथ खण्डित हैं।

8. जीवन्त स्वामी—यह प्रतिमा एक अभिलेख युक्तं जंचे पाद-पीठ पर सङ्गासन ध्यानावस्थित है। इसके आसन पर खुदे लेख से यह विदित होता ह कि चन्द्रकुल की नागीस्वरी श्राविका का यह देव निमित्त दान है। इसकी लिपि ईं० सं० ५५० के आसपास की है। इस प्रतिमा के माथे पर मुकुड, कान में कुण्डल, बाँगें हाथ में र्जंचे मुजबन्द व कलाई पर वलय है। दाहिना हाथ सर्वथा लुप्त है। किटमेखला धोती के जपर धारण की हुई है। मुखनण्डल के पृष्ठ माग में सूपाकृति किनारीदार प्रमामण्डल बना हुआ है। इनका मुकुट त्रिकृट है और पहले वाली प्रतिमाओं की भाँति उपरी माग में चौरस टोपी जंसा आकार नहीं है। धोती की लांग मध्य में गोमूत्रिकाकृति वाली है।

५. ऋनमदेव प्रतिमा—यह प्रतिमा कायोतसर्ग-सङ्गा-सन मुद्रा में अवस्थित है। इस २५ से० मी० खंची प्रतिमा के नीचे ३३ × ९ से० मी० परिमाण का पादपीठ है जिसके उमय पक्ष में निकली हुई नालयुक्त कमल पर दाहिनी अ.र यक्ष एवं पादर्व में अम्विका देवी विराजमान हैं। देवी के

भूष]

वाँग्रें गोड़े पर वालक वैठा हुआ है। इस अलंकृत असन के मध्य उलटे हुए कमल का गोल आसन है जिस पर धर्मचक्र के उमय पक्ष में वेठे सुन्दर मृग प्रभु के मुख-मण्डल को निहार रहे हैं। प्रतिमा के आकार और रिक्त स्थान मिं किन्नों को देखने से प्रतीत होता है कि यह अवस्य ही चतुर्विशति जिन-पड़क रहा होगा जिसका तेईस प्रतिमाओं से युक्त परिकर विद्युड़ कर अलग हो गया है। इस पर निवृत्त कुल के 'जिनमद्र वाचनाचार्य के नाम का अभिलेख है। प्रस्तुत लेख की लिपि देखते हुए डा० उमाकांत शाह ने इसे सुप्रसिद्ध खेताम्बर जैन विद्वान जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण का और सन् ५५० के लगभग का बताया है।

भगवान आदिनाथ को वारीक धोती पहने हुए दिखाया है जिस पर सुन्दर खिजाइन बना हुआ है । आदिनाथ की प्रतिमा सवस्त्र होते हुये भी नग्नत्व-पुरुपचिन्ह स्पष्ट परिलक्षित होता है, यह आश्चर्यजनक है । यह प्रतिमा बड़ौदा संग्रहालय में है ।

६, अम्बिका देवी— यह प्रतिमा छठी शताब्दी के उत्त-रार्द्ध की लेटे हुए सिंह पर लिलतासन में विराजमान अम्बिका देवी की है। देवी के दाहिने गोड़े पर बालक वैठा है और दाहिनी ओर भी एक बालक खड़ा है। अलंकृत पीठ पर देवो और उसके पार्श्ववर्ती स्तम्म कमल-पुप्पाकृति युक्त है और उसके बगल में ग्रह बने हुए हैं। स्तम्मों में अलंकृत पट्टों के सहारे देवी विराजमान है और ऊपरी माग में प्रमामण्डल कमल पंखुड़ियों से युक्त है। चारों ओर बेल-पत्तियों का बोर्डर है। इसके ऊपरी माग में ध्यानस्थ जिन प्रतिमा बनी हुई है। देवी के विशाल ललाटर्र पर मुकुट पर्याप्त ऊँचा और किरीट युक्त है। कानों में कुण्डल, गले में एकावली हार, चन्द्रकला हार व घंटिका—घुंघर हार, मंगलमाला पहनी हुई है। हाथों में मुजवन्द सुशोमित है। इस प्रतिमा के पृष्ठ माग में क्षतिग्रस्त अमिलेख उत्कीणित है। देवी की साड़ी धारीदार है। मुखाकृति तेजस्विता- पूर्ण है। यह प्रतिमा भी बड़ौदा संग्रहालय में प्रदर्शित है।

 पार्श्वनाथ त्रितीर्थी—यह कांस्य-प्रतिमा आकोटा से प्राप्त अखण्ड सुन्दर और बड़ौदा संग्रहालय में विद्यमान ६८ प्रतिमाओं में से एक है। इसकी कला शैली में परिकर निर्माण का परिष्कृत रूप स्पष्ट इ.टिगोचर होता है । पिण्ड-वाड़ा की प्रतिमा शैली से इसकी तुलना की जा सकती है। सप्तकण मण्डित पार्खनाथ भगवान की भव्य प्रतिमा के उभय पक्ष में जो दो काउसिंगए ध्यानस्थ खड़े हैं वे फुलदार धोती पहने हुए है। उनके वगल में नीचे आसन पर दो चामरधारिणी अवस्थित हैं। तीनों जिन प्रतिमाओं के मस्तक पर छत्र सुशोभित है। जपरी भाग में एक देव ढोलक लिये बैठा है और प्रमु के छत्रों के पीछे वृक्ष के पत्ते दिखाई देते हैं। प्रभु के नोचे अलंकृत पट्वासन और उलटे कमलासन के नीचे वस्त्रासन लटक रहा है। जिसके नीचे हरिण युगल युक्त धर्म-चक्र है । सिंहासन के नीचे दो सिंह परिलक्षित हैं। इसके उभयपक्ष में दाहिनी ओर यक्ष व वाम पाइवें में अम्बिकादेवी विराजमान हैं । इनके आगे नौ प्रहों की मृतियाँ स्पष्ट है। मध्यवर्ती दाहिने कीने में चैत्यवंदन मुद्रा में मक्त श्रावक वैठा दिखलाया है। प्रतिमा कलापूर्ण व सुन्दर है।

प्, चतुर्विशति पट्ट--यह कांस्यमय चौबीसी भी बड़ौदा संग्रहालय में प्रदिशित है। मध्यवर्ती ऋषभदेव भगवान कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित हैं। अविशष्ट तेईस तीर्थ-कर पद्मासन मुद्रा में विराजित हैं। ऋषभदेव प्रतिमा के नीचे कमलासन और तिनम्न भाग में धर्मचक्र. मृग-युगल और उभय पक्ष में नौ ग्रह वने हुए हैं। वगल में उभय पक्ष से निर्गत शाखा की भौति कमल नाल पर वाम पार्श्व में अभ्विका देवी विराजमान हैं।

९. चामरधारिणी—यह कांस्य-मूक्ति अत्यन्त सुन्दर. लिचकदार देह्यष्टि युक्त है। इसके केशविन्यास और तदुपरि वंधी हुई लिड़ियां व अपरवर्त्ती गुंजूड़े के चतुर्दिक अलंकार

धारण किया हुआ है। इसके गले में हार व पुष्ट पयोधरों के मध्य लटकती हुई मंगलमाला नाभि से दाहिनी ओर स्थित है। हाथों में भुजबंद पहने हुए हैं। दाहिने हाथ में उत्तरीय वस्त्र का अंचल पकड़ा हुआ है और सीधा किया हुआ है ! दाहिना हाथ मोड़ कर ऊपर किया हुआ है जिसमें दण्ड धारण किया हुआ लगता है। संभव है कि यह चामर की डांडी हो। दड़ शृंखलायुक्त कंदीरा और तिनम्न भाग में किटिमेखला—किटिपष्ट परिधापित है। यह पिश्चम भारत की श्रेष्ठ कला-कृति है और बड़ौदा संग्रहालय में स्थित है।

आकोटा के ६ प्रतिमा समूह में अवशिष्ट प्रतिमाओं में ३० अभिलेख युक्त हैं। जिनमें से दो संवतोल्लेख हैं। इनमें लगभग आधी प्रतिमाएँ सातवीं शताब्दी से पूर्व की हैं। दो कांस्य-प्रतिमाओं के मस्तक बड़े ही सीम्य और कलापूर्ण हैं. ये अवश्य ही गुप्तकालीन प्रतिमाओं के खण्डित भाग हैं।

वल्लभी (वला) की प्रतिमाएं —गुजरात का वल्लभी नगर जैन धर्म का मुख्य केन्द्र रहा है. जहाँ आर्य नागार्जुन की अध्यक्षता में प्रथम वाचना हुई । आर्य मह्रवादी ने वि० सं० ४१४ के लगमग बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। वि० सं० ५१० में फिर श्री देवद्धि गणि क्षमाश्रमण के नेजुत्व में जैन श्रमणों की परिषद का द्वितीय सम्मेलन हुआ जिसमें जैनागमों को पुस्तकारूढ़ किया गया। इस समय गुजरात में जैन धर्म सर्वत्र फैल चुका था। मण्डारकर साहव ने वह्मभी से पांच खड़ासन मुद्रा की प्रतिमाएं प्राप्त कीं. जो इस समय प्रिस आफ वेल्स म्यूजियम, वम्बई में हैं। इनके खण्डित अमिलेखों से प्रमाणित हुआ है कि ये छठी शताब्दी में निमित हुई थीं।

इन पाँचों प्रतिमाओं में चार पादपीठ पर स्थित हैं जिसमें तीन का ऊंचा और एक प्रतिमा का पादपीठ नीचा है और एक प्रतिमा का पादपीठ सर्वथा लुप्त हो गया है। ये सभी प्रतिमाएं गुप्तकाल की माँति प्रलम्ब न होकर परिचम मारत की तत्कालीन शैली के अनुरूप हैं। एक प्रतिमा का दाहिना हाथ ख.ण्डत है जो पादपीठ पर मणिमाला के गोल घेरे में अवस्थित है। एक प्रतिमा के उभय पक्ष में पादपीठ से लेकर मुखमण्डल के पीछे बने प्रमामण्डल तक धनुवाकार पहिका बनी हुई है। सभी के मस्तक पर घंघराले खाल और लम्बे कान दृष्टिगोचर होते हैं। सभी प्रतिमाएँ धोती पहनी हुई हैं और गोमूजिका लहर की चुन्नटदार लाँग नोचे लटक रही हैं।

महुड़ी की प्रतिमाएँ :

महुड़ी गाँव, गुजरात में खुदाई से प्राप्त प्रतिमाएँ धातु-मय इक्तीर्थी हैं। वे इस प्रकार हैं:

- १. जिन प्रतिना के सिंहासन में दो सिंह और मध्य में धर्म चक्र है। उभय पक्ष में हरिण है। प्रभु के पृष्ठ भाग में दो स्तम्भ पर तोरण व प्रभामण्डल है।
- जिन प्रतिमा के पृथ्ठ भाग में चौखट पर प्रभा-मण्डल है। निम्न भाग में पव्वासन के नीचे सप्तग्रह की खड़ी मूर्तियाँ दोनों ओर निकली हुई हैं। शाखा पर यक्ष-यक्षिणी वैठी हुई हैं।
- ऋषभदेव प्रतिमा के कन्धे पर कुन्तल राशि और पटवासन के नीचे वस्त्र व दाहिनी ओर यक्षराज के अति-रिक्त कुछ अवरोज नहीं है। प्रभु के पृष्ठ माग में कुछ नहीं है।
- ४. पार्श्वनाथ प्रतिमा— ऊंचे पाये के सिहासन पर नी ग्रह हैं. तदुपरि कुण्डली मारे सांप पर प्रभु-प्रतिमा के उभय पक्ष में धरणेन्द्र पद्मावती हैं। प्रभु की मनोझ प्रतिमा पर सुन्दर सप्तफण सुशोमित है। पिण्डवाड़ा की प्रतिमाएँ:

पिण्डवाड़ा. सिरोही रोड की प्रतिमाएँ यहाँ के मंदिर में विराजमान हैं।

 खङ्गासन जिन प्र.तिमा—यह खड़ी प्रतिमा कमला-सन पर स्थित है। प्रमु को पहनाया कंदोरा और धोती

६၀]

खूब स्पष्ट एवं कलापूर्ण है। इस पर सं० ७७४ का पाँच पंक्ति का संस्कृत अभिलेख उटकीर्णित है।

2. पार्श्वनाथ त्रितीर्थी—यह प्रतिमा भी अत्यन्त सुन्दर पद्रमासन स्थित सप्त-फग मण्डित है। दोनों ओर के कक्ष में स्थित कायोत्सर्ग मुद्रा की खड़ी प्रतिमाएँ भी कला-पूर्ण उपर्युक्त प्रतिमाओं की भाँति धोती पहिने हुए हैं। भगवान पार्श्वनाथ के पव्वासन के नीचे कमल की पंखुड़ियाँ और वस्त्र चिन्ह है। तिन्तमन भाग में धर्मचक्र व उभय पक्ष में मृग युगल है। दोनों ओर सिंहासन के नीचे सिंह उत्कीर्णित है। सिंहासन के दाहिनी ओर यक्ष है जिसका वाहन गज है और वार्यें हाथ में फल धारण किया हुआ है। वाम पार्श्व में सिंहवाहिनी अम्बिका देवी दाहिने हाथ में आम्लुम्ब व बायं हाथ में वालक धारण किये अवस्थित है। यक्ष-यक्षिणी के पृष्ठ भाग में उभय पक्ष में चामरधारिणी स्त्रियाँ खड़ी हैं और निम्न माग में नवग्रह प्रतिमाएँ वनी हुई हैं। यह अत्यन्त सुन्दर कलाकृति भी आठवीं शताब्दी की है।

वांकानेर की पार्श्वनाथ प्रतिमाः

पिण्डवाड़ा की उपर्युक्त प्रतिमा से मिलती-जुलती पार्ख-नाथ प्रतिमा सौराष्ट्र के वांकानेर में है। एक शैली होने पर भी शिल्पी भिन्न होने से सामान्य अन्तर होना स्वाभाविक है। यह प्रतिमा भी आठवीं-नौवीं शताब्दी की है और निम्न भाग में बने हुए पार्यों पर अवस्थित हैं।

गिरनार तीर्थः

विमलनाथ परिकर - यह परिकर खूब विशाल आर कलापूर्ण है। इसके ऊंगर काउसांगए और परिकर के निम्न माग में सं० १५२३ का लेख भी उत्कीमिंत है। यह पहली टूंक के चतुर्दिंग् देहरियों के पास एक कमरे में रखा हुआ है। इसमें षण्मुख यक्ष और विजया शासनदेवी की भी सुन्दर प्रतिपा बनी हुई है। मूल प्रतिमा भग्न हो जाने से यह परिकर उपेक्षित पड़ा हुआ है। सारामाई का संग्रहः

इनके यहाँ एक पाइर्चनाथ प्रतिमा है जो कि सुन्दर और सप्त फण मण्डित है। इसमें भी उभयपक्ष में खड़ी हुई कायोत्सर्ग मुद्रा की प्रतिमाएँ हैं। निम्म भाग में चामर-धारिणी व उभय पक्ष में यक्ष-यक्षिणो अवस्थित हैं। नीचे नवग्रह बने हुए हैं व इसके धनुपाकृति पाये के मध्य में धर्मचक्र है। प्रतिमा के पृष्ठ भाग में दशवीं शताब्दी का एक लेख उत्कीणित है जिसमें चन्द्र कुल माढ़ गच्छ के गोचि श्रावक के द्वारा मुक्ति की इच्छा से जिनेश्वर त्रितीर्थी वनाने का उल्लेख है।

गौड़ी पार्खनाथ, बम्बई ।

१. गौड़ीजी के मन्दिर की पार्श्वनाथ त्रितीर्थी भी सप्त-फग मण्डित है और उसी शेंडी में निर्मित है जो तीन शताब्दियों से चलती आ रही हैं। इसके नवग्रह कुछ विशेष स्पष्ट हैं और सामने चारों पाये परिलक्षित हैं। पृष्ठ भाग में प्रतोली आकार वाले पाये पर संव् १०६३ का लेख उत्कीणिंत हैं। पिण्डवाड़ा की प्रतिमा शंली से कुछ भिन्नता और शिल्प में परिवर्तन व रेखाओं के उत्कीणिंन में कुछ न्यूनता लगती है।

2, आदिनाथ प्रतिमा यह प्रतिमा प्रमास पाटण से आई हुई इकतीर्थी है। इसमें उभय पक्ष में चामरधारिणी मूर्तियाँ खड़ी हैं और दाहिनी ओर यक्ष व बाँयीं तरफ अम्बिका की प्रतिमा है। मगवान के पीछे प्रमामण्डल, छत्रादि न होने से लगता है कि परिकर भाग नष्ट ही गया है। इसके पृष्ठ भाग में सं० १०९० का लेख उत्कीणित है। प्रमु के मस्तक पर पृष्ठ भाग में गर्दन तक लटकती केश-राशि अन्य प्रतिमाओं से पृथकता ला देती है।

अहमदाबाद की प्रतिनाः

अहमदाबाद के बाघण पोल स्थित अजितनाथ जिनालय की धातुमय कार्योत्सर्ग मुद्रा की विशाल जिनप्रतिमा पिण्डवाड़ा शैली की परम्परागत अनुकृति है। यह सरल परिकर वाली आकर्षक प्रतिमा है जिसके उभयपद्र में

િ દ્વ

चामरधारी अवस्थित हैं और एक साधु व एक श्रावक चैत्य वन्दन करते हुए बैठे हैं। इस पर सं० ११११ का अभिलेख भी उत्कीणित है।

दिल्ली की पार्खनाथ प्रतिमाः

पिण्डवाड़ा शेती से प्रभावित एक अत्यंत सुन्दर कलापूर्ण प्रतिमा दिल्ली के चिराखाने के पार्श्वनाथ जिनालय में है। इस प्रतिमा के पृष्ठ भाग में एक अभिलेख भी उत्कीणित है जिससे इसका निर्माण-काल आठवीं-नवीं शती प्रतीत होता है। इस प्रतिमा की सुन्दर तक्षण शैली आज की-सी वनी हुई प्रतीत होती है। महावीर स्वाभी की यह प्रतिमा वि० सं० १६०५ की वनी हुई है और महातीर्थ सम्मेतिशखर पर खरतरगच्छाचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित है। पर इसकी भीशे लोगत विशेषता है। चतुष्कोण समवसरण के आसन पर भ० महावीर विराजित हैं और उनके चारों कोणों में सिंह खड़े हुए हैं। इन चारो कोणों में चार गणधर प्रतिमाएँ भगवान को वंदन करती हुई अवस्थित हैं जिनके पृष्ठ भाग में व्यक्त, मिण्डत, मीर्यपुत्र और अकम्पित नाम खुदे हुए हैं। प्रमास पाटन (गुजरात):

यहाँ के सुविधिनाथ जिनालय में श्री आदिनाथ भगवान की कायोत्सर्ग मुद्रा की प्रतिमा है जो किसी विशाल परिकर के वाजू की प्रतीत होती है। इसके निम्न भाग में टाहिनी ओर शासन देवी श्री चक्रेश्वरी और वाम पार्श्व में अम्बका की खड़ी मूर्ति है जो दाहिने हाथ में आम्रलुम्ब और वाम हाथ में बालक को लिये हुए हैं। अम्बका की प्रतिमा पूर्व काल में नेमिनाथ भगवान की अधिष्ठात्री होने पर भी जिन मन्दिरों में तीर्थंकरों के परिकरों में पायी जाती है। खड़ी प्रतिमाए यद्यपि अल्प ही मिलती है फिर भी वंगाल के शिल्प में देखी जाती है। चक्रेश्वरी की प्रतिमा दो हाथों में चक्र एवं तीसरे में माला और चौथे में शंख धारण की हुई है।

नीचे वाहन गरुड़ है जो कमल पुष्प पर अवस्थित है! अस्विका देवी की अन्य धातु प्रतिमा सं०१५०६ की प्रतिष्ठित है।

दीववनदरः

यहाँ के मन्दिर में ठक्ष नी देवी की दो धातु-प्रतिमाएँ हैं जो परिकर में विराजित हैं। दोनों प्रतिमाओं के उभय पक्ष में गजराज अभिषेक करते हुए दिखाये गए हैं एक के पादपीठ में भी हाथी का वाहन दिखाया गया है। एक प्रतिमा पद्मासन में और दूसरी दाहिना गोजा नीचा किये मद्रासन पर विराजित है। पाइवियक्ष की प्रतिमा भी पादपीठ पर विराजित है जो दोनों हाथों को गोट में रखकर वैठे हैं। इनके उभय पक्ष में नाग है। वीकानेर की जेन प्रतिमाएँ:

वीकानेर से ७० मील दूरी पर अमरसर के टीलों में सं० २०१३ में सीलह प्रतिमाएँ निकली थीं जिनमें दो पापाणमय व चौदह धातुमय थीं ! वे अभी गंगा गोल्डन जुविली म्यूजियम में प्रदर्शित हैं ! इनका परिचय इस प्रकार है—

१. पाइर्बनाथ त्रितीर्थी—यह सप्तफगमण्डित त्रितीर्थी परिकर युक्त प्रतिमा सं० १९०४ की प्रतिष्ठित है। भगवान के पृष्ठ भाग से आये हुए साँप का शरीर चौकड़ी युक्त हैं और फणावली के पीछे भी प्रतिहार्याकृति और तिर पर छत्र हैं। उभय पक्ष में लम्ब गोलाकृति चक्र के मध्य छत्र के नीचे कायोत्स्मा मुद्रा में प्रतिमाएं हैं जिनकी धोती के चिह्न स्पष्ट हैं। छत्र के जपरी माग में पत्ते दिखाई देते हैं। निम्म भाग में यक्ष यिक्षणी एवं उभय पक्ष में चामरधारी हैं जिनके पृष्ठ माग में पत्ते की माँति तीखे आकार के आधार हैं प्रमु के आसम के नीचे सिंह और दोनो तरफ पाये हैं। मध्य भाग में गुरोत्तरकालीन दस्त्र लटकतः दिखाया है और नीचे नौ ग्रह वने हुए हैं।

६२]

- २. त्रितीर्थी प्रतिमा—यह सं० ११२७ की प्रतिष्ठित और उपकेश गच्छ के श्रावक आम्रदेव कारित है। भगवान के पृष्ठ भाग में अलंकृत प्रभामण्डल, सिर पर छत्र और उपरी माग में किन्नर हैं उमय पक्ष की खड़ासन प्रतिनाएँ धोती पहनी हुई हैं और उनके पास चानरधारी खड़े हैं। काउसिंगियों के नीचे यक्ष-यक्षिणी एवं तिनम्म भाग में नी ग्रह हैं। सिहासन के पायों के पास सिंह और वीच के वस्त्र चिह्न के आगे धर्मचक्र है।
- 3. चतुर्विशति पट्ट--अत्र के नीचे विराजित मूल-नायक प्रतिमा के उमय पक्ष में खड़े धोती पहने काउस-रिगर्थों के जपर पद्मासन मुद्रा में जिनेश्वर और नीचे की ओर यक्ष-यक्षिणी हैं। पायेदार सिंहासन के मध्य लटकते वस्त्र के दोनों ओर सिंह और सिंहासन के पाये हैं। निमन भाग में नो ग्रह की पंक्ति है। परिकर के दोनों ओर तोरण के स्तम्म में चार-चार जिन प्रतिमाएँ और जपर के कक्ष में तोरण पर दोनों ओर एक पद्मासन और दो-दो खन्नासन मुद्रा की प्रतिमाएँ हैं। प्रतिमा के जमय पक्ष में अलंकृत स्तम्भ और मकर मुख प्रतीत होते हैं। सं० ११३६ में जिल्लका श्राविका द्वारा निर्मापित है।
- 8. पार्श्वनाथ पंचतीर्थी यह प्रतिमा सं० ११६० में कर्चपूरीय गच्छ के मनोरथाचार्य द्वारा प्रतिष्ठित है। सप्तकण मण्डित पर्श्वनाथ के वगरु में खड़े धोती पहने खड़ासन प्रतिमाओं के ऊपर पद्मासन प्रतिमाएँ हैं। सिहासन के चारों पायों के वीच दोनों सिह वैठे हैं और उमय पक्ष में चामरधारी खड़े हैं।
- ५. आदिनाध पंचतीर्थी—यह प्रतिमा सं० १०६३ में प्रतिष्ठित और कलापूर्ग है। भगवान की प्रतिमाओं के उसय पक्ष में खड़ासन प्रतिमाएँ धोतीयुक्त हैं और पृष्ठ भाग में अलंकृत मामण्डल है। ध्रिण्ठ भाग के तोरण स्तम्म पर दो पद्मासन प्रतिमाएँ और वगल में सिंह और मकर मुख हैं। सिंहासन के मध्य भाग में वस्त्र

- लटक रहा है. धर्मचक्र भी है। दोनों ओर सिंह और दो पाये हैं। सिंहासन के दोनों ओर एक्ष-यक्षिणी एवं नीचे चेत्यवंदन करते भक्त युगल के मध्य में नौ ग्रह स्थापित हैं।
- ६. देवी प्रतिमा—यह अश्वारू देवी की प्रतिमा सं० १११२ में छाहड़ द्वारा निर्मापित है। दिवी चारों हाथों में आयुध धारण किये हैं। घोड़ा चौकी पर खड़ा है।
- ७. सप्तकमा पार्खनाथ—पह प्रतिमा सप्तकम युक्त पार्खनाथ मगवान की किसी श्राविका द्वारा निर्मापित है और कमलासन पर विराजनान है । तोरम स्तम्म के सहारे पृष्ठ माग में धर्म चक्र और खेंचे शिखर की माँति कलश है ।
- फ, पार्श्वनाथ— यह खनरू आकार के कमलासन पर विराजित भगवान की सप्तफग मंखित प्रतिमा है। उभय पक्ष में त्रिमिट स्तम और पृष्ठ भाग से सांप आवर गोडों के पास से ऊपर गया है। दोनों ओर के लॉप कुण्डली कृत न होकर पृथक प्रतीत होते हैं।
- ९. आदिनाथ पंचतीर्थी—सिंहासन के उमय पक्ष में यक्ष-यक्षिणी. दोनों और चामरधारी के मध्य में दो काउसिंगिया और ऊपर पदासनस्थ प्रतिमाएँ हैं। मध्यवर्ती आदिनाथ भगवान के मस्तक पर छत्र. पृष्ठ भाग में प्रभामण्डल और उमय पक्ष में किंतर है।
- १०, पार्श्वनाथ त्रिलीधी—स्पष्ट तक्षण कला वाली इस प्रतिमा के पृष्ठ मांग में जैंबी सप्त फणावली और उभय पक्ष में धोती पहने हुये खड़ासन प्रतिमाएँ हैं। भगवान के नीचो पव्वासन और तिन्नन्न मांगवर्ती कमल की पँखुड़ियों के नीचो नस्त्र लटकता तुआ उभर पक्ष स्थित सिहों के मध्य दिखाया है। दाहिनी ओर यक्ष व वाम पार्ख में अम्वका देवी विराजित हैं। मध्यवर्ती धर्मनक के अग्री कमल पर यक्ष बैठा है।

ि ६३

११. पार्श्वनाथ त्रितीर्थी—यह प्रतिमा भी सप्तफण मण्डित है और सिंहों के जपर लटकते वस्त्र वाले पव्यासन पर विराजमान है। उभय पक्ष में धोती पहनी प्रतिमाएँ और जपर छत्र लगा हुआ है। निम्न माग में दाहिनी ओर यक्ष व वाम पार्श्व में अम्विका देवी अलंकृत टोडी पर कमलासनस्थ है। यह प्रतिमा दुर्गराज कृत स्नात्र प्रतिमा हो सकती है।

१२. पार्वनाथ त्रितीर्थी—यह प्रतिमा सप्त फगोपरि पट्टिका और कलश युक्त है। सिंहासन के वस्त्र. उमय काउसिंगियों के पास स्तम्भ व निम्न भाग में नौ ग्रह हैं।

१३. समवसरण प्रतिमा—यह ाचौमुख शिखरबद्ध प्रतिमा भी देवालय जैसी लगती है, सभी प्रतिमाएँ राजस्थानी शिल्प कला से अनुप्राणित है।

इन प्रतिमाओं के साथ एक अत्यन्त सुन्दर कला पूर्ण स्त्री मूर्ति प्राप्त हुई है जो त्रिस्तरीय कमलासन पर अपनी लचीली देहयिंट को किश्चित् दाहिनी और किये खड़ी है। यह पैरों में नुपूर, हाथ में दोनों ओर बंगड़ियों के बीच चूड़ियाँ पहनी हुई हैं। साड़ी की धारियाँ वहुत ही सुन्दर हैं और उत्तरीय को मुजबन्द के पास से कलात्मक ढंग से मोड़कर नीचे गोड़ों तक लहराता दिखाया है। त्रिवलीदार गले के नीचे हार और तिलड़ी नामि के उत्तर तक पहनी हुई है। मुद्रा की मौति बड़े कर्णफूल सुशोभित हैं। यह प्रतिमा प्राचीन राजस्थानी कला का प्रतिनिधित्व करने वाली भाव मंगिमा युक्त अदमृत एवं सुन्दर है।

शंकरदान नाहटा कला भवन :

हमारे इस कला भवन में जैन-जैनेतर अनेक धातुमय प्रतिमाओं का संग्रह है जिनमें दो जिन प्रतिमाएँ प्राचीन और कलापूर्ण हैं।

 पार्श्वनाथ त्रितीर्थी—यह सपरिकर प्रतिमा सं० १०२१ की क्लिपत्य कूप चैत्य की गोष्ठी द्वारा निर्मापित स्नात्र प्रतिमा है। इसके पृष्ठ भाग में लिखे कुटिल लिपि के लेख से यह स्पष्ट है। इसके उभय पक्ष में अवस्थित काउसम्म मुद्रा वाली प्रतिमाएँ धोती पहनो हुई हैं और वे पव्वासन के नीचे से निकले हुये कमलासन पर खड़ी हैं। उभय पक्ष में एक ओर सौंप पर पद्मावती और दूसरी ओर गजारूढ़ देवी हैं। सिहासन के मध्य में भी एक व्यक्ति विराजित है। निम्न भाग में नौ ग्रह और उनके उभय पक्ष में सिंहासन के पार्टी में से निवले हुये कमलासन पर दाहिनी ओर गजारूढ़ यक्ष और वाम पार्ख में सिंहवाहिनी अम्बिका है जिसकी गोद में बालक परिलक्षित है। काउसिंगयों के आसन से फिर प्रतिशासा निकलकर दोनों ऋोर अपने दोनों हाथों में वस्त्र धारण किये पुरुव बैठे हैं। प्रतिमा के सप्त फण का अर्द्ध-भाग सम्बत हो जाने से दूसरे पीतल के सप्त फण वना कर जोड़ दिये गये हैं। नेत्र चाँदी की मीनाकारी या रतन-जटित रहे होंगे जिन्हें निकाल खाला गया है अतः गढ़े मात्र रह गये हैं। नीचे वाले पायों पर भी सिंह खड़े हैं और मध्य भाग में एक व्यक्ति की मृति है !

2. सपरिकर इकतीर्थी—जिनेश्वर भगवान के जपर छत्र व पृष्ठ भाग में प्रभामण्डल फूल की पंसुड़ियों वाला है जिनके आगे पट्टिका के सह रे भगवान विराजित हैं। उभय पक्ष में चामरधारी व जपर वस्त्र लिये किन्नर व नीचे दोनों ओर यक्ष व अम्बिका हैं। पट्वासिन व प्रतिमा के हाथ जर्जरित होकर लुप्त हो गये हैं। इस पर "संवत् ११३० जयेष्ठ सु० १० सांत स प्र० वारिता" अभिलेख है।

श्री मोतीचंद खजानची संग्रहः

इनके संग्रह में दो चौबी सियाँ हैं जिनमें से एक सं० १२३१ की है जिसके परिकर के जवरी भाग में २१ प्रतिमाएँ सैमीसर्कल में हैं। मूलनायक भगवान के दोनों ओर कायोत्सर्ग मुद्रावस्थित जिन हैं। मूलनायक भगवान के नेत्रों में रजत पूरित है। परिकर के दोनों ओर अस्विका व यक्ष है। सिंहासन पर सिंह युगल व मध्य में कोई

ξ8]

देव है। परिकर के निम्न कोने में दो व्यक्ति खड़े हैं जिन पर ग्रास बना हुआ है।

दूसरी प्रतिमा सं० ११७९ का चतुर्विश्वति पहुक है जो सुन्दर क्लापूर्ण व मिन्न अलंकारिक शेली का है। इनके संग्रह में एक चन्दवा सं० १५१७ का है जिस पर जरी का काम है।

श्री चिन्तामणिली का मन्दिर :

बीकानेर के सर्वप्राचीन श्री चिन्तामणि जी (चौवीसटा) के मन्दिर में धातु प्रतिमाओं का विशाल संग्रह है। एक ही मंदिर में इतनी प्रतिमाएँ सारे भारत में वहीं नहीं है। यहाँ इस समय १११६ प्रतिमाएँ हैं जिनमें १०५० प्रतिमाएँ सं० १६३३ में तुरसमखान द्वारा कीरोही की लूट में फतहपुर सीकरी लाई गई थी। पाँच छः वर्ष पश्चात् सं० १६३९ आ० सु० ११ को राजा रायसिंह और मंत्री कर्मचन्द्र बच्छावस उन्हें अकवर से प्राप्त कर वीकानेर लाये। वासुपूज्य स्वामी की मूलनायक प्रतिमा के साथ कई वर्ष पूजी जाकर अधिकांश प्रतिमाएँ चिन्तामणिजी के मुमिगृह में रख दी गई श्री। सं० १९५७, १९९५. २०००, २०१८ में वहर निकाली गई थीं ! हमने सर्वप्रथम इनके अभिलेख संग्रहित कर अपने ''दीकानेर र्जन लेख संग्रह" में प्रकाशित किये थे परन्तु तत्र स्थित प्रतिमाओं का कलात्मक अध्ययन नहीं हो एका था। थोड़ी-सी कलापूर्ग प्रतिमा समूह का चित्र उपर्यक्त ग्रंथ में दिया गया था। सं० २०३३ के जन महीने में जब उन्हें पनः निकाला गया तो राजस्थान सरकार द्वारा श्री प्रकाशचन्द्र भागंव को सूची निर्माण हेत् नियुक्त किया गया। उन्होंने अध्ययनपूर्वक जो लेख लिखा. जैन यति गुरुकुल स्मारिका से यहाँ साभार उदधृत किया जा रहा है।

इस समय मण्डारस्थ प्रतिमाओं की संख्या १११६ है जिनमें दो पापाण की एवं फ धातुयंत्र हैं ! काल-क्रमानुसार देखा जाय तो ७वीं शतो की ३, ७-५वीं की १. प्रवीं की१. ९वीं की २. ९-१०वीं की २. १०वीं की ६. ११वीं को ९. १२वीं की ३३. १३वीं की १११. १४वीं की ३५प, १५वीं की ५३२. १६ वीं की २४. १७वीं की १. १प्पर्वी की ६. १प-१९ वीं की ४. १९ वीं की २ प्रतिमाएँ हैं । इनमें से कुछ प्रमुख प्रतिमाओं का वर्णन यहाँ प्रस्तृत विया जा रहा है।

१. आदिनाथ प्रतिमा (प्रतिमा संख्या १)

यह २१ से० मी०×३३ से० मी० माप की आदिनाश्च प्रतिमा पद्मासन ध्यान में विकसित पूर्णदल कमल पर सज्जायुक्त वस्त्रालंकृत उच्च सिंहासन पर विराजमान है। वस्त्र में गोल-गोल घेरे के अन्दर वमल पुष्प का अंकन है। सिंहासन में उच्च पीटिका के जपर मध्य में दो मृगों के धर्मचक का अंकन एक विकस्ति कमल के जपर विया गया है। पीठिका पर तीर्श्वकर के लांधन का अमाव ध्यान देने थोग्य है।

श्री आदिनाथ के कन्धे पर उनके बाल दिखरे हुए हैं। उन्तत ललाट, लंबी नासिका व चौड़े नथुने युक्त गंल भरा चेहरा है जिससे सीम्यता झलकती है। आँखें कड़ी बड़ी हैं। ओठ पतले हैं पर नीचे का ओठ मीटा है। इसीर में मारीपन है। घीठिका के अग्रमाग का दाहिना पर दृटा हुआ है। इस प्रतिमा के दोनों तरफ यक्ष और यक्षिणों की प्रतिमा रही होगी क्योंकि उनके स्थित करने के लिए सुराख बने हैं। प्रतिमा के घीछे एक लाइन का छोटा सा लेख है। इसका अध्ययन किया जा रहा है। कला शिल्प के आधार पर यह कस्नतगढ़ से प्राप्त ऋषमन्माथ जी की प्रतिमा से काफी साम्य रखती है और ७वीं शती की जान पड़ती है।

मैने इसके लेख को "ॐ सन्ति गणि" पढ़ा था और वोकानेर जिन लेख संग्रह में प्रकाशित किया था।

२, तीर्थंकर प्रतिमा (प्रतिमा संख्या २)

यह २० सें० मी.० ×७ सें० मी.० की खड़ी हुई किसी पीठिका पर अवस्थित थी । यद्यपि अव पीठिका नहीं रही.

हुक लगा हुआ है । अधोवस्त्र के चिन्ह स्पप्टतः लक्षित हैं। चेंड्रा गोल भरा हुआ है । कजा की दृष्टि से यह ७वीं शती की जान पड़ती है ।

३. चतुर्मुख समवसरग (प्रतिमा संख्या ४)

यह २१ सें० मी० ×१९ सें० मी० की चौकोर चौमुखी प्रतिमा है जिसकी प्रत्येक दिशा में दो स्तम्मों के मध्य एक ध्यानस्थ तीर्थंकर प्रतिमा युक्त थी। अब कैवल तीन दिशा में एक-एक प्रतिमा है, एक ओर की प्रतिमा नहीं है। ये प्रतिमाएँ अस्थिर हैं। पूर्व में शिखर पर ध्वज था। तीर्थंकर प्रतिमाओं की पीठिका पर कुवैर एवं अम्बिका अवस्थित है। ऊपर एक कोने पर एक हाथी का बड़ा ही मनोरम अंकन हुआ है। कला की दृष्टि से यह प्रतिमा ११वीं शती की जान पड़ती है।

८ श्री पार्खनाथ त्रितीर्थी (प्रतिमा संख्या १७)

यह २४ सें० मी० ×१९ सें० मी० की है। पार्ख-नाथ तीर्थंकर एक सिंहासन पर ध्यानमुद्रा में बैठें हुए हैं। उनके पीछे पंचमुखी सर्पफग फंलाए बैठा है जिसने तीर्थं-कर के ऊपर छत्र का रूप धारण कर लिया है। दोनों ओर बाजू में दो अन्य तीर्थंकर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हैं। परिकर पर विद्याधरों का अंकन है। पीठिका पर कुवेर एवं अम्बिका का अंकन हुआ है। पीठिका पर अप्ट-ग्रहों का भी अंकन हुआ है। एक वाजू में चक्रे-क्वरी का अंकन है जब कि दूसरी और कोई अन्य देवी का अंकन था जो अब संख्ति है। यह प्रतिमा ७वीं-प्रवीं शताब्दी की प्रतीत होती है।

भू सरस्वती देवी (प्रतिना संख्या ६१)

यह १३.७ सें० मी०×६.४ सें० मी० की दिवाह प्रतिना सममंग अवस्था में खड़ी हुई अपने दाहिने हाथ में सनाल कमल लिये हुए हैं। मस्तक पर वाल संवार कर एक छोटा जूड़ा वना हुआ है. इसके आगे एक छोटा मुकुट पहन रखा है। पीछे का प्रभामण्डल खंडित है। प्रभामंडल के नीचे प्राप्य माग से पता लगता है कि प्रभामंडरू दो कगार वाला था किन्तु अलंकरण-विहीन था। सरस्वती प्रतिना का चौड़ा ललाट, सीधी लम्बी नासिका. छोटे-मोटे होंठ; लम्बी आँखें और गोल भरा हुआ चेहरा बसन्त-गढ़ की सरस्वती प्रतिमा की भाँति है। स्थानीय भक्त-जनों ने प्रतिमा के नेत्रों में चाँदी भरकर प्रतिमा को कुरूप कर दिया है। देवी के कानों में गोल-गोल कुण्डल हैं जो कंधों को छू रहे हैं। गले में मणियुक्त एकावली एवं उरह-सूत्र धारण किये हैं जो उन्नत पयोधरों के मध्य से होता हुआ वाँयी ओर गया है। नीचे का वस्त्र बसंतगढ़ की सरस्वती प्रतिश की भाँति धारण किया है जिसमें दोनों पैरों के मध्य एक लहरदार वस्त्र है । उत्तरीय दोनों कंधों पर से होता हुआ। एड़ी तक दो शिखाओं में चला गया है। प्रतिना के दाहिनी ओर का उत्तरीय खंडित है। किन्तु इसका खंडित भाग कंधे एवं एड़ी के पास दृष्टि-गोचर होता है। देवी के हाथों में भुजवन्द एवं कंगन तथा पैशें में पायल है।

इस धातु सरस्वती प्रतिमा का वसन्तगढ़ की धातु सरस्वती प्रतिमा से काफी साम्य है और धोती वसन्तगढ़ तीर्थंकरों की माँति है। कला एवं मूर्ति विकास दृष्टि से यह प्रतिमा प्रवीं शती की है और पश्चिमी भारतीय कला के प्रथम चरण को है।

६. जन तीर्थंकर (प्रतिमा संख्या ९४)

चिन्तामणि जी के मन्दिर के सभामण्डप में 8% × 98 सें० मी० की खड़ी प्रतिमा चिरकाल से थी जो अब सुरक्षित स्थान में है। इसके १० सें० मी० की नव्यपीठिका लगा दी है। यह प्रतिमा उत्तरी राजस्थान की प्रतिमाओं में काफी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह बसंतगढ़ पिण्डवाड़ा से प्राप्त दो खड़ी प्रतिमाओं से काफी साम्य रखती है। यह प्रतिमा संभवतः तुरसमखान दारा सिरोही से लूट के लाई हुई होगी। प्रतिमा पर लांछन न होने से यह प्रतिमा किस तीर्थंकर की है, निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।

६६]

इस प्रतिमा की कायोत्सर्ग मुद्रा श्रौर धे ती पहनने का दंग, बसंतगढ़ पिण्डवाड़ा से बिल्कुल साम्य रखता है। उन्नत ललाट, लम्बी नासिका, चौड़े नथने और गोल भरा हुआ चेहरा है। आँखें लम्बी एवं दड़ी हैं। घुंघराले वाल एवं उष्णीश युक्त यह प्रतिमा काफी सुन्दर है फिर भी गुप्तकालीन प्रतिमा जेसा ओज नहीं है। इस प्रतिमा के हाथ लम्बे हैं जिन्हें आजानुबाहु कहा जाता है जो महापुरुओं के लक्षण में आता है। तीर्थंकर के वर्ण भी लम्बे दर्शाए गए हैं, जो कि महापुरुषों के चिह्न हैं। ओठ छोटे हैं। स्थानीय भक्तों ने नकली नेत्र व नीचे लौह पीठिका भी लगा दी है।

वसन्तगढ़ से प्राप्त प्रतिमा शिल्पी शिवनाग के सं० ७८८ (६८७ ईस्वी) के लेख से पता लगता है कि उसने दो प्रतिमाएँ वनाई थीं । डा० उमाकान्त प्रेमचंद शाह ने वहीं से प्राप्त दोनों प्रतिमाओं को शिवनाग रचित माना है। इस प्रतिमा को भी समकालीन मानना उचित होगा क्योंकि इसका शिल्प एकदम उसी प्रकार का है।

चिन्तामणि जी के मन्दिर के मूलनायक श्री आदिनाथ चतुर्विश्ति पहुक भी दादा श्री जिनकुशतस्त्रिर जी
दारा प्रतिद्वित और मण्डोवर के मूलनायक रूप में श्री
जिसे वच्छावतों के आदिपुरुष वोधरा बच्छराज जीधपुर
से साथ लाये थे । मन्दिर की प्रतिष्ठा का
अभिलेख सही है क्योंकि कामरां द्वारा वीकानेर पर
अधिकार कर परिकर भग्न कर देने और सं० १५१२ में
उसका जीणोंद्वार का उल्लेख मूलनायक के परिकर के
अभिलेख में होने से वीकाजी के राज्यकाल में प्रतिष्ठित
होन: निर्विवाद है। केवल वीकाजी को राजा की पदवी
नहीं थी। वह राजा की पदवी रायसिंह को मुगलसम्राट
ने दी इससे मन्दिर की प्राचीनता को नकारा नहीं जा
सकता । अपने राज्य में महाराजा राजा उपाधि हर
कोई लिखते थे इस विपय में ग्रंथों की प्रशस्ति आदि से
भी प्रमाणित किया जा सकता है। अस्तु।

इसी मन्दिर के परके.टे में स्थित शांतिनाथ जिनालय के मूलनायक पार्खनाथ की धातु प्रतिमा सं० १५४९ में श्री जिनसमुद्रसूरि जी द्वारा प्रतिष्ठित है। सं० १५५० में हेमविमल सूरि प्रतिष्ठित धातुमय यंत्रपट में शश्रुंजय अन्त्र, गिरनार, नवपद, समवसरण, चौवीसी, वीस विहर-मानादि उत्कीजित हैं।

श्री महावीर स्वामी का मन्दिर (वैदों का) :

इस मन्दिर में भी संकड़ों धातु प्रतिमाएँ भण्डार में हैं जिसके पूरे लेखों के संग्रह व अध्ययन की महती अ.व-इयकता है। सं० १५३४ की सीमंधर प्रतिमा, सं० १५३१ का किंत्रकृण्ड यंत्र, सर्वतोभद्र यंत्र, दुरितारिविजय यंत्र, पोड्यकरण यंत्र (सं १९६३ दि० रक्कीर्ति उपदेश से) हींकार यंत्र (सं० १५६२ रूद्रपक्षीय गच्छ प्र०), अष्टांग सम्यग्दर्शन यंत्र आदि कितने ही धातुमय कलात्मक उपादानों के साथ सं० १५२७ में म० भुवनकीर्ति प्रतिष्ठित विशाल प्रतिमा सं० १७२७ उदयपुर में श्री सुमतिसागर सूरि के उपदेश से बना सिंहासन भी यहाँ है जिसे सूत्रधार गणेश और कंसारामान जी के पुत्र परताप ने बनाया है। अम्बका देवी की तंन प्रतिमाएँ सं० १३५१, १३५५, १३५५, १३५२ और १४६९ की प्रतिष्ठित है। चाँदी की चक्र देवरी देवी व नवपद यंत्रादि धातु की अनेक वस्तुएँ हैं।

श्री अजितनाथ जिनालयः

यहाँ सं० १५२३ में मन्त्रीदलीय श्र.वक द्वारा निर्मापित और जिनहष्टं सूरि द्वारा प्रतिष्ठित गौतम स्वामी प्रतिमा य कुरुजांगल देश के सपादों नगर में सं० १६८५ में निर्मित पीठ पर जाँची चौकी पर गुरु महाराज दोनों पांव नीचे किये हैठे हैं। इसके अभिलेख में दिगम्बर साधु-साध्वियों के नाम व निर्माता का नाम भी है

श्री चनद्रप्रम जिनालयः

यहाँ अन्य घातु प्रतिमाओं के साथ अप्टरल कमलाकृति प्रतिमा सीरोही में निर्मित स्व० श्री जिनचन्द्र

63

सूरि जी द्वारा प्रति. जित है। चाँदी की प्रतिमाओं में एक सं० १७६४ की सोनीपाहरू द्वारा निर्मित व दूसरी सं० १५५९ की है।

श्री सुपाइर्वनाथ मंदिर :

यहाँ सं० १७९४ के चौमुखजी, सं० १५१६ की रजतमय संपरिकर नेमिनाथ प्रतिमा व सं १५५१ का कलिकुंड यंत्रादि है।

श्री महावीर जिनालय (आसानियों का चौक):

यहाँ सं० १३९० में ज्ञानचंद्र सूरि प्रतिब्दित मिलनाथ भगवान का धातुमय सिंहासन है।

श्री गौडी पार्ख जिनालय :

यहाँ सं० १२७८ में प्रतिध्वित रूधरिका देवी की प्रतिमा है।

चूर डिवीजन के तारानगर के प्राचीन जिनालय में सं० १०५८ की प्रतिष्ठित शीतलनाथ भगवान की धातु प्रतिमा अत्यन्त सुन्दर व कलापूर्ण है। सुजानगढ़ के मन्दिर में चांदी को थाली में घण्टाकर्ण प्रतिष्ठित हैं। देशनोक के मूरों के वास की धातुमय मूलनायक प्रतिमा शान्तिनाथ स्वामी बीकानेर में ही निर्मापित है।

जैसलमेर में हजारों जिन प्रतिमाएँ जिनमें धातुनिर्मित भी संस्याबद्ध व कलापूर्ण हैं। शान्तिनाथ मन्दिर की मूलनायक प्रतिमा सं० १५३६ की प्रतिष्ठित है। गजारूड़ श्रावक प्रतिमा सा० खेता के पुत्र की है जो सं० १५९० की निर्मापित है। चन्द्रप्रम जिनालय में एक प्रतिमा सं० १०५६ की है जिसमें नागेन्द्र सिद्धसेन दिवाकराचार्य के गच्छ का लेख है। लौद्रवाजी में सं० १६७३ का माथा वीज संत्र व धातुमय विशाल कल्पवृक्ष प्राचीनता व कला की दृष्टि से अद्भुत वस्तु है।

जोधपुर के सन्निकट गांगाणी तीर्थ है जहाँ सं० १६६२ में एक तज्ञघर से लगभग ६० प्रतिमाएँ निकली थीं जिसमें सम्राट सम्प्रति और चन्द्रगुप्त द्वारा निर्माणित प्राचीनतम् लेख युक्त प्रतिमाएँ थीं । उस जमाने में प्राचीन लिपि का अम्यास न होने पर भी विद्वान जैनाचार्य श्री जिनराजसूरिजो ने अम्बेका देवी की सहायता से पढ़ी थीं । उन प्रतिमाओं में एक अर्जुनहेम (प्लेटिनम) की भी-पार्श्वनाथ प्रतिमा की आश्चर्यजनक उपलब्धि हुई थीं । कविवर समयसुन्दर जी ने अपने स्तवन में इसका विस्तृत वर्णन किया है । उसके साथ कुछ अन्य प्रतिमाएँ, धूपदान कंसात जोड़ी आदि उपकरण भी निक्ले थे । अब, वे प्रतिमाएँ कहाँ हैं और क्य छिपा दी गईं. पता नहीं । परन्तु अब भी गांगाणी के मंदिर में सं० ९३७ के अभिलेख वाली ऋगभदेव भगवान की अत्यन्त सुन्दर कलापूर्ग प्रतिमा विराजित है जिसका परिकर कहीं भण्डार में हो संकता है ।

जोधपुर के मन्दिर में भी कई सुन्दर कलापूर्य विविध प्रकार की प्रतिमाएँ हैं। साचोर, मीनलाल, जालोर आदि प्राचीन स्थान कलापूर्य प्राचीन मूर्तियों के लिये पर्याप्त प्रसिद्ध थे।

नागीर के बड़े मन्दिर में धांतु प्रतिमाएँ पर्याप्त प्राचीन और कलापूर्ण भी हैं। एक मन्दिर के समा-मण्डप में क्लापूर्ण समवसरण मेरु पर्वत देखा था जो लगभग ३५-४० इंच ऊँचा होगा। नागौर जैसे प्राचीन नगर में दिगम्बर व व्वेताम्बर मन्दिरों में क्लाह क उपादानों के विवय में अन्वेपण अपेक्षित हैं। मुस्लम काल से पूर्व नागौर के जिनालयों की जो संख्या व स्थिति थी. प्राचीन स्तवनादि से विदित होता है कि धातुमय तोरण व परिकर युक्त विशाल प्रतिमाओं की अवस्थिति थी। राजस्थान व गुजरात के प्रत्येक नगर में प्राप्त धानु प्रतिमाओं में कुछ न कुछ कला वैशिष्ट्य मिलता हैं। केशरियाजी तीर्थ में चौवीसी विधा की एक धातुमय प्रतिमा में अतीत. अनागत और वर्तमान चौवीसियों के बहत्तर जिनविव अवस्थित हैं।

হদ]

सिरोही के कलापूर्ण मन्दिर विख्यात हैं जहाँ आस-पास के अनेक गाँवों में सहस्राब्द के पूर्व के मन्दिर विद्यमान हैं। बसन्तगढ़ की दुर्लम प्रतिमाएँ मी पिण्ड-वाड़ा के जेन मन्दिर में होने का उल्लेख आगे किया जा चुका है। सिरोही के सभी मन्दिरों में कलापूर्ण प्राचीन प्रतिमाएँ हैं। श्री अजितनाथ जिनालय में १७२ धातुमय जिन प्रतिमाएं हैं तथा उसके आगे वान पार्क्व में पुरातत्व मन्दिर है जिसमें दसवीं शती से लेकर सोलह्वीं शती तक की ५४० प्रतिमाएँ सुरक्षित हैं। आदिनाथ जिनालय के अन्तर्गत सुमतिनाथ जी के गंभारे के मूमिगृह में १००० धातु प्रतिमाएँ १२वीं से १४वीं शती तक की हैं। इस मन्दिर में २९३ सर्व धातु की व ६ रजतमय प्रतिमाएँ हैं। शान्तिनाथ मन्दिर में ३३ धातु प्रतिमाएँ हैं। अन्य सभी मन्दिरों में अनेक धातु प्रतिमाएँ हैं।

आबू अचलगढ़ तो अपनी शिल्प समृद्धि के लिये विश्व विख्यात है। विमल प्रवन्ध से ज्ञात होता है कि विमलवसही में मूल नायक की प्रतिमा पित्तलमय थी। यतः

ा वस्तु ॥ "विमलवसही विमलवसही विमल प्रासाद पित्तलमइ अढार मारनी आदिनाथ प्रतिमा प्रसिद्धी संवत् १०५५ वर प्रतिष्ठ शुभ लग्नि कीधी ।"

अचलगढ़ में विशाल जिन प्रतिमाएँ १८४४ मन तौल की है जिनमें स्वर्ण का भाग भी अच्छे परिमाण में हैं। आबू की भीमावसही जिसे पित्तलहर कहते हैं, में सुन्दर और कलापूर्ण विशाल मूलनायक प्रतिमा विराजित हैं।

जैन धातु प्रतिमाएँ अनेक विधाओं की पःयी जाती हैं एवं अन्य उपादान भी अनेक प्रकार के उपलब्ध हैं जिन पर संक्षिप्त प्रकाश खाला जाता है।

अष्टदल-कमलः

लगमग चार सौ वर्प से अब्टदल कमल युक्त प्रतिमा निर्माण के उदाहरण बीकानेर त्रादि में देखे गये हैं। बीका-

नेर, सीरोही आदि में प्रतिष्ठित ऐसी प्रतिमाओं के मध्य स्थित कर्णिका पर यह जिन प्रतिमा और उसके आसन के निम्न भाग से मिन्न-भिन्न अएदल पंखुड़ियाँ पिरो-कर संलग्न किये रहते हैं जिनमें आठ भगवान की अ!ठ प्रतिमाएँ बनी रहती हैं । उन्हें वन्द करने पर बन्द कमल और खोल देने पर विकसित कमलाकार में मध्य वेदी सहित नौ प्रतिमाओं के एक साथ दर्शन हो जाते हैं। दिल्ली के नौघरा मन्दिर में इस विधा का एक और विकसित रूप देखा गया है जिसमें डबल स्तर में अन्यन्त सुन्दर ढंग से जिन विम्ब-नवपदादि बने हुये हैं । बीकानेर में अकवर-प्रतिवोधक श्री जिनचन्द्रसूरि प्रतिष्ठित कई प्रतिमाएँ हैं पर श्री जयचन्द्रजी के भण्डार में सं० १८९५ में महाराजा रणजीतसिंह के राज्यकाल में पिण्डी में प्रतिष्ठित एक ऐसी प्रतिमा है। हमारे शंकरदान नाहटा कलाभवन में एक स्वर्णमय कमल है जिसके बीच में हाथी दाँत की जिन प्रतिमा है। दबाने पर कमल विकसित हो जाता है।

सिद्ध प्रतिमाः

अर्हन्त भगवान तो सशरीरी होते हैं पर सिद्ध मगवान तो अरूपी आहम-प्रदेश मात्र हैं। उनका रूप चित्रण कैसे हो ? इस समस्या का समाधान दिगम्बर परम्परा में निकाला गया और पीतल-रजत आदि धातु के पात को खड़ासन काटकर मध्य में केवल अवगाहना त्रिभाग घनीभूत आत्मप्रदेश का प्रतीक आकाश प्रदेश खाली रख दिया गया। यह सिद्धमूर्ति के दर्शन की विधा केवल दिगम्बर जिनालयों में ही दृष्टिगोचर होती है। श्वेताम्वर समाज ने इस और ध्यान ही नहीं दिया।

गणधर प्रतिमाः

कलकत्ता मन्दिर में १६ वीं शती की दो धातुमय गौतम स्वामी जी की प्रतिमाएँ हैं। गत शताब्दी में पुण्डरीक स्वामी की प्रतिमा बनवा कर प्रतिष्ठित करवायी थी। उसी समय दादासाहब के चरण भी कमलासन

पर बनवाकर राजलदेसर मन्दिर में भेजे गए थे। इन्द्र प्रतिमाः

इन्द्र की चामरधारी प्रतिमाएं तो पंचतीर्थी आदि में प्रचुर परिमाण में हैं पर भगवान के जनमाभिषेक समय की एक प्रतिमा पद्मासन मुद्रा में है जिसके गोद में एक छिद्र है जिसमें भगवान की प्रतिमा बैठाकर अभिषेक करने हैतु निर्मित प्रतीत होती है। इन्द्र प्रतिमा के मस्तक पर मुकुट कुण्डलादि देख कर जीवित स्वामी की प्रतिमा होने का भ्रम होता है। ऐसी प्रतिमा राख बद्रीदास कारित शीतलनाथ जिनालय के अतिरिक्त अन्यन्न कहीं नहीं देखी गईं।

विजय यंत्रः

आचार्य श्री जिनप्रमसूरि द्वारा विजययंत्र का प्रत्यक्ष प्रमाव अनुभव कर सम्राट मुहम्मद तुगलक ने दो ताम्रमय यंत्र वनवाकर एक आचार्यश्री को भेंट किया व दूसरा स्वर्य हरदम अपने पास रखने लगा था।

नौ-ग्रह दश-दिग्पाल पट्टः

सिद्धचक्र विधानादि में मण्डलपूजा में ताम्र के नौ ग्रह दश दिग्पाल के बड़े बड़े पट्ट बनते हैं जिनमें उनके नमस्कार पूर्वक नाम व प्रतीक खुदे रहते हैं। कई मन्दिरों में ऐसे पट्ट पाये जाते हैं।

अष्टमंगल :

प्राचीन शास्त्रों में पूठों पर चित्रों में और शिल्प में अब्द मंगल प्रचुरता से पाये जाते हैं। सन्नह मेदी पूजा में भगवान के समक्ष अखंड चावलों से अप्टमंगल आलेखित होने का उल्लेख है पर वह कार्य कठिन होने से चांदी और पित्तल कांस्य के अप्टमंगल पट्ट भी सिद्धचक्र यंत्रादि की माँति प्रत्येक मन्दिर में पाये जाते हैं। पाटे पर खुदे हुए अब्दमंगल चावलों से पूरे जा सकते हैं पर आजकल चढ़ाने के इस उपादान को पूजनीय समझ कर लोग इनकी पूजा करने लगे हैं जो उचित्त नहीं!

घंटाकर्णयंत्र पट्ट :

ताम्रपत्र पर घण्टाकर्ण पूजा के यंत्र और मंत्राक्षरादि वाले पष्ट भी पाये जाते हैं। हमारे कलाभवन में एक ताम्रपष्ट संग्रहीत है।

नवपद-सिद्धचक्र यंत्रः

जैन समाज में चेत्र-आश्विन के अन्तिम मी दिनों में आयंदिल पूर्वक नवपदी का आराधन किया जाता है जिसे ओली जी कहते हैं। मन्दिरों में नवपद मण्डल की रचना होकर विधि-विधान पूर्वक वृहत् पूजा भगाई जाती है । सिद्धचक्र यंत्र गष्टाजी तो स्नात्रपूजादि में नित्य ही पूजे जाते हैं । धातुमय सिद्धचक्र यंत्र चांदी पीतल और कांस्यमय प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं जिसमें वड़यों में केंवल नाम और कड़यों में प्रतिमाएँ उत्वीर्गित पायी जाती हैं। पापाण पटों की भाँति धातुमय यंत्रों पर भी इस विधा का वैविध्य प्राप्त होता है । दले हुए धातुमय यंत्र अजीमगंज के दूगड़ परिवार द्वारा शतःव्दी पूर्व प्रचर परिमाण में निर्मित हुए थे जिनमें अक्षर खुदे हुए नहीं पर जपर उठे हुए हैं । सिद्धचक्र मंडल के बहुत वड़े-बड़े पट्ट भी पाये जाते हैं । कलकता के इवे० पंचायती मन्दिर में एक वृहत् आकार का पट्टक है। इसमें मण्डल पूजन के सारे विधान विधिवत् वने हुये हैं।

नव देवताः

जिनकांची के मिन्दर में एक यंत्र और द्वितल पादपीठ स्थित कमलासन पर मध्य में नृसिंह और उसय पक्ष में वने सिंहों पर चक्र में अध्टदल युक्त सुन्दर यंत्र बना हुआ है। मध्य में अरिहंत, जपर सिद्ध, फिर आचार्य, उपाध्याय, साधु के अतिरिक्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के प्रतीक स्वरूप जिनालय, ठवणी पर शास्त्र, धर्मचक्र व तपस्वी मुनि के चित्र उत्कीणित हैं। अर्हन्त मगवान के उभय पक्ष में चामर रखे हुये हैं।

चतुर्मुख प्रासादः

मुनिश्री पुण्यविजय जी के संग्रह में धातु का एक

၂ ငေ

सुन्दर परिकर है जो सं० १६१६ का है। इसकी कलापूर्ण अभिव्यक्ति प्रशंसनीय है। पृष्ठ भाग में विस्तृत अभिवेख है जिसमें पूर्णिमा पक्ष के विद्याप्रमसूरि द्वारा प्रतिष्ठा कराने व पाटण के ढंढेर पाड़े के श्रीमाल झातीय श्रावक परिवार के पदमप्रम विव निर्माण करने का उल्लेख है। इसकी मूल प्रतिना अब नहीं है। एक छोटा-सा धातुमय जिनालय है जो चारों ओर खुला है। इसमें चतुर्मुख प्रतिमाएँ विराजनान रही होंगी। इस देहरासर का शिखर अल्यंत कलापूर्ण है। सं० १४६२ में इस चतुर्मुख प्रासाद को सा० धर्मा द्वारा स्वर्ण रौष्य से अलंकृत कराने और संच द्वारा निर्माग कराने का उल्लेख है। यह भी मुनि पुण्यविजयजी के संग्रह में है।

सूरत के दिगम्बर जिनालय में एक कांस्य का चतु-मुंख जिनालय भी धातु प्रतिमाओं की विधाओं में अपना विशिष्ट्य रखता है । इसमें चतुर्दिक् तेरह प्रतिमाएँ हैं जिनमें एक खड़ासन और वारह पदमासनस्थ हैं। प्रथम तल में इस प्रकार ५२ हुईं। द्वितीय तल में सोलह, तृतीय तल में चौमुख इस प्रकार ७२ प्रतिमाएँ कलापूर्ण स्तम्म व तोरण युक्त सुशोभित है।

नन्दीश्वर द्वीपः

कोल्हापुर के जिनालय में एक धातुमय नन्दीस्वर विम्व स्थापित है। जिसमें चौरस चतुर्मुख प्रथम तल पर २०. द्वितीय तल पर १६. तृतीय तल पर १२ और चतुर्थ तल पर ४ जिनविम्व है। प्रतिमाएँ पद्मासन मुद्रा में हैं और जपर शिखर कलश युक्त है।

सहस्रकूट जिनालय 🏾

पाटण नगर में कांस्य का सहस्रकृट जिनालय अत्यंत सुन्दर कलापूर्ण है । यह सर्वतोभद्र की माँति चतुर्म्ख और पर्याप्त ऊंचा है । नीचे वारह पर्णदा और सीढ़ियाँ वनी हुई हैं । ऊपर की तीन मंजिल में चतुर्दिग् १००५ जिन प्रतिमाएँ हैं, चारों कोनों में चामरधारी और मकर- मुख आदि अलंकरण हैं; उपकरण क्लश लगा हुआ है ।

नरवर का सहस्रकूट बिम्ब इस समय झांसी के जिनालय में है। यह धातुमय ढठा हुआ चार साढ़े चार फुट छंचा नी भागों में विभाजित खण्डों की जोड़ कर बनाया गया है। मध्य स्थित प्रतिमा प इ'च की है. अवशिष्ट एक डेड़ इंच की है। समस्त प्रतिमाएँ १००२ है और सं० १५१५ शक १५०९ (२) महारक धर्ममूचण के उपदेश से निर्मित हैं। ऊपरी भाग में पीतल का सुन्दर कलश है।

समवसरण :

सूरत के जैन मंदिर में एक धातुमय समवसरण अत्यन्त सुन्दर, कलापूर्ण और दर्शनीय है। इस विशाल समवसरण को नीचे चौरस कलापूर्ण आसन पर वृत्ताकार तीन गढ़ और वारह पर्वदा वाला वनाया है। यह सन् १०५५ का दना हुआ है। इसके प्रतीली द्वार, सोरण और विशिष्ट प्रकार का शिखर भी बैजीड़ है।

पंच मेरु :

यह भी सूरत के दि० जैन मिन्दर में पाँचों द्वीपों के पाँच मेरु के प्रतीक रूप पाँच तलों में अत्यन्त सुन्दर कलामय अभिव्यक्ति वाला वेजोड़ बना हुआ है। तःस्रशासन !

तं थाँ-मन्दिरों आदि के लिये राज्य की ओर से. जो मूमिदान आदि किये जाते थे, उनके अनेक ताम्रशासन संस्कृत. प्राकृत व राजस्थानी माषा में लिखे हुए उपलब्ध हैं। बंगाल के ब्राह्मण गृहनन्दि द्वारा पहाड़पुर के जेंन मन्दिर-मठ को दिया गया ताम्रशासन पाँचवीं शताब्दी का है। विक्रमपुर का एक ताम्रशासन जेसलमेर में देखा था। बीकानेर के ज्ञान मंडार में नाल दादाजी की पूजा के हेतु प्राप्त राजकीय ताम्रशासन है। हमारे कला मवन में भी एक ताम्रशासन है।

99

रजतमय समवसरगादि :

बड़ौदा के नरसिंहजी की पोल में स्थित दादा पार्ख-नाथ जिनालय में एक चाँदी का विशाल समवसरण है। इसी प्रकार भारत के प्रत्येक नगर में विपुल सामग्री संप्राप्त है। कलकत्ता के पंचायती मन्दिर से विश्व विश्रुत कार्तिक महोत्सव की शोभायात्रा में धर्मनाथ स्वामी का जो समवसरण निकाला जाता है वह सं० १८९३ में हेमल्टन कम्पनी से वनवाया गया था। हेम रजल व मणियों से सुशोभित एवं मखमल-जरी से अलंकत यह अद्मुत कलाकृति है । इसके अलिरिक्त अन्य छोटे समवसरण, नोबत खाना, पट, लेश्या दक्ष आदि अनेक कलामय वस्तुएँ हैं । फुलधरा, पालने, ध्वजायें, त्रिगढे एवं सिंहासनादि सामग्री जेन मन्दिरों में प्रचर परिमाण में हैं । उपर्युक्त समवसरण के अनुकरण में कलाप्रेमी श्री भैरू दान जी कोठारी द्वारा बनवाया हुआ समवसरण बीकानेर में भी है। भारत के अनेक जिनालयों में समवसरण, कल्पवृक्ष, रथ, देवालय, सिंहासन, चतुर्दश महास्वध्नों के सेट आदि निर्माण द्वारा कला को काफी प्रोत्साहन मिला है। भगवान की अंगियाँ, स्वर्ण, रजत और रहनजटित है जिसमें कला का प्रत्यक्ष दर्शन होता है । रजतमय प्रतिमाएँ अनेक भाग्यशालियों ने निर्माण करायी थीं। मकसुदावाद के दूगड़ परिवार ने शताबदी पूर्व वहुत सी रजतमय प्रतिमाएँ निर्माण कराई थी जो आज भी संप्राप्त है। नाकोड़ा जी की मूलनायक प्रतिमा का परिकर रजतमय है। मन्दिरों की वेदियां, कपाट, सिंहासन, बंदनवार आदि अनेक मन्दिरों में विद्यमान हैं।

उपसंहार :

इस प्रकार धातु प्रतिमाओं के विराट विहंगावलोकन से प्रमाणित है कि प्रतिमादि निर्माण में धातुओं का प्रयोग अति प्राचीनकाल से होता आया है। मधुरा के देव निर्मित बौद्ध स्तूप स्वर्ण रत्नमय धातु से निर्मित थे। धंधाणी में निकली हुई समप्रति-चन्द्रगुप्त कालीन प्रतिमाएँ. बम्बई म्यूजियम की कांस्य प्रतिमा, आकोटा की जीवंत स्वामी आदि की प्रतिमाएं वक्षभी, महद्धी, वसंतगढ, बीकानेर आदि की गुप्तकालीन शिल्प परम्परा युक्त प्रतिमाएँ धंगाल, उड़ीसा, दिहार से प्राप्त प्रतिमाओं में कृपाण, गृप्त, पाल और मध्यकालीन शिल्पमय पंचतीश्चियाँ, चौवीसी, त्रितीर्थी, अपरिकर इकतीर्थी आदि कला का विकास, उसमें विभिन्न देवी-देवता, भक्तगणादि का प्रवेश अपने आप में एक विशिष्ट अध्ययन की सामग्री है। विशाल से विशालतम और लघु से लघुतम प्रतिमाएँ तथा सहस्रकृट. मेरुगिरि आदि शिल्प व यंत्र समवसरण. पटादि विधाएं मथरा के आयागपड़ की परम्परा को उजागर करने में सक्षम है। शिल्प शास्त्र वास्तुविद्या विषयक प्रन्थों से इस विशय में अध्ययन प्रस्तुत करना एक स्वतंत्र शोध का विषय है! इससे प्राचीन भारत के सांस्कृतिक व धार्मिक पूजा उपासना के अध्याय पर गम्भीर और मनोरंजक प्रकाश पड़ सकता है। यहाँ कुछ थोडी-सी यथाज्ञात सामग्री पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

आरा। है विद्वान लोग इस उपयोगी विषय के शोधार्थ में सविशेष प्रवृत्त होंगे।

पावा समीक्षा की परीक्षा

पावापुरी स्थान के सम्बन्ध में कुछ पाइचात्य विद्वानों और भारतीय अन्वेषकों ने बौद्ध साहित्य के आधार से शंका उपस्थित की है और उत्तर प्रदेश के कई स्थानों को प्राचीन पावा बताने का प्रयतन किया है। पर जैन समाज ने, बौद्ध ग्रन्थों के आधार से जो अनिर्णित स्थान बतलाए गये उन्हें मान्य नहीं किया. क्योंकि जैन परम्परा का आधार ही जैन समाज को मान्य हो सकता है, बौद्धों का नहीं है कारण स्पष्ट है कि वौद्ध ग्रन्थों में जो भी विवरण जैन सम्बन्ध में मिलते हैं वे भ्रामक एवं द्वेषपूर्ण प्रतीत होते हैं। इतना ही नहीं, उनके कई उल्लेख तो परस्पर विरोधी भी हैं। भगवान महावीर के निर्वाण सम्बन्धी वौद्ध ग्रन्थों में जो उल्लेख मिलते हैं वे प्रायः गलत प्रतीत होते हैं । जैसा कि एक उल्लेख में यह कहा गया है कि महःवीर के निर्वाण के बाद तत्काल ही उनका संघ दो भागों में विभक्त हो कर परस्पर कलह करने लगा पर, यह बात जैनागमों के प्रकाश में सर्वथा गलत सिद्ध होती है। क्योंकि महावीर के निर्दाण के कुछ घटों के बाद ही गौतम स्वामी को कैवलज्ञान हो गया था । उसके वाद सुधर्मा स्वामी जैन संघ के एकमात्र कर्णधार बने। अतः संघ के दो भागों में विभक्त होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

इसी। प्रकार बौद्ध ग्रन्थों के एक उल्लेख में भगवान महावीर के नालन्दावासी और बौद्ध महिमा को सहन न करने सै खुन की उल्टी होने और वहाँ से पावा ले जाने का उल्लेख मिलता है, यह भी सर्वधा गलत है। मुनि नगराज जो आदि ने भी इसे पीछे का जोड़ा हुआ माना है। प्राचीनतम् स्वेताम्बर जैनागम कल्पसूत्रादि से यह सिद्ध है कि भगवान महावीर निर्वाण के समय पूर्ण स्वत्थ थे । सोलह प्रहर तक अखण्ड देशना देते हुए निर्वाण पाये। वे अपापा या मध्यमा पावा की हस्तिपाल की रजजुगशाला में विराजमान थे। अतः नालन्दा से अस्वस्थ अवस्था में पावा जाना और खून की उल्टी होना सर्वथा असंगत ही है। यदि बौद्ध उल्लेख को एक दृष्टि से ग्रहण कर लिया जाय तो भी वर्तमान पावापरी ही निर्वाण-स्थान सिद्ध होगा । क्योंकि अस्वस्थ अवस्था में बौद्ध ग्रन्थोक्त पावा में जाना हो सम्भव ही नहीं हो सकता ।

महावीर और बुद्ध समकालीन होने पर भी कभी परस्पर मिले नहीं । जैनागमों में बुद्ध या बौद्ध धर्म की निन्दा या विरोध में कुछ भी नहीं कहा गया जबकि बौद्ध ग्रन्थों में निग्गंठनातपुत्र महावीर और उनकी विचार-धारा पर स्पष्ट रूप से विरोधी स्वर तथा निन्दाहमक शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। बौद्ध ग्रन्थ भी बुद्ध निर्वाण के काफी बाद के लिखे हुये हैं और उनमें पीधे से घोलमेल भी होता रहा है इत्यादि अनेक कारणों से बौद्ध ग्रन्थोक्त पावा भगवान महावीर का निर्वाण स्थान मान्य नहीं की जा सकती क्योंकि जहाँ बौद्धों का अधिक प्रभाव रहा वहाँ जैन कम हो गये और 'जहाँ जैनों का प्रमाव रहा वहाँ बौद्ध भी प्रायः कम हो गये थे। अतः बौद्ध ग्रन्थोक्त पावा जो कुशीनारा के निकटवर्ती और मल्लों की राजधानी बतलाई जाती है, उस पावा में वैसे भी भगवान महावीर का निर्वाण होना नहीं जँचता । राजगृह-नालन्दा में भगवान ने अनेक चातुर्मास किये, वहाँ जैनों का खूब प्रभाव था ! ग्रतः अन्तिम निर्दाण स्थान जैनों के प्रभाव व मान्य स्थान के आसपास ही होना अधिक तर्हसंगत और हृदय-ग्राह्य है ।

पावा नामक स्थान भगवान महावीर के समय में भी तीन या तीन से अधिक थे । कृशीनारा के पास की पावा में बौद्ध प्रमाव ही अधिक होना चाहिए। जैन ग्रन्थों में महावीर के निर्दाण स्थान को मजिझन पावा के नाम से उल्जिखिल किया है जबकि बौद्ध ग्रन्थोक्त पावा को 'मजिसम पावा' कहीं भी नहीं वतजाया है! पन्यास कल्याणविजयजी ने अपने 'श्रवण भगवान महावीर' ग्रन्थ में स्वप्ट लिखा है कि पावा नःमक तीन नगरियाँ थी । जैन सूत्रों के लेखानुसार एक पावा मंगिदेश की राजधानी थी। यह देश पाइर्वनाथ पहाड़ के आसपास के भूमिभाग में फला हुआ था जिसमें हजारीवाग और मानभूत जिलों के भाग ज्ञामिल हैं । दूसरी पावा कुशीनारा की और 'मल्लों की राजधानी थी । तीसरी पावा मगत्र जर्नबंट में थी. यह उक्त दोनों पावाओं के मध्य में थी । पहली पावा इसके आग्नेय दिशा भाग में और दूसरी इसके वायव्य भाग में लगभग सम अंतर पर थी इसीलिये यह प्रायः मध्यमा पावा के नाम से ही प्रसिद्ध थी । भगवान महावीर के अन्तिम चातुर्मास का क्षेत्र और वीर निर्वाण मुमि इसी पावा को समझना चाहियै । बौद्ध ग्रन्थों में इस तीसरी पावा की चर्चा नहीं है । जैन ग्रन्थों में पहली पावा का उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता।

अभी-अभी छपरा के श्री कन्हैयालाल सरावगी का 'पावा समीक्षा' नामक ग्रन्थ देखने में आया । इसमें मुख्यरूप से वौद्ध ग्रन्थों के आधार पर कुशीनारा के पास की पावा को ही भगवान महावीर का निर्वाण स्थान सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। वास्तव में जिस सिठयाँव या फाजिलनगर को पावा नामक स्थान वतलाया गया है उस स्थान के पक्ष में एक भी जीन प्रमाण वे नहीं दे पाये । वस्तुतः किसी भी सम्प्रदाय

की बात को उस सम्प्रदाय के ग्रन्थों !और प्राचीन परम्परा के आधार से बतलाना या मानना अधिक उचित है। विरोधी धर्म-सम्प्रदायों की वात जब बहुत-सी भ्रामक. गजत और द्वेपपूर्ण सिद्ध होती ही है, तब उनके आधार से जैन परम्परा की उपेक्षा करना सर्वधा अनुचित है।

श्री सरावभी जी ने अपनी वात को सिद्ध करने के लियें मिट्टी की मोहर का जो पाठ उपस्थित करके. उससे जो अर्थ निकाला है वह तो वहुत ही हास्यास्पद-सा लगता है।

श्री सरावगी दिगम्बर सम्प्रदाय के हैं और उस सम्प्रदाय में प्राचीन जैन इतिहास एवं साहित्य की परम्परा उत्तनी सुरक्षित नहीं रही, जितनी इवेताम्बर सम्प्रदाय में रही है। प्रारम्भिक निवेदन में उन्होंने इसे स्वप्टतः स्वीकार किया है कि "क्वेताम्बर सम्प्रदाय में तो तीर्थ-कल्प आदि कुछ ग्रन्थ हैं भी पर दिगम्बर सम्प्रदाय में कोई ऐसा प्राचीन ग्रन्थ नहीं भिलता जिससे तोथों की तालिका, अवस्थिति, स्थान, मार्ग, रचना, निर्माण कालादि का ज्ञान हो सके "

इवेताम्बर साहित्य और इतिहास की अजानकारी के कारण ही उन्होंने यहाँ तक लिख दिया कि "छठी शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक जेनों के अनेक तीर्थ विस्मृत हो गये अथवा उनके अधिकार के बाहर हो गये। आगे चलकर महारकों ने और उनकी प्रेरणा से श्रद्धालु धनिकों ने मिलते-जुलते नामों के आधार पर अथवा मावुकता के तल पर कृत्रिम तीर्थों की स्थापना कर मध्य विशाल मंदिर, चैत्य, धर्मशालाएँ आदि का निर्माण करवा दिये। कुण्डलपुर, क्षत्रियकुण्ड आदि की कृत्रिमता तो प्रमाणित हो ही चुकी है। पावापुरी भी इसी प्रकार स्थापित तीर्थों में से एक है।" वास्तव में पूर्व देश से जेन संघ जब पश्चिम और दक्षिण की ओर चला गया तो प्राचीन तीर्थों में आवागमन अवश्य कम हो गया पर परम्पर। विच्छेद नहीं हुई। न्यूनाधिक

हो, पर जैन संघ उन प्राचीन स्थानों में भी रहा अवश्य है। जिस तरह बिहार के मानभूम आदि जिलों में सराक जाति, सरावगीजी की बतलाई हुई शताब्दियों में निवास करती रही है जिनको सभी लोगों ने एक मत से प्राचीन जैन श्रावक माना है और उनके निवास स्थान में सरावगीजी के उल्लिखित काल में वने हुए अनेक मन्दिर और जैन मृत्तियाँ कुछ वर्षी पूर्व तो अधिक पर अभी भी थोड़े रूप में प्राप्त हैं। इसी तरह विहार शरीफ, राजगृह आदि के आसपास एक दूसरी प्राचीन जैन जाति के लोग प्राचीन समय से. पीछे की शताब्दियों तक निवास करते रहे हैं ! वह जाति है—महत्तियाण, जिसे संस्कृत शिलालेखीं में 'मन्त्रिदलीय' कहा गया है। अनुश्रुति के अनुसार वे भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत की परम्परा के थे। सम्भव है उनमें से जैन गुरुओं का सम्पर्क न रहने से बहुत से लोग जैनधर्म मूल चुके हों! इसलिए खरतरगच्छ के मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि जी ने सं० १२११ से सं० १२२३ के बीच महतियाण जाति के लोगों को जैन धर्म का प्रतिबोध दिया। इस सम्बन्ध में हमारा निवन्ध 'मणिधारी जिनचनद्रसूरि' में द्रप्टब्य है। इस जाति वाले जैन वन्ध् पर्याप्त प्रतिप्टित. धर्मप्रेमी और धनवान रहे हैं। उनके नामों के आगे 'ठक्कर' विशेषण उनके भूमिपति होने का सूचक है ! स्तरराच्छ की 'युगप्रधानाचार्य गुर्वावली' के अनुसार सम्वत् १३५२ में तो महत्तियाण जाति वाले जैनी राजगृह और विहार शरीफ के आसपास काफी संख्या में रहते थे। इसी कारण और उनके अनुरोध से खरतरगच्छ के वाचक राजशेखर ने नालन्दा वड़गाँव में चातुर्मास किया और वहाँ के जैनों ने बिहार एवं उत्तरप्रदेश में तीर्थयात्री संघ निकाला जिसमें राजगृह, नालन्दा, पवापुरी, क्षत्रिय-कुण्ड. माहणकुण्ड. काकन्दी तथा वाराणसी. अयोध्या. रत्नपुरी, हस्तिनापुर आदि तीर्थों की यात्रा की। और गणिजी को पुनः लाकर विहार शरीफ में चातुर्भास कराया। इससे भगवान महावीर के वर्तमान निर्वाणस्थान

पावापुरी, कृत्रिम या स्थापित तीर्थ न होकर परम्परागत मान्य सही तीर्थ सिद्ध होता है।

दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वान पं० बलभद्र जैन ने समस्त भारत के दिगम्बर जैन तीथों का इतिहास ५ वृहद्भ खंडों में तैयार किया है । उन्होंने पावापुरी के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण लेख 'अनेकान्त' के अक्टूबर अंक में प्रकाशित करवाया है ! इसमें संस्कृत निर्वाण-भक्ति के श्लोक उद्भूत करते हुए लिखा है कि "महावीर कमल-वन से भरे हुए और नानावृक्षी से संशोभित पावानगर के उद्यान में कायोत्सर्गध्यान में आरूद हो गये । पावापुर नगर के बाहर उन्नत-मुसिखंड पर कमलों से सुद्रोभित तालाव के बीच में निष्पाप वर्द्धमान ने निर्वाण प्राप्त किया।" इस उल्लेख से वर्तमान मान्य पावापुरी ही प्रभु का निर्वाण स्थान. दिगम्बर प्राचीन परम्परा के अनुसार भी सिद्ध होता है। कमलों के सरोवर के बीच ही वर्त्तमान जलमन्दिर मञ्चजनों के परम आहाद को उत्पनन करने वाला विद्यमान है। बौद्ध ग्रन्थोक्त सिंठयाँव वाली तथाकथित पावा में कमलसरोवर जानने में नहीं आया।

सरावगीजी ने पावा समीक्षा के प्रथम परिच्छेद में लिखा है कि ''उत्तरी विहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश से जैन धर्म का वारहवीं शताब्दी तक पूर्णतः लोप हो गया था। वारहवीं शताब्दी तक वैशाली और मल देशों से जैनों का सर्वथा विहर्गमन हो चुका था और मुसलमानों का आतंक इन क्षेत्रों में बना हुआ था, इससे जैन अपने पूर्ववर्ती तीर्थस्थानों की और से उदासीन हो चुके थे और उन्हें प्रायः मूल चुके थे। सम्भवतः वारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक या तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में पटना वाली वर्तमान पावापुरी में मगवान महावीर के प्रतीक की स्थापना कर दी गई। पंद्रहवीं शताब्दी तक वर्तमान पावापुरी की भगवान महावीर के निर्वाण क्षेत्र के कप में मान्यता हो गयी थी और मध्यमा पावा की

[0¥

स्थिति को जैनी भूल चुके थे।" सरावगी जी का यह लिखना इनिहास की बड़ी भूल है, वर्धों के ईसा की बारहवीं शताब्दी तक मुसलमानों का आतंक इन क्षेत्रों में नहीं हुआ था। मुसलमानी साम्राज्य तो दिल्ली में भी बारहवीं शताब्दी में नहीं, चौदहवीं शताब्दी में उनका आतंक माना जा सकता है। इसी तरह पनदहवीं शताब्दी तक वर्तमान पावापुरी को निर्वाण क्षेत्र की मान्यता होने की बात भी सही नहीं है, क्योंकि सन् १२९५ में खरतरगच्छ के मुनियों और संघ ने वर्तमान पावापुरी की यात्रा की थी। उस समय वह निर्वाण स्थान के रूप में परम्परा मान्य ही था, अतः १५वीं शती की बात सर्वथा गळत है।

सरावगी जी सिंठियांव फाजिलनगर को हो बौद्ध ग्रन्थों के आधार से पावा होने का जगह-जगह लिखते हैं पर वह भी बौद्ध ग्रन्थों एवं भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार ठीक नहीं है क्योंकि पावा कुशोनगर से तीन गव्यूति दूर थी। गव्यूति का अर्थ भरतसिंह ने पौन योजन. आजकल की गणना में करीब छः मील बतलाया है जबिक सरावगीजी ने १२ मील बताते हुये सर्वत्र 'सिंठियाँव' की पुष्टि की है। 'तीन गव्यूति' का अर्थ यदि पौन योजन और छः मील खाल भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार सही है तो सिंठियांव और फाजिलनगर के हवाई किले तो हवा में ही उड़ जाते हैं क्योंकि वह तो १२ मील दूर है।

सरावगीजों ने पृष्ठ २१ में लिखा है कि वर्तमान पावापुरी में कोई पुरानी चीज नहीं मिलती ! जो भी है गुप्तकाल के बाद की है, इससे इस पावापुरी की अर्वाचीनता सिद्ध होती है ! पर जिस स्थान को वे पावा बतला रहे हैं, वहाँ भी तो ऐसी कौन-सी जैन सामग्री प्राप्त है ! वर्तमान पावापुरी में कुछ वर्जों पूर्व पर्याप्त पुरातत्त्वावशेन इधर-उधर विखरे पड़े थे और कुछ अब भी वहाँ हैं । जलमंदिर जो वर्तमान में मकराने

पत्थर से जड़। हुआ है वह तो केवल खपरी सजावट है. उसके नीचे वे ही प्राचीन बड़ी-बड़ी इंटें लगी हुई हैं। जब यह मन्दिर बन रहा था तो हमने स्वयं उन प्राचीन इंटों को देखा है जो पुरातत्वज्ञों की दृष्टि से दो हजार वर्ष से भी प्राचीन हो सकती है। इसी प्रकार वर्तमान समवसरण मन्दिर में एक प्राचीन स्तूप और कुआं है। जिनप्रमसूरिजी के सन् १३३५ के उल्लेखानुसार इसी पावापुरी में नागमण्डप था, जहाँ जैनेतरों का मेला भी लगता था। वहाँ के कुएँ से पानी लाकर दीवाली के दिन विना तेल घी के दीयक जजाते थे।

सरावगीजी ने पृष्ठ २२ में लिखा है कि पावा और पुरी दो अलग-अलग स्थान हैं। पावा ग्राम पुरी से प्रायः १।। मील उत्तर की ओर है, पावा में जैनों का कोई स्थान नहीं है, पुरी में ही दिगम्बर-स्वेताम्बर मन्दिर और **२**वेताम्बरों द्वारा निर्मित एक समक्सरण है। पर सरावगीजी प्राचीन पावापुरी की समृद्धि और विशालता मुल गये हैं। १॥ मील का अन्तर तो साधारण वास है, भगवान का समवसरण भी योजन के दिस्तार में होता था । वर्तमान समवसरण मन्दिर पावा के सभीप ही है। भगवान महावीर का निर्वाण पावा में हुआ और उसके समीप ही अग्नि-संस्कार हुआ। इसलिए वह स्थान पुरी के नाम से प्रसिद्ध हो गया । दोनों स्थान पहले एक ही नगर के भाग थे। फिर बीच में वस्ती कम हो जाने से दोनों का अलगात हो गया । डेर मील की दूरी उस प्राचीन विशाल पावा के क्षेत्रफल को देखते हुए कुछ भी नहीं है।

पृ० २२ में ही वे सिठयांव के समर्थन में एक प्रमाण उपस्थित करते हैं। वहाँ सन् १९४६ में बावा राधवदास ने पावानगर महावीर इण्टर कालेज स्थापित किया। जिस कालेज की स्थापना तुए २५ वर्ष ही हुए हैं उसमें पावा नगर और महावीर का नाम जोड़ देने मात्र से वह म० महावीर का निर्वाण क्षेत्र कभी मान्य नहीं हो सकता।

हजार वर्ष पुराने प्रमाणों को अमान्य कर २५ वर्ष के दिये हुए नाम को ऐतिहा सिक महत्व और प्रमाणिकता सिद्ध करने के लिये एक प्रवल प्रमाण वतलाना, कोई मी अर्थ नहीं रखता।

पृष्ठ २३ में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि मिट्टी का मुहर को वतलाया गया है। जिसे वे 'वि.शष्ट राजा या अमात्य का मुहरं और इस स्थान का नगर होना सिद्ध करती है' बतजाते हैं । पर पहली बात तो यह है कि यह मुहर कोई भगवान महावीर के समय की नहीं है । उसके पढ़े गये चार अक्षरों का अर्थ म से मल, ह से हस्तिपाल, ल से लेखक, या ला राजा, अ से अपापा-अमात्य यह मन कल्पित अर्थ कर दिया गया है। पृ० २३ में पटना संग्रहालय के निर्देशक ने इस मुहर को गुप्तकाल से पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी और लखनज तथा कलकत्ता संग्रहालय के निद्रेशक ने ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का क्तजाया है, लिखा है तब उसमें हस्तिगाल का नाम हो ही कैसे सकता है। इसी तरह अपापा यह नगर का नाम जैन मान्य है. बौद्ध ग्रन्थों में तो यह नाम ही नहीं मिलता। अतः उस समय इस स्थान का पावा नाम ही था मध्य पावा नहीं! वास्तव में सरावगीजी की यह कल्पना मात्र है। राजाओं की मुहर मिट्टों की नहीं हुआ करती। न तो यह मुहर भगवान महावीर के समय जितनी प्राचीन है और न उन अक्षरों के अर्थ ही वे जो निकालते हैं सही हैं।

पृ० २६-२७ में मजिझमा का अर्थ मध्य देशवर्ती कहना भी सर्वथा गलत है। मध्यदेश की सीमा के लिये पृ० ३३ में कल्पसूत्र के नामों से जो प्रमाण दिया है वह न तो कल्पसूत्र का पाठ है और न उसका मध्यदेश की सीमा सूचक अर्थ ही है। वास्तव में वह वृहत्कल्प सूत्र का पाठ है जिसमें साध-साध्वियों का विहार कहाँ-कहाँ कल्पता है उसकी सीमा वतलायी है। यह मध्य देश की सीमा सूचक नहीं है।

पृथ्ठ ३० में 'महावीर और बुद्ध काल में केवल एक ही पावा थी' लिखा है—वह मी जैन साहित्य का अजानकारों का द्योतक है । केवल बौद्ध ग्रन्थ में एक पावा का उल्लेख होने से ही उस समय एक पावा थी यह लिख देना उचित नहीं है । ३ पावा के सम्बन्ध में हम पहले ही लिख चुके हैं।

पृ० ३२ में महावीर निर्वाण के ९८० वर्ष बाद में कल्प-सूत्र की रचना हुई लिखा, यह भी सही नहीं है। वस्तुतः ९८० वर्ष बाद तो शास्त्र पुस्तकारूढ़ हुए थे. कल्पसूत्र की रचना तो श्रुतकेवली मद्रबाहु स्वामी की है जो भगवान महावीर के १७० वर्ष वाद हो हुए हैं।

पृ० ३३ में सिंठियांव शब्द को चैत्यग्राम का अपश्रंश मानते हैं। पृ० ४२ में सिंठियांव को श्रो पावा का अपश्रंश दतजाना भी केवल मनोकल्पना है और भाषा-विज्ञान की अनिभन्नता का सूचक।

पृ० ५ ५ में 'पावा के मल्ल महावीर के और कुशीनगर के मल्ल बुद्ध के अनुयायी थे' लिखा है पर उस पावा के मल्लमहावीर के अनुयायी थे, इस बात का प्रमाण क्या है ? आगे लिखा है कि हरिवंश पुराण के वर्णन से ऐसा लगता है कि ''मगवान महावीर विहार करते हुए बार-बार मध्य प्रदेश की ओर आते थे।'' पर यह लिखना सर्वथा गलत है। उनके विहार चौमासों की श्वेताम्बर जैनागमों में जो सूची मिलती है उससे मध्य-प्रदेश की और बार-बार जाना सिद्ध नहीं होता।

पृ० ६३ में मध्यम पावा वर्तमान देविरया जनपद में कुशीनगर से प्रायः १२ मील दक्षिण पूर्व वैशाली की दिशा में थी लिखा है पर बौद्ध ग्रन्थों में जब 'मध्यम' शब्द का प्रयोग ही नहीं है तो उस पावा को मध्यम पावा बतलाना, कल्पना मात्र है '

इसी पृष्ठ में प्रतिक्रमण पीठिका के दण्डक प्रकरण का पाठ दिया है । उसमें 'सहाए' शब्द का अर्थ 'संरक्षित'

99

गलत किया गया है। प्राकृत 'सहाए' का सभा में' अर्थ सीधा पड़ता है । प्रतिक्रमण पीठिका दंडक प्रकरण कौन सा है और कहाँ से प्रकाशित है—उल्लेख करना चाहिये था। उपर्युक्त पाठ के अर्थ के नीचे ही जिखा है कि 'हस्तिपाल के राज्य में निर्वाण होने का उल्लेख हैं' पर कल्पसूत्र और दण्डक प्रकरण दोनों पाठों में हस्तिपाल के राज्य का उल्लेख नहीं है, 'रजजुगशाला' या 'सभा' का उल्लेख है । हमारी राय में रजजुगशाला और समा का उल्लेख उस स्थान का सूचक है जहाँ भगवान का निर्वाण हुआ । पर हस्तिपाल के राज्यकाल में हुआ ऐसा नहीं लगता। 'त्रिशष्टि शलाका पुरुष चरित्र', 'विविध तीर्थ कल्प, आदि के अनुसार उस समय राजा पृण्यपाल वहाँ का राजा था. जिसने भगवान से स्वप्नफल पृष्ठे और उनसे दीक्षा ग्रहण कर मुक्ति प्राप्त की थी। हस्तिपाल राजा उसका पूर्व-वर्ती राजा होगा जिसने वह 'रजजुगशाला' या 'सभा' वनवायी थी । 'कल्पसूत्र' में 'जुण्णाए' और 'विविध ते.र्थ-कल्प' में 'अभूक्तमान' विशेषण पाये जाते हैं। इससे ऐसा लगता है कि वह उस समय जीर्ण हो चुकी थी और राज्य के महकमें के रूप में काम नहीं आती थी। प्रभु ने उसी विशाल सभा स्थान में चातुर्मास किया। इसीलिये हस्तिपाल राजा का उल्लेख हुआ है। निर्दाण के समय वह हस्तिपाल की वनवायी हुई होने से उसी के नाम से प्रसिद्ध थी। भगवान का चातुर्मास नगर के वाहर होता था और शुलकशाला चुंगीघर भी प्रायः वाहर ही होता है । वर्तमान पावा और पुरी दोनों मिलाजुला एक ही नगर था, जब बस्ती न रही तो अलग-अलग नाम कहलाने लगे । निर्वाण के समय हस्तिपाल का राज्य नहीं था । उसके बनाए भवन में भगवान ठहरे थे। 'कल्पसूत्र' के पाठ से ऐसा ही लगता है।

पृ०६५ में नव मल्ल और नव लिच्छवि और अठारह काशी कौशल गणराज्यों का उल्लेख किया है, यहाँ वीच में एक 'और' लगाने से १८+१८=३६ हो जाते हैं पर हमारी राय में नवमल और नवलिच्छवी दोनों को मिलाकर ही १५ गगराज्य थे जो काशी, कोशल देश के अन्तर्गत थे । आगे लिखा है कि "मगध वालों के सम्मिलिल नहीं होने से निर्वाण का स्थान मगध से अलग सिद्ध होता है. यदि मगधवाली पावापुरी में निर्वाण हुआ होता तो अजात-शत्रु या उनके किसी प्रतिनिधि के सम्मिलत होने की बात अवश्य आती।" पर मगध वाले सम्मिलित नहीं हुए, ऐसा भी तो उल्लेख नहीं है। जब मगध की पावापुरी में निर्वाण हुआ तो वहाँ के लोगों की उपस्थिति का उल्लेख करना आवश्यक नहीं होता। अजातशत्रु सम्भव है उस समय कहीं अन्यत्र गया हुआ हो । निर्वाण की सूचना पहले से प्रचारित थोड़े ही थी. अन्यथा गौतम स्वामी दूसरे गाँव को क्यों जाते । सच्ची वात तो यह है कि श्रेणिक की मृत्यु के पञ्चात् मन न लगने से उसने राजगृह से राजधानी हटा कर अंग देश की चम्पा को राजधानी करके वहाँ निवास करने लगा था जो मगध के अन्तर्गत थी।

पृ० ६६ में लिखा है कि "कल्पसूत्र में सर्वप्रथम नव मलई लिखा जाना विशेष अर्थ रखता है । यह कथन इसका द्योतक है कि वीर निर्वाण मलभूमि में हुआ था!" पर वास्तव में नव मलई और लिच्छवी दूर से आये हुए थे अतः टाहर से आगन्तुक विशिष्ट व्यक्तियों के रूप में उनका उल्लेख हुआ है । स्थानीय व्यक्तियों का उपस्थित होना तो साधारण वात है । इनके उल्लेख की आवश्यकता नहीं होती! फिर मलों ने ७ दिन वुद्ध के शरीर को सजाने , पूजा करने में विताये. इसका उल्लेख करके "महावीर निर्वाण के समय भी कुछ ऐसा ही हुआ था और जंसे-जंसे अन्य देशों में सूचना मिली, वहाँ के लोग भी सम्मिलित होने के लिए पावा पहुँचे" लिखा है, पर जैन प्रन्थों के अनुसार न तो प्रमु की देह कई दिनों तक रखी गई थी और न अन्य देशों से लोगों के आने का ही उल्लेख हैं। जैन ग्रन्थों के अनुसार

तो उसी दिन देवों द्वारा अग्नि-संस्कार कर दिया गया और परम्परा के अनुसार इन्द्र और देव आदि प्रभु की अस्थियों आदि देवलोक में ले गये और रहनकरण्डों में रख कर उनकी पूजा करने लगे।

पृ० ६९ में लिखा है कि हरिवंश पुराण के समय तक वर्तमान पावापुरी की स्थापना हो चुकी थी और जिनसेन का हरिवंशपुराण शक संवत् ७०५ (वि० सं० ५८ में रचा गया था अतः सरावगीजी के उक्त लेखानुसार आठवीं शताब्दी से पूर्व ही वर्तमान पावापुरी की स्थापना हो चुकी थी। पृ० ७० में उन्होंने हरिवंश पुराण का रचनाकाल सन् १३१० ई० लिखा है, यह गलत है।

पृ० ११२ में लिखा है कि "वर्तमान पावापुरी गाँव अधिक से अधिक छः-सात सौ वर्प पुराना है। यहाँ प्राचीन कोई चीज नहीं है. जो है पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग की है।" पर यह गाँव भगवान की निर्वाण भूमि के रूप में ही जब तैरहवीं या इससे पूर्व की शताब्दी तक सरावगीजी को मान्य है, तब इस गाँव को छः-सात सौ वर्ष अधिक से अधिक बतलाना तो परस्पर विरोधी बात है। गाँव तो वहाँ पुराना था तभी तो वहाँ मन्दिर आदि बने, गाँव कोई नया बसा कर मन्दिर आदि नहीं वनाया।

पृ० ७१ में लिखा है "बौद्ध शास्त्रों की तरह जैन प्रन्थ सिलसिलेबार लिखे हुऐ नहीं हैं," पर वर्तमान आगम सिलसिलवार ही हैं। बौद्ध शास्त्रों की ऐतिहासिक शृंखला जैन शास्त्रों की तुलना में अधिक विश्वसनीय जँचती है लिखना भी अनुचित है। जैन आगम भी विश्वसनीय सूचनाओं के मंडार हैं।

पृ० १२३ में "समाधि" शब्द का जो अर्थ किया गया है उसे देखते हुये वहाँ -"समाधि-मरण" शब्द होना चाहिए।

वहुत से स्थानों का सही निर्णय केवल इतिहास के आधार से नहीं किया जा सकता. परम्परा का भी अपना महत्व है। अतः समस्त जैन समाज वर्तमान मान्य पावापुरी में ही पचीस सौवां निर्वाण मनायेगा और उसी को मान्य रखने का अनुरोध किया जाता है। वौद्ध ग्रन्थोक्त पावा वौद्धों को ही मान्य हो, जैनों को नहीं।

जैन लेखन कला

गुजरात की यह कहावत सर्वथा सत्य है कि सरस्वती का पीहर जैनों के यहां है। भगवान् ऋजभदेव ही मानव संस्कृति के जनक थे. उन्होंने ही परम्परागत युगलिक धर्म को हटाकर कर्मभूमि के असि, मसि और कृषि लक्षण को सार्थक किया था । समस्त ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के वे प्रथम शिक्षक, आदि-पुरुष होने से उन्हें आदिनाथ कहा जाता है। सर्व प्रथम भगवान ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को लेखन-कला, लिपिविज्ञान सिखाया. इसी से उसका नाम ब्राह्मी लिपि पड़ा । आवश्यक निर्युक्ति भाष्य गाथा १३ में "लेहं लिवी विहाणं जिणेण बंभीइ दाहिण करेण" लिखा है एवं पंचमांग भगवती सुत्र में भी सर्वप्रथम 'नमो वंभीए लिवीए' लिखकर अठारह लिपियों में प्रधान ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है। बौद्ध ग्रन्थ ललितविस्तर में ६४ लिपियों के नाम हैं जिनमें भी प्रथम ब्राह्मी और खरोष्टी का उल्लेख है। बायों ओर से दाहिनी ओर लिखी जाने वाली समस्त लिपियों का विकास ब्राह्मी लिपि से हुआ है। दाहिनी ओर से बायों ओर लिखी जाने वाली लिपि खरोब्टी है और उसी से अरबी, फारसी, उर्दू आदि माषाएँ निकली हैं ! चीनी भाषा के बौद्ध विश्वकोश के अनुसार ब्रह्म और खरोष्ट भारत में हुए हैं और उन्होंने देवलोक से लिपियां प्राप्त कीं तथा जपर से नीचे खत्री लिखी जाने वाली लिपि त्संकी है जो चीन के अधिवासी त्संकी ने पक्षियों आदि के चरण चिन्हों से निर्माण की थी।

यद्यपि भगवान ऋषभदेव को असंख्य वर्ष हो गए और लिपियों का उसी रूप में रहना असंभव है और न हमारे पास उस विकास क्रम को कालावधि में आबद्ध करने वाले साधन ही उपलब्ध हैं। वर्तमान लिपियों का सम्बन्ध ढाई हजार वर्षों की प्राप्त लिपियों से जुड़ता है। यों मोहन-जोदडों और हडप्पा आदि की संस्कृति में पाँच हजार वर्ष की लिपियां प्राप्त हुई हैं तथा राजगृह एवं वाराणसी के अभिलेख जिसे विदानों ने "शंख लिपि" का नाम दिया है, पर अद्यावधि उन लिपियों को पढ़ने में पुरा-तत्वविद्व और लिपि विज्ञान के पण्डित भी अपने को अक्षम पाते हैं। बाह्मी लिपि नाम से प्रसिद्ध लिपि का क्रमिक विकास होता रहा और उसी विकास का वर्तमान रूप अपने-अपने देशों व प्रान्तों की जलवायु के अनुसार विकसित वर्तमान भाषा-लिपियाँ हैं । खरोष्टी लिपि 'सैमेटिक वर्ग' की है और उसका प्रचार ईसा की तीसरी शती पर्यन्त पंजाव में था और उसके बाद वह लुप्त हो गई। पन्नवणा सूत्र में कुल लिपियों के नामोल्लेख के अतिरिक्त समवायांग सूत्र के १८ वें समवाय में अठारह लिपियों के नाम एवं विशेषावश्यक टीका के अठारह लिपि नामों में कुछ अन्तर पाया जाता है ! जो भी हो यहाँ जैन लेखन कला और उसके विकास पर प्रकाश डालना अमीष्ट है।

भगवान महावीर की वाणी को गणधरों ने ग्रिथल किया तथा भगवान पाइवेंनाथ के शासन का वाल्म्य जो मिल-जुलकर एक हो गया था विशेषतः मीखिक रूप में ही निर्म्य परम्परा में चला आता रहा । आचार्य देवद्भिगणि क्षमाश्रमण ने वीर निर्वाण संवत् ९५० में वल्लमी में आगमों को ग्रन्थारूढ़/लिपिवद्ध किया तब से लेखन-कला अधिकाधिक विकास हुआ। इतःपूर्व कथंचित् आगम लिखाने का उल्लेख सम्राट खारवेल के अमिलेख में पाया

जाता है एवं अनुयोगद्वार सूत्र में पुस्तक पत्रारूढ़ श्रुत को द्रव्य-श्रुत माना है पर अधिकांश आगम मौखिक हो रहते थे. लिखित आगमों का प्रचलन नहीं था. क्योंकि श्रमण वर्ग अधिकतर जंगल, एद्यान और गिरि-कन्दराओं में निवास करते और पुस्तकों को परिग्रह के रूप में मानते थे। इतना ही नहीं. वे उनका संग्रह करना असंभव और प्रायश्चित योग्य मानते थे. निशीश-भाष्य. कल्प-भाष्य, दशवैकालिक-चूणि में इसका स्पष्ट उल्लेख है। परन्तु पंचम काल के प्रमाव से क्रमशः स्मरण शक्ति का हास हो जाने से श्रुत साहित्य को ग्रन्थारूढ़ करना अनिवार्य हो गया था। अतः श्रुतधर आचार्य ने समस्त संघ समवाय में श्रुतज्ञान की वृद्धि के लिए ग्रन्थारूढ़ करने की स्वीकृति को संयम वृद्धि का कारण मान्य किया और उसी सन्दर्भ में ग्रन्थ व लेखन सामग्री का संग्रह व विकास होने लगा।

लिपि और लेखन उपादान :

श्रुत लेखन में लिपि का प्राधान्य है। जैनाचार्यों ने भगवती सूत्र के प्रारम्भ में 'नमो बंभीए लिवीर' द्वारा भारत की प्रधान ब्राह्मी लिपि को स्वीकार किया। इसी से नागरी, शारदा, ठाकरी, गुरुमुखी, नेवारी, बंगला, उड़िया, तेलग्, तमिल, कन्नड़ी, राजस्थानी, गुप्त, कुटिल, गुजराती, महाजनी और तिव्वती आदि लिपि का क्रमिक विकास हुआ। **उत्तर भारत के ग्रन्थों में देवनागरी लिपि का सार्वमीम** प्रचार हुआ । स्थापत्य लेखों के लिये अधिकतर पाषाण शिलाफलकों का उपयोग हुआ । कहीं-कहीं क:ध्ठ-पट्टिका और भित्ति लेख भी लिखे गए पर उनका स्थायित्व अल्प होने से उल्लेख योग्य नहीं रहा ! दान-पत्रादि के लिये ताम्र धातु का उपयोग प्रचुरता से होता था, पर ग्रन्थों के लिये ताड़पत्र, भोजपत्र और कागज का उपयोग अधिक हुआ । यों काष्ठ के पतले फलक एवं लाक्षा के लेप द्वारा निर्मित फलकों पर लिखे ग्रन्थ भी मिलते हें जिनका सम्बन्ध ब्रह्म देश से था। जैन ग्रन्थ लिखने में पहले ताड़पत्र और बाद में कागज का उपयोग प्रचुरता से होने लगा। प्रन्थ लेखन में वस्त्रों का उपयोग भी कभी-कभी होता था, परन्तु पत्राकार तो पाटण भण्डारस्थ सं० १४१० की धर्म-विधि आदि की प्रति के अलावा टिप्पणाकार एवं चित्रपट आदि में प्रचुर परिमाण में उसका उपयोग होना पाया जाता है। हमारे संग्रह में ऐसे कई ग्रन्थादि हैं। ताड़पत्र और वस्त्र पर ग्रन्थ लेखन का उल्लेख अनुयोग]चूणि तथा टीका में है।

पुस्तक लेखन के साधन :

जेनागम यद्यपि गणधर व पूर्वंधर आचार्यों द्वारा रिवत हैं। इनका लेखनकाल विक्रम सं० ५०० निर्णीत है। उपांग सूत्र राजप्रश्नीय में देवताओं के पढ़ने के सूत्र का जो वर्णन आता है वह समृद्धिपूर्ण होते हुए भी तत्कालीन लेखन सामग्री और ग्रन्थ के प्रारूप का सुन्दर प्रतिनिधित्व करता है। इस सूत्र में लिखा है कि पुस्तक-रहन के सभी साधन स्वर्ण और रहनमय होते हैं। यत:—

ंतस्स णं पोत्थ रयणस्स इमेयारूवे वण्णावासे पण्णते. तं जहा रयणमयाइ पत्तगाइं, रिष्ठामईं कंवियाओ, तविण-जजमए दोरं, न.णामणिमए गंठी, वेश्लिय-मणिमय लिप्पासणे, रिष्ठामए छंदणे; तविणिजजमईं संकला, रिष्ठामईं मसी, वइरामईं लेहणी, रिष्ठामयाई अक्खराईं, घम्मिए सल्थे। (पृष्ठदिक्ष)

प्रस्तुत उल्लेख में लेखन कला से सम्बन्धित पत्र, कांविका,छोरा,ग्रन्थि-गांठ, लिप्यासन-दावात, छंदणय(दक्कन), सांकल, मवी-स्याही और लेखनी साधन हैं। ये १-जिस रूप में ग्रन्थ लिखे जाते थे. २-लिखने के लिए जो उपादान होना, ३-जिस स्याही का उपयोग होता और ४-लिखित ग्रन्थों को कैसे रखा जाता था, इन वातों का विवरण है।

पत्र—जिस पर ग्रन्थ लिखे जावें उसे पत्र या पत्ना कहते हैं। पत्र वृक्ष के पत्ते, ताड़पत्र, मोजपत्रादि का और बाद में कागज का उपयोग होता था, पर बांधने आदि के साधन से विदित होता है कि पत्ते अलग-अलग खुले होते थें।

59

कंबिका—ताङ्पत्रीय प्रन्थ के संरक्षण के लिए रखी, जाने वाली काष्ट्रपट्टिका को आगे कांबी कहा जाता था। आजकल जो वाद की बनी हुईं कंबिका प्रयोग में आती है वह वांस. लकड़ी, हाथीदांत आदि की होती है, जिस पर हाथ रखने से पसीने के दाग आदि नहीं लगते हैं। रेखा खींचने के लिए भी उसका उपयोग होता था व कुछ चौड़ी पट्टियाँ पत्र रखकर पढ़ने के उपयोग में भी आती थीं।

डोरा—ताड़पत्रीय ग्रन्थों के पनने चौड़ाई में संकरे और लम्वाई में अधिक होने से वे एक दूसरे से संलग्न न रहकर अस्त-व्यस्त हो जाते थे. इसलिए उन्हें व्यव-स्थित रखने के लिए बीच में छेदकर बांध देना अनिवार्य था। बांधने के लिए डोरे का प्रयोग होता और उसलेव डोरे को फिर कसकर बांध देते थे जिससे वह दोनों पट्टों-काष्ठफलकों के बीच कसा हुआ सुरक्षित रहता। ताड़पत्रीय ग्रन्थों के पश्चात् जब कागजों पर लिखने की प्रथा हो गई तो भी उसके मध्य में छेद करके डोरा पिरोया जाता! वह अनावश्यक होने पर भी ताड़पत्रीय पद्धित कायम रही और मध्य भाग में चौरस या वृत्ताकार रिक्त स्थान छोड़ दिया जाता था। यह प्रथा उन्नीसवीं शती तक चलती रही। फिर भले ही उसमें अलंकरण का रूप ताड़पत्रीय ग्रन्थों की स्मृति रूढ़िमात्र 'रही हो।

ग्रन्थि—ताड्पत्रीय पुस्तक में डोरा पिरोने के बाद वे निकल न जाएँ तथा ग्रन्थ नष्ट न हो जाए इसलिए हाथीदांत. सीप. काष्ठ आदि के चपटे वाशर संगाए जाते थे जिसे ग्रंथी कहते थे।

लिप्यासनं शब्दार्थ के अनुसार तो इसका अर्थ लेखन के उपादान कागज, लाड्गित्रादि होता है परन्तु आचार्य मलयगिरि ने इसका अर्थ मिष-माजन अर्थात् दावात किया है। गुजरात में खिड़्या कहते हैं. राजस्थान में विज्जासणा कहते हैं। कविवर समयसुन्दरजी ने मजीसणां शब्द का प्रयोग किया है, पर सवका आश्चय इंकपॉट (Inkpot) से है। विज्जासणा-विद्यासन और मजीसणां-मषीआसन, मषीमाजन से बना प्रतीत होता है।

छंदण और सांकल—दावात के जपर जो टक्कन लगाया जाता है उसे छंदण (आन्छादन) कहते हैं तथा उसे सम्बन्धित रखने वाली सांकल होती है जो दावात से दक्कन को संलग्न रखती है। पुरानी पीतल आदि की भारी-भरकम शिखरबद्ध दक्कनवाली दावात आज भी कहीं-कहीं देखने को मिलती हैं।

मयी—अक्षरों को साकार रूप देने वाली मधी 'स्याही' है। मधी शब्द कज्जल का द्योतक है जो काली स्याही का उपयोग सूचित करता है। रायपसेणी सूत्र का 'रिट्ठामई मसी' और अक्षर रिष्ट रत्न के श्याम वर्ण होने से उसी का समर्थन करते हैं। आजक्ल दूसरे सभी रंगों के साथ काली स्याही शब्द प्रयोग में आता है।

लेखनी—जिसके द्वारा शास्त्र लिखे जाएँ उसे लेखनी कहते हैं। साधारणतया कलम ही लिखने के काम में आती थी पर दक्षिण भारत. उड़ीसा और वर्मा की लिपियों को ताड़पत्र पर लिखने के लिए ठीह लेखनी का आज भी उपयोग होता है पर कागज और उत्तर भारत के ताड़पत्रादि पर लिखने वाली कलम का ही यहाँ आशय समझना चाहिए। यो वंगाल आदि में पक्षियों की पांख से भी लिखा जाता था।

लेखन उपादान के प्रकारान्तर:

जैसे आजकल छोटी-बड़ी विविध आकार की पुस्तकें होती हैं उसी प्रकार प्राचीन काल में विविध आकार-प्रकार की पुस्तकें होने के उल्लेख दशवैकालिक सूत्र की हरिमद्रीय टीका, निशीधचूणि, वृहत्कलपसूत्र वृत्ति आदि में पाये जाते हैं! यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है: गंडी पुस्तक—चौड़ाई और मोटाई में समान किन्तु विविध लंबाई वाली ताङ्पत्रीय पुस्तक को गंडी कहते हैं। इस पद्धति के कागज के ग्रन्थों का भी इसी में समावेश होता है।

कच्छपी पुस्तक—जिस पुस्तक के दोनों किनारे संकरे तथा मध्य में कछुए की मांति मोटाई हो उसे कच्छपी पुस्तक कहते हैं। यह आकार कागज के गुटकों में तो देखा जाता है पर ताङ्गपत्रीय प्रन्थों में नहीं देखा जाता।

मुटि पुस्तक — जो पुस्तक चार अंगुल लम्बी और गोल हो, मुट्टी में रख सकने योग्य हो उसे मुध्टि पुस्तक कहते हैं। छोटी-मोटी टिप्पणाकार पुस्तक व आज की खायरी का इसी में समावेश हो जाता है।

संपुट फलक — ज्यवहार पीठिका गा, ६ की टीका व निशीथ चूर्णि के अनुसार काष्ठफलक पर लिखी जाने वाली पुस्तक को संपुटफलक कहते हैं। विविध यंत्र, नक्शे. समवसरणादि चित्र जो काष्ठ-संपुट में लिखे जाएँ, वे इसी प्रकार में समाविष्ट होते हैं।

छेद पाटी—थोड़े पन्नों वाली पुस्तक को कहते हैं. जिस प्रकार आज कागजों पर लिखी पुस्तकें मिलती हैं। उनकी लम्बाई का कोई प्रतिद=य नहीं, पर मोटाई कम हुआ करती थीं।

उपर्युक्त सभी परिचय विक्रम की सातवीं शलाब्दी तक के लिखित प्रमाण से बतलाए गए हैं परन्तु उस काल की लिखी हुई एक भी पुस्तक आज उपलब्ध नहीं है। वर्तमान में जितने भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, पिछले एक हजार वर्षों तक के प्राचीन हैं। अतः इस काल की लेखन सामग्री पर प्रकाश खाला जा रहा है।

लिप्यासन—लेखन उपादान, लेखनपात्र-ताड्यत्र, वस्त्र, कागज इत्यादि । जैसा कि अपर बतलायार्र्रहे राजप्रश्नीय सूत्र में इसका अर्थ मधीमाजन रूप में लिया

पर यहां ताङ्पत्र. वस्त्र, कागज, काष्ठपट्टिका, भोजपत्र, ताम्रपत्र, रौप्यपत्र, सुवर्णपत्र, पत्थर आदि का समावेश करते हैं। गुजरात, राजस्थान, कच्छ और दक्षिण में स्थित ज्ञान मण्डारों में जो भी ताडपत्रीय गुन्ध उपलब्ध हैं. तेरहवीं शती से पूर्व, ताडपत्र पर ही लिखे मिलते हैं। बाद में कागज का प्रचार अधिक हो जाने से उसे भी अपनाया गया । मणिधारी श्री जिनचन्द्रसरिजी के समय विक्रम सं० १२०४ का 'ध्वन्यालोकलोचन' ग्रन्थ उपलब्ध 📆 . पर टिकाज होने के नाते ताड़पत्र ही अधिक प्रयुक्त होते थे । महाराजा कृमारपाल, वस्तुपाल और तेजपाल के समय में भी कुछ ग्रन्थ कागज पर लिखे गए थे, फिर भी भारत की जलवायु में अधिक प्रचीन ग्रन्थ टिके नहीं रह सकते थे, जबकि जापान में तथा यारकन्द नगर के दक्षिण ६० भील पर स्थित कुगियर स्थान से भारतीय लिपि के चार ग्रन्थ वैवर साहव की मिले, जिन्हें ईसा की पांचवीं शती का माना जाता है । ताखपत्रीय ग्रन्थों में सबसे प्राचीन एक त्रटित नाटक की प्रति का 'मारतीय प्राचीन लिपि माला' में उल्लेख किया 🚡 गया है जो दूसरी शताब्दी के आसपास की मानी गई है। ताखपत्रों में खास करके श्रीताल के पत्र का उपयोग किया जाता था । कमारपाल प्रवन्ध के अनुसार श्रीताल दुर्लभ हो जाने से कागज का प्रचार हो गया। पाटण भण्डार के एक विकीर्ण ताड़पत्र के उल्लेखानुसार एक पत्र का मूल्य छः आना पड़ता था।

वस्त्र पर लिखे ग्रन्थों में धर्मविधि प्रकरण वृति, कच्छूली रास और तिषिट शलाका पुरुष चरित्र (अण्टम पर्व) की प्रति पत्राकार पायी जाती है जो २५×५ इंच की लंबी-चौड़ी है परन्तु लोकनालिका, अढ़ाई द्वीप, जम्बूदीप, नवपद, हींकार, धण्टाकर्ण, पंचतीथींपट आदि के वस्त्रपट चित्र प्रमुर परिमाण में पाये जाते हैं। सिद्धाचल जी के पट तो आज भी बनते हैं और प्राचीन भी ज्ञान भण्डारों में बहुत से हैं। जम्बूदीप आदि

[5**3**,

के पटों में सबसे बड़ा पट कलकत्ता जैन मन्दिर में है जो १६×१६ फुट माप का है। टिप्पणकार में बने कर्म प्रकृति. बारह ब्रत टीप. अनानुपूर्वी, शत्रुंजय यात्रापट आदि १-२ फुट से लेकर ३०-३० फुट जितने लम्बे पाये जाते हैं। पाटण मण्डार का संग्रहणी टिप्पणक सं० १४५३ का लिखा हुआ १६६×११॥ इंच का है। पन्द्रह्वीं शत्रुंबी तक के प्राचीन कई पंचतीर्थी पट भी याये गए हैं।

मोजपत्र पर बौद्ध और वैदिक लोग अधिकांश लिखा करते थे, जेन ग्रन्थ अद्याविध एक भी मोजपत्र पर लिखा नहीं मिलता । हां, यति लोगों ने पिछले दो-तीन सौ वर्षों में मंत्र-तंत्र-यंत्रों में उसका उपयोग भले किया हो । बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद व संयुक्तागम अवश्य ही मोजपत्र पर लिखे दूसरी से चौथी शत्वदी के माने गये हैं।

शिलापट्ट पर लिखे जनेतर नाटकादि अनेक ग्रन्थ पाये जाते हैं पर जेन ग्रन्थों में उन्नतिशिखर पुराण सं० १२२६ का लिखा हुआ वीजोल्या में है। श्री जिनवल्लमसूरिजी ने चित्रकूटीय प्रशस्ति आदि ग्रन्थ खुदवा कर मन्दिरों में लगवाया था। इसके सिवा मन्दिरों के प्रतिष्ठा लेख. विस्तृत श्लोकबद्ध प्रशस्ति काव्य, कल्याणक पट, तम पट्टिका, स्थविरावली पट्टक, लोकनाल, ढाई द्वीप, शतदल-पद्म यंत्र पट्टक, समवसरण पट्ट, नंदीश्वर पट्ट, शत्रुंजय, गिरनारादि पट्ट प्रचर परिमाण में बने पाये जाते हैं। बीसवीं शताब्दी में सागरानन्दसूरिजी ने पालीतान। एवं सूरत के आगम मन्दिरों में सभी आगम मार्बल एवं ताम्रपट्टों पर लिखवा दिये हैं तथा वर्तमान में समय-सारादि दिगम्बर ग्रन्थ भी लिखवाए जा रहे हैं।

ताम्रपत्र, रौष्यपत्र, स्वर्णपत्र, कांस्यपत्र, पंचधातु पत्रादि का प्रयोग अधिकांश मंत्र और यन्त्र लेखन में हुआ है। राजाओं के दानपत्र ताम्रपत्रों पर लिखे जाते थे। जैन शैली में नवपद यंत्र, विंशतिस्थानक यंत्र, घण्टाकर्ण, ऋषिमण्डल आदि विविध प्रकार के यनत्र आज भी लिखे जाते हैं और मन्दिरों में पाये जाते हैं। ताम्रपत्र पर ग्रन्थ लेखन का उल्लेख क्सुदेवहिण्डी जैसे प्राचीन ग्रन्थ में पाया जाता है। सूरत के आगम-मन्दिर में ताम्र पर शास्त्र लिखाए गए हैं।

बौद्धों ने हाथी दांत आदि का उपयोग ग्रन्थ लेखन में किया है, पर जैनों में उसके कांबी, ग्रन्थी, दावड़ा एवं स्थापनाचार्य (ठवजी) रूप में किया है, ग्रन्थ लेखन में नहीं ! इसी प्रकार से चमड़े के सम्बन्ध में समझना चाहिए । ग्रन्थों के पृष्टे, पटड़ी, दावड़े आदि में उसका उपयोग हुआ है पर ग्रन्थ-लेखन में नहीं।

वृक्ष की छाल का उपयोग जैनेतर ग्रन्थों में प्राप्त हुआ है। अगर छाल पर सं० १७७० में लिखी हुई ब्रह्म-वेवर्त पुराण की प्रति बड़ौदा के ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट में है। हमारे संग्रह में कुछ बंगला लिपि के ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें लकड़ी के फलक का उपयोग हुआ है तथा उनके पूठे वृक्ष की छाल व बांस पट्टी के बने हुये हैं। जैन ग्रन्थों में ऐसे उपादानों का उपयोग नहीं हुआ है।

ताड़पत्र—ये ताल या ताड़ वृक्ष के पते हैं। ताड़ वृक्ष दो प्रकार के होते हैं (१) सरताड़ और (२) श्रीताड़। सरताड़ के पते लम्बाई और चौड़ाई में छोटे और चटक जाने वाले अल्पायु के होते हैं अतः इनका उपयोग प्रन्थ लेखन में नहीं होता । श्रीताड़ के वृक्ष मद्रास, ब्रह्मदेश आदि में होते हैं जिसके पत्ते बड़े चिकने, लचीले और टिकाफ होते हैं । ये ताड़पत्र ग्रन्थ-लेखन के काम आते हैं। इन्हें प्रौड़ हो जाने पर सीधा करके एक साथ जमीन में डाल कर सुखाया जाता है जिससे इनका रस ध्रुप के साथ न उड़ कर उसी में रहता है और होमळता आ जाती है । ये पत्ते लम्बाई में ३७ इंच तक के मिलते हैं । पाटन के मण्डार की प्रमेयकमल-मार्तण्ड की प्रति ३७ इंच लम्बी है ।

58 ो

कागज—इसे संस्कृत में कागद या कड्राल नाम से और गुजरातो में कागल नाम से सम्बोधित किया जाता है। जैसे आजकल विविध प्रकार के कागज आते हैं; प्राचीन काल में भी मिन्न-मिन्न देशों में बने विविध प्रकार के मोटे-पतले कागज होते थें। कश्मीर, दिख्नी, विहार, मेवाड़, उत्तर प्रदेश (कानपुर), गुजरात (अहमदावाद) संभात, देविगिर (कागजीपुरा), उड़ीसा (वालासोर) आदि के विविध जाति के कागजों में विशेषतः कश्मीरी, कानपुरी, अहमदावादी व्यवहार में आते हैं। कश्मीरी कागज सर्वोत्तम होते हैं। प्राचीन ज्ञानमण्डारों में प्राप्त १४वीं शताब्दी के कागज आज के-से बने हुए लगते हैं पर १५वीं शताब्दी के कागज आज के-से बने हुए लगते कम है। भिन्न के कागज तो वहुत कम वर्ष टिक पत्ते हैं।

कागज काटना—आजकल की भाँति इच्छित माप के कागज न वनकर प्राचीन काल में वने छोटे-मोटे कागजों को पेपर कटिंग मशीनों के अभाव में अपनी आवश्यकतानुसार काटना होता था और उन्हें वांस या लोहे की चीपों में देकर हाथ से काटा जाता था।

घोटाई—ग्रन्थ-लेखन योग्य देशी कागजों को घोटाई करके काम में लेते थे जिससे उनके अक्षर फूटते नहीं थे। यदि वरसात की सील में पॉलिश उतर जाती हो उन्हें फिर से घोटाई करनी पड़ती थी। कागजों को फिटकड़ी के जल में डूबो कर अधसूखा होने पर अकीक कसौटी आदि के घूंटे-ओपणी से घोट कर लिखने के उपयुक्त कर लिये जाते थे। आजकल के मिल-कारखानों के निमित कागज लिखने के काम नहीं आते। वे दिखने में सुन्दर और चमकदार होने पर भी शीघ्र गल जाते हैं।

वस्त्रपट—कपड़े पर यन्त्र, टिप्पण आदि के लिए उसे गेहूँ या चावल की लेई द्वारा छिद्र वन्द होने पर सुसाकर के घोटाई कर लेते । जिस पर चित्र, यंत्र, ग्रन्थादि सुगमता से लिखे जा सकते थे। पाटण मण्डार के वस्त्र पर लिखित ग्रन्थ खादी को दुहरा चिपका कर लिखा हुआ है।

टिप्पगक जन्म-कुण्डली. अणुपूर्वी, विज्ञप्ति-पत्र. वारहवत्तटीप आदि Scroll कागज के लीरों को चिपका कर तयार करते तथा कपड़े के लम्बे थान में वे आवश्यकता-नुसार बना कर उसके साथ चिपका कर या खाली कागज पर लिखे जाते थे. जिन पर किए हु१ चित्रादि सौ-सौ फुट लम्बे तक के पाये जाते हैं।

काष्ठ-पहिका—काष्ठ की पहियां कई प्रकार की होती थीं। काष्ठ की पहियां को रंग कर उस पर वर्ण-माला आदि लिखी हुई 'बोरखा पाटी' पर अक्षर सीखने जमाने में काम लेते थे। खड़ी मिट्टी के घोल से उस पर लिखा जाता था तथा ग्रन्थ निर्माण के कच्चे खरड़े भी पाटियों पर लिखे जाते थे। उत्तराध्ययन वृत्ति (सं: ११२९) को नेमिचन्द्राचार्य ने पट्टिका पर लिखा था जिसे सर्व देव गणि ने पुस्तकारूढ़ किया था। खोतान प्रदेश में खरोष्टी लिपि में लिखित कई प्राचीन काष्ठ पट्टिकाएं प्राप्त हुई हैं।

लेखनी—आजकल लेखन कार्य फाउण्टेनपेन, डॉटपेन आदि द्वारा होने लगा है पर आगे होल्डर, पेन्सिल आदि का अधिक प्रचार था । इससे पूर्व वांस, हेंत, दालचीनी के अण्ट इत्यादि से लिखा जाता था! आजकल उसकी प्रथा अलग रह गई है, पर हस्तलिखित ग्रन्थों को लिखने में आज भी कलम का उपयोग होता है। कागज, ताइपत्र पर लिखने के उपयुक्त ये लेखनियां थीं, पर कर्नाटक, सिंहल, उत्कल, ब्रह्मदेशादि में जहां उत्कीणित करके लिखा जाता है वहाँ लोहे की लेखनी प्रयुक्त होती थी। कागजों पर यंत्र व लाइनें बनाने के लिये जुजवल का प्रयोग किया जाता था जो लोहे के चिमटे के आकार की होती थी। लौह लेखनी में दोनों तरफ ये भी लगे रहते थे। आजकल के होल्डर की निवें इसी का विकसित

[5<u>y</u>

रूप कहा जा सकता है। कलमों के घिस जाने पर उसे चाकू से पतला कर दिया जाता था तथा बीच में खड़ा चीरा देने से स्याही उसमें से उतर आने में सुविधा होती है। निवों में यह प्रथा कलम के चीरे का ही रूप है। लेखनियों के शुभाशुभ कई प्रकार के गुण दोपों को वताने वाले क्लोक पाये जाते हैं जिनमें उनकी लम्बाई, रंग, गांठ आदि से ब्राह्मणादि वर्ण, आयु, धन, संतानादि हानि वृद्धि आदि के फलाफल लिखे हैं उनकी परीक्षा पद्धति ताड़पत्रीय युग की पुस्तकों से चली आ रही है। स्तन-परीक्षा में स्तनों के क्वेत, पीत, लाल और काले रंग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैक्य, शूद्ध की मौति लेखनी के भी वर्ण समझना चाहिए। इसका उपयोग कैसे व किस प्रकार करना, इसका पुराना विधान तत्कालीन विक्वास व प्रथाओं पर प्रकाश खालता है।

दतरणा लेखनी कलम की माँति यह शब्द भी लिखने के साधन का द्योतक हैं। लिपि को लिप्यासन पर 'अदतरण' करने के संस्कृत शब्द से यह शब्द वनना संभव है। काष्ठ की पाटी जिसे तेलिया पाटी कहते थे धूल खाल कर लिखने का साधन वतरणा था। फिर स्लैट की पाटी पर व टीन व गत्ते की पाटी पर लिखने की स्लैट पैसिल को भी भाषा में वतरणा कहते हैं। लिलितविस्तर के लिपिशाला संदर्शन परिवर्त में 'वर्णातिरक' से वतरणा बनने का कुछ लोग अनुमान करते हैं।

जुजवल इस विषय में जपर लेखनी के संदर्भ में लिखा जा चुका है। इसका स्वतन्त्र अस्तित्व था और संस्कृत 'युगबल' शब्द से इसकी व्युत्पत्ति संभव है। यह चिमटे के आकार की दोनों ओर लगी लेखनी वाली लोह-लेखनी थी। पुराने लहिये इसका प्रयोग लेखन समय में हांसिया आदि की लाल लकीरें सींचने में किया करते थे।

प्राकार—चित्रपट, यंत्र आदि लेखन में गोल आकृति बनाने में आजंकल के कम्पास की मौति प्रयोग में आता था। विविध शिल्पी लोग भी इसका उपयोग करते हैं।

ओलिया फांटियां—कागज की प्रतियां लिखते समय सीधी लकीरें जिसके प्रयोग में आती है वह गुजरात में ओलिया व राजस्थान में फांटिया कहलाता है। लकड़ी के फलक या गत्ते के मजबूत पूठे पर छेद कर मजबूत सीधी डोरी छोटे बड़ें अक्षरों के चौड़े-संकरें अन्तरानुसार उमय पक्ष में कसकर बांध दी जाती है और उस पर इमली. चावल या रंग-रोगन लगाकर तैयार किये फांटिये पर कागज को रख कर अंगुलियों द्वारा टान कर लकीर चिन्हित कर ली जाती है। ताड़पत्रीय प्रतियों पर फांटिये का उपयोग न होकर छोटी-सी विन्दु सीधी लकीर आने के लिए कर दी जाती थी। श्रावकातिचार में लेखन जाने पकरण में इसे ओलिया लिखा है। राजस्थान में आजकल कागज के लम्बे टुकड़ें को ओलिया कहते हैं जिस पर चिट्ठी लिखी जाती है।

कंविका—ताड़पत्रीय लेखनोपकरण के प्रसंग में जपर कांबी के विपय में बतलाया जा चुका है। आजकल फुट की मांति चपटी होने से माप करके हांसिये की लकीर खींचने व जपर अंगुलियाँ रख कर लिखने के प्रयोग में आने वाला यह उपकरण है। यह वांस, हाथीदांत या चन्दन काष्ठादिक की होती है।

लिपि की स्वरूप दिशंका—स्याही या रंग—पुस्तक लिखने के अनेक प्रकार के रंग या स्याही में काला रंग प्रधान है। सोना, चांदी और लाल स्याही से भी ग्रन्थ लिखे जाते हैं पर सोना, चांदी की महर्घ्यता के कारण उसका प्रयोग अत्यल्प परिमाण में ही विशिष्ट शास्त्र लेखन में श्रीमन्तों द्वारा होता था। लाल रंग का प्रयोग वीच-वीच में प्रकरण समाप्ति व हांसिए की रेखा में तथा चित्रादि आलेखन में सभी रंगों का प्रयोग होता था। एक दूसरे रंग के मिश्रण द्वारा कई रंग तैयार हो जाते हैं। पूर्वकाल में लाड़पत्र, कागज आदि पर लेखन हेतु किस प्रकार स्याही वनती थीं—इस पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जाता

है । ताड़-पत्र काव्ड की जाति है. जब कि कागज व वस्त्र उससे भिन्न है। अतः प्रकृति भिन्नता के कारण तदनुकूल स्याही की रासायनिक विधि भिन्न होना स्वाभाविक है। आजंकल ताड़-पत्र लेखन प्रचलित न होने से उसकी स्याही का स्वरूप प्राचीन उल्लेखों पर आधारित है।

प्रथम प्रकार कांटोसेरिया (धमासा), जज मांगरा का रस त्रिफता, कसीस, लौहचूर्ण को उकाल कर, क्वाथ वना कर, गली के रस को वरावर परिमाण में मिला कर कागज व वीजावोल मिलाने से ताइ-पत्र लेखन योग्य स्याही वनती है। इन्हें तांवे की कढ़ाई में घोट कर एक रस कर लेना चाहिए।

द्वितीय प्रकार—कागज, पीयण, वीजावोल, मूमितला, जलमांगरा और पारे को उवलते हुए पानी में मिलाकर तांवे की कढ़ाई में सात दिन तक घोट कर एक रस कर लेना चाहिये। फिर उसकी विड्यां वना, उन्हें कूट कर रखें। फिर जब आवश्यक हो उन्हें गरम पानी में खूव मसल कर स्याही बना लेना चाहिये।

तृतीय प्रकार—कोरे काजल को मिट्टी के कोरे सिकोरे में अंगुली से मसल कर उसकी चिकनाई मिटा देना । थोड़े से गोमूत्र में भिगो देने से भी चिकनास मिट जाती है। फिर उसे निव या खेर के गून्द के साथ बीआरस में भिगो कर खूब घोटना। फिर बड़ी सुखा कर उत्पर की भांति करना।

चतुर्थं प्रकार—गूंद, नींब के गूंद से दुगुना वीजावोल उससे दुगुना काजल (तिल के तेल से पाड़ा हुआ) को घोट कर गोमूत्र के साथ आंच देना, पात्र ताम्र का होना चाहिये। सूखने पर थोड़ा-थोड़ा पानी देते रहें व पांच तोला एक दिन परिमाण से घोटकर लोद, साजीखार युक्त लाक्षारस मिलाना। गोमूत्र में धोये भीलामा घूंटा के नीचे लगाना। फिर काले मांगरा के रस के साथ मर्दन करने से उत्तम स्याही बनती है। पंचम प्रकार—ब्रह्मदेश, कर्नाटक, उच्कलादि देशों में त.ड्नात्र लोहे की सूई से कोर कर लिखे जाते हैं। उनमें अक्षरों में काला रंग लाने के लिये नारियल की टोपसी या बादाम के छिलकों को जला कर, तेल में मिलाकर लगा देना । पोंछने से ताड़पत्र साफ हो जायेगा। ब्रक्षरों में कालापन आ जायेगा।

कागज और कपड़ों पर लिखने योग्य काली स्याही :

- (१) जितना काजल उतना बोल, तेथी दूणा गूंद झकोल। जो रस मांगरा नो पड़े, तो अक्षरे अक्षरे दीवा बले॥
- (२) काजल से आधा गूंद, गूंद से आधा वीजावोल, लाक्षारस. वीयारस के साथ तांवे कें। माजन में मर्दन करने से काली स्वाही होती है।
- (३) वीआवोल अनइ लक्खाइस. कज्जल वज्जल नइ अंवारस ॥ भोजराज मिसी निपाई, पानउ फाटइ मिसी नवि जाई ॥
- (8) लाख टांक बीस मेल, स्वाग टांक पांच मेल, नीर टांक दो सौर लेई हांडी में चढ़ाइये। जो लौ आग दीजे तो लौं और खार सब लीजे. लोट खार बाल वाल पीस के रखाइये। मीठा तेल दीप जार कांजल सोले उतार, नीकी विधि पिछानी के ऐसे ही बनाइये। च!हक चतुर नर लिख के अनूप ग्रन्थ. बांच बांच वांच रिझरिझ मौज पाइये।
- (५) स्याही पक्की करने की विधि—लाख बोखो या बीपड़ी पैसा ६, तीन सेर पानी में डालनः, सुहागा पैसा २ डालना, लोद पैसा ३, पानी तीन पाव, फिर काजल पैसा १ घोट के सुखा देना। फिर शीतल जल में मिंगो कर स्याही पक्की कर लेना।
- (६) काजल ६ टांक. बीजाबोल १२ टांक. खेर का गृंद ३६ टांक. अफीम आधा टांक, अलता पोथी ३ टांक

59

फिटकड़ी कच्ची ०॥ टांक, नीम के घोटे से ७ दिन ताम्रपात्र में घोटना ।

इन सभी प्रकारों में प्रथम प्रकार उपयोगी और सुसाध्य है। कपड़े के टिप्पणक के लिए वीजाबोल से दुगुन। गूंद, गूंद से दुगुनी काजल नीली स्याही दो प्रहर मर्दन करने से वज्रवत् हो जाती है।

सुन्दर और टिकाऊ पुस्तक लेखन के लिये कागज की श्रेष्ठता जितनी आवश्यक है जतनी ही स्याही की मी है। अन्यथा प्रमाणोपेत विधिवत् न बनी हुई स्याही के पदार्थ रासायनिक विकृति द्वारा कागज को गला देती है। चिपका देती है। जर्जर कर देती है। एक ही प्रति के कई पन्ने अच्छी स्थिति में होते हैं और कुछ पन्ने जर्जारेत हो जाते हैं। इसमें लहिया लोगों की अज्ञानता से या आदतन गाढ़ी स्याही करने के लिये लौहचूर्ण, बीयारस आदि खाल देते हैं जिससे पुस्तक काली पड़ जाती है, विकृत हो जाती है।

सुनहरी रूपहली स्याही:

सोना और चाँदी की स्याही बनाने के लिये वर्क को खरल में डाल कर धव के गूंद के स्वच्छ जल के साथ खूब घोटते जाना चाहिए। बारीक चूर्ण हो जाने पर मिश्री का पानी डाल कर खूब हिलाना चाहिए। स्वर्ण-चूर्ण नीचे बैठ जाने से पानी को धीरे-धीरे निकाल देना चाहिए। तीन-चार बार धुलाई पर गूंद निकल जाएगा और सुनहरी या रूपहली स्याही तैयार हो जाएगी।

हिंगलु को खरल में मिश्री के पानी के साथ खूब घोट कर ऊपर आते हुए पीलास लिये हुये पानी को निकाल देना । इस तरह दस-पन्द्रह बार करने से पीलास निकल कर शुद्ध लाल रंग हो जाएगा । फिर उसे मिश्री और गृंद के पानी के साथ घोट कर एक रस कर लेना । फिर सुखा कर टिकड़ी की हुई स्याही को आवश्यकतानुसार पानी में घोल कर काम में लेना चाहिए। मिश्रो के पानी की अपेक्षा नींवू का रस प्रयुक्त करना अधिक उपयोगी है।

अष्टगन्यः

अगर, तगर, गोरोचन, कस्तूरी, रक्त चन्दन, चन्दन, सिंदूर और केशर के मिश्रण से अष्टगन्ध बनता है। कपूर, कस्तूरी, गोरोचन, सिगरफ, केशर, चन्दन, अगर, गेहूंला से मी अष्टगन्ध बनाया जाता है।

यक्ष-कर्द्दमः

चन्दन, केशर, अगर, वस, कस्तूरी, मरचकंकोल, गोरोचन, हिंगुल, रतजन, सुन्हरें वर्क और अंबर के मिश्रण से यक्ष-कर्द्दम बनता है।

अप्टगन्य और यक्ष-कर्द्दम गुलाव जल के साथ घोटते हैं और इनका उपयोग मंत्र, यंत्र, तंत्रादि लिखने में, पूजा प्रतिब्ठादि में काम आता है।

मधी-स्याही शब्द काले रंग की स्याही का द्योतक होने पर भी हरे रंग के साथ इसका वचन प्रयोग-रूढ़ हो गया। लाल स्याही, सुनहरी स्याही, हरी स्याही आदि इसी प्रकार दंगाल में लाल काली, व्लूकाली आदि कहते हैं! स्याही और काली शब्द ये हरेक रंग वाली लिपि की स्वरूपदिशिका के लिए प्रयुक्त होते हैं!

चित्रकला के रंगः

सचित्र पुस्तक लेखन में चित्र बनाने के लिए उपर लिखित काले, लाल, सुनहरें, रूपहले रंगों के अतिरिक्त हरताल और सफैदा का भी उपयोग होता था। दूसरे रंगों के लिए भी विधि है। हरताल और हिंगुल मिलाने पर नारंगी रंग, हिंगुल और सफेदा मिलाने से गुलाबी रंग, हरताल और काली स्याही मिला कर नीला रंग बनता था।

22 }

(१) सफेदा ४ टांक व पेवड़ी १ टांक व सिंद्र १॥ टांक से गौर वर्ण। (२) सिंद्र ४ टांक व पोधी गली १ टांक से खारिक रंग। (३) हरताल १ टांक व गली आधा टांक से नीला रंग। (४) सफेदा १ टांक व अलता आधा टांक से गुलाबी रंग। (५) सफेदा १ टांक व गली १ टांक से आसमानी रंग। (६) सिंद्र १ टांक व पेवड़ी आधा टांक से नारंगी रंग होता है।

हस्तिलिखित ग्रन्थ पर चित्र वनाने के लिए इन रंगों के साथ गोंद का स्वच्छ जल मिलाया जाता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न चित्रकला के योग्य रंगों के निर्माण की विधि के पचासों प्रयोग पुराने पत्रों में लिखे पाये जाते हैं! जैन लिपि की परम्परा:

भगवान् महावीर का विहार अधिकांश विहार प्रान्त (अंग-मगध-विदेह आदि) बंगाल और उत्तर प्रदेश में हुआ था । अतः वे अर्द्धमागधी भाषा में उपदेश देते थे। जैनों का सम्बन्ध मगध से अधिक था । जैनागमों की भाषा प्राकृत है, दिगम्बर साहित्य सौरसेनी प्राकृत में और **श्वेताम्बर आगम महाराष्ट्री प्राकृत में हैं।** जिस प्रकार प्राकृत से अपभ्रंश के माध्यम से हिन्दी, राजस्थानी. गुजराती आदि अन्य भाषाएँ हुईं, उसी प्रकार बंगला भाषा और लिपि का उद्गाम भी प्राकृत से हुआ है। मगध से पड़ी मात्रा का प्रयोग वंगला में गया। जब बारह दर्जी दुष्काल पड़े तो जैन श्रमण संघ दक्षिण और पश्चिम देशों में चला गया. परन्तु अपनी लिपि ब्राह्मी से गुप्त, कृटिल और देवनागरी के विकास में ब्राह्मी-देवनागरी में ब्राह्मी-वंगला का प्रभाव लेता गया। यही कारण है कि सिकड़ों वर्षों तक पड़ी मात्रा का जैनों में प्रचलन रहा। बंगला लिपि में आज भी पढ़ी मात्रा है। अतः प्राचीन जैन लिपि के अभ्यासी के लिए बंगला लिपि का ज्ञान वड़ा सहायक है।

जिसप्रकार ब्राह्मी-देवनागरी लिपि में जलवायु-देशपद्धित और शिक्षक द्वारा प्रस्तुत अक्षर जमाने के उपकरणों की लिपि विविधता. रुचि-भिन्नता के अन्य,न्य मरोड़ के कारण अनेक रूपों में प्रान्तीय लिपियां विभक्त हो गयीं. उसी प्रकार जैन लिपि में भी यत्तियों की लिपि. खरतरगच्छीय लिपि, मारवाड़ों लिहियों की लिपि, गुजराती लियों की लिपि-परम्परा पायी जाती है। कोई गोल अक्षर, कोई खड़े अक्षर, कोई वैठे अक्षर, कोई हलन्त की मौति पृंछ वाले अक्षर, तो के ई कलात्मक अलंकृताक्षर. कोई दुकड़े-टुकड़े रूप में लिखे व कोई घसीटवें अक्षर लिखने के अम्यस्त थे। एक ही शताब्दी के लिखे ब्राह्मण. कायस्थादि की लिपि में तो जेन लिपि से महद अन्तर है ही. जेन लिपि में तो जेन लिपि से महद अन्तर है ही. जेन लिपि में भी लेखनकाल निर्णय करने में वहुत सावधानी और सतर्कता अवश्यक है।

लेखन सौष्ठवः

सीधी लकीर में सघन गोल, एक दूसरे से अलग्न. शीर्ष-मात्रादि अखण्ड एक जैसे, न खाली, न मीड्-भाड़ वाले अक्षर लिखने वाले लेखक भी आदर्श और उनकी लिपि भी आदर्श कहलाती है। जैन शेली में इस ओर विशेष ध्यान दिया गया है जिससे पिछली शताब्दियों में क्रमशः लेखनकला विकसित होती गईं थी।

लिपि का माप—काटिये द्वारा यथेच्छ एक माप की पंक्तियों में लगभग तुलीयांश या इससे कम-बेश अंतर रख कर एक समान सुन्दर अक्षरों से प्रतियां लिखी जाती श्री जिससे अक्षर गणना करने वाले की सुविधा रहती और अक्षर भी सरल, सुवाच्य और नयनाभिराम लगते थे।

पड़ी मात्रा—ब्राह्मी लिपि से जब वर्तमान लिपियों का विकास हुआ, मात्राएँ सूक्ष्म रूप में अथवा स्वर संलग्न संकेत से लिखी जाती थीं। वे अपना बड़ा रूप धारण करने लगीं और वर्तमान में अक्षर व्यंजन के चतुर्दिक्

୍ ସହ

लिखी जाने लगीं । पृष्ठि मात्रा, अपमात्रा, जर्ध्वमात्रा में 'उ. ज' की अग्रमात्रा 'रु.रू' के अतिरिक्त अधीमात्रा का रूप धारण कर लिया । पृष्ठि मात्रा में हुस्व इकारान्त संकेत के अतिरिक्त जर्ध्व और अग्रमात्रा बन गई है, जैसे के, के, को, को । जबिक प्राचीन काल में वंगला लिपि की मौति कि, कि, का, को लिखे जाते थे, दीर्घ ईकार का संकेत अपरिवर्तित ही रहा । संगुक्ताक्षर एवं मात्राओं के प्रयोग के कारण अक्षरों के माप में अन्तर आ जाना स्वामाविक था अस्तु, पड़ी मात्रा लिखने की पद्धति प्रायः सत्रस्वीं शताब्दी के पश्चात् लुप्त हो गई । जैन लेखक:

जैन साहित्य के परिशोलन से विदित होता है कि जैन विद्वानों-श्रुतधरों ने जो विशाल साहित्य-रचना की उन्हें वे पहले काष्ठपट्टिका पर लिख कर फिर ताखपत्र. कागज आदि पर उतारते थे । श्री देवमद्राचार्य ने जिस काष्ठोत्कीर्ग पट्टिका पर महावीर चरित्र, पार्श्वनाथ चरित्रादि लिखे थे वे उन्होंने सोमचन्द्र मूनि (श्रीजिनदत्तः सूरिजी) को मेंट किये थे । अतः इन वस्तुओं का वड़ा महत्व था । ग्रन्थकार अपने महान ग्रन्थों को स्वयं लिखते या अपने आज्ञांकित शिष्य वर्ग से प्रथमादन पुस्तिका लिखवाते. जिनका उल्लेख कितने ही ग्रन्थों की प्रशस्तियों में पाया जाता है। मणिधारी जिनचनद्रसूरि, स्थिरचन्द्र, ब्रह्मदत्त आदि की लिखित प्रतियां आज भी उपलब्ध हैं। श्री जिनमद्रसूरि, कमलसंयमोपाध्याय. युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि. समयसुन्दरोपाध्याय. गुणविनयोपाध्यायः, यशोविजय उपाध्यायः, विनयविजयः नयविजयः कीर्तिविजयः जिनहर्षगणः क्षमाकल्याणोपाध्यायः ज्ञानसार गणि आदि बहुसंख्यक विद्वानों के स्वयं हस्तलिखित ग्रन्थ उपजब्ध हैं । जैन यति-मुनियों, साध्वियों आदि के अतिरिक्त श्रीमन्त श्रावकों द्वारा लहिया लोगों से लिखवाई हईं वहत-सी प्रतियां हैं । इस प्रकार जैन ज्ञानमण्डारों में लाखें प्राचीन ग्रन्थ आज भी विद्यमान हैं ! पुस्तकों

के लिपिक लहिए कायस्थ, व्राह्मग, नागर, महात्मा, भोजक आदि जाति के होते थे. जिनका पेशा ही लिखने का था और उन संकड़ों परिवारों की आजीविका जैना-चार्यों व जैन श्रीमन्तों के आश्रय से चलतो थी । वे जैन लिपि व लेखन पद्धति के परम्परागत अभिन्न थे और जैन लहिया-जैन लेखक कहलाने में अपना गौरव समझते थे। महाराजा श्रीहर्ष, सिद्धराज जयसिंह, राजा भोज, महारागा कुम्भा आदि विद्याविलासी नरेश्वरों को छोड़ कर एक जैन जाति ही ऐसी थी जिसके एक-एक व्यक्ति ने ज्ञान भण्डारों के लिये लाखों रुपये लगा कर अद्वितीय ज्ञानोपासना-श्रुतमक्ति की है । लाखों ग्रन्थों के नष्ट हो जाने व विदेश चले जाने पर भी आज जो ग्रन्थ-भण्डार जैनों के पास हैं वे बड़े गौरव की वस्तु हैं। ज्ञानपंचमी का आराधन एवं सात क्षेत्रों में तथा स्वतन्त्र ज्ञान द्रव्य की मान्यता से इस और पर्याप्त ज्ञान सेवा समृद्ध हुई। साधु-यतिजनों को स्वाध्याय करना अनिवार्य है । श्रत-लेखन स्वाध्याय है और इसीलिये इतने ^बग्रन्थ मिलते हैं। आज के मुद्रण युग में भी सुन्दर लिपि में ग्रन्थ लिखवाकर रखने की परिपाटी कितने ही जैनाचार्य मनि-गण निमाते आ रहे हैं । तेरापन्थी श्रमणों ' में आज भी लेखन कला उन्नत देखी जाती है क्योंकि उनमें हस्त लिखित ग्रन्थ लिखने श्रीर वर्ष में अमुक-परिमाण में लेखन-स्वाध्याय की पूर्ति करना अनिवार्य है ।

लेखक के गुण-दोष:

लेख पद्धति के अनुसार लेखक सुन्दर अक्षर लिखने वाला. अनेक लिपियों का अभिज्ञ. शास्त्रज्ञ और सर्वभाषा विशारद होना चाहिए, ताकि वह ग्रन्थ को शुद्ध अविकल लिख सके। मेथावी, वाक्पदु, धैर्यवान्-जितेन्द्रिय. अव्यसनी. स्वपरशास्त्रज्ञ और हल्के हाथ से लिखने वाला सुलेखक हैं। जो लेखक स्याही गिरा देता हो. लेखनी तोड़ देता हो, आस्रपास की जभीन विगाड़ता हो, दावात में कलम डवोते समय उसकी नोक तोड़ देता

हो वह अपलक्षणी और कूट लेखक वतलाया गया है। लेखक की साधन सामग्री:

ग्रन्थ लेखन के हेतु पीतल के कलमदान और एक विशिष्ट प्रकार के लकड़ी या कूटे के कलमदानों में लेखन सामग्री का संग्रह रहता था। हमारे संग्रह में ऐसा एक सचित्र कूटे का कलमदान है जिस पर दक्षिणी शैली से सुन्दर कृष्णलीला का चित्रांकन किया हुआ है। एक सादे कलमदान में पुरानी लेखन सामग्री का भी संग्रह है। यह लेखन सामग्री विविध प्रकार की होती थी जिसका वर्णन जपर किया जा चुका है। एक शले की शे विस्वा जिसका वर्णन उपर किया जा चुका है। एक शलेक में के अक्षर वाली १७ वस्तुओं की सूची उल्लिखत है—

(१) कुंपी (दावात). (२) काजल (स्याही). (३) केश (सिर के वाल या रेशम). (४) कुश-दर्म. (५) कम्बल. (६) कांवी. (७) कलम. (५) कृपाणिका (छुरी). (९) कतरनी (केंची). (१०) काष्ठपष्टिका, (११) कागज. (१२) कीकी-आंखे. (१३) कोटड़ी (कमरा). (१४) कलमदान, (१५) कमण-पैर. (१६) कटि-कमर और (१७) कंकड़।

इनमें आँख, पैर और कमर की मजबूती आवश्यक है। बैठने के लिए कंवल-दर्मासन व कोठरी-कमरा के अतिरिक्त अवशिष्ट स्टेशनरी लेखन सामग्री है।

लिह्ये लोग विविध प्रकार के आसनों में व विविध प्रकार से कलम पकड़ कर या प्रतियाँ रख कर लिखने के अभ्यस्त होने से अपने लेखनानुकूल कलम को अपर व्यक्ति को देने में हानि समझते थे। अतः पुस्तकों की पुष्पिका के साथ निम्न सुभाषित लिख दिया करते थे— लेखनी पुस्तिका रामा परहस्ते गता गता। कदाचित् पुनरायाता नष्टा भ्रष्टा च धर्मिता (या चुम्बिता)।

लिखते समय यदि छोड़ कर उठना पड़े तो वे अपने विश्वास के अनुसार 'घझटड़ त पवल व श अक्षर लिखते छोड़ कर या अलग कागज पर लिख के उटते थे। अवशिष्ट अक्षर लिखते हुए उठ जाने पर उन्हें पुस्तक के कट जाने, जन्तु द्वारा खा जाने तथा नष्ट हो जाने के विविध संदेह रहते थे। इन विश्वासों का वास्ति विकता से क्या सम्बन्ध है कहा नहीं जा सकता। लेखक की निर्दोषता:

जिस प्रकार ग्रन्थकार अपनी रचना में हुई स्खलना के लिए क्षमाप्रार्थी बनता है वैसे ही लेखक अपनी परि-स्थित और निदोंदता प्रकट करने वाले श्लोक लिखता है—

यादशं पुस्तके दृष्टं तादशं लिखितं मया।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयते॥
मरनपृष्ठ - कटिग्रीवा - वक्रदृष्टिरधोमुखम्।
कष्टेन लिखितं शास्त्रं यत्नेन परिपालयेत्॥
वद्धमुष्टि - कटिग्रीवा - वक्रदृष्टिरधोमुखम्।
कष्टेन लिखितं शास्त्रं यत्नेन प्रतिपालयेत्॥ इत्यादि

भ्रांतिमूलक अशुद्धियां :

प्राचीन प्रतियों की नकल करते समय लिपि अल्पञ्चता से या भ्रांत पठन से. अक्षराकृति साम्य या संयुक्ताक्षरों की दुरूहता से अनेकशः अशुद्ध परम्परा चल पड़ती थी। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, मिटते-जुलते अशुद्ध वाक्यों को शुद्ध करने पर नवीन पाठान्तरों की सृष्टि हो जाती, जिसका संशोधन किसी अनुमवी विद्वान् संशोधक के हाथों पड़ने पर ही संभव होता। 'च्छ' का 'तथ' और 'तथ' का 'च्छ' हो जाना तो मामूली बात थी।

ग्रन्थ लेखनारंभः

भारतीय संस्कृति में न केवल ग्रन्थ रचना मैं ही किन्तु ग्रन्थ लेखन के समय लिहये लोग सर्वप्रथम मंगलाचरण करते थे. यह चिरपरिपाटी है। जैन लेखक ''ॐ नमः, ऐ' नमः, नमो जिनाय, नमः श्री गुरुभ्यः, नमो

[94

लेखन विरामः

वीतरागाय, जयत्यनेकान्तकण्ठीरवः, ॐ नमः सरस्वत्यै, ॐ नमः सर्वज्ञाय, नमः श्रीसिद्धार्थसृताय" इत्यादि अपने देव. गरु. धर्म, इष्टदेव के नाम मंगल के निमित्त लिखते थे । जैन मंगलाचरण का सार्वत्रिक प्रचार न देवल भारत में ही विलक, चीन, तिव्वत तक में लिखे ग्रन्थों में कातनत्र व्याकरण का 'ॐ नमः सिद्धं' प्रचुरता से प्रचलित हुआ था । प्राचीन लिपियों के प्रारंभिक मंगल-चिन्ह शिलालेखों में. ताड़पत्रीय ग्रन्थों में व परम्परा से चलते हुए अर्थ न समझने पर भी रूढ़ हो गये थे । ब्राह्मी लिपि के ॐकार ऐंकार सहस्राब्दी पर्यन्त चलते रहे और आज भी ग्रन्थ लेखन के प्रारम्भ में उन्हीं विविध रूपों को लिखने की परम्परा चल रही है । भारतीय प्राचीन लिपि माला एवं प्राचीन शिलालेखों व ग्रन्थों से उन मंगलचिन्हों का विकास चारुतया परिलक्षित होता है। राजस्थान में सर्वत्र कातन्त्र व्याकरण का प्रथम अपभ्रष्ट पाठ वड़े ही मनोरंजक रूप में बच्चों को रटाया जाता था।

लेखकों की ग्रन्थ लेखन समाप्ति :

ग्रन्थ लेखन समाप्त होने पर ग्रन्थ की परिसमाप्ति सूचन करने के पश्चात् लेखक संवत् पुष्पिका लिख कर "शुमंभवत्, कल्याणमस्तु, मंगलं महाश्री लेखकः-पाठकयोः शुमंभवत्, शुमं भवत् संघस्य." आदि वाक्य लिख कर "॥छः॥" हा। आकृतियाँ लिखा करते थे जो पूर्णकुम्म जैसे संकेत होने का मुनि श्री पुण्यविजयजी ने अनुमान किया है। और भी प्राचीन ग्रन्थों में विभिन्न चिन्ह और अक्षरों पर गेरु आदि लाल रंग से रंजित ग्रन्थों के अन्तिम पत्र पाये जाते हैं। ग्रन्थ के अध्ययन, खण्ड, उद्देश्य, सर्ग, परिच्छेद, उच्छ्वास, लंभक, काण्ड आदि की परिसमाप्ति पर सहज ध्यान आकृष्ट करने हेतु भी इन चिन्हों का उपयोग किया जाता था।

लेखको द्वारा अंक प्रयोगः

एदापि ग्रन्थ की पत्र संख्या आदि लिखने के लिये अंकों का प्रयोग प्राचीन काल से होता आया है पर, साथ-साथ रोमन लिपि की भाँति, I, II, III, IV, V आदि सांकेतिक अंक प्रणाली भी नागरीलिपि में प्रचलित थी. जिसके संकेत अपने दंग के अलग थे । ताडपत्रीय ग्रन्थों में और उसके पश्चात् कागज के ग्रन्थों में भी इसका उपयोग किये जाने की प्रश्रा थी । पत्र के दाहिनी ओर अक्षरात्मक अंक संकेत व वार्यी तरफ अंक लिखे रहते थे । यह पद्धति जैन छेद आगमों. चिंगियों में एक जैसे पाठों में प्रायश्चित व मांगों के लिये भी प्रयक्त हुई है । जिनमद्रगणि क्षमाश्रमण कृत जीतकल्पसूत्र के भाष्य में सूत्र की मूल गाथाओं के अंक अक्षरात्मक अंकों में दिये हैं । इस पद्धति के ज्ञान विना मुल प्रति की नकल करने वालों द्वारा भयंकर भूल हो जाने की संभावना है । इस प्रथा का एक दुसरा रूप नेवारी ग्रन्थों में देखा गया है। वात यह है कि श्री मोतीचन्दजी खजानवी के संग्रह की एक प्रति को जब १९०० वर्ष प्रांचीन वताया गया तो असंभव होते हुये भी मैंने स्वयं उसे देखना चाहा । प्रति देखने पर राज खुला कि संवत् वाला अंक १ बंगला लिपि का ७ शा जो कि पत्रांकों का पर दी हुई उभयपक्ष की संख्या से समर्थित हो गया । इस प्रकार ६०० वर्ष का अन्तर निकल गया और नेवारी संवल् व विक्रम संवत का अंक निकालने पर उसकी यथार्थ मिति दतला कर भ्रांति मिटा दी गई । अस्तु । हमें जैन लेखकों दारा अक्षरात्मक अंक संकेतों का समीचीन ज्ञान प्राप्त करने हेत् उसकी तालिका जान लेना आवश्यक समझ कर यहाँ दी जा रही है--

લર]

१ = १, 岁, 핍, 耳,

क, क, क, का क, को क, का, का, का, का, का,

६= फ. फी. फा. फी, मा, फी, मा, फी, की, की, की, की, की

७= घ, घ, घा, घी,

F* 5.5.5.51.50.

(できまき)

२ = घ. घा ३= लं. ला.

ध= स, में, सा, ली

4 = C, G, &, E, D

ન,ક્ષ,છ,દ્ર,

३= स्ता, सा, सा,

४= स्ता,स्ता, स्ता,

५= स्त्री, स्त्री स्त्री

६= स्तं, सं, सं.

3=积,积,积。

यहां इकाई, दहाई और सैकड़ों की संख्या लिखने के समय पृथक्-पृथक् अंक दिये गये हैं। लिखने में उनका उसी प्रकार उपयोग होता है लाकि संख्या का सही आकलन किया जा सके । चालू अंक सीधी लाइन में लिखे जाते हैं, परन्तु ताइपत्रीय व उसी शैली के कागज के ग्रन्थों का पत्रांक देते समय ऊपर नीचे लिखने की प्रथा थी। जैन छेद सूत्र आदि में व माध्य, चूणि, विशेष चूणि, टीका आदि में अक्षरांक सीधी पंक्ति में ही लिखे गए हैं।

९३

उपर्युक्त तालिका के अनुसार इकाई, दहाई और सैकड़ों के अंक का उपयोग इस प्रकार किया जाता था —

यह ताड़पत्रीय पत्रांक लेखन पद्धति कागज पर लिखे ग्रन्थों पर चली आती थी किन्तु कई कागज की प्रतियों में इकाई, दहाई, सैंकड़ों के संकेत न व्यवहल कर केवल इकाई अक्षरांकों का भी व्यवहार हुआ है। यथा—

स्व१०.	स्ति२०,	एक४०.	स्व१००	स्व	एक४००,	स्द	इत्यादि
0	o	0	•	स्व११५,	٥	स्ति१२४०	
			0	लृ	0	एक	

त्रिशती नामक गणित विषयक संग्रह ग्रन्थ में जैन 'अंके' रूप में एक से दस हजार तक के अक्षरांक लिखे हैं। उपर्युक्त तालिका में आये हुए एक से तीन सो तक के अंकों के पश्चात् अधिक की तालिका यहां दी जाती है— "स्तु ४००, स्ते ५००, स्ति ६००, स्ता ७००, स्तो ८००, स्तं ९००, स्तः १०००, क्षु २०००, क्ष्३०००, क्षा ४००० क्ष ५०००, क्षे ६०००, क्षा७०००, क्षा ८०००, क्ष ९०००, क्षः १००००। इति गणितसंख्या जैनाङ्गानां समाप्ताः।

98

इन अक्षरात्मक अंकों की उत्पत्ति आदि कैसे हुई यह बता सकना कठिन है, पर प्रारम्भ के तीन अक्षरों के लिए लिखे जाते स्व. स्व. स्त. श्री अथवा फं नमः या श्री श्री श्री ये मंगलीक के लिए प्रयुक्त अक्षरों से प्रारम्भ हुआ विदित होता है। आगे के संकेतों का वास्त-विक वीज क्या है शोधकर वास्तविक निर्णय में अव तक विद्वानों की कल्पना सफल नहीं हो सकी है।

शून्यांक :

जैन छेद आगमों की चूणि में जहां मास, लघु मास, गुरु, चतुर्जघू, चतुर्गुरु, पङ्लघु, दङ्गुरु प्रायिश्वत के संकेत लिखे हैं वहां उस संख्या का निदेश एक. चार, छः शून्य के द्वारा किया गया है। यथा—

इस प्रकार खाली शून्य लघुता सूचक और काले भरे शून्य गुरुत्व सूचक हैं।

शद्दात्मक अंक :

जैनागम सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययनादि में वैदिक ग्रन्थों एवं ज्योतिप छंदादि विविध विषयक ग्रन्थों में. शिलालेखों, ग्रन्थ-प्रशस्तियों व पुष्पिकाओं में शब्दांकों का प्रयोग प्राचीन काल से चला आता है। कुछ सार्वजनिक और कुछ सांप्रदायिक, पारिभाषिक, धार्मिक, व्यावहारिक वस्तुओं के भेद की संख्या के आधार पर रूढ शब्दांकों का विना भेद-भाव से ग्रन्थकारों, कवियों और लेखकों ने उन्मुक्त प्रयोग किया है, जिसकी तालिका वहुत वड़ी तैयार हो सकती है। यहाँ जिस-जिस अंक के लिए जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है उसे दिया जा रहा है—

- 0. जून्य. विनद्व, रन्ध्र, ख. छिद्र, पूर्ण, गगन, आकाश. वियत्, व्योम, नम, अम्र, अन्तरिक्ष, अम्बरादि ।
 - १, कलि, रूप, आदि, पितामह, नायक, तनु, शशि, वि.यू.

इन्दु, चंद्र, श्रीतांशु, शीतरिहम, सितरुच, हिमकर, सोम, शशांक,सुधांशु, निशेश, निशाकर, क्षपाकर, औपधीश, दाक्षा-यणी प्राणेश, अब्ज, (चन्द्रवाचक अन्य शब्द मी), भू, भूमि, क्षिति, क्षमा, धरा, वसुधा, वसुन्धरा, उर्वरा, गो, पृथ्वी, धरणी, इला, कु, मही (पृथ्वी वाचक अन्य शब्द मी), जैवाकृत इत्यादि।

- २. यम. यमल, युगल. इं.स. युग्म. इ.स. पक्ष, अश्विन, नासत्य. दस्त्र. लोचन. नेत्र. नयन. इक्षण. अक्षि. दृष्टि, चक्ष्. (नेत्र वाचक अन्य शब्द भी), कर्ण, श्रुति, श्रोत, (काम वाचक शब्द). वाह. व.र. हस्त. पात्री. दोप, मुज, (हाथ वाचक शब्द समूह), कर्ण, कुच. ओव्ठ. गुरूफ, जान. जंघा, (शरीर के युग्म अवश्व वाचक अन्य शब्द), अयन. कुटुम्ट, रविचनद्री इत्यादि।
- ३. राम, त्रिपदी, त्रिकाल, त्रिगत, त्रिनेत्र, लोक, जगत, मुवन, (विश्व वाचक शद्द समूह), गुण, काल, सहोदरा, अनल, अग्नि, वृह्नि, जवलन, पावक, वेश्वानर, दहन, तपन, हुलाशन, शिखन, कुशानु, (अग्नि वाचक अन्य शब्द समूह), तत्व, त्रैत, होतृ, शक्ति, पुष्कर, संध्या, ब्रह्मा, वर्ण, स्वर, पुरुष, वचन, अर्थ, गुप्ति इत्यादि।
- 8. वेदः श्रुति, समुद्र, सागर, अवधि, जलधि, जल-निधि, वाधि, नीरधि, नीर, निधि, वारिधि, वारिनिधि, उद्धि, अम्बुधि, अम्बुनिधि, अंभीधि, अर्णव, (समुद्रवाचक अन्य शब्द भी), केन्द्र, वर्ण, आश्रन, युग, तुर्य, कृत, अय, आय, दिश (दिशा), बन्धु, कोष्ठ, ध्यान, गति, संज्ञा, क्षाय इत्यादि।
- ध्. वाण, शर, सायक, इषु, (वाण वाचक शब्द), भूतः महाभूतः प्राणः इन्द्रियः, अक्षः विषयः, तत्वः पर्वं, पांख्वः, अर्थः, वर्षाः, व्रतः, समितिः, कामगुणः, शरीरः, अनुत्तरः, महाव्रतं इत्यादि !
- ६. रस. अंगः कायः ऋतुः मासार्धः, दर्शनः, रागः, अरि. शास्त्रः, तर्कः, कारकः, समासः, लेश्याः, क्षमासण्डः, गुणः, गुहकः, गुहकक्त्र इत्यादि ।

ि ८प्

७. नग, अग, भूभृत, पर्वत, शैल, अद्रि, गिरि, (पर्वत वाचक शब्दावली), ऋषि, मुनि, अत्रि, वार, स्वर, धालु, अश्व, तूरग, वाह, हय, वाजिन् (अश्व वाचक शब्द), छंद, धी, कलत्र, भय, सागर, जलधि, (समुद्र वाचक शब्द समूह), लोक इत्यादि।

प्त, वसु, अहि, सर्प (सर्प वाचक अन्य शब्द भी), नागेन्द्र, नाग, गज, दन्तिन्, दिग्गज, हस्तिन्, मांतग, करि, कुंजर, द्विप, करिन्, (हस्ति वाचक शब्द), तक्ष, सिद्धि, भूति, अनुब्टुब्, मंगल, मद, प्रभावक, कर्मन्, धी गुण, बुद्धि गुण, सिद्ध गुण इत्यादि।

 अंक, नन्द, निधि, ग्रह, खग, हरि, नारद, रंध्र,
 ख, छिद्र, गो, पवन, तत्व, त्रह्मगृप्ति, ब्रह्मवृत्ति, ग्रैवेयक इत्यादि ।

१०. दिश (दिशा, आशा, ककुम, दिशा दाचक शब्द), अंगुली, पंक्ति, रावणशिरस्, अदतार, कर्मन्, यतिधर्म, श्रमणधर्म, प्राण इत्यादि ।

११. रुद्र. ईश्वर, हर, ईश, भव, भर्ग, शूलिन, महादेव, पशुपति, शिव (महादेव वाचक शब्द), अक्षीहिणी इत्यादि !

१२, रिव, सूर्य, अर्क, मार्चण्ड, द्युमणि, मानु, आदित्य, दिवाकर, दिनकर, उष्णांशु, इन. (सूर्य वाचक शब्दावली), मास, राशि, व्यय, चिक्रन, मावना, भिक्षु, प्रतिमा, यित प्रतिमा इत्यादि ।

१३, विश्व, विश्वदेवा, वाम, अतिजगतीः 'अघोप, क्रियास्थान, यक्ष इत्यादि ।

१४. मनु, विद्याः, इन्द्रः, शक्रः, वासवः (इन्द्र वाचक शब्द), इत्यादि ।

१५, तिथि, घस्न, दिन, अहन्, दिवस (दिवस्वाचक शब्द), पक्ष, परमाधार्मिक इत्यादि !

१६. नृप, भूप, भूपति, अष्टि, कला, इन्दुकला, शिक्तकला इत्यादि । १७. अत्यब्दि । १८, धृति, अब्रह्म, पापस्थानक इत्यादि । १९. अतिघृति । २०. नख, कृति इत्यादि । २१. उत्कृति, प्रकृति, स्वर्ग । २२. कृति, जाति, परिषह इत्यादि । २३. विकृति । २४. गायत्री, जिन, अर्हन् इत्यादि । २५. तत्व । २७. नक्षत्र, उडु, भ । ३२. दंत, रद इत्यादि ।

३३. देव, अमर. त्रिदश. सुर इत्यादि । ४०, मरक । ४५, जगती । ४९. तान । ६४. स्त्री कला । ७२. पुरुष कला ।

यहां दी गई शब्द सूची में कितनी ही वैकल्पिक !हैं, अतः किस प्रसंग प्रयोग में कौन सा चालू अंक लेना है यह विचारणीय रहता है।

रंघ, स और छिद्र का उपयोग शून्य के लिये हुआ है । गो एक के लिये व नौ के लिये भी हुन्ना है । गो एक के लिये व नौ के लिये भी व्यवहल हुआ है । पक्ष दो के लिये व पन्द्रह के लिये भी व्यवहल हुआ है । इसी प्रकार श्रृति दो के लिये व चार के लिये, लोक और भुवन तीन, सात और चीदह के लिये, गुण शब्द तीन और छः के लिये, तस्व तीन, पाँच, नौ और पच्चीस के लिये, समुद्र वाचक शब्द चार और सात के लिये तथा विश्व तीन, तेरह और चीदह के लिये व्यवहत देखने में आते हैं ।

पुस्तक लेखनः

ताङ्पत्रीय ग्रन्थ—छोटे साइज के ताङ्पत्रीय ग्रन्थ को दो विभाग (कॉलम) में प्वं लम्बे पत्रों पर तीन कॉलम में लिखा जाता था। विभाग के उभय पक्ष में एक छंद्र इंच का हांसिया (मार्जिन) रखा जाता था। बीच के हांसिया में छिद्र करके छोरा पिरोया जाता था ताकि पत्र अस्त-व्यस्त न हो। पत्र के दाहिनी ओर अक्षरात्मक पत्रांक एवं वायों तरफ अंकात्मक पत्रांक लिखे जाते थे। कितनी ही प्रतियों में उभय पक्ष में एक ही प्रकार के अंक लिखे मिलते हैं। बीच में छिद्र करने के स्थान में तथा कई प्रतियों में किनारे के हांसिये में भी हिंगुली का

बड़ा टोका (अंगूठे) से किया जाता था। विभागीय लेख के उभय दक्ष में सुन्दरता के लिये बोर्डर या दो-तीन खड़ी लकीरें खींच दी जाती थीं। ताड़पत्र के पते चौड़े-संकड़ें होते थे, अतः कहीं अधिक व कहीं कम पंक्तियां सम-विषम रूप में हो जाती थीं। लिखते-लिखते जहां पत्र संकड़ा हो जाता था. पंक्ति को शेष करकेंु, , चन्द्र (स्टार) आदि आकृति चिन्हित कर दी जाती थी। अन्त और प्रारम्भ जहां से होता, वैसा ही चिन्ह संकेत सम्बन्ध मिलाने में सहायक होता था।

पुस्तक लेखन प्रारम्भ में 'दो पाई, मले मीड़ा' के बाद जिन, गणधर, गुरु, इन्टदेव, सरस्वती आदि के सूजक नमस्कार लिखा जाता और जहाँ श्रुतस्कन्ध, सर्ग, खण्ड, लंबक, उच्छ्वास आदि की पूर्णाइति होती वहाँ ॥छ॥ एवं समाप्ति सूचक अन्य चिन्ह लिखकर कुछ खाली जगह छोड़ कर उसी प्रकार नमस्कारादि सह आगे का विमाग चालू हो जाता। कहीं-कहीं ग्रन्थ के विभाग के शेप में या ग्रन्थ पूर्णाइति में चक्र, कमल, कलशादि की आकृति बनायी जातो थी। वीच-बीच में जहाँ कहीं गाथा का टीका, माध्य, चूर्ण शेष होने के अन्त में भी ॥छ॥ लिख दिया जाता था। किन्तु रिक्त स्थान नहीं छोड़ा जाता था।

कागज के ग्रन्थ —प्रारम्भ में कागज के ग्रन्थ भी ताड़ पत्रीय ग्रन्थों की तरह लम्बाई-चौड़ाई में छोटे मुद्धि पुस्तक, के आकार में लिखते, किन्तु दो-तीन विभाग करने आवश्यक नहीं थे। कितने ही ग्रन्थों की लम्बाई ताड़पत्रीय ग्रन्थों की माँति करके चौड़ाई भी उनसे डवल अर्थात् शा इंच की रखी जाती। किन्तु बाद में तेरहवीं शताब्दी के पश्चात् सुविधा के लिये १२×५ या इससे कम्बेशी साइज कर दिया गया। प्रारम्भ में कागज के ग्रन्थों पर बोर्डर की लकीर काली होती थीं, पर सोलहवीं शताब्दी से लाल स्याही के बोर्डर बनने लगे। ताड़पत्रीय ग्रन्थों में पत्रों के न सरकने के लिये खाली जगह में छिद्र करके डोरी

पिरोई जाती थी। उसी प्रकार कागज के ग्रन्थों में भी उसी पद्धति का अनुकरण कर, खाली जगह रखी जाती: पर डोरी के लिए छिद्र किए ग्रन्थ क्वचित ही पाये जाते हैं, क्योंकि कागज के पत्रों के सरकने का भय नहीं था। साली जगह में लाल रंग आदि के टीके या फूल आदि विविध अलंकार किये हुए ग्रन्थ भी पाये जाते हैं । उभय पक्ष में ताडपत्रीय पत्रांक लेखन पद्धति उभय प्रकार पहले-पहले पाई जाती है, वाद में केवल अंकों में पत्रांक एवं एक ओर ग्रन्थ के नाम की हुण्डी (Heading) लिख दी जाती थी। कितने ही संग्रह ग्रन्थों में सीरियल क्रिमिक अंक चालु रखने पर भी विभागीय सक्ष्म चोर अंक कोने में लिखे जाते थे। कागज का साइज एक होने से सभी पत्रों में एक जैसी लकीरें पंक्तियां आती थीं। जहां विभागीय परिसमाधि होती वहां लाल स्याही से विराम चिन्ह एवं प्रारम्भ में ॥६०॥ आदि तथा अंत में ।:छ।: की पद्धति ताड़पत्रीय लेखन के अनुसार ही प्रचलित थीं । पुष्पिका संवत आदि पर ध्यान आकर्षण के लिये लाल स्याही से अथवा जैसे लाल पैंसिल फिरा दी जाती है वसे गेरु रंग आदि से रंग दिया जाता था।

प्राचीन लेखन वैशिष्ट्य:

ग्रंथ-लेखन में जहाँ वाक्यार्थ या सम्बन्ध पूर्ण होता था वहां पूर्ग विराम, दोहरा पूर्ग विराम एवं अवांतर विषय अवतरण आदि की परिसमाप्ति पर प्रष्ठः॥ लिखा जाता था एवं रलोकांक भी इसी प्रकार लिखा जाता था। विशिष्ट ग्रन्थों में मूलग्रन्थ के विश्य को स्पष्ट करने वाले यनत्र, चिन्ह, लिखने के साथ-साथ रलोक संख्या, गाथा संख्या, ग्रंथाग्रंथ, प्रशस्ति आदि लिखी जाती थी। कुछ अविवेकी लेखक इन्हें न लिखकर ग्रन्थ के महत्व और वैशिष्ट्य को कम कर देते थे।

ताड़पत्रीय ग्रन्थों के चित्र व टीके आदि के अति-रिक्त केवल काली स्याही व्यवहृत होती थी । जबकि

િ ૬૭

कागज के ग्रन्थों के लेखन में काली के अतिरिक्त सुनहरी रूपहली और लाल स्याही का प्रयोग छूट से हुआ है। सुनहरी, रूपहली स्याही में समग्र ग्रन्थ लिखे गए हैं. वैसे लाल रंग का प्रयोग पूरे ग्रन्थ में न होकर विशिष्ट स्थान, पुष्पिका, ग्रन्थाग्र, उक्तं च, तथाहि, पूर्ण विराम आदि में हुआ है। पर पत्रों की पृष्ठमूमि में लाल, नीला, हरा आदि सभी रंगों से रंग कर उस पर अन्य रंगों का प्रयोग हुआ है।

पुस्तक लेखन के प्रकारः

पुस्तकों के बाह्य आकार को लक्षित करके आगे गंछी. कच्छपी, मुप्टि आदि पुस्तकों के प्रकार वतलाए गए हैं पर जब कागज के प्रन्थ लिखे जाने लगे तो उनकी लेखन पद्धति व आम्यन्तिरिक स्वरूप में पर्याप्त विविधता आ गई थी। कागज पर लिखे ग्रन्थ, त्रिपाठ, पंचपाठ, टव्बा, वालाववोध शेली, दो विभागी (Column), सूड़ (Running) लेखन, चित्रपुस्तक, स्वर्गाक्षरी, रोप्याक्षरी, सूक्ष्नाक्षरी, स्थूजाक्षरी, भिश्रिताक्षरी, पौथियाकार, गुटकाकार आदि अनेक विधाओं के संप्राप्त हैं।

त्रिपाठ या त्रिपाट— ग्रन्थ के मध्य में वड़े अक्षर व ऊपर नीचे उसके विवेचन में टीकाटवा आदि सूक्ष्माक्षरों की पंक्तियाँ लिखी गई हो वह त्रिपाठ या त्रिपाट ग्रन्थ कहलाता है।

पंचपाठ या पंचपाट — जिस ग्रन्थ के बीच में मूलपाठ त चारों ओर के बड़े वोर्डर हांसिया में विवेचन, टीका, टकादि लिखा हो अर्थात्, लेखन पांच विभागी में हुआ हो वह पंचपाठ या पंचपाट ग्रन्थ कहलाता है।

सूड़ या सूड़—जो ग्रन्थ मूल टीका आदि के विभाग विना सीधा लिखा जाता हो वह सूड़ या सूढ़ (Running) लेखन कहलाता है।

प्राचीन ग्रन्थ मूल, टीकादि अलग-अलग लिखे जाते थे तव ताड्पत्रीय ग्रन्थों में ऐसे कोई विभाग नहीं थे। जब मूल के साथ टीका, चूणि, निर्युक्ति, भाष्य, वाला- ववोध आदि साथ में लिखे जाने लगे तो त्रिपाठ या पंचपाठादि विभागीय लेख प्रारम्भ हुआ । इससे एक ही प्रति में टीका आदि पड़ने की सुगमता हो गई ।

टवा या वालाववोध शैली—त्रिपाट, पंचपाठ से भिन्न टवा लिखने की शैजी में एक-एक पंक्ति के मूल बड़े अक्षरों के ऊपर, छोटे अक्षरों में विवेचन, टवा व थोड़े से बड़े अक्षरों के ऊपर नीचे विशद छोटे अक्षरों में लिखा जाता था। आनन्दघन चौबीसी बालाववोधादि की कई प्रतियां इसी शैली की उपलब्ध हैं। विभागीय (Column) पुस्तक, कुछ सूक्ष्माक्षरी आदि दो विभाग में लिखी हुई पुस्तकें भिलती हैं तथा कई प्रतियों में नामावली सूची, वालाववोध आदि लिखने की सुविधानुसार कॉलम बनाकर के लिखे हुए कागज के ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

चित्र पुस्तक—यहां चित्र पुस्तक का आश्रय सचित्र पुस्तक से नहीं पर यह वह विधा है जिससे लेखनकला की खूबी से इस प्रकार जगह धोड़कर अक्षर लेखन होता है जिससे चोपट. वज्र, स्वस्तिक, छत्र, फूल आदि विविध आकृतियां उपर आती हैं और व्यक्ति का नाम भी चित्र रूप में परिलक्षित हो जाता है। कभी कभी यह लेखन लाल स्याही से लिखा होने से लेखन कला स्वयं वोल उठती है। हांसिया और मध्य भाग में जहां छिद्र की जगह रखने की ताड़पत्रीय प्रथा थी वहां विविध फूल आदि चित्रित होते।

स्वर्गाक्षरी-रीप्याक्षरी प्रनथ—आगे वतायी हुई विधि के अनुसार स्वर्गाक्षरी. रीप्याक्षरी और गंगा-जमनो प्रनथ लेखन के लिये इस स्याही का प्रयोग होता। प्रनथों को विशेष चमकदार दिखाने के लिए कागज के पत्रों की पृष्ठ मूमि (वैकग्राउण्ड) लाल, काला, आसमानी, जामुनी आदि गहरे रंग से रंग कर अकीक, कसीटी, कोडा आदि से घोटकर मुलायम, पालिसदार बना लिया जाता था। फिर पूर्वोल्जिखित सोने-चांदी के वर्क चूर्ण को धव के गोंद के पानी के साथ तैयार की

हुई स्याही से प्रन्थ लिखा जाता था ' लिखावट सूख जाने पर अकीक आदि की ओपणी से घोटकर 'ओपदार बना लिए जाते थे। इन पत्रों के बीच में व हांसिये में विविध मनोरम चित्र हंसपंक्ति, गजपंक्ति आदि से अलंकृत करके अद्वितीय नयनाभिराम बना दिया जाता था।

स्वर्णक्षरी, रौट्याक्षरी स्याही की लिखी हुई ताड़-पत्रीय पुरतकें अब एक भी प्राप्त नहीं हैं पर महाराजा कुमारपाल और वस्तुपाल महामात्य ने अनेक स्वर्णक्षरी ग्रन्थ लिखाए थे जिसका उल्लेख कुमारपाल प्रवन्ध व उपदेशतरंगिणी में पाया जाता है। वर्तमान में प्राप्त स्वर्णक्षरी ग्रन्थ पन्द्रहवीं शती से मिलते हैं। रौट्याक्षरी उसके परवर्ती काल से मिलते हैं। स्वर्णक्षरी प्रतियां कल्पसूत्र और कालकाचार्य कथा की प्रचुर परिमाण में प्राप्त हैं और क्वचित् मगवती सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, नवस्मरण, अध्यात्मगीता, शालिमद्रशस एवं स्तोत्रादि भी पाये जाते हैं।

सूक्ष्माक्षरी ग्रन्थ—ताङ्पत्रीय युग में सूक्ष्माक्षरी प्रतियां नहीं मिलतीं। पर कागज के ग्रन्थ लेखन में सूक्ष्म अक्षरों का त्रिपाठ, पंचपाठ आदि लेखन में पर्याप्त प्रयोग हुआ। साधुओं को विहार में अधिक मार उठ,ना न पड़े इस दृष्टिकोण से भी उसका प्रचलन उपयोगी था। ज्ञानमण्डारों में कई एक सूक्ष्माक्षरी ग्रन्थ पाये जाते हैं। यो केवल एक पत्र में दशवेकालिकादि आगम लिखे मिलते हैं। तेरापंथी साधुओं ने तथा कुछ कलाकारों ने सूक्ष्माक्षर में उल्लेखनीय कीर्तिमान कायम किया है, पर वे पठन-पाठन में उपयोगी न होकर प्रदर्शनी योग्य मात्र हैं।

स्थ्लाक्षरी ग्रन्थ—पठन-पाठन के सुविधार्थ बिशेप कर सम्वत्सरी के दिन कल्पसूत्र मूल का पाठ संघ के समक्ष वांचने के लिये स्थूलाक्षरी ग्रन्थ लिखे जाते थे! कगाज युग में इसका पर्याप्त विकास दृष्टिगोचर होता है। कर्त्तरितग्रन्थ—कागज को केवल अक्षराकृति में काट कर बिना स्याही के अलेखित ग्रन्थों में मात्र एक 'गीतगोविन्द' की प्रति बड़ौदा के गायकवाड़ ओरिएण्टल इन्स्टिट्यूट में है। बाकी फुटकर पत्र एवं चित्रादि पर्याप्त पाये जाते हैं।

मिश्रिताक्षरी—छोटे-बड़े मिश्रित अक्षरों की प्रतियों का परिचय वर्णन टबा, वालावरोध की एवं सपर्याय प्रतियों में चारुतया परिलक्षित होता है।

गुटकाकार ग्रन्थ—इनका एक माप नहीं होता । ये छोटे-वड़े सभी आकार-प्रकार के पाये जाते हैं । पोथिये गुटके आदि बीच में सिलाई किये हुए, जुज सिलाई वाले भी मिलते हैं । वराबर पन्नों को काटकर सिलाई करने से आगे से तीखे और अवशिष्ट एक से हांते हैं । उनकी जिल्दों भी कलापूर्ण, सुरक्षित और मसमल, छींट, किम्स्वाप जरी आदि की होती हैं । कुछ गुटके सिलाई करके काटे हुए आजकल के ग्रन्थों की माँति मिलते हैं । माप में वे दफ्तर की माँति वड़े-बड़े फुलस्केप साइज के, डिगई साइज के व क्राउन व उससे छोटे लघु और लघुतर माप के गुटके प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं । उनमें रास, भास, स्तवन, सजझाय, प्रतिक्रमण, प्रकरण, संग्रहादि अनेक प्रकार के संग्रह होते हैं । हमारे संग्रह में ऐसे गुटके सेवड़ों की संख्या में हैं जो सोलहवीं शताब्दी से वीसवीं शती तक के लिखे हुए हैं ।

पुस्तक संशोधनः

हस्तिलिखित ग्रन्थों में प्रति से प्रति की नकल की जाती थी। जपर वाली प्रति यदि अशुद्ध होती तो उस विना संशोधित प्रति से नकल करने वाला मापा और लिपि का अनिभन्न लेखक भ्रान्त परम्परा और भूलों की अभिवृद्धि करने वाला ही होता। फलस्वरूप ग्रन्थ में पाठान्तर, पाठमेद का प्राचुर्य होता जाता और कई पाठ तो अशुद्ध लेखकों की कृपा से ग्रन्थकार के आश्रय से बहुत दूर चले

[**99**

जाते थे। एक जैसी प्राचीन लिपि और मोड़ के भेद से, भाषा व विषय की अनिभन्नता से जो म्रान्तियां नजर आती हैं उनके कुछ कारण क्षक्षरों की मोड़, साम्य व अन्य म्रान्तियां हैं। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुतकिये जाते हैं—

१. लिपिभ्रम-

कं रू	म स रा ग	था थ्य
खर दस्व	विवत	पा प्य
ग रा	ह इ	सा स्य
घ प्य व थ प्य	त तू	चा प्य
चवठध	द्दद्र	डुइ इ
छ व	ग्रग्ग ज	त्त न्म
জ হা	द्रड	च्च थ
ञ ज	वु तु	इहद
ट ह द	प् य थ घ	ई हैं
ड र म	ज व रा	एप य
त व	सूस्तस्वमू	ऐ पे ये
ध व	त्य च्छ	क क़ कूक्ष
न त व	कृक्ष	घपू पृ
नु तु	त्व च न	सु मु
ष्यए	प्राथा	ख प्ट ष् ब् द
फ पु	टा य	त्म त्स ती व्य
भ स म	র গ্র	कू क्त क
य ध	एय णा एम	

इस प्रकार कितनी ही लम्बी सूची दी जा सकती है। अक्षरभ्रांति से उत्पन्न पाठ-मेद में मिन्नार्थ, समा-नार्थ भी घटित हो सकता है और इस चक्कर में बड़े-दड़े विद्वान भी फँस जाते हैं। भ्रांत लेखन से उत्पन्न पाठ भेदों को देखिये—

प्रभव-प्रसव, स्तवन-सूचन, यच्चा-यथा, प्रत्यक्ष-तोवगम्या-प्रत्यक्षवोधगम्या, नवा-तथा, नच-तब, तद्धा-तथा, पवत्तस्त-पवन्नस्स, जीवसालमीकृतं-जीवमालमीकृतं परिवुड्ढि परितृद्धिः नन्नैवं-नदैवं अरिदारिणी-अरिवारिणी-अविदारिणी, दोहलक्खेविया-दोहलक्खेवियाः नंदीसरदीवगमणसंभवजण-मंख्यिं-नंदीसरदीवगमणसंभवजिणमंख्यिः घाणामयपसाद-जणण-घणोगयपसादं जणणः गयकुलासण्ण-रायकुलासण्णः सच्च-सत्वं-सत्तं, विच्छूददाणजल।विज्ञकपोलाविगजा-विच्छुददाणजलवित्त घोलविवजाः इत्यादि ।

2. पड़ी मात्रा विषयक अम.—कितने ही लेखक पड़ी-मात्रा-पृष्ठमात्रा का रहस्य न समझ कर एक दूसरे अक्षर के साथ उसकी मात्रा को लगा कर भ्रान्तपाठ की सृध्ट कर डालते हैं जिससे संशोधन कार्य बड़ा दुरूह हो जाता है। यत—

किसलयकोमलपस्तथपाणी-किसयलक्सामलपत्थपाणीः तारानिकर-तरौनिकर-तमोनिकरः आसरासीओ-असेरासीओ-असेससीओ, इत्यादि ।

- 3. पिततपाठ स्थान परिवर्तन—कितनी ही बार छूटे हुए पाठ को हांसिए में संशोधन द्वारा लिखा जाता है जिसे प्रति-लिपिकार संकेत न समझ कर अन्य स्थान में उसे लिख देते हैं ऐसे गोलमाल प्रतिलिपि करते समय आए दिन देखने में आते हैं।
- 8. टिप्पण प्रवेश—संशोधक दारा हांसिए पर किये गये टिप्पण पर्याय को प्रति लिपिकार भ्रान्तिव ग ग्रन्थ का छ्टा हुआ पाठ समझकर मूल पाठ में दाखिल कर देते हैं।
- ५. शब्द पण्डित लेखकों के कारण—कितने हो लेखक अमुक शब्दों के विशेष परिचित होने से मिलते-जुनते स्थान में अघटित फेरफार कर डालते हैं—म्रांतिवश हो जाता है जिससे संशोधक के लिये बड़ी कठिनाई हो जाती है।
- ६. अक्षर या शब्दों की अस्त-व्यस्तता—जेखक लिखते -लिखते अक्षरों को उज्ञट-पुलट कर डालते हैं जिससे पाठान्तरों की अभिवृद्धि हो जाती है। यत—दाएइ-दाइए।

७. खबल पाठ—िकतनी ही बार लेखक ग्रन्थ लिखते पाठ को खबल लिख डालते हैं जिससे लिखित पुस्तक में पाठ-मेद की सृष्टि हो जाती है। जैसे—सञ्च पासणिएहिं सञ्च पासणिएहिं-सञ्चपासन्थपासणिएहिं, तस्सरूव-तस्सरू वस्सरूव इत्यादि ।

प्राप्त स्वलन—ग्रन्थ के विषय और अर्थ से अज्ञान लेखक कितनी ही वार भंगकादि विषयक सच्चे पाठ को डवल समझ कर छोड़ देते हैं जिससे गम्भीर भूलें पैदा होकर विद्वानों को भी उलझन में डाल देती है।

इस प्रकार अनेक कारणों से लेखकों द्वारा उत्पन्न म्रान्ति और अर्ध-दग्ध-पण्डितों द्वारा म्रान्ति-मिन्नार्थ को जन्म देकर जपर निर्दिष्ट उदाहरणों की मांति सही पाठ निर्णय में विद्वानों को वड़ी असुविधा हो जाती है।

संशोधकों की निराधार कल्पना :

प्रायोगिक ज्ञान में अधूरे संशोधक शब्द व अर्थ ज्ञान में अपिरिचित होने से अपनी मितिकल्पना से संशोधन कर नए पाठ-भेद पैदा कर देते हैं, सच्चे पाठ के वदले अपिरिचित प्रयोग देकर अनर्थ कर डालते हैं। खिण्डत पाठ की पूर्ति करने के वहाने संशोधकों की मिति-कल्पना भी पाठभेदों में अभिवृद्धि कर देती है क्योंकि पत्र चिपक जाने से, दीमक खा जाने से रिक्त स्थान की पूर्ति दूसरी प्रति से मिलाने पर ही शुद्ध होगी अन्यशा करपना प्रसूत पाठ भ्रान्त परम्परा को जन्म देने वाले होते हैं।

ग्रन्थ संशोधन की प्राचीन ।अर्वाचीन प्रणाली :

इशन मण्डारस्थ प्रन्थों के विशद अवलोकन से विदित्त होता है कि लिखते समय ग्रन्थ में भूल हो जाती तो ताड़पत्रीय लेखक अधिक पाठ को काट देते या पानी से पोंध कर नया पाठ लिख देते थे । छुट्टे हुए पाठ को देने के लिए 'A' पक्षी के पंजे की आकृति देकर किनारे XX के मध्य में 'A' देकर लिखा जाने लगा था।

अधिक पाठ को हटाए हुए रिक्त स्थान को लकीर तथा अन्याकृति से पूर्ण कर दिया जाता था। सोलहवीं शताब्दी में प्रति संशोधन में आई हुई काटाकाटी की असुन्दरता को मिटाने के लिए सफेदा या हरताल का प्रयोग होने लगा। अशुद्ध पर हरताल लगा कर शुद्ध पाठ लिसा जाने लगा। अशुद्ध अक्षर को सुधारने के लिए जैसे 'च' का 'व' करना हो। 'च' का 'प' करना हो, 'च' का 'प' करना हो, 'च' का 'प' करना हो तो अक्षर के अधिक माग को हरताल आदि से दक कर शुद्ध कर दिया जाता। यही प्रणाली आज तक चालू है। ब्रूटक पाठ को लिखने के लिए तो उन्हों चिन्हों को देकर हांसिये में लिखना पड़ता व आज भी यही रीति प्रचलित है।

ग्रन्थ संशोधन के साधनः

प्रनथ संशोधन करने के लिए पीछी, हरताल, सफेदा, घूंटो (ओपणी). गेरु और डोरे का समावेश होता है। अतः इन वस्तुओं के सम्बन्ध में निर्देश किया जाता है।

पींछी—चित्रकला के उपयोगी पींछी-ब्रुश आदि हाथ से ही बनाने पड़ते और उस समय टालोरी-खिसकोली के वारीक बालों से वह बनती थी। ये बाल स्वामाविक ग्रथित और टिकाऊ होते थे। कबूतर की पांख के पोलार में पिरो कर या मोटी बनाना हो तो मयूर के पांखों के ऊपरी भाग में पिरोकर तैयार कर ली जाती थी। छेरे को गींद आदि से मजबूत कर लिया जाता और वह चित्रकला या ग्रन्थ संशोधन में प्रयुक्त हरताल, सफेदा आदि में प्रयुक्त होती थी।

हरताल - यह दगड़ी और वस्गी दो तरह की होती है। ग्रन्थ संशोधन में 'वस्गी हरताल' का प्रयोग होता है। हरताल के वारीक छने हुए चूर्ण को बावल के गोंद के पानी में भिला कर, घोटकर, आगे बताई हुई हिंगुल की विधि से तैयार कर सुखा कर स्वना चाहिए।

सफेदा-सफेदा आज कल तैयार मिलता है। उसे

[909

गोंद के पानी में घोंट कर तैयार करने से ग्रन्थ संशोधन में काम आ सकता है। पर हरताल का सौन्दर्य और टिकाऊपन अधिक है।

घूंटा या ओपणी—आगे लिखा जा चुका है कि अकीक, कसौटी या दरियाई कोड़ों से कागज पर पालिस होती हैं। हरताल, सकेदा लगे कागजों पर ओपणी करके फिर नए अक्षर लिखने से वे फेलते नहीं—स्याही फूटती नहीं।

गेरू जैसे आजकज विशिष्ट वाक्य, श्लोक, पुष्पिका आदि लाल पेन्सिल से अण्डर लाईन करते हैं वैसे हस्तिलिखित ग्रन्थों में भी आकर्षण के लिए पद, वाक्य, गाथा, परिच्छेद, परिसमाप्ति स्थान गेरू से रंग दिए जाते थे।

डोरा—ताड़्उन्नीय युग में स्मृति योग्य पंक्ति, पाठ.

अशोधक के अंके शिक्टा-

अधिकार, अध्ययन, उद्देश्य आदि की परिसमाप्ति स्थान में वारीक छोरा पिरो कर वढ़ा हुआ वाहर छोड़ दिया जाता था। जैसे आजकल फ्लेग चिन्हित किया जाता है और उससे ग्रंथादि का प्रसंग खोजने में सुविधा होती है. वेसे ही ताड़पत्रीय युग की यह पद्धति थी। पुस्तक संशोधन के संकेत चिन्ह:

जिस प्रकार लेखन और संशोधन में पूर्ण विराम, अर्द्ध विराम, अर्व्ध विन्ह, छन्द समास द्योतक चिन्ह, शंकित पाउ द्योतक चिन्हादि प्रचलित हैं, पुराकालीन जैन विद्धानों ने भी लेखन सौष्ठ्य को ध्यान में रख कर विविध चिन्हों का प्रयोग किया है। वे चिन्ह कव और किस स्थिति में प्रयुक्त होते थे उसका यहां निर्देश किया जाता है -

इन चिन्हों की पहचान इन नामों से कीजिए—

१. पतितपाठ दर्शक चिह्न—लेखकों की असावधानी से छूटे हुए स्थान पर यह चिन्ह करके हांसिये पर ब्रुटक पाठ लिखा जाता है ब्रौर दोनों स्थान में चिन्ह कर दिए जाते हैं। 2, पतित पाठ विभाग दर्शक चिह्न—यह चिन्ह छूटे हुए पाठ को वाहर लिखने के उभय पक्ष में दिया जातः है जिससे अक्षर या पाठ का सेल-भेल न हो जाय ! इसके पास 'ओ' या 'पं' करके जिस पंक्ति का हो नम्बर दिया जाता है।

- आकारान्त 'काना' दर्शक चिन्ह—यह अक्षर के आगे की मात्रा 'ा' छूट गई हो वहां अक्षर के जपर दी जाती है।
- 8. अन्याक्षर वाचन दर्शन चिन्ह—यह चिन्ह लिखे गए अक्षर के वदले दूसरा अक्षर लिखने की हालत में लगाया जाता है। जैसे 'श' के वदले 'प', 'स' के वदले 'शं, 'जं के वदले 'य', 'प' के वदले 'क्ष' आदि। यत—सञ्जु—शत्रु, खट् -पट्, जज्ञन्-यज्ञ, जात्रा--यात्रा आदि।
- ५. पाठ परावृति दर्शक चिन्ह—अक्षर या वाक्य के उलट-पुलट लिखे जाने पर सही पाठ वताने के लिए अक्षर पर लिख दिया जाता है । यत—'वनचर' के बदले 'वचनर' जिखा गया हो तो वचनर शब्द पर चिन्ह कर दिया जाता है ।
- ६. स्वर सन्ध्यंश दर्शक चिन्ह—यह चिन्ह सन्धि हो जाने के पश्चात् लुप्तस्वर को वताने वाला है। इन चिन्हों को भी ऊपर और कभी ने चे व अनुस्वार युक्त होने पर अनुस्वार सहित भी किया जाता है। यत—
 55:555 इत्यादि।
- ७, पाठ भेद दर्शक चिन्ह—एक प्रति को दूसरे प्रति से मिजाने पर जो पाठान्तर, प्रत्यन्तर हो उसके लिये यह चिन्ह लिख कर पाठ दिया जाता है !
- फ, पाठानुसंधान दर्शक चिन्ह- छूटं हुए पाठ को हांसिए में लिखने के पश्चात् किस पंक्ति का वह पाठ है यह अनुसंधान बताने के लिये ओ० पं० लिख कर ओली, पंक्ति का नंबर दे दिया जाता है।
- ९. पदच्छेद दर्शक चिन्ह--आजकल की तरह वाक्य शब्द एक साथ न लिखकर आगे अलग-अलग अक्षर लिखे जाते थे, अतः शुद्ध पाठ करने के लिये ऊपर खड़ी लाईन का चिन्ह करके शब्द अक्षर पार्थक्य वता दिया जाता है।

- १०, विभाग दर्शक चिन्ह— ऊपर दिए गये सामान्य पदच्छेद चिन्ह से डबल लाइन देकर सम्बन्ध, विपय या इलोकार्द्ध की परिसमाप्ति पर यह लगाया जाता है।
- ११. एक पद दर्शक चिन्ह—एक पद होने पर भी भ्रान्ति न हो इसलिए दोनों ओर ऊपर खड़ी लाइन लगा देते थे। यत—'स्यात्पद' एक वाक्य को कोई स्यात् और पद अलग-अलग न समझ ैंठे इसीलिये वाक्य के दोनों और इसका प्रयोग होता था।
- १२. विभक्ति वचन दर्शक चिन्ह—यह चिन्ह अंक परक है। सात विभक्ति और सम्बोधन मिलाकर आठ विभक्तियों को तीन वचनों से संवद्ध-सूचन करने के लिये प्रथमा का द्विवचन शब्द पर १२. अव्टमी के बहुवचन पर पर अति अंक लिख कर निर्श्रान्त बना दिया जाता था! संबोधन के लिए कहीं-कहीं है भी लिखा जाता था।
- १३, अन्वय दर्शक चिन्ह—यह चिन्ह भी विभक्ति वचन को चिन्ह की भाँति अंक लिख कर प्रयुक्त किया जाता था, ताकि संश्वयात्मक वाक्यों में अर्थ ध्रांति न हो। श्लोकों में पदों का अन्वय भी अंको द्वारा दत्तला दिया जाता था।
- १४. टिप्पणक दर्शक चिन्ह—यह चिन्ह सूत्रपाठ के भेद-पर्याय आदि दिखाने के लिए वाक्य पर चिन्ह करके हांसिए में वही चिन्ह सहित पर्यायार्थ या व्याख्या लिख दी जाती थी।
- १५ विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध दर्शक चिन्ह--दूर-दूर रहे हुए शब्दों का विशेषण-विशेष्य आकलन करने के लिए ये चिन्ह कर देने से प्रवृद्ध वाचक तत्काल संबंध को पकड़ लेता, समझ सकता है।
- १६. पूर्श्यद परामर्शक चिन्ह—ये चिन्ह दुरुह हैं। तर्क शास्त्र के ग्रन्थ में वार-वार आने वाले तत् शब्द को अलग-अलग अर्थ-द्योतक वताने के लिए व्यर्थ के डिप्पण

903

न देकर संकेत से अर्थ समझने के लिए इन चिन्हों का प्रयोग होता था। साधारण लेखकों की समझ से वाहर विचक्षण विद्वानों के ही काम में आने वाले ये चिन्ह हैं।

दार्शनिक विषय के ग्रंथों के लम्बे सम्बन्धों पर भिन्न-भिन्न विकल्प चर्चा में उसका अनुसंधान प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के चिन्ह बड़े सहायक होते हैं। विद्रान जैन श्रमण वर्ग आज भी गम्भीर संशोधन कार्य में इन शेलियों का अनुकरण करता है।

जैन लेखन कला, संशोधन कला के प्राचीन अर्वाचीन साधनों पर यहां जो विवेचन हुआ है इससे विदित होता है कि जेन लेखन-कला कितनी वैज्ञानिक, विकसित और अनुकरगीय थी। भारतीय संस्कृति के इतिहास में जेनों का यह महान् अनुदान सर्वदा स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

जैन ज्ञान मंडारों का महत्त्वः

प्रारम्भ में जो जैन अमण वर्ग श्रतज्ञान को लिपिवद्ध करने के विपक्ष में था वह समय के अनुकूल उसे परम उपादेय मानने लगा और देवद्विगणि क्षमाश्रमण के समय से ज्ञानोपकरण का सविशेष प्रयोग करने के लिए उपदेश देने लगा । आज हमारे समक्ष तत्कालीन लिखित वाङ्मय का एक पन्ना भी उपलब्ध नहीं है। अतः वे कैसे लिखे जाते थे, कैसे संशोधन किये जाते थे, कहां और किस प्रकार रखे जाते थे. इस विषय में प्रकाश डालने का कोई साधन नहीं है। गत एक हजार वर्ष के ग्रन्थ व ज्ञानमण्डार विद्यमान हैं जिनसे हमें मालूम होता है कि श्रुतज्ञान की अभिवृद्धि में जैन श्रमण और श्रावक वर्ग ने सविशेष योगदान किया था। श्री हरिमद्रसूरिजी ने योगदृष्टि-समुच्चय में 'लेखना पूजना दानं' द्वारा पुस्तक लेखन को योग मुसिका का श्रंग बतलाया है । 'मण्ह जिणाणं आण' सज्झाय में पुस्तक लेखन को निम्नोक्त गाथा में श्रावक का नित्य-कृत्य बतलाता है ।

908]

संबेविरि बहुमाणी पुत्थयित्हगं प्रभावणा तित्थे। सङ्द्राणिकच्चमेयं निच्चं सुगुरुवएसणं॥५॥

वारहवीं शताब्दी में सुराचार्य ने भी 'दानादिप्रकाश' के पांचवें अक्षर में पुस्तक लेखन की वड़ी महिमा गायी है। उस जमाने में ग्रन्थों को ज्ञानमण्डारों में रखा जाता था । एक हजार वर्ष पूर्व भी राजाओं के यहाँ पुस्तक संग्रह रखा जाता था, सरस्वती मण्डार हेते थे। चैत्रावःसियों से सम्बन्धित मठ-मन्दिरौं में भी ज्ञानकक्ष अवश्य रहता था । सुविहित शिरोमणि श्री वर्द्धमानसूरि -जिनेश्वरसूरि के पाटन की राजसभा में चेत्यवासियों के साथ हुए शास्त्रार्थ में पाटन के सरस्वती मण्डार से ही 'दशवैकालिक' ग्रंथ लाकर प्रस्तुत किया मसलमानी काल में नालन्या विश्वविद्यालय के ग्रंथागार की भाँति अगणित ज्ञानभण्डारों व ग्रन्थों को जलाकर नष्ट कर डाला गया था। यही कारण है कि प्राचीनतम् लिखे ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। जिस प्रकार देवालयों और प्रंतिमाओं के विनाश के साथ-साथ नव-निर्माण होता गया उसी प्रकार जैन शासन के कर्णधार जैनाचार्यों ने शास्त्र निर्माण व लेखन का कार्य चालू रखा । जिसके प्रताप से आज वह परम्परा वच पायी । मारतीय ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जैन ज्ञानभण्डार एक अत्यन्त गौरव की वस्तु है।

ज्ञान भड़ारों की स्थापना व अभिवृद्धिः

हस्तिलिखित ग्रन्थों के पुष्पिका लेख तथा कुमारपाल प्रडन्ध, वस्तुपालचरित्र, प्रभावकचरित्र, सुकृतसागर महाकाव्य, उपदेशतरंगिणी, वर्मचन्दमंत्रिवंश-प्रवन्ध, अनेकों रास एवं ऐतिहासिक चरित्रों से समृद्ध श्रावकों द्वारा लाखों-करोड़ों के सद्व्यय से ज्ञान-कोश लिखवाने तथा प्रचारित करने के दिशद उठलेख पाए जाते हैं। शिलालेखों की मांति ही ग्रन्थ-लेखन-पुष्पिकाओं व प्रशस्तियों का वड़ा भारी ऐतिहासिक महत्व है। जैन राजाओं, मन्त्रियों एवं धनाव्य श्रावकों के सरकार्यों की विख्वाली में लिखी

हुई प्रशस्तियां किसी भी खण्ड-काव्य से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। गूर्जरेवर सिद्धराज जयसिंह और कुमार-पालदेव ने बहुत बड़े परिमाण में शास्त्रों की ताड़पत्रीय प्रतियां स्वर्णाक्षरी व सचित्रादि तक लिखवायी थीं। यह परम्परा न केवल जैन नरपति श्रावक वर्ग में श्री परन्तु श्री जिनचन्द्रसूरिजी को अकबर द्वारा 'युगप्रधान' पद देने पर बीकानेर महाराजा रायसिंह, कुंअर दलपतसिंह आदि दारा भी संख्यावद्ध प्रतियां लिखवा कर भेंट करने के उल्लेख मिलते हैं एवं इन ग्रंथों की प्रशस्तियों में बीकानेर, खंभात आदि के ज्ञानमण्डारों में ग्रन्थ स्थापित करने के विशद्भ वर्णन पाए जाते हैं । त्रिभुवनगिरि के यादव राजा कुमारप ल द्वारा प्रदत्त पुस्तिका के काष्ठफलक का चित्र. जिसमें जैन।च।र्य श्री जिनदत्तसूरि और महाराज कुमारपाल का चित्र है. इस पर 'नृपतिकुमारपाल भक्तिरस्त्' लिखा हुआ है। सम्राट अक्बर अपनी सभा के पंडित पदासुन्दर का ग्रंथ भण्डार, हीरविजयसुरि को देना चाहता था, पर उन्होंने लिया नहीं, तब उनकी निश्पहता से प्रभावित होकर उन्होंने आगरा में ज्ञानभण्डार स्थापित किया ।

जैन श्रावकों ने अपने गुरुओं के उपदेश से बड़े-बड़े ज्ञानभण्डार स्थापित किए थे। भगवती सूत्र श्रवण करते समय गौतम स्वामी के छतीस हजार प्रश्नों पर स्वणं मुद्राएँ चढ़ाने का पेथडशाह, सोनी संग्रामसिंह आदि का एवं छतीस हजार मोती चढ़ाने का वर्णन मन्त्रीस्वर कर्मचन्द्र के चरित्र में पाया जाता है। उन मोतियों के बने हुए चार चार सौ वर्ष प्राचीन चन्दवा पूठिया आदि पचास वर्ष पूर्व तक धीकानेर के बड़े उपाश्रय में विद्यमान थे। श्री जिनभद्रसूरि जी के उपदेश से जैसलमेर, पाटण, खंभात, जालोर, देवगिरि, नागौर आदि स्थानों में ज्ञानभण्डार स्थापित होने का वर्णन उपाध्याय समयसुन्दर गणि कृत 'कल्पलता' ग्रन्थ में पाया जाता है। धरणाशाह, भण्डन, धनराज और पेथड़शाह, पर्वत कान्हा एवं मणशाली थाहरुशाह ने ज्ञान-मण्डार स्थापित करने में अपनी लक्ष्मी का मुक्त हस्त से व्यय किया था। थाहरुशाह का मण्डार आज भी जैसलमेर में विद्यमान है। जैन ज्ञानभण्डारों में विना किसी धार्मिक मेद-भाव के जो ग्रन्थ संग्रहीत किये गए, आज भी भारतीय वाड्मय के संरक्षण में गौरवास्पद हैं। क्योंकि अनेक जैनेतर ग्रन्थों को संरक्षित रखने का श्रेय केवल जैन ज्ञानभंडारों को ही है।

वर्तमान में जैन ज्ञानमंडार सारे भारतवर्ष में फैले हुए हैं । यद्यपि लाखों ग्रंथ अयोग्य उत्तराधिकारियों द्वारा नष्ट हो गए. विक गए, विदेश चले गए, फिर भी जैन ज्ञानभण्डारों में स्थित अवशिष्ट लाखों ग्रन्थ शोधक विद्वानों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। गुजरात में पाटण, अहमदाबाद, पालनपुर, राधनपुर, खेडा, खंभात, छाणी. वड़ौदा, पादरा, दरापरा, डमोई, सिनोर, मरोंच, सूरत एवं महाराष्ट्र में बम्बई व पूना के ज्ञानभण्डार सुप्रसिद्ध हैं। सौराष्ट्र में भावनगर, पालीताना, धोघा, लींब्ली, बदवाण, जामनगर, मांगरौल आदि स्थानों के जान भण्डार विख्यात हैं। राजस्थान में जैसलमेर, बीकानेर, वाडमेर, वालोतरा, जोधपुर, नागौर, जयपुर, पीपांड, पाली, लोहावट. फलौदी, उदयपुर, गढ़सिवाना, आहौर, जालीर, म्ंडारा, चुरु, सरदारशहर, फतेहपुर, किशनगढ़, कोटा, झझन आदि स्थानों में नये-पुराने ग्रन्थ-संग्रह, ज्ञान मंडार हैं। अकेले बीकानेर से हजारों प्रतियां बाहर चले. जाने द कई तो समुचे ज्ञानभण्डार नष्ट हो जाने पर भी आज वहाँ लाखों की संख्या में हस्तिहांखत प्रतियां विद्यमान हैं । राजकीय अनुप संस्कृत लायब्रे री में हजारों जैन ग्रन्थ हैं । पंजाब में अंवाला, होशियारपुर, जिड़याला आदि के ज्ञानभण्डार दिली. रूपनगर में आ गए हैं। आगरा. वाराणसी आदि उत्तर प्रदेश के स्थानों-स्थानों में अच्छे ज्ञानभण्डार हैं । उज्जैन, इन्दौर, शिवपुरी आदि मध्य प्रदेश में भी कई ज्ञानभण्डार हैं । कलकत्ता, अजीमगंज

[904

आदि वंगाल देश के ज्ञानमण्डारों का अपना अनोसा महत्व हैं। आगमों को प्रारम्भिक मुद्रग युग में सुव्यव-स्थित और प्रचुर परिमाण में प्रकाशित करने का श्रेय यहां के राय धनपतसिंह दूगड़ को है। श्री पूरणचन्दजी नाहर की 'गुलाबकुमारी लाइब्रेरी' सारे देश में प्रसिद्ध है। ताड़पत्रीय प्राचीन ग्रन्थ संग्रह के लिए जिस प्रकार जैस्ल-मेर, पाटण और संभात प्रसिद्ध है, उसी प्रकार कागज पर लिखे ग्रन्थ वीकानर और अहमदाबाद में सर्वाधिक हैं। दिगम्बर समाज के ताड़पत्रीय ग्रन्थों में मूडविद्री विख्यात है तथा आरा का जैन सिद्धांत भवन, अजमेर व नागीर के महारकजी का भण्डार तथा जयपुर आदि स्थानों के दिगम्बर जैन ग्रन्थ मण्डार वड़े ही महत्वपूर्ण हैं। ज्ञान मण्डारों की व्यवस्था ।

प्राचीनकाल में ज्ञान मण्डार विरुक्त बन्द कमरों में रखे जाते थे। जैसलमेर का सुप्रसिद्ध श्रीजिनभद्रसूरि ज्ञान मण्डार तो किले पर स्थित संभवनाथ जिनालय के नीचे तलघर में सुरक्षित कोठरी में था । जिसमें प्रवेश पाने के लिए अन्तर्गत कोठरी के छोटे से दरवाजे में से निकलना पड़ता था। अब भी है तो वहीं, पर आगे से कुछ सुधार हो गया है। आगे ग्रन्थों को पत्थर की पेटियों में रखते थे जहां सर्दी व जीव-जन्तुओं की विल्कुल संभावना नहीं थी । ताडपत्रीय ग्रंथों को लकड़ी की पष्टिकाओं के वीच खादी के विटांगणों में कस कर रखा जाता था । आजकल आधुनिक स्टीन की अलिमारियों में अपने माप के अल्युमिनियम के इब्बों में ताङ्क्त्रीय ग्रंथों को सुरक्षित रखा गया है और उनकी विवरणातमक सूची भी प्रकाश में आ गई है। प्राचीन काल में केवल ग्रन्थ के नाम मात्र और पत्र संख्यात्मक-सूची रहती थी। कहीं-कहीं ग्रंथकर्ता का नाम भी अपवाद रूप में लिखा रहता था। एक ही वण्डल या डाबर्ड में कागज पर लिखे अनेक ग्रन्थ रखे जाते और उन्हें क्वचित् सूत के डोरे में लपेट कर दूसरे ग्रंथ के साथ पन्नों के सेलमेल होने से वचाया जाता था। कागज की कमी से आजकल की भांति पूरा कागज लपे-

टना महर्घ्य पड़ने से कहीं-कहीं कागज की चीपों में ग्रन्थों को लपेट कर, चिपका कर रखे जाते थे। यही कारण है कि समुचित सार संमाल के अभाव में ग्रन्थों के खुलै पन्ने अस्तव्यस्त होकर अपूर्ण हो जाते थे। विधुड़े पन्नों को मिलाना और ग्रन्थों को पूर्ण करना एक वहुत ही दुष्कर कार्य है।

ताङ्पत्रीय ग्रन्थों को उसी माप के काष्ठफलकों के वीच कस कर वांधा जाता था। कतिपय काष्ठफलक विविध चित्र समृद्धि युक्त पाये जाते हैं। शिखरवद्ध जिनालय, तीर्थंकर प्रतिमा चित्र, उपाश्रय में जैनाचयों की व्याख्यान समा, चतुर्दश महास्वप्न, अष्टमंगलीक, वेल्वूटे, राजा और प्रधानादि राज्याधिकारी, श्रावक-श्राविकाएँ, वादिदेवसूरि और दि० कुमुदचन्द्र के शास्त्रार्थ आदि के चित्रांकन पाये जाते हैं।

कागज के ग्रन्थ जिन डावड़े-डिव्वों में रखे जाते थे वे भी लकड़ी या कूटे के बने हुए होते थे. जिन पर विविध प्रकार के चित्र बना कर वानिश कर दिया जाता था। उन डब्बों पर नम्बर लगाने की पद्धति भी तीर्शकर नाम, अष्टमंगलीक आदि के अभिधान संकेतमय हुआ करते थे। हस्तिलिखित कागज के ग्रन्थ पूठा, पटड़ी. फाटिया आदि के वीच रखे जाते थे। पूठों को विविध प्रकार से मखमल. कारचोवी, हाथीदांत, कांच व कसीदे के काम से अलंकृत किया जाता था। कई पूठे चांदी. सोने व चन्दनादि के निर्मित पाए जाते हैं, जिन पर अट मंगलीक, चतुर्दश महास्व^दनादि की मनोज्ञ कला-कृतियां वनी हुई हैं। कुटे के पूठों पर समवसरण, नेमिनाश वरात, दशार्णभद्र, इलापुत्र की नटविद्या आदि विषय विविध कथा-वस्तुओं से सम्वन्धित चित्रालंकृति पाई जाती हैं। कलमदान लकड़ी के अतिरिक्त कूटे के भी मज़बूत हल्के और शताब्दियों तक न विगड़ने वाले बनाए जाते थे। हमारे संग्रह में एक कलमदान पर कृप्णलीला के विविध चित्र विद्यमान हैं। जैसलमेर की चित्र समृद्धि में हंसपंक्ति, वगपंक्ति, गजपंक्ति और जिराफ जैसे जीव-जन्तुओं के चित्र भी देखें गए हैं।

जैन ज्ञानमण्डारों की व्यवस्था सर्वत्र संघ के हस्तगत रहती आई है तथा उनकी चावियां मनोनीत द्रस्टियों के हाथ में होते हुए भी श्रमण वर्ग और यतिजनों के कुशल संरक्षण में रहने से ये संरक्षित रहे हैं। अयोग्य उत्तराधिकारियों के हाथ में अनेक ज्ञानमण्डार रही के भाव विक कर नष्ट हो गए।

पुस्तकों को रखने के लिए जहाँ चंदन और हाथीदांत से निर्मित कलापूर्ण डिव्वे आदि होते थे वहां छोटे-मोटे स्थानों में मिट्टी के माटे, वेंत के पिटारे व लकड़ी की पेटियां व दीवालों में बने आलों में भी रखे जाते थे। इन ग्रन्थों को दीमक, चूहों व ठंडक से वचाने के लिए यथा-संभव उपाय किए जाते थे। सांव की कंचुली घोंडावज आदि औषधी की पोटली आदि रखी जाती तथा वर्षाती हवा से बचाने के लिए चौमासे में यथासंभव ज्ञान-मण्डार कम ही खोले जाते थे। ग्रन्थों की प्रशस्ति में लिखे इलोकों में जल, तेल, शिथिल वन्धन और अयोग्य व्यक्ति के हाथ से बचाने की हिदायत सतत् दी जाती रही है।

ग्रन्थ रचना के अनन्तर ग्रन्थकार स्वयं या अपने शिष्य वर्ग से अथवा विशुद्धाक्षर लेखी लहियों से ग्रन्थ लिखवाते थे और विद्वानों के द्वारा उनका संशोधन करा लिया जाता था । लहियां-लेखकों को ३२ अक्षर के अनुष्टुप छंद की अक्षर गणना के हिसाव से लेखन गुलक चुकाया जाता था । ग्रंथ लिखवाने वालों के वंश की विस्तृत प्रशस्तियां लिखी जातीं और ज्ञानमण्डारों के संरक्षण की ओर सविशेष उपदेश दिया जाता था । ज्ञान पंचमी पर्व और उनके उद्यापनादि के पीछे ज्ञानोपकरण वृद्धि और ज्ञान प्रचार की भावना विशेष कार्यकारी हुईं ! ज्ञान की आशातना टालने के लिए जैन संघ सविशेष जागरुक रहा है और यही कारण है कि जैन समाज के साथ अन्य भारतीय प्रजा की अपेक्षा सरस्वती मण्डार का

जैन समाज शास्त्रों को अत्यधिक सम्मान की दृष्टि से देखता है। ज्ञान का बहुमान, ज्ञानमक्ति आदि की विशद्ध उपादेयता नित्यप्रति के व्यवहार में परिरुक्षित होती है। कल्पस्त्रादि आगमों की पर्युषण में गजारूढ़ शोभायात्रा निकाली जाती है, ज्ञानभक्ति, जागरणादि किए जाते हैं। भगवती सुत्रादि आगम पाठ के समय धप-दीप तथा शोभायात्रा आदि जैनों के ज्ञान-बहुमान के ही प्रतीक हैं। ज्ञान पूजा विधिवत् की जाती है और ज्ञान द्रव्य के संरक्षण-संवर्धन का विशेष ध्यान रखा जाता है। पुस्तकों को धरती पर न रख कर उच्चासन पर रख कर पढ़ा जाता है। उसे साँपड़ा-साँपड़ी पर रखते हैं. जिसे रील भी कहते हैं। साँपड़ा शब्द समपुट या समपुटिका संस्कृत से वना है। साधु-श्रावक के अतिचार में ज्ञानोपकरण के पैर, शक आदि लगने पर प्रायश्चित बताया है। इसलिए बैठने के आसन पर भी ग्रन्थों को नहीं रखा जाता ।

कवली :

ग्रन्थ के पत्रों को अध्ययन के हेतु कवली-कपिलका में लपेट कर रखा जाता था. जिससे पत्रों के उड़ने का भय नहीं रहता ! यह कवली बांस की चीप आदि को गूंथ कर जपर वस्त्रादि से मद्री रहती थी। बारहवीं शताब्दी में युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि जी की जीवनी में कवली-कपिलका का प्रयोग होना पाया जाता है।

कांदी :

बांस, काष्ठ या हाथीदांत की चीजों की होती थी। उसी कम्बिकावली शब्द से कांवी शब्द वना प्रतीत होता है। चातुर्मास की वर्षाती हवा लग कर पत्रों को चिपक जाने से बचाने में कांवी का प्रयोग उपयोगी था।

जैन समाज ज्ञान के उपकरण दावात, कलम, पाटी, पाठा, डोरा, कंवली, साँपडा-साँपडी, कांबी, बन्धन, वीटां-गणा-वेष्टन, दावड़ा, करण्डिया आदि को महर्घ्य द्रव्य से

909

निर्मित और कलापूर्ण निर्मित कर काम में लाया है। ग्रन्थों को जैसे ठण्ड से बचाते थे वैसे धूप से भी बचाया जाता था। स्याही में गाँद की अधिकता हो जाने से ग्रन्थ के पन्ने परस्पर चिपक कर थेपड़े हो जाते हैं जिन्हें खोलने के लिए प्रमाणीपेत साधारण ठंड पहुंचा कर ठण्डे स्थान में रख कर धीरे-धीरे खोला जाता है और अक्षरादि नष्ट हो जाने से भरसक बचाने का प्रयत्न किया जाता है। ग्रन्थ और ग्रंथमण्डार से सम्बन्धित व्यक्ति को इन बातों का अनुभव होना अनिवार्य है।

ग्रन्थों की रक्षा के लिए प्रशस्ति में लिपिकर्ता निम्नोक्त खोक लिखा करते थे—

जलाद्रक्षेत् स्थलाद् रक्षेत् रक्षेत् शिथिलबन्धनात् ।
मूर्खहंस्ते न दातव्या एवं वदित पुस्तिका ॥१॥
अग्ने रक्षेत् जलाद् रक्षेत् मूष्किम्यो विशेषतः ।
कण्टेन लिखितं शास्त्रं यत्नेन प्रतिपालयेत् ॥२॥
इदकानिलचौरेम्यः मूष्रकेम्यो हुताशनात् ।
कण्टेन लिखितं शास्त्रं यत्नेन प्रतिपालयेत् ॥३॥ इत्यादि
जानपंचमी पर्वः

ज्ञान की रक्षा और सेवा के लिए ज्ञान पंचमी पर्व का प्रचलन हुआ और इसके माध्यम से ज्ञानोपकरणों का प्रचुरता से निर्माण होकर ज्ञानमण्डारों की अमिवृद्धि की गईं। ज्ञान पंचमी पर्वाराधन के बहाने ज्ञान की पूरी सार-संमाल होने लगी। उद्यापनादि में आए हुए मूल्यवान चन्दवे-पुठिये, झिलमिल वेष्टन आदि विविध वस्तुओं को आकर्षक और समृद्धिपूर्ण ढंग से सजाये जाने लगे। ज्ञान की वास्तविक सार-संमाल को भूल कर केवल बाह्य सजावट में रचे-पंचे समाज को देख कर एक बार महात्मा गांधी जैसा सात्विक वृत्ति वाले महापुरुष को कहना पड़ा कि "यदि चोरी का पाप न लगता हो तो मैं इस ज्ञान उपादानों को जैन समाज से छीन लूं क्योंकि वै केवल सजाना जानते हैं, ज्ञानोपासना नहीं।" अस्तु।

905

पारिभाषिक शब्द :

प्रस्तुत निबन्ध में अनेक जैन पारिमाषिक शब्दों, उपकरणों आदि का परिचय कराया गया है फिर भी कुछ पारिमाषिक शब्दों का परिचय यहां उपयोगी समझ कर कराया जाता है।

- हस्तिलिखित पुस्तक को प्रति कहते हैं जो प्रतिकृति का संक्षिप्त रूप प्रतीत होता है।
- २. हस्तिलिखित प्रति के उभयपक्ष में छोड़े हुए मार्जिन को हांसिया कहते हैं और ऊपर नीचे छोड़े हुए खाली स्थान को जिह्ना या जिंदमा-जीम कहते हैं।
- ३. हांसिये के जपरी माग में प्रन्थ का नाम, पत्रांक. अध्ययन, सर्ग, उच्छ्वास आदि लिखे जाते हैं जिसे हुण्डी कहते हैं!
- अन्थ की विषयानुक्रमणिका की दीजक नाम से सम्बोधित किया जाता है।
- ५. पुस्तकों के लिखित अक्षरों की गणना करके उसे ग्रन्थाग्र तथा अन्त में समस्त अध्यायादि के इलोकों को मिलाकर सर्व ग्रन्थ या सर्वग्रन्थाग्रन्थ संख्या लिखा जाता है।
- ६. मूल जैनायमीं पर रची हुई गाश्चाबद्ध टीकाओं को निर्युक्ति कहते हैं।
- ७. मूल आगम और निर्युक्ति पर रची हुई विस्तृत गाथावद्ध व्याख्या को भाष्य या महाभाष्य कहते हैं। भाष्य और महाभाष्य सीधे मूलसूत्र पर भी हो सकते हैं। यो निर्युक्ति, भाष्य और महाभाष्य ये सव गाथावद्ध टीका ग्रन्थ होते हैं।
- ५. मूल सूत्र, निर्युक्ति, माध्य और महाभाष्य पर प्राकृत-संस्कृत मिश्रित गद्यबद्ध टीका को चूणि और विशेष चूणि नाम से पहचाना जाता है।
- जैनागमादि ग्रन्थों पर जो छोटी-मोटी संस्कृत
 व्याख्या होती है उसे वृत्ति, टीका, व्याख्या, वार्तिक,

टिप्पणक, अवचूरि, अवचूणि, विषम पद व्याख्या, विषम पद पर्याय आदि विविध नामों से संवोधित किया जाता है।

१०. जैनगमादि पर गुजराती. मारवाड़ी, हिन्दी आदि भाषाओं में जो अनुवाद किया जाता है, उसे स्तवक टबा या टवार्श कहते हैं। विस्तृत विवेचन वालावबोध कहलाता है।

११. मूल जैनागमों की गाथाबद्ध विषयानुक्रमणिका विषय वर्णनात्मक गाथाबद्ध प्रकरण को एवं कितनी ही बार प्राकृत-संस्कृत मिश्रित संक्षिप्त व्याख्या को भी संग्रहणी नाम दिया जाता है।

इस निबन्ध में श्वेताम्बर झान मण्डारों के अनुमव के आधार पर प्राप्त सामग्री पर प्रकाश डाला गया है। दिगम्बर समाज के झान मण्डार व लेखन सामग्री पर अध्ययन अपेक्षित है। श्वेताम्बर समाज में विशेषकर मन्दिर आम्नाय के साहित्य पर विशेष परिशीलन हुआ है। आगमप्रमाकर परम पूज्य मुनिराज श्री पुण्यविजय जी महाराज की "भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखनकला" निबन्ध पर आधारित यह संक्षिप्त अभिव्यक्ति है।



पर्यंत्रण पर्व में कल्पसूत्र की शोभायात्रा

[909

मक्तामर स्तोत्र

(हिन्दी पद्यानुवाद)

[समस्त जैन समाज में भक्तामर स्तोत्र का प्रचार सर्वाधिक है। इसके निल्यपाठी भी वहु संख्यक लोग हैं। इस पर अनेक टीका, वार्ता, यंत्रादि सह सिवत्रप्रतियाँ भी उपलब्ध हैं। लगभग ७५ पद्मानुवादों का विभिन्न कवियों द्वारा निमित्त संग्रह पं० कमलकुमारजी जैन ने किया है। मैंने पहले मक्तामर का गुजराती पद्मानुवाद प्रस्तुत किया, अभी हिन्दी पद्म रचना लिखकर कुशल-निर्देश में सर्वप्रथम प्रकाशित की है। संस्कृत भाषा को समझने वाले सीमित हैं। आशा है इससे अर्थ समझ कर भक्तामर-पाठी बन्धु अधिकाधिक लाम उठावेंगे। यद्मपि स्वे० समाज में १४ गाथाएं प्रचलित हैं पर मैंने अष्ट-प्रातिहायों की पूर्णता के हेतु ४८ गाथाओं के ही पद्मानुवाद किये हैं।]

हरिगीत छन्द

सुरेन्द्र भक्तों के मुकुटमणि से प्रभान्वित चरण है। तम पाप नाशक आदि जिनका नमन अशरण प्ररण है॥ संसार सागर डूबतों के एक मात्र आधार है। अतएव पद युग में नमन मेरा सम्यक् आचार है।।१॥ तत्वज्ञ सुरपति विमल बुद्धिवान स्तवना जो करी। त्रिजम मनहर शब्द रचना उदार विद्वता मरी। आदिनाथ जिनेश का गुण गान मन उत्सुक भया। आइचर्य शक्तिहीन भी इस कार्य में उद्यत हुआ॥२॥

प्रतिविम्ब जल के चन्द्र को भी हस्तगत करने यथा। अवोध शिशु अज्ञानवश होता समुद्धत है तथा। विवुध पूजित नाथ तेरा स्तवन करने के लिए। बाल चाल अवश्य किन्तु सुधीजन करणा हिये।।३।।

गुगरत्न के सागर भरे प्रभु की असंभव वर्णना।
असमर्थ सुरगुरु भी रहे पूरण जहाँ सुज्ञान गरिमा ।
दुर्द्धर्प सागर प्रलय वायु से उद्धेलित जो रहा।
तिरने उसे निर्वल भुजा से कौन है समरथ महा॥॥।

मिक्त प्रेरित आपकी मुनिनाथ मैं उद्यत हुआ। करने लगा गुण गान शुचि असमर्थता भूला भया। उद्यों प्रीतिवश निज शिशु बचाने को मृगी जाती भली। वनराज से निर्मय बनी साहस सहित भिड़ने चली।।।।।

परिहास लायक हूँ सही श्रृत-ज्ञानियों के सामने। किन्तु भक्ति आपकी सुप्रयास को प्रेरक बने।। मधु मास मुकुरित मंजरी के ही सशक्त प्रताप से।। कोयल मधुर स्वर कूकती है मोहनी आलाप से।।६।।

भव भ्रमण संचित पाप राशि रही आतमा से जुड़ी। क्षण मात्र में हो स्तवन करते क्षीण जो छोटी वड़ी।। निशि जगद्वचापी तिमिर का ज्यों अंशुमाली उदय तें। तम नाश हो अविलंव उषाकाल प्रातः समय में॥॥॥

निलनी दल जल-कण पड़े ज्यों भासते मुक्ता सही। रसहीन मेरे वाक्य भी प्रभु के गुणाविल युक्त ही। सज्जन सुभक्त सुधीजनों के मन हरें निश्चय यही। जल्कृष्ट रचना पंक्ति में हो मान्यता अवश्य ही।।ऽ॥

किरण उपाकाल पड़ते कमल सह विकस्ति हुए। गतदोग प्रभु तव सत्कथा से पाप पुञ्ज सभी दहे। सूर्य तो अति दूर है पर किरण पड़ते ही अभी। सर स्थित कुमुद विकास सम स्तोत्र गुण जानें सभी।।९॥

हे भुवन-भूषण ! नाथ नहीं आश्चर्य आप शरण्य हैं। निज तुल्य सेवक करें स्वामी आप सह कारुण्य हैं॥ मैं भी तुम्हारी भक्ति से इच्छूंन क्यों समकक्षता। गुण स्ववन करके नाम से निश्चय लहूँ पद सिद्ध का॥१०॥

अनिमेव दर्शन कर प्रभु सम रूप अन्य स्थान में। नहीं प्राप्ति नहीं संतुष्टि भी अंतर हृदय अभिराम में।। क्षीरसागर चंद्र द्युति जल अमृतोपम पान कर। कौन वांछक लवण जल के पान का जो अशुचिकर।।११।।

परमाणु उत्तम शांति के जो रहे त्रिमुवन सारमय। वेजोड़ रचना देह जिनकी हुई जग जन नष्ट मय॥ सवही अणु आकर जुड़े अन्यत्र तो अप्राप्त हैं। प्रश्नान्त सहु गुण पुंज तो जिन देह में ही व्याप्त हैं॥१२॥

सुर नाग नर आनंददाता आपका मुख चंद्र है। त्रैलोक्य अनुपम वस्तु सह प्रतियोगिता में मंद हैं॥ म्लान मुख दिन में कलंकित भासता जो है शशी। पीत वर्ण पलाश सा छिक्हीन देखत हैं सभी। ११३॥

पूणिमा के चंद्र सम उज्ज्वल तुम्हारी ज्योल्सना। व्याप्त त्रिभुवन में सह गुण त्रिजगनाथ महामना॥ प्रमु शरणदाता आपके आश्रित समी तो हैं सही। विचरें अबाधित यथा इच्छा कोई अटकांवे नहीं॥१८॥

देवांगना रित रंभ आदिक चित्त चंचल कारिका। हरिहरादि को हराये किन्तु जिन निर्विकारता॥ प्रलय काल तूफान से हैं डोलते सव गिरिवरा। मंदराद्रि शिखर ज्यों प्रभु निर्विकार रहे स्थिरा॥१५॥ तेल बाती हीन नहीं किंचित् भी उठता धूम है। ऐसा अजब दीपक प्रकाशक तीन लोक अन्यून है। पर्वत प्रकम्पी वायु भी नहीं वुझा सकती है जिसे। है नाथ आप स्व-पर प्रकाशी उपमान में रखें किसे॥१६॥

भानु तो है अस्त होता सदोदित प्रमु आप हैं। राहु न जिसको लीलता वारिद आवरण अव्याप हैं।। सीमित प्रकाशक दिवस में जो सूर्य की उपमा कहाँ। महा महिमावंत मुनिपति आपका आसन जहाँ॥१९॥१

महा मोहान्धकार नाशक आपका मुख चंद्रमा। सर्वदा है उदित जो श्री कान्ति युक्त अनोपमा ॥ राहु ग्रसे नहिं घन-घटाओं से भी अन आवरित जो। शोमा विलक्षण चंद्र तुलना नहीं त्रिजग उद्योत को।।१८॥

अहर्निश मुख चंद्र प्रभु का दीप्तिमय अनवरत है। तो रात्रि में शशि और दिन में भानु भी तो व्यर्थ है॥ वनराजि विकसित धान्य शोभित देश में जलवृष्टि का। नहिं काम शीत रुताप का जल मात्र कादासृष्टि का॥१९॥

मिण-रत्न में जो दिव्य ज्योति भासमान रहे सदा। वह वालू निर्मित कांच में निहं प्राप्त हो सकती कदा॥ स्व-पर मावों के प्रकाशक नाथ का जो महत्व है। हरि ब्रह्म शिव प्रभृति में अप्राप्य वैसा सत्त्व है॥२०॥

देखना लगता है मुझको देव हरिहर ठीक हो। कर दोन गुण तुजना प्रभु से हुई संतुष्टि सही॥ गुण मानता मैं परीक्षा कर आप प्रति श्रद्धा अटल ! जो हो गईभव भवान्तर में रहेगी शास्वत अचल ॥२१॥

सुत जन्म देती हैं हजारों नारियाँ नित लोक में।
किन्तु नहिं समकक्ष प्रभु के लक्ष-लक्ष अनेक में।
दिशि-विदिशि में नक्षत्र तारे उदित अगणित हैं सही।
प्राची दिशा विन अन्य कोई भानु उपजाती नहीं।।२२।।

साधक मुनिजन सुधिजन सब आपको परमातमाः अज्ञानतम को हरणकारी मानते सूरज समाः॥ हो जाएँ मृत्युंजयी हम भी आपको पाकर सही। नहीं अन्य शिव पद मार्ग कोई मान्यता मेरी यही॥२३॥

गुण गान करने संतजन तो निरंतर उद्यम करे। अव्यय अनंत अनूप आद्य अचिंत्य असंख्य प्रमु खरे॥ सर्वज्ञ एक अनेक ब्रह्मा कामकेतु योगीश्वरा। योग मारग अमल ज्ञाता जय जयो जगदीश्वरा॥२८॥

विबुध पूजित बोध-दायक आप निश्चित वुद्ध हो : त्रैलोक्य के कल्याण कर्त्ता आप शंकर शुद्ध हो !! शिव मार्ग की विधि के विधाना सत्य ही तो आप हो ! आप उत्तम पुरुष भगवन् पुरुषोत्तम गत पाप हो !!२५!!

त्रैलोक्य के चिन्तानिवारक नाथ तुमको नमन है! सकल भूतल आभरण सुविशुद्ध प्रभु को नमन है!! तीन जग ऐश्वर्यशाली परमेश्वर तुम्हें नमन है! भव जलिध शोषक परम तारक जिनेश्वर को नमन है!!२६॥

मुनि ईश तेरे हृदय में गुण गण सकल आकर बसे। अवकाश लेश नहीं रहा अभिमान से अवगुण खिसे।। अन्य देवों में हमें पर्याप्त आश्रय मिल रहा। सगर्व बेपर्वाह हो सपने में नहीं आना चहा।।५७!।

वृक्ष वारह गुणा ऊँचा प्रातिहार्य प्रथम खरा। अशोक तल काली घटा में दिमल मानू जिनवरा॥ देशना वितरित किरण से जन भव्य कमल विकस्वरा। मुमुक्षु जन के हृदयगत अज्ञान-पाप-तमो-हरा। २५।।

मिण किरण से सुविचित्र चित्रित सिंहासनोपिर राजते। ज्यों अंशुमाली उदयगिर पर मनिस कंविजन भासते॥ आदीश जिनकी देह कंचन वर्ण की महिमामयी। प्रतिहार्य यह भविजन कुमुद को शीप्र करता निर्मयी॥ १९॥

स्वर्णिम सुमेरु शिखर पर ज्यों वार्त सुन्नि निर्झर वहे। ह्यों जमय ओर जिनेन्द्र के ही शुभ्र चामर दुलि रहे॥ शिशि समुज्जवल वारिधारा समे लखें अति शोमती। तीसरे प्रतिहार्य वर्णन लहर भवि मन मोहती॥३०॥

शिश समुज्जवल छत्रत्रय रिव ताप सर्व निवारते ! इवेत मुकाफल लड़ी बेजोड़ शोमा धारते !! तीन जग के नाथ को ऐइवर्यता यह प्रगट है ! परमातन की प्रतिहार्य महिमा पार पाना विकट है !!३१:!

देवगण गंभीर स्वर से वाद्यध्विन विस्तीर्यते। आदि जिन की दशो-दिश में यशो गाथा गीयते॥ सद्भधर्म की जय-घोषणा मुखरित हुई सव देश में। दुंदुभि प्रतिहार्य पंचम त्रिदशपित संदेश में॥३२॥

पंचवर्णी सुमन वृष्टि पारिजात मन्दार के। नंदन-वनादि मेरुगिरि उत्पन्न भिन्न बहार के।। समवसरण सुशोभती ज्यों पंचांगी वाणी खिरी। प्रतिहार्य छड्डा बहु सुगंधित द्वादशांगी अनुसरी।।33॥

द्युतिवंत अमित सुज्योति शोभित प्रभामण्डल नाथ का ! कोटि सूरज : शश्चि सुमिश्चित तेज शीतल साथ था ॥ अंधकार नाशक रात्रि का प्रभु तेज पुंज सुहावना । सातवां प्रतिहार्य जिनवर पृष्ठे शोभित अति घना ॥३८॥

आठवाँ प्रतिहार्य माषा से संबंधित नाथ का। स्वर्गापवर्गी पश्चप्रदर्शक तत्व धार्मिक गाथ का।। निज माष में सहु देशमाषी कलना सरलता से करे। सर्व भाषा शब्द स्पर्शी जिनोपदेश हिये धरे।।३५॥

भगवान पद धरते जहां कंचन कमल संचार हो। ऐसी व्यवस्था भक्त सुरगण करे धर्म प्रचार को।। नख कांति किरणें चमकती जिनराज ऐसे अतिशयी। भवभ्रमण-हारी तीर्थपति की है परम गरिमा सही।।३६॥

१९२)

जो समृद्धि समवसरणे नाथ ! बारह परिषदा। उपदेश प्रतिभा अन्य देवों में नहीं मिलती कदा॥ तारा गणीं में चमक किन्तु भानु की न वराबरी। असमर्थ करने को सही अंधकार वर्जित शर्वरी ॥३७॥ मदमत्त करिवर कपोलों पर भ्रमर गण मंखरा रहे। कुपित हो उद्भत ऐरावत सम चिघाड़ मचा रहे।। ऐसे भयानक स्थान में तब मक्त रहते निर्भयी। कारण हृदय में आपका आसन सदा स्थित है सही ॥३८॥ मदमत्त गज कुंमस्थलों को पलक में जो विदारता। रक्त-एंजित ववेत मुक्ता से जो भूमि सिंगारता॥ शक्तिशाली शेर की असमर्थता । बेजोड ऐसे आक्रमण न वरे चरण युग गिरि की लहे जो शरणता ॥३९॥ ज्ञलयंकर सूफान प्रेरित अगिन के शोले उड़े। दावाग्नि जो सर्वस्वमक्षी कौन कहो उससे मीड़े॥ प्रभू नाम कीर्त्तन वारि सिंचित मक्त जन निर्मय रहे। आदीश प्रभु के नाम से तो अग्नि शीतलता सहै।।४०।। पिक कण्ठ जैसा नाग काला फन उठाकर सामने। आँखें भयंकर आता वने!! फुंकार करता लाल प्रभु नाम विद्या नागदमनी जिस भक्त के हिरदे दसे। निर्मय निराकुल शीघ्र वह शिर चरण रख करके धसे ॥४१॥ गज अरव तोपें और पायक रथ सहित चतुरंगिणी। सामने सेना नृपति गणकी चक्रव्यूह विकट बनी।। संग्राम में प्रभु मक्तिधर जो मिड़े शत्रु पर विजय। पाता सही ज्यों अंशुमाली किरण से अंधकार क्षय ॥४२॥

कीचड़ मचा संग्राम में गज रक्त धार प्रवाह से। वोर शत्रु शस्त्र चमके अदमनीय उत्साह से॥ ऐसी विकट रणभूमि में दुर्जेय पर भी जय हहै। प्रभु चरण आश्रित मध्य जन तो ना कभी भी दुख सहै ॥४३॥ भीषण मगरमच्छ जहाँ रहते खोलते दरियाव में। बड़वारिन और तूफान का भय क्षुड्ध तरंग प्रवाह में।। **खगमगाते खुवते जो जहाज समुद्र समाधि में।** प्रमु नाम शरणा जो ग्रहे वह तट लहे निरूपाधि से ॥४४॥ रोग - मोग - जलोदरादि का महा विकराल उदर भार असहा पीड़ा जीवित्रवय बेहाल आदीश प्रमु के पद रजामृत ग्रहे भक्ति प्रयोग से। मदनवत् लावण्य हो जाता तुरत गत रोग से ॥१४॥। पग हाथ में बेड़ी पड़ी जंजीर डाली कण्ठ में। उभय जांचें घिस रही जो हैं निविड़तर बंध में।। ऐसा मनुज ऋषमेश तेरा नाम जाप करे सदा। तत्काल बंधन मय रहित स्वयमेव हो जाता तदा ॥४६॥ गजमत्त सिंह दाव।नलादि और विषधर नाग संग्राम सागर महाव्याधि जलोदर कृष्ठादि कैद कारागार के भी भय अध्ट जो ऊपर वहे। आदीश प्रमु का स्तवन करते मक्त सह निर्मय हुए ॥४७॥ विचित्र जिन गुण सुमन से गूंथी यही विरुदावली। मक्ति पृरित वह रुचिर जिन कण्ठ में स्थापी मली।। प्रभु मानतुंग सुभक्त रचना है प्रभावक फलप्रदा। धनलक्ष्मी सहजानंद प्रभु पद कज 'भैंवर' कहे मुदा ॥४८॥

।। इति श्री भक्तामर स्तोत्र हिन्दी पद्यानुवाद संपूर्णम् ॥

श्री कल्याणमन्दिर स्तोत्र

(पद्यानुवाद) हरिगीत छन्द

औदार्य वाले अघ विनाशक निकेतन कल्याण के । श्रेष्ठतम् हैं । अभयप्रद भयभीत जगजन प्राणि के ॥ संसार सागर डूबते जन अशेष को जलपोत सम। उद्धारकारी जिन चरण-कज में नमन करते हैं हम॥१॥

गुण के महोदधि जिनेश्वर की स्तुति करने को स्वयं !
असमर्थ सुरगुरु विपुल मित हैं येन कृत वादी जयं ॥
कमठ शठ अभिमान चूरक धूमकेनु मस्मकर ।
सम तीर्थपति की अल्पधी में क्या सक्गा स्तुति कर ॥२॥

है नाथ, साधारणतया भी रूप वर्णन आपका।
मैं मन्द बुद्धि व्यक्ति कैसे करूं तव गुण गाथ का।
अंधा दिवस का घूक शिशु क्या दिनमणि की वर्णना।
समस्थ कभी होगा ? नहीं, मेरे लिये त्यों समझना।।३॥

मोहश्चय कैंवल्य प्राप्ति से जो नर अनुभव करे। नाथ तब गिनने गुणों की ना कभी क्षमता धरे॥ कल्पान्त जल फैला तभी है रहनराशि अमाप जो। असमर्थ हो जाएँगे करने सभी गणना माप को॥॥॥

ज़ड़ बुद्धि मैं उद्यत हुआ हूँ स्तवन करने नाथ का।
गुण असंख्य गुणोदधि के कथन विस्तृत गाथ का।
फेलाय निज मुज बाल जैसे उद्धि के विस्तार की।
दर्णन करे त्यों मैं भी कहता प्रमु गुणों के पार को।।।।।।

आपके निःसीम गुण की वर्णनः तो योगिजन। असमर्थ करने को बताये तो कहाँ अवकाश मम।। अविचार मूलक कार्य मेरा तदनुरूपी जानिये। पक्षिगण अव्यक्त बोले त्यों मुझे ही मानिये॥६॥

मन वचन से अज्ञात महिमा तव स्तृति तो दूर है। नाम से भी भव - भ्रमण हो जाएं नष्ट जरूर है।। तीव्र आतप ग्रीष्म में पीड़ित पथिक जन पद्म-सर। की बात क्या? उसकी सरस वायु भी है आनंदकर।।।।।।

जव हों विराजित आप स्वामी नाथ ! मानव के हृदय ! कर्म-वन्धन प्रबलतम जाते शिथिल हो अभय मय ॥ वन मध्य चंदन वृक्ष के सब सर्प मय वन्धन शिथिल । मयुर का आगमन जब हो भाग जाते सर्प मिल ॥ प्रा

जिनेन्द्र प्रभु के दर्शनों से शत शत उपद्रव नष्ट हों। तत्काल मानव के सभी जो भी भयंकर कष्ट हों। तेजस्वी नृप गोपाल मानु के दरश से चोर ज्यों। सब भाग जाते हैं पशुजन मुक्त निर्भय होत त्यों॥९॥

किस तरह तारक जिनेश्वर ! आप भविजन मक्त के । वे हृदय स्थिर कर आपको ही तेरते भव समुद्र से ॥ किन्तु सही यह बात है ज्यों पवन से पूरित मशक । वायु प्रभाव है वस्तुतः जा मध्यस्थित नहीं लेश शक ॥१०॥

हत्तप्रभ हुए हैं हरिहरादि देव रितपित सामने। क्षण मात्र में प्रविनष्ट कर डाला है भगवन् आपने।। जल शान्त करता अग्नि को है उस उद्धि के वारि को। वड़वाग्नि दुईर लील जाती है त्यों मारा मार को।।११।।

है ना**थ, शरणा**गत अपरिमित निःसीम है जो प्राणिजन । अप्रयास ही निस्तार हो जाते भवोदधि शीध्रतम ॥ धार निज हदये तुम्हें आइचर्यकारी दाव है। मानना होगा महापुरुष का अचिन्त्य प्रभाव है॥१२॥

कर दिया प्रभु त्रापने प्रविनष्ट क्रोध कपाय को। ध्वस्त फिर कैंसे किया है कर्म तस्कर राव को।। सत्य श्रीत प्रधान भी हिमपात ज्यों वनराजि को। दग्ध कर देते प्रभु, त्यों अष्ट कर्म समाज को ॥१३॥

संधान रत ज्यों योगिजन हैं हृदय में प्रमुरूप को। निश्चय कमल दल कर्णिका में राखते जिन भूप जो।। कान्तिमय जीवन अमल है अन्य स्थल भी तो कहो। संभव नहीं है यही कारण धार्य करते मौन हो ॥१८॥

जिनेन्द्र ! संसारस्थ प्राणी ध्यान करते आपका।
अञ्चरीरी होते देह तज क्षण मात्र परमातम दशा।।
जयों धातुएँ मृतिका में मिश्रित तीव्र अग्नि संयोग से।
इवड् क्षय स्वर्णात्व प्राप्ति होत दीक्षि-ओज से ॥१५॥
जिस देह माध्यम भक्तजन भवदीय अन्वेषण करें।
नष्ट कर देते उसे आश्चर्य ! नहीं पोषण करें।।
सत्य है निष्पक्ष मध्यस्थ महानुमाव स्वमाव यह।
आश्रितों के क्लेश विग्रह हटा दें सद्गमाव सह॥१६॥

अभेद बुद्धि प्रमाव से ध्याता विबुध जन आपके। आप सदश आतमा सप्रमाव हो गत पाप से॥ मणि मंत्रमंत्रित वारि जैसे अमृतोपम हो गया। विषजन्य सर्व विकार का अनिवार्य ही नाशक भया॥१७॥

हरिहरादि अन्य को जो ईश बुद्धचा मानता।
गुण वीतरागी माव से वास्तव में तव शरणागता।
पीलिया रोगी ज्यों शंखादि में पीले रंग को।
नहीं देखता क्या ? त्योंहि दृष्टि-रागि अपने अंग को॥१८॥

धर्मोपदेश सामीप्य से सुप्रभाव दुश अशोकता! पाता है मनुज समाज त्योंही शोक रहित अमोघता॥ त्याग करता नींद मानव उदित सूर्य प्रताप से। त्यों जीवलोक प्रबुद्ध होते कमल अपने आप से।१९९॥ सुर पुष्प दृष्टि समवशरणे वृन्त बंध अधोमुखी! गिरते हैं अविरल विकस्वर त्यों मनुज होता सुखी!! सुमन शोभन चित्त वाले आपके उपदेश से! नर-देव वंधन रहित हों सद्दबोधअमृत लेश से!!२०!!

गंभीर हृद्गात आपके उत्पन्न वचन मनोहरा! अमर भव्यों को बनाने अमिय की उपमाधरा!! श्रवण पुट से पानकर जरा-जन्म-मृत्यु दु:स से। छूट जाते भव्यजन हों तुष्ट आत्मिक सुख से॥२१॥

रवेत चामर को ढुलाले देख झुककर उच्चतर। भक्ति प्रेरित देवगण रहस्य मय प्रतिहार्य कर॥ मौन देते सूचना हैं नम्रता से नमो इन्हें। ऊर्द्धगिति निश्चित मिलेगी मोक्ष पाना है जिन्हें॥२२॥

प्रभु रत्नमय उउज्वल सिंहासन पर विराजित हों जभी। गंभीर ध्वनिमय देशना सुनते हैं मध्य मयूर भी।। दीखते ऐसे हैं मानो स्वर्ण मेरु शिखर पर। नव मेघ गजित उच्च स्वर आलोकते आश्चर्य भर॥२३॥

नील कान्ति उठ रही जी नाथ दिव्य शरीर से। अशोक तरु के लाल पत्ते बदरंग लखें अधीर से।! वीतराग वाणी आपकी प्रभु ! श्रवग कर दें ध्यान मी। प्राणी सचेतन कौन हैं ? वैराग्य प्राप्त न हों तभी॥२८॥

हे मोक्षपुर के यात्रियों । आलस्य स्थागो शीघ्रतर ! सेवा करो जिनदेव की आकर वनो अजरा अमर ॥ देव दुंदुमि व्योम गुंजत दे रही चेतावनी ! ये सार्थपति निवृत्तिपुरी के चरण सेवो सिर नमी ॥२५॥

आलोक प्रभु है आपका त्रयलोक व्यापी हो रहा। तप हटा जब चन्द्र तारा का अधिकार नहीं रहा।। मुक्ता जटित ही चन्द्रमा मिस तीन छत्रों के सही। सेवार्थ प्रस्तुत हो गया मानों सुरोमित बन यहीं।।२६॥

माणिक्यमय अरु हैममय हैं रौप्यमय त्रय कोट जो। कान्ति प्रताप यशिष्ण्ड ही दीखते गिरि ओट सो।। विस्तृत हुए सर्वत्र प्रभु गुण स्थान रिक्त नहीं मिला। समवसरण प्रभु के चतुर्दिक व्याज से शोमित किला।।२७॥

देवेन्द्र नमले आपको तो पुष्पमाला श्रेटिंक्य भी। रत्नमय मौलि-मुकुट तज हुई आश्रित मध्य थी॥ उचित ही है कार्य उनका श्री चरण शरणा ग्रहे। सुमन शोमन पुरुष भी अन्यत्र सन्तुष्टि न लहे॥२५॥

है नाथ भवजल उदिध से तो पराञ्मुख प्रतिकृत हैं। पर मक्त आश्रित जन सुनिश्चित तारते बिन मूल हैं॥ घड़ा मिट्टी का अधीमुख नदी पार उतारता। आइचर्य कर्म विपाक विरहित यही तत्व की सारता॥२९॥

जन सर्व प्रतिपालक प्रभु हैं, ईश सारे विश्व के। दुर्ज़ेय दुर्लभ हैं, अपितु संसार वासी जीव के।! अक्षर स्वभावी नित्य हैं अलिपि-अलिप्त महान हैं। रक्षा करें अज्ञप्राणी की स्व-पर प्रकाशी ज्ञान है।।३०।!

धूलिवर्षा कमठ शठ ने की भयंकर नाध पर । क्रुद्ध था वह दशभवों से दिया समग्र आकाश भर ॥ विगङ्ग न कुछ भी आपका छाया मिलन भी नहीं हुई । स्वयमेव ग्रस्त दुरात्म वह, प्रभु ध्यानमान रहे सही ॥३१॥

है जिन। कमठ उस देत्य ने गर्जन भयंकर मेध से। कर दृष्टि मूसलधार विद्युत् कड़कती अति वेग से॥ अथाह दुस्तर वारि से भी नहिं कुछ हानि हुई। अपितु दुरातमा कमठ को असिधार सम परिणत मई॥३२॥

केश विखरे अग्निमुख विकृत वदन नरमुण्ड की। माला पड़ी कुत्सित भयंकर पिशाचों के कण्ड थी। अप्रभावित प्रभु रहे उसके भयंकर जाल से। भव-भव भयंकर दुःख से वह ग्रस्त कर्म जंजाल से।।३३॥ है त्रिजग स्वामी ! धन्य है जो मक्त आराधन करे ! प्रशस्त त्रिकाल उपासना करते प्रमु चरणों पड़े !! रोमाञ्च हो उल्लास पूर्वक अन्य कारज घोड़ के ! साफल्य लाम करें वही संसार से मुख मोड़ के !!३८!!

हे मुनिपति ! संसार सागर में अनन्ते काल से । परिभ्रमण मैं करता रहा मिथ्या अनादि चाल से ॥ देखा सुना नहीं नाम गोत्र प्रभु के सुपादन मंत्र को । अन्यथा ये विपत्ति नागिन क्यों ग्रसल मम तंत्र को ॥३५॥

जन्म जन्मान्तर कभी नहीं आपके प्रमु चरण की ! अमीष्ट फल दातार जो साफल्य अशरण शरण भी !! आराधना न उपासना की खेद खिन्न बना प्रमु ! अन्यथा क्यों हृदय द्रावक तिरस्कृत होता विभू !!३६॥

अवश्य हा मम नेत्र पर मोहान्धता छायी रही। वंचित रहा प्रमु दर्शनों से मानता मैं तो यही॥ अन्यथा ये मर्ममेदी अनर्थ पीड़ा जो सही। तव मक्त तो होता कभी भी दुःख का माजन नहीं॥३७॥

जग बन्धु ! ध्याया नाम पावन सुना या दर्शन किया ! हो बाह्य द्रष्टा भाव भक्ति हीन बिन निर्मल हिया !! यही कारण आजतक मैं दुःख भाजन हो रहा ! भाव सून्य क्रिया कभी नहीं सफल शास्त्रों में कहा !!३८!!

है दीन बन्धे ! नाथ पालक आप हैं शरणागता ! जितेन्द्रियों में श्रेष्ठ परम कृपालु धाम पवित्रता ॥ सद्भक्ति नत हूँ महेश है ! मुझ पर दया दृष्टि करो ! संसार दुःख की जड़ उखाड़ी शीघ्र तत्परता करो ॥३९॥

है तीन लोक पवित्र कर्ता अशरण शरण हैं आप तो । चरणावलंबन प्राप्त जन के नष्ट करते पापको ॥ दुर्भाग्य मैं पाकर भी स्वामी ध्यान शून्य सदा रहा। हत कर्म से हुँ खिन्न भगवन् ! अब नहीं जाता सहा ॥४०॥

वन्दनीय सुरेन्द्रगण के सर्वज्ञाता आप हैं। संसार तारक सिद्धि दाता तीन जग के नाथ हैं।। दुख उदिध में डूबता मेरी सुरक्षा कीजिए। करुणा समुद्र सुदृष्टि कर सुपवित्रता मुझ दीजिए।।४१।। है नाथ! मैं तब चरण का तुच्छ भक्त हूँ चिरकाल से। यदि भक्ति-संचित-फज मिले मौंगूं शरण प्रतिपाल से।। जन्म-जन्मान्तर में मेरे आप ही स्वामी बनें। और नहीं कुछ कामना यह प्रार्थना मेरी सुनें।।४२।।

हे जिनवरेन्द्र ! अट्टूट श्रद्धा-प्रेम-भक्ति भाव सै ।]
मुख कमल रोमांच पूरित अनिमिष दृष्टि जमाव से ॥]
लक्ष्य पूर्वक भव्य जन स्तवना करें विधि सहित जो ।
प्रभु बिंब निर्मल शक्ति दाता करे विरहित दृरित जो ॥४३॥
भक्त जन के नेत्र रूपी कुमुद विकसितकार हैं ।
विमल चंद्र अत्यन्त सुन्दर और रहित विकार हैं ॥
स्वर्ग की ऋदि अमित वे सम्पदाएं भोग कर । ,
कर्ममल से रहित सहदर सिद्ध होवं मुक्ति वर ॥४॥।

।। इति श्री कल्याणमन्दिर स्तोत्र हिन्दी पद्यानुवाद संपूर्णम् ॥



भगवान पार्श्वनाथ व शान्तिनाथ

रत्नाकर-पच्चीसी

(हिन्दी पद्यानुवाद)

क्रीड़ा भवन मांगल्य के प्रभु मोक्ष लक्ष्मी धाम हो। नर अमर और सुरेन्द्र सैउँ पाद-पदा ललाम हो॥ सर्वज्ञ द्रष्टा सर्व अतिशय धार आप प्रधान हो। चिरकाल जयवंते रहो सह कला ज्ञान निधान हो॥१॥

करुणावतार महान अरु त्रय जगत के आधार हो। धन्वन्तरी दुःसाध्य वारक भव भ्रमण विकार को॥ गत राग प्रभु हो विज्ञ तो भी कहूँ भद्रिक भाव से। हार्दिक सुनें कुछ प्रार्थना मेरी सकरुणा भाव से ॥२॥

क्या बाल लीला कलित शिशु माता-पिता के सामने । क्रीड़ा न करता और ज्यों त्यों शब्द बोलत मन-मने ॥ त्यों नाथ चरणों में यथास्थित बात परचाताप से । आश्य निवेदन कर रहा हूँ सरल मन आलाप से ॥३॥

दारिद्रच नाशक दान निहं किया न पाला शील भी। दुर्गति निवारक और तप से दमन इंद्रिय का कभी॥ अन्तरात्म में शुभ भावना निहं की चतुर्विध धर्म की। निष्फल गया भव भ्रमण मेरा निहं किया सल्कर्म भी॥॥॥ क्रोधाग्नि से तो दग्ध हूँ मैं लोभ सर्व उसा मुझे। मान अजगर ने निगल उाला कहूँ क्या प्रभु तुझे॥ फँसा मायिक जाल में हूँ मोह मुग्ध विकल दशा। कैसे भजूं प्रभु आपको हूँ चोर पक्षी में वसा॥५॥

इह भवे या परभवे नहिं हित किया मैंने कभी: जिससे न पाया त्रिजगपित मैं सुख किंचित भी अभी। जन्म मेरा मात्र याँ भव पूर्ण करने को सही। अज्ञान वश नर जन्म से भी लाभ कुछ पाया नहीं॥६॥

आनन्ददाता नाथ तब मुखचन्द्र से अमृत झरे। तो भी नहीं मन सिक्त होता भक्ति गंगा से अरे॥ पाषाण से भी कठिन मेरा मन नहीं होता द्रवित। चपलता मर्कट सरिस नहीं हो कभी एकाग्र चित्त॥॥॥

भव भ्रमण करते काल-लब्धि पा कृपा प्रभु आपकी। दुष्प्राप्य दर्शन ज्ञान चारित्र नाश भव संताप की।! निद्रा प्रमाद कषाय के वशवर्ती बन कर खो दिया। है नाथ. कहूँ जाकर पुकारूं भूल मैंने ही किया।।पः।!

विश्व वंचन के लिए वैराग्य रंग प्रदर्शिता । लोक रंजन हेतु शाब्दिक जाल युत उपदेशिता ॥ मात्र वाद विवाद हेतु अध्ययन जो कुछ किया । बाह्य साधु स्वांग धारी दंभ पूरित मम हिया ॥५॥

मुख मिलन परदोष माषण योग से मेरा हुआ! पर-नारि प्रति आकृष्ट होकर नेत्र द्वय दूषित किया॥ दूसरों का अशुम चितन चित्त कलुषित हो गया। क्या कहूँ मेरा मितिष्य अंधकार पूरण हो रहा॥१०॥

कर रहा है काम राक्षस विज्ञम्बित विषयान्ध हूँ। हृदय द्रावक मम भयंकर दशा केसे प्रभु कहूँ। सर्वज्ञ प्रभु जानो सभी तो भी प्रकट हूँ कर रहा। ह्याम लज्जा नाथ आगे हृदय हुटका कर कहा॥११॥

इस लोक हितकर तुच्छ मंत्रीं कुशास्त्रीं को चित्त धरी। नवकार और जिनागमों की उपेक्षा मैंने करी॥ असत्संग कुदेव के दुष्कर्म बहु संचय किया। मेरा मतिश्रम नाथ कंकर पाय रहन गवां दिया॥१२॥

दृष्टिगत प्रमु आपको तज अज्ञ मैंने क्या किया। ध्याय मदन को हृदयगत कर कल्पवृक्ष भुला दिया॥ कटाक्ष दृष्टि उरोज नामि नारी की सुन्दर कटि। शृंगार विषय विलास विष आकृष्ट हो देखा अति॥१३॥

मृगलोचनी के मुख-कमल लावण्यता को देख कर। मानस पटल पर जो लगा है राग लेश विकार कर।। श्रुत उद्धि नीर प्रक्षालते बेदाग होला हो नहीं। कैसे प्रमु इस पाप से रक्षित रहूँ सोचो सही॥१८॥ नहिं अंग सौष्ठव रतन गुण समुद्र य भी किचित नहीं। उत्तम कला विकसित नहीं, न ज्ञान ज्योति प्रभा कहीं॥ प्रमुता नहीं है लेश फिर भी हम बड़े संकडी गली। अभिमान की सीमा नहीं है मूंज वह नहीं जली॥१५॥

आयुष्य क्षय होता है तो भी पाप बुद्धि नहीं गई। वय क्षीण पर मिटती नहीं विषयामिलापा लेश भी।। यत्न औषधि का करूं पर धर्म आश्रय ना ग्रहूँ। यह महा मोह विजम्बना प्रभु आप बिन किससे कहूँ।।१६॥ आत्मा नहीं पश्मव नहीं फिर पाप पुण्य रहा कहाँ ? नास्तिक्य मिथ्या वचन कटु-रस कर्ण-पुट पीता रहा॥ ज्ञान सूर्य समान प्रभु से ले सका न प्रकाश भी। ले दीय कुँए में गिरा धिक्कार मुझको सत्य ही॥१७॥ चित शुद्धि से नहीं देव पूजे पात्र उत्तम नहीं चाहा। श्राद्ध धर्म न श्रमण संयम पालने में मन रहा॥ प्राय नर मव रत्न चिन्तामण समान प्रभु अहो। निष्फल गया जीवन न पाया लांभ ही रण रुदन ज्यों। १९६॥

रह काम धेनु कल्पत्तर चिन्दामणि की खोज में। आसक्त होकर दुःख उठाया मदानन्दी मीज में॥ जिन धर्म जो प्रत्यक्ष दाता मोक्ष सुख का है सही। मुझ मुद्धता को नाथ देखो, सेदन सुचार किया महीं॥१९॥

उत्तम गिने भोगों को मैंने रोग सम माने नहीं। धन आगमन इच्छा करी पर निधन आशंका नहीं।। नरक कारागार सम रमणी है नहिं चिन्तन किया। मधु-बिन्दु तृष्णा में लगा अरु भय सभी विस्मृत किया।।२०।।

संत हृदये स्थान प्राप्ति न की सद्भाचार से।
नहीं यश उपार्जन भी किया कर कार्य पर उपगार के।
तीर्थ चित्योद्धार आदि महत् कार्य नहीं किए।
मव भ्रमण करते जन्म मानव प्राप्त कर निष्फल जिये।।२१।।
वैराग्य रंग न गुरु वचन से लग सका मेरे हृदय।
तब दुष्ट जन की वाणी से होता कहां मन शांतिमय।।
अध्यात्म मार्ग नहीं मिला अधोमुख घट की तरह।
संचय हुआ नहीं झान का तिरना भवोद्धि किस तरह।।२१।।

पूर्व भव नहीं पुण्य संचित अभी भी करता नहीं।
आगामी भव साधन बिना प्राप्ति नहीं होगी कहीं।।
तीन भव है त्रिजगपति यों नष्ट कर बिगड़े सभी।
अब आश केवल नाथ की बाजी सुधर जाये अभी॥२३॥
है तीन लोक स्वरूप ज्ञाता, आपके सन्मुख अधिक।
क्या कहा जाये मम चरित प्रभु आप जानें काल त्रिक॥
हस्तामलकवत् देखते हैं तीन जग के भाव जो।
फिर कहाँ अवकाश है मेरे चरित्र छिपाव को॥२४॥
आपसे बढ़कर न कोई दीन उद्धारक कहीं।
मेरे सहश नहीं पात्र करुणा जनक देखो सब मही॥
नहिं मांगता धन किन्तु लक्ष्मी मुक्ति पुरि रूपी सही।
सम्यक्तव रत्नाकर 'भँवर' को दीजिए विनती कही॥२४॥

॥ इति श्री रत्नाकर-पञ्चीसी हिन्दी पद्यानुवाद संपूर्णम् ॥

बंगाल के जैन पुरातत्त्व की शोध में पाँच दिन

वीसों वर्ष से श्री ताजमलजी बोधरा के साथ बङ्गाल के सराक क्षेत्रों में पुरातस्व शोध के हेतु भ्रमण करने का विचार चल रहा था. परन्तु काल परिपाक के बिना संभव न हो सका ! अभी जब समय आया तो न जेठ महीने के कड़े धुप की और न साधन सामग्री की ही अपेक्षा की गई और निकल पड़े एक सीमित समय और क्षेत्र की परिधि में भ्रमणार्थ । हमारे साथ थे अंग्रेजी 'जैन जर्नल' व बङ्गला 'श्रमण' के सम्पादक श्री गणेश जी ललवानी। हम सर्वप्रथम ता० २३ मई की रात्रि में रवाना होकर ता० २४ के जयः काल में विष्णुपुर पहुँचे । गाड़ियों के लैट चलने से हमें काली रात्रि नहीं जबःकालीन प्रकाश अनायास ही उपलब्ध हो गया । हम लोग रिक्शों द्वारा सीधे श्री रामपद मण्डल नामक सराक भाई के यहाँ पहुँचे । शौच स्नानादि से निवृत्त होकर रिक्शों पर हम लोग टारकेव्दर नदी के लम्बे कहार को पार कर धरापात नामक स्थान में पहुँचे। मार्ग में कई शिवालयादि देव मन्दिरों का समूह हरगोचर हुआ जो केवल एक गर्भगृह-शिखरी थे और उनके प्रवेश दार की चौड़ाई अत्यन्त संकरी रखने की प्रथा देखने में आई। धरापात

में हमें जो मन्दिर देखना अभीष्ट था, देव प्रतिमा से विहीन और एक ब्राह्मण ठाकुर (पुजारी) का आश्रय-स्थान -सा हो रहा था। प्रस्तुत मन्दिर के बाह्य भाग में तीनों ओर ताकों में विशाल प्रतिमायें विराजित शी जिनमें पृष्ठ भाग वाली में भगवान ऋषभदेव-आदिनाथ, वामपक्ष से प्रदक्षिणा करते प्रथम ज्ञान्तिनाथ भगवान और अन्त में तीसरे आले में जनेतर प्रतिमा लगी हुई थी। ये दोनों जिन प्रतिमार्ये लगभग हजार-बारह सौ वधौँ जितनी प्राचीन अवश्य ही थीं । इस मन्दिर के ठीक पीछे सङ्क के पास एक और मन्दिर था जिसमें भगवान पार्खनाथ की एक सप्तफण मण्डित खंकासन प्रतिमा विद्यमान थी । इन क्षेत्रों में जहाँ भी जिन प्रतिमायें हैं, उन्हें कहीं नेंगटेश्वर शिव, कहीं भैरव और कहीं अन्यान्य नामों से पुकारते हैं। इन सभी प्रतिमाओं में मुलनायक तीर्श्वष्टर में मूलनायक भोर्शंकर लांछन एवं परिकर में अन्य प्रतिमाएँ उस्कीणित हैं। पहले की दोनों प्रतिमाओं के परिकर में चौबीस तीर्श्वर उभयपक्ष में अवस्थित हैं जबकि भगवान पार्श्वनाथ के परिकर में बाद में महाप्रातिहायों के अति-रिक्त विष्णु प्रतिमा निर्माणार्थं दो हाथ और सोद कर बना दिये हैं।

धरापात से लौटकर हम लोग विष्णुपुर आये और बस द्वारा औंधा पहुँचे । मोजनोपरान्त ਰहਾँ उतरने के लिये पृथने पर नाम साम्य से भ्रान्त सह-यात्रियों के कहने पर हम कई मील आगे चले जहाँ से एक दूसरे गांव 'बेलारा' जाने का मार्ग था। रेलवे क्रॉसिंग पर प्रतीक्षा करते दूसरी गांडी के आने पर हमलोग वापस औधा आए । वहाँ हमें दो रिक्शे मिले जिन्हें मुँहमाँगे चौदह रुपयों में भाड़ा करके हमलोग बहुलारा गाँव की ओर दरे व वृक्षों के झुरमुट वाले गाँव के बाहर एक बहुत ही ऊँचे शिखर वाले कलापूर्ण मंदिर के विशाल अहाते में पहुँचे । यहाँ का शिल्प प्रशंसनीय है और स्थापत्य शैली को देखकर मुवनेश्वर आदि उत्कल प्रान्तीय मन्दिशें की स्मृति ताजी हो

जाती है। इसके आस-पास कभी छोटे-छोटे दूसरे मंदिर भी थे जो अब ध्वस्त हो चुके हैं। नीचे की तरफ कुछ चौरस और गोल चौकियाँ बनी हुई हैं जो किन्हीं ध्वस्त स्तूपों के प्रतीक हों, ऐसा अनुमान किया जा सकता है! इस मन्दिर के चतुर्दिक् शिल्पाकृतियाँ उत्कीणित हैं। मन्दिर के मध्य में शिव मूर्ति है । सामने वेदी पर तीन प्रतिमायें हैं । मध्यवर्त्ती प्रतिमा भगवान पाइर्वनाथ की है जिसे वहाँ वालों ने 'अनन्तदेव' की प्रतिमा बतलाथी । मालुम देता है कि कभी वहाँ अनन्तदेव गोत्रीय सराकों की उस्ती रही होगी। यह पाइर्वनाथ प्रतिमा अष्ट महाप्रातिहार्य और धरणैन्द्र पदावती युक्त है। ऊपर सप्तफण और पृष्ठ माग में भी सर्पाकृति है। परिकर में उभयपक्ष में अध्टग्रह की प्रतिमायें स्पष्ट निर्मित हैं । वङ्गाल और विहार की सहस्राब्दि पूर्ववर्ती मृतिवला में नव ग्रहों के आकार स्पष्ट परिलक्षित होते हैं । राजगृह-वैभारगिरि के खण्डहर स्थित प्रतिमा के परिकर में ऐसी ही नवग्रह प्रतिमायें हैं जिनकी वैशमुषा हमें कुषाणकालीन समय तक ले जाकर खड़ा कर देती हैं, जबकि परवर्तीं काल में परिचम भारत में वे केवल सक्ष्म चिह्न मात्र पंचतीर्थियों में अवशिष्ट रह गये थे। भगवान पाइर्वनाथ की प्रतिमा के निम्न भाग में धरणेन्द्र पद्मावती है और मृत्ति-निर्मापक दम्पत्ति-थुगल की चैत्यवन्दना करती हुई प्रतिमार्थे तो प्रायः सभी तीर्थंकर प्रतिमाओं में उपलब्ध हैं। यह मन्दिर पुरातत्त्व विभाग के अधीन है।

बहुलारा से वापस आते औंधा होकर विष्णुपुर पहुँचते-पहुँचते भगवान अंशुमाली अस्ताचल पर जा खड़े हुए । हमने रात्रि में रामपद मण्डल के घर में विश्राम किया और प्रातःकाल विष्णुपुर के ऐतिहासिक स्थानों की शोभा देखने के लिये निकल पड़े।

विष्णुपुर इस समय बाँकुड़ा जिले में है। मध्यकाल में यह स्थान मल्लमूमि की राजधानी थी और आज भी दुकानों के साइनबोर्डों में अनेकदाः यह नाम देखा

जाता है । हम सर्वप्रथम पुरातत्त्व विभाग अधीन 'रासमंच' नामक स्थान में गये। कहा जाता है कि रास के विशेष अवसर पर समस्त मन्दिरों के विग्रह यहाँ लाये जाते थे, परन्तु इस 'रासमंच' स्थान की निर्माण शैली ऐसी विचित्र है कि इतने विशाल पिरा-मिड आकृति वाले इस स्थान में स्तम्म बाहुल्य तीन जगती के अन्तराल में सर्वत्र दर्शन दुर्लम होते हैं। इसका सन् १५८७ ई० के आस-पास वीर हम्मीर नामक मल राजा ने निर्माण करवाया था। इस मन्दिर के सामने एक अहाते में दल-मादल नामक विशालकाय अद्भुत तोप रखी है जो सन् १७४२ की बनी हुई है। इस कमान का वजन ३०० मन है और यह साढ़े बारह फुट लम्बी है । इसका मुहाना १ फुट का है और बनाने में एक लाख रूपये लगे थे। सन् १७४२ में जब मह राज्य पर मराठों ने आक्रमण किया तब यही तोप उनकी रक्षा में काम आती थी।

विष्णुपुर के अनेक मन्दिर बड़े ही सुन्दर शिलपाकृति वाले बङ्गाल की अद्भुत कला-शेली से युक्त हैं। जिस प्रकार आबू के जैन मन्दिरों में प्रस्तर मास्कर्य अपनी सृक्ष्मता की पराकाष्ठा के प्रवल प्रतीक हैं उसी प्रकार यहाँ के मन्दिर अपने टाली मास्कर्य निर्माण के लिये वेजोड़ और अद्भुत है। राधा - माधव का मन्दिर सन् १७३७ में राजा कृष्णसिंह की पत्नी रानी चूड़ामणि देवी ने बनवाया था। यहाँ से लाल बांध नामक विशाल जलाश्य को देखने गये। इसके पास सर्वमङ्गला देवी का मंदिर है। जब स्वाधी रामकृष्ण परमहंस यहाँ दर्शन करने आये, तब उन्हें माव समाधि हो गई थी। लाल बांध से आते समय एक टेकरी पर 'गुमगढ़' नामक स्थान दृष्टिगोचर हुआ जो गवाक्ष-द्वारादि से विहीन विचित्रता युक्त था। कहा जाता है कि मल राजा लोग लृट का माल इसी स्थान में सुरक्षित रखते थे।

श्यामराय का मन्दिर सन् १६४३ ई० में रघुनाथ

सिंह ने निर्माण कराया था। आश्चर्य तो यह है कि इतने विशाल मन्दिर में कहीं इंच भर भी जगह शिल्पाकृति से रिक्त नहीं छोड़ा। जोड़ा दिव मन्दिर— कृष्ण बलराम मन्दिर रघनाथसिंह दिवीय द्वारा स्थापित है। जोड़ बङ्गला मन्दिर भी प्रशस्त कोरणी युक्त है। इसकी छत का निर्माण दो संलग्न दुचालों वाले वङ्गले की भौति है। राधा-श्याम मन्दिर सन् १६६५ में राजा चतन्यसिंह द्वारा प्रतिष्ठापित है। विभिन्न पौराणिक और अवतार चरित्रादि की शिल्प समृद्धि अत्यन्त प्रेक्षणीय है। सन् १६६५ में लाल जी मन्दिर की प्रतिष्ठा राजा श्री वीरसिंह ने करवाई थी।

सतरहवीं शती के उत्तरार्द्ध में राजा वीरसिंह ने पत्थरों द्वारा प्रवेशद्धार का निर्माण करवाया, दुर्ग-प्रवेश के लिये पूर्वकाल में यही एक प्रवेश दार था! आगे चलने पर एक प्रस्तरमय तिमंजिला रथ आता है। प्रस्तरमय रथ की प्रथा बन्नाल, बिहार, छड़ीसा के अतिरिक्त सुदूर मैसूर राज्य के हम्पी तक में पाई जाती है। हम्पी का रथ बड़ा ही सुन्दर है और इसी प्रकार कोणार्क का भी। रथयात्रा की प्रथा एक ऐसी प्राचीन प्रथा है जिससे लोगों को घर देउं भगवान के दर्शन हो जाते थे। वसुदेव हिण्डी नामक प्राचीन महत्वपूर्ण जैन ग्रन्थ में इसे अति प्राचीन काल से चली आयी परम्परा बतलायी गयी है।

मदनमोहन मन्दिर की प्रतिष्ठा सन् १६९४ में राजा दुर्जनिसिंह ने करवाई थी। यह भी बङ्गाल की तत्कालीन टाली की कोरणी (Terracota) का सुन्दर नमूना है। मह्हें स्वर शिव मन्दिर का निर्माण भी सन् १६२२ में वीर हम्भीरसिंह ने करवाया था।

विष्णुपुर में शंख-शिलिपयों का काम भी खूब जोरों पर है। सैंकड़ों घर इसी व्यापार-उद्योग से अपने परिवार का पालन करते हैं। शंख को प्रस्तर-शिलाओं पर धिस कर अर्द्ध-चन्द्राकार क्रकच (करोत) से अंगूठी, सांखा, चूड़ी आदि विविध प्रकार की वस्तुएं तैयार करते हैं। शंख का करोत विरहिणी के विरह की माँति जाते आते दोनों तरफ काटता ही रहता है। विष्णुपुर के ताँतो लोग वस्त्र बुनते हैं. टठेरे-कसेरे दर्तन बनाते हैं। यहाँ सराक बन्धुओं के लगभग ३० घर होंगे। सराकों के घरों में सिंडुयाँ लगी हैं और वे सूत-वस्त्रादि का व्यवसाय करते हैं।

विष्णुपुर से ता० २५ शुक्रवार को हम लोग वस द्वारा वाँकुड़ा आये। जिले का मुख्य नगर होने से वाँकुड़ा एक बहुत वडा नगर है। सुख-सुविधापूर्ण मारवाडी धर्म-शाला, नूतनगंज में ठहरे और बीकानेर के ही एक अनुभवी सहदयी ब्यासजी के सुप्रवन्ध में दो दिन रहे। मोजनोपरांत जीप लेकर वहाँ से हम हाड़मासरा गये। वहाँ गाँव के अन्त में एक पत्थर के शिखरयुक्त छोटा मन्दिर देखा जिसमें दलभीक के देर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। इनके पीछे जङ्गल में एक पार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा खड़ी थी। जिस पर ग्राम्य-जन कभी-कभार सिन्दर आदि की टीकी लगा देते होंगे। पर आश्चर्य है कि एक दुकानदार ने हमें जैन मन्दिर दललाते हुए इस स्थान पर पहुँचा दिया। बहुलारा वाली प्रतिमा की भाँति इस प्रतिमा के परिकर में अष्टग्रह, महाप्रातिहार्य, धरणेन्द्र-पद्मावती और बिम्ब निर्भाता युगल की सुरुचिपूर्ण कलाभिव्यक्ति प्रेक्षणीय थी। हाडमासरा से हम लोग जीप में तत्काल ठौट आये।

दूसरे दिन ता० २६ को प्रातः काल हम रिक्शा द्वारा वाँकुड़ा धर्मशाला से 'इकतैश्वर' महादेव गये। वहाँ इसकी वड़ी ख्याति है। मन्दिर के बाहर नारियल, प्रसाद. मिन्दान की दुकानें हैं और पण्डे लोग खड़े रहते हैं। मन्दिर में कुछ सीढ़ियाँ उत्तरने पर तल धर में जमीन पर रहे हुए एक स्वाभाविक त्रिकोण से लम्बे पाषाण-खंड के दर्शन हुए। कहा जाता है कि यहाँ मगवान् शंकर का यही रूप है। इस चमत्कारी स्थान पर मक्त लोग 'धरणा' देकर सो जाते हैं और अपने कार्यसिद्धि का वरदान पाव र ही लौटते हैं, ऐसा भी कहा जाता है।

वाँकुड़ा से बस द्वारा हम गौरावाड़ी गये। वहाँ से

कंसावती नदी के तट पर बँधे हुए बाँध के पास पारसनाथ नामक गाँव था। गाँव के स्थान पर सरकार की ओर से बाँध का काम चालू था, इसीलिए गाँव वालों के कथनानुसार हमें आशा थी कि वहाँ जाने के लिये सरकारी ट्रकों द्वारा जाने-आने की सुविधा मिल जायेगी पर जब हम गौरा-वाड़ी की कालोनी में उतरे. सभी आफिस शायद शनिवार या अन्य किसी कारण से बन्द थे। हमें एक विद्यार्थों और एक महिला का अच्छा साथ मिल गया जो अपने-अपने गाँव जा रहे थे। हम पैदल ही उनके साथ चल पड़े। मध्याह का समय था। विद्यार्थीं ने हमें तीन चार मील साथ चलकर जहाँ बाँध का सरकारी आफिस था, पहुँचा दिया और उसने अपने गाँव का मार्ग पकडा।

बाँध के पास पहाड़ी टीले पर सरकारी आफिस था। पारसनाथ गाँव का तो नाम शेव हो गया पर वहाँ आफिस के पुष्ठ भाग में हमने एक शिव मृत्ति, नन्दी और कुछ प्रस्तर खण्ड देखे । इसी पहाड़ी पर भगवान् पार्खनाथ की एक विज्ञाल प्रतिमा के बारे में जो दो टुकड़ों में विभक्त थी, वहाँ वालों ने हमें बतलाया । यह प्रतिमा परिकर में चौबीसी प्रतिमायं, बिम्ब निर्माता युगल और धरणेन्द्र-पद्मावती युक्त थी। सिहासन में सिह और हंस के आकार भी परिरुक्षित थे। वहाँ के आफिसरों के साथ उस प्रतिमा के फोटो लिये और एक मार्ग बताने वाले मजदूर को साथ लेकर हमने अस्त्रिका नगर का मार्ग पकड़ा । जाते समय तो कड़कड़ाती धूप में कहीं-कहीं ही क्षणिक बादलों की छाया मिल पाती थी किन्तु लौटते समय सारा आकाश मेघाच्छन्न हो गया और जोरों से तूकान चलने लगा। हम तुफान की शीतल हवा का आनन्द लेते हुए शीघ्र गति से चलते रहे पर जब बर्षा प्रारम्भ हुई तो हमें सड़क के पास ही एक ग्राम्य स्कूल का बरामदे वाला खाली कमरा मिल गया, जिसमें हमने तत्काल आश्रय ग्रहण कर लिया । पाँच दस बटोही और भी आकर बैठ गये । यह तो संतोष की बात थी। यदि जंगल में यह स्थान

न मिलता तो बड़ी दुर्दशा होती, अस्तु । जब वर्षा तूफान बन्द होकर आसमान साफ हो गया तो हम लोग कंसा-वती और कुमारी नदी के संगम पर बसे अम्बिकानगर में नदी को पार कर जा पहुँचे ।

अम्त्रिकानगर, अम्बिका देवी के मन्दिर के कारण प्रसिद्ध है। मन्दिर के पुजारी महोदय को हमने बुलवा कर मन्दिर खुलवाया। इसके शिलालेख से विदित हुआ कि इस मन्दिर का जीणोंद्धार सन् १३२० में ता० १६ फालगुण को राजा राइचरण धवल ने रानी लक्ष्मीप्रिया देवी की स्मृति में कराया था। वस्त्र परिधान युक्त देवी के स्वरूप प्रतिमा लक्षणादि का हम ठीक ठीक आकलन न कर सके पर यह खड़ी हुई मूर्ति है और जैन शासनदेवी अम्दिका मूर्ति से अभिन्न कथंचित् मित्र शैली की परिलक्षित हुई।

अम्बकानगर में अम्बका मन्दिर के पृष्ठ भाग में एक जेन मन्दिर अवस्थित है. जिसमें थोड़ा अन्धेरा पड़ता था पर उसमें प्रतिष्ठित-अवस्थित भगवान आदिनाश-ऋश्मदेव स्वामी की सपरिकर प्रतिमा अत्यन्त सुन्दर है। प्रभु के पृष्ठ भाग में तोरण हैं जो समवसरण के तीरण का प्रतीक है और प्रमामण्डल भी कलापूर्ण हैं! भगवान के मस्तक पर जटा केशविन्यास अत्यन्त सुन्दर हैं। सिहासन के नीचे वृद्ध लांधन स्पष्ट है। प्रभु प्रतिमा प्रायः करके अखण्ड और अत्यन्त मनोज्ञ है। अम्बका मन्दिर के दाहिनी ओर चौकी पर कुछ शिल्पाकृति-गोवर्द्धन और कुछ लिपि वाला प्रस्तर भी पड़ा था। हमें जलदी लौटना था अतः अम्बकानगर के मिष्ठांत्र भण्डार से कुछ निष्ठांत्र और जंल लेकर हम नदी पार होकर बाँकुड़ा जाने वाली बस में आकर बैठ गये। यथासमय बाँकुड़ा पहुँचकर धर्मशाला में निवास किया।

बाँकुड़ा की धर्मशाला बड़ी विशाल है। रहने की सब प्रकार की सुविधाएँ है। सोने के लिये खटिया उपलब्ध हो जाती है, जिसकी आमदनी से पारावत-कबूतरें दाना चुगते हुये निर्माताओं. अनुमोदकों, व्यवस्थापकों की पुण्य

वृद्धि करते हैं । धर्मशाला की दीवारों पर सैकड़ों सुमाषित और शिक्षाप्रद दोहें श्लोक लिखे हुये हैं जो वड़ी प्रेरणा-दायक सुरुचिपूर्ण पद्धति में है ।

वाँकुड़ा से दूसरे दिन प्रातःकाल रवाना होकर हम रेल द्वारा इन्द्रवीला पहुँचे और स्टेशन से अनतिदूर स्थित महाल कोक नामक गाँव में गये । यहाँ हमारे पूर्व परि-चित जयहरि श्रावक का निवास स्थान है। ये सराक माई ससंस्कृत और जैन शिक्षा-दीक्षा से सुपरिचित होने के साथ-साथ राजस्थान, वङ्गाल, विहार, महाराष्ट्र, गुजरात और उत्तरप्रदेशादि के सभी जैन तीर्थों में धुमे हुए हैं और जैन धर्म के प्रचार कार्य व साधुजन सेवा में ही इनकी रुचि रही है। कई वर्ष पूर्व जब यहाँ से निकटवर्ती तालाजुड़ी गाँव में भगवान आदिनाथ स्वामी की पद्मारतमस्य प्रतिमा तालाव के पाल पर प्रगट हुई थी, उस समय में श्री ताजमल जी साहव वोश्वरा के लघ भ्राता श्री हनुमानमल जी बोशरा के साथ यहाँ आया था और इन्हीं के यहाँ प्रेम-पूर्ण वातावरण में ठहरकर तालाजुडी जाकर प्रभु दर्शन किये । अब यह प्रतिमा श्री ताजमल जी वोधरा एवं अत्रस्थ सराक बन्ध के प्रयत्न से कलकत्ता आ गई है और बड़े मंदिर में विराजमान है। महाल कोक में कुल ३० घरों की छोटी-सी साफ सथरी वस्ती है जिसमें १२ घर सराकों के हैं। यहाँ एवं इधर के कई गावों में हिन्दुओं के घरों की दीवार पर चारों ओर एक काली-सी धारी-पट्टी दृष्टिगोचर होती है जो रोहण-मनसा पूजा का प्रतीक वतलाया जाता है। सराक लोग जैन धर्माचार विस्मृत होकर वंगाल के देवी पूजा आदि को मान्य करने लगे हैं पर शताब्दियाँ वीत गईं. जैन सम्पर्क छूट गया फिर भी खान-पान में शुद्ध निरामिष भोजी संस्कार आज भी विद्यमान है।

हमारा उद्देश्य था कि भाई जयहरि को साथ लेकर पाकदिङ्रा आदि उधर के प्राचीन जैन खण्डहरादि स्थानों में घूम कर जैन-अवशेषों का अध्ययन करें पर वे स्वयं उस तरफ गए हुए नहीं थे, अतः उन्हें कष्ट न देना उचित समझ हम उनके यहाँ एक दिन और एक रात्रिका आतिश्य ग्रहण कर रेल द्वारा आदा आये । रेल लेट होने से पुंचा जाने वाली वस निकल चुकी थी अतः तीन घण्टों की प्रतीक्षा कर दूसरी वस में वारह वजे 'पंचा' गाँव आये। यहाँ से दो ढाइ मील दूर पाक विद्रुरा है। हमें तो वहाँ जाकर तत्काल लौटना था, क्योंकि ढाइ दर्ज की वस निकल जाने से हमें फिर एक अहोरात्र वहीं रहना पड़ता। अतः अपना सामान वहीं सुनील ठाकुर नामक सज्जन की दुकान में रख कर शिघ्र गति से पाकविङ्रा पहुँचे ! उस दिन वहाँ मेला होने से ग्राम्य जन सैकडों की संख्या में एकत्र थे। मटोन्मत्त स्त्री-पुरुषों के समूह अपने गले में ढोल-ढक्कादि वादित्र वजाते हुए नाच रहे थे । वे लोग जिनेश्वर मगवान की प्रतिमाओं को भैरव मानकर पूजते थे। पाकविडरा की सभी प्रतिमायें और मग्नावशेप एक ही अह:ते में रखे हुए थे. जिसमें प्रविष्ट होने पर आसानी से दर्शन किया जा सकता था। इसमें अवस्थित सभी जिन प्रतिमायें अव्यवस्थित दङ्ग से पड़ी थी। ७ फुट ऊँची खङ्गासन स्थित श्री पदाप्रभु स्वामी की प्रतिमा-जिसका परिकर नहीं था, केवल उभयपक्ष में चामरधारी इन्द्र अवशिष्ट थे: प्रभु लांछन भी पूजन-सामग्री से ढक जाने से दृष्टिपथ लुप्त था—के दर्शन किये जो ग्राम्य-जनों के पूजन-केन्द्र थे।

पाकविड्रा के इस स्थान में तीन चार मन्दिर आज भी खड़े हैं पर वे खाली पड़े हैं और अखण्डित-खण्डित सभी अवशेष इसी अहाते में लाकर रख दिये गये हैं। यहाँ कतिषय विभिन्न शैली और विधाओं की प्रति-मायें दिव्योचर हुई। भगवान् आदिदेव, ऋषभ प्रभु की पाँच प्रतिमायें हैं जिनमें दो चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमा परिकर युक्त हैं। एक पंचतीर्थी परिकर युक्त और दो खण्डित हैं, जिनमें से एक के तो दो खण्ड हुये पड़े हैं। भगवान् महावीर की दो प्रतिमायें हैं जिनमें एक पंचतीर्थी

परिकर, तोरण, भामण्डलादि प्रातिहार्य युक्त है। यहाँ की व्रतिमाओं के तोरण ऊपरि भाग में न होकर प्रभु के पृथ्ठ भाग में सांची तोरण की भाँति हैं। अम्बिका नगर की ऋवमदेव प्रतिमा का तोरण इसी प्रकार का है। दूसरी प्रतिमा के परिकर में अप्टग्रह प्रतिमायें विद्यमान हैं। अभिवका देवी की एक खड़ी हुई प्रतिमा है एवं तीन प्रतिमाएँ वक्ष यक्त हैं। जिनमें एक में जपरि माग में जिन प्रतिमा, वृक्ष के नीचे यक्ष-यक्षिणी और निम्न भाग में सप्त ग्रह मूर्तियाँ हैं । दूसरी प्रतिमा के निम्न भाग में सिंहासन के नीचे दो कलश वने हुए हैं, जिनकी रचना शैली वङ्गाल के कलशों से अभिन्न है। तीसरी प्रतिमा भी वृक्ष तल में यक्ष-यक्षिणी वाली है। एक शांतिनाथ स्वानी की खण्डित प्रतिमा है जिसमें प्रमु का लांछन हरिण स्पष्ट परिलक्षित है। एक तीर्थंकर प्रतिमा और एक चत्रिश्ति तीर्थंड्र प्रतिमा है। एक चौमुख मन्दिर सर्वतोभद्र और एक चतुर्मुख स्तूप भी इन प्रति-माओं के मध्य में विद्यमान हैं।

यहाँ मैंने जिन यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाओं का उल्लेख किया है वस्तुतः यह निर्णय नहीं, वई विद्वानों ने इन्हें भगवान् के माता-पिता और कह्यों ने यक्ष-यक्षिणी माना है पर मेरे विचार में यह विधा अभी विचारणीय है अतः स्त्री-पुरुष जोड़ी कह सकते हैं। माता-पिता की प्रतिमा वृक्ष के नीचे हो और वृक्ष पर अर्हन्त प्रतिमा हो, यह वात तर्कसङ्गत नहीं लगती। भगवान् की माताओं की मूर्तियाँ 'चतुर्विशांत जिन मातृ पट्टक' वीकानेर, जैसल-मेर आदि अनेक स्थानों में विद्यमान हैं पर उनमें माता

की गोद में बालक भगवान् को दिखाया गया है। लगभग ३१ वर्ष पूर्व क्षत्रियकुण्ड लघुवाड़ की धर्मशाला में मैंने एक काली पाषाण की लेख सहित पन्द्रह सौ वर्ष से भी प्राचीन प्रतिमा त्रिशला माता और गोद में भगवान् महावीर की देखी थी जो कुछ दिन बाद ही वहाँ से गायब हो गई। शिल्प शास्त्र और मूर्ति विज्ञान के विद्वान इस पर विशेष प्रकाश डालें। जंबू वृक्ष, शालमिल वृक्ष आदि पर शाश्वत जिन बिम्बों का उल्लेख हैं, जिनके भी शास्त्रों में वर्णन मिलते हैं। हमारे संग्रह में एक दो सो वर्ष प्राचीन सुन्दर चित्र में वृक्ष पर अहन्त प्रतिमा और सामने चतुर्विध संघ, पूजीपकरण लिये मक्तादि दिसाये हैं, पर वह माव भी किस हेतु का है। विचारणीय हैं।

वस्तुतः बङ्गाल का प्राचीन धर्म ही जैनधर्म था। वङ्गाल में यत्र-तत्र-सर्वत्र जैन अवशेष ही पाये जाते हैं। हमें इन स्थानों में कहीं भी बौद्ध प्रतिमार्थे दिव्योचर नहीं हुई। इन विभिन्न शैली और कलात्मक प्रतिमाओं का अध्ययन समय सापेक्ष है। हम तो वहाँ केवल पन्द्रह भिनट ही रुके थे। जिन प्रतिमा निर्माण शैली का प्रवाह सर्वत्र व्याप्त था। ऐसी प्रतिमायें बिहार में भी देखने में आई है।

पाकविड़रा से हम दो बजे पूंचा पहुँच गये और वस में वैठकर सीधे पुरुलिया स्टेशन आ पहुँचे । यद्यपि श्री ताजमल जी साहब और भी स्थानों में चलना चाहते थे और तीर्थाधिराज श्री सम्मेद शिखर जी की यात्रा करने की प्रवल भावना भी थी पर मौसम और मार्ग-प्रतिकूलता ने हमें कलकत्ता लौटने को बाध्य कर दिया।

િ ૧૨૫

जैन चित्रकला

मानव संस्कृति में प्रारम्भ से ही मन की शिक्त प्रवणता के कारण करूपना सृष्टि के उन्मेष विस्तीर्ण होने का अवसर सुलम था। उसके मस्तिष्क में सर्वप्रथम पट. रंग और तूलिकादि उपादान विहीन करूपना चित्र उमरे। प्रकृति ने उसे विविध रंग दिये, अंगुलियों ने आकाश प्रदेश का अशेष पट प्राप्त किया। भगवान के गुण वर्णन में भी वह अनन्तता की अभिव्यक्ति करने के हेतु ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करने लगा, जो कि निम्न दोहे से स्पष्ट है—

गराणंगण कप्ताल करूं, सायर करूं मसियात ! मेरुगिरी की लेखनी, तुहि गुण लिख्या न जात !!

प्रस्तुत कल्पना शब्दालेखन की है न कि चित्रांकन की। कल्पना चित्रों को साकार रूप देने में प्रकृति, भौतिक वस्तुएं, प्राणी जगत् और आलोक अद्भुत छाया एवं पंच वर्ण के बादलों में उभरती हुई विविध आकृतियों ने भी बड़ा योगदान दिया। इन्हीं आधार शिला पर घटनाएं और भाव प्रधान अभिव्यक्तियों चित्रित हुई। कित्पय गुफाओं के आदिकालीन चित्रों में प्राणी जगत के साथ-साथ शिकार आदि घटनाओं का चित्रण पाया जाता है। लोकचित्र शैली इन्हीं गुफाओं में हम देखते हैं किन्तु इनका प्रारंभिक रूप गृहाञ्चण, गृहद्वार और मित्ति दीवालों पर रंगोली मृतिका रंग के रूप में आया जो कि

एक पर्व में बनते और दूसरा पर्व आने पर स्वामाविक रूप से नध्ट हो जाते या उसे लीप-पोतकर नव निर्माण कर दिया जाता । गृहा चित्रों के विकास में आगे जाकर कुछ सधी हुई तुलिका और रंग विन्यास का उन्नयन हुआ। प्राचीन साहित्य के आलोड़न से हम उसके साकार रूप धारण करने की कथा-वस्तु पर विमर्ज करेंगे तो वह भी मनोवर्गणा के पर्यायों से संपुक्त प्रतीत होगी। किसी वस्तु विशेष को देखकर मन पर दबाव पड़ता है और स्मृति के परत खुलते जाते हैं। ऐसी स्थिति में मानव अपने शरीर निर्माण से पूर्व की स्थिति को भी समृति पटल पर लाने में सक्षम हो जाता है जिसे जैन शैली में जाति स्मरण इ.न कहते हैं। उस अवस्था में उसे अपने पूर्व जन्म के कृतिन्त फिल्म की माँति साकार हो जाते हैं। यह भी एक विशिष्ट स्थिति है। इसके माध्यम से भी चित्रक्ला को साकार होने में प्रश्रय मिला । आदिमाथ चरित्र में ललितांगदेव और स्वयंप्रभा देवी का रूप जाति-स्मृति द्वारा साकार होने पर अपने पूर्वजन्म देवलोक के साथी को खोजने के लिये चित्रपट का आश्रय लिया जाता है । जैन रामायण में नवकार मंत्र सनाने वाले सेठ के साथ व्षम का जीव राजा होकर अपना चित्र जिनालय के शिल्प में साकार कराके अपने उपकारी की पहचान प्राप्त करता है। तरगवती भी पूर्व जन्म की जाति-समृति द्वारा चित्रपट आलेखन कर उसी के मध्यम से अपने प्रियतम को प्राप्त करती है। एक अन्य कथावस्तु में वृक्ष पर निवास करने वाले शुक्र के जोड़े को दावानल में दग्ध भाव की भवान्तर में चित्राङ्कन द्वारा समृति करायी जाती है। भगवान मिल्ल के चित्र भाई के महल में चित्रकार द्वारा निर्माण से प्रताखित नवनिर्माण की चित्रकार द्वारा क्था प्रसिद्ध है । प्राचीन साहित्य में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं । मंखलीपुत्र गोशालक जिस जाति का था वे चित्रपट दिखाकर ही अपनी आजीविका चलाया करते थे। बाद में उसकी आजीविका अष्टांगनिमित्त के

आश्रित हो गई। वह आजीवक कहलाता था।

किसी भी साधारण या सर्वोत्कृष्ट काल-वैभवपूर्ण स्थापत्य का निर्माण करने के लिए पहले उसके चित्र निर्माण द्वारा ही सारी रूप-रेखा निर्णित की जाती है अतः इस द्विटकोण से शिल्प-स्थापत्य कला की जननी भी चित्रकला को मानना समीचीन होगा। समस्त प्रकार के यान्त्रिक उपादान और टंकशाल की मुद्राएं व संचे समी चित्रकला के आमारी हैं।

जेनागमों के परिज्ञालन से चित्रकला की तत्कालीन स्थिति वड़ी विकसित माल्म देती है। चित्रकला सामग्री में चित्र निर्माग योग्य तुलिका और रंगों के उपयोग का विशद्ध वर्णन पाया जाता है। सर्वप्रथम चित्रयोग्य मुमि को तियार करने में भित्ति, कागज, वस्त्रादिकों को घोटाई करके दर्पण की भाँति प्रतिविम्व दशीं बनाया जाता था । एक कथा में चित्रकार ने केंद्रल मित्ति की घोटाई पर्दे की ओट में की । सामने की दीवाल का चित्रकार अपना सम्पूर्ण चित्र निर्माण कर चुका था। राजा ने चित्रकार को इस अप्रत्याशित विलम्व के लिये उलाहना दिया कि अभी तक चित्रांकन प्रारंभ ही वयों नहीं हुआ। उसने परदा हटाया तो दर्शक इस वात पर विस्मित हो गये कि सामने की दीवार का चित्र इसमें पूर्णतया प्रतिविभिन्नत है। रंगों के निर्माण विषयक ऐसी ही वात प्रसिद्ध है कि ताजमहल में पत्थर पर मीने का कार्य करने वाला एक कलाकार महीनों तक रंग की घोटाई करता रहा । जव उसे इसके लिये उलाहना मिला तो स्वाभिमानी चितेरे ने रंग की कुण्डी को उठाकर पत्थर पर दे मारा । सारा रंग उसपर गिर गया । वाद में देखा गया कि वह रंग पत्थर में खुव गहराई तक जा पहँचा था।

ज्ञाता सूत्रानुसार मिथिला के मलदत्त ने निष्णात चित्र-कारों से हाद-भाव-विलासपूर्ण चित्रकला का निर्माण कर-वाया था। उसमें एक चित्रकार में इतनी विजक्षणता थी कि वह .द्विपद. चतुष्पद और वृक्षादि के एक भाग को देखकर परिपूर्ण चित्रालेखन करने में सक्षम था। आवश्यक चूणि में एक ऐसे नटपुत्र का चल्लेख हैं जिसने क्षिप्रातट की वालुका पर अपनी तीक्ष्म बुद्धि से एक बार देखी हुई उज्जियिनी नगरी का मानचित्र आलेखित कर खाला था।

वृहत्कलप भाष्य में निर्दोष और सदोषचित्र कम बतलाये हैं जनमें वृक्ष, भवन, पर्वंत, नदी, लता-वितान एवं स्वस्तिकादि मांगलिक पदाशों के चित्र निर्दोष एवं ख्रियों आदि के चित्रों को सदोप कहा है। आवश्यक चूणि में कहा है कि एक परिव्राजिका ने चेटक महाराज की पुत्री सुज्येष्ठा का चित्रफलक महाराजा श्रेणिक को दिखलाया जिससे वह अपनी सुध चुउ मूल गया था। वृहत्कलप भाष्य पीठिका में मी सागरचन्द्र के कमलामेला के चित्र दर्शन से प्रेम करने लगना उक्षिस्त है।

जैनाममों में वर्णित स्त्री की चौसठ कलाओं में चित्रकला भी एक है। भगवान पार्श्वनाथ के महलों में कथावस्त-जनित भित्ति चित्र वने हुए थे जिनमें भगवान नेमिनाथ की बारात और पशु बाड़े को देखकर उनके वैराग्य प्राप्त अभिनिष्क्रमण के चित्र भावों पर विचार करते ही वै संसार से दिरक्त हुए थे। राजा शतानीक की रानी मुगावती के चित्र को देख कर ही मालवपति चण्डप्रयोत ने उसे प्राप्त करने के लिये ही कौशामबी पर आक्रमण किया था । इस कथा सन्दर्भ में यह स्वष्ट ज्ञात होता है कि उस काल में राजमहलों में चित्र समाएँ अवश्य हुआ। करती थीं । चित्र-कार लोग अत्यन्त कलादक्ष थे जो किसी के शरीर का एक अवयद देख कर उसका सार। चित्र हबह अविकल चित्रित कर देते थे। मृगावती के चित्र की बनाने वाले का दाहिना हाथ शतानीक ने कटवा दिया था फिर भी उसने बाँये हाथ से उसका चित्र वनाकर प्रद्योत को दिखाया था ।

ज्ञाता धर्न कथा में चित्रांगद की पुत्री वनकमंजरी

द्वारा चित्रित कुट्टिम तल का मोर इतना ताद्श था कि राजा को उसे हस्तगत करने के लिए हाथ फैलाकर नख-क्षत कर लेने के साथ-साथ हास्यपात्र होना पड़ा था। चार प्रत्येक बुद्धों में से दुर्मुखराजा ने स्थपित से चित्रसमा तैयार करवा कर उसमें शुभ मुहूर्त्त में प्रवेश किया जिसका उत्तराध्ययन सुत्र में वर्णन मिलता है।

राजाओं और वाराञ्चनाओं के रंग महरू शृंगार रसपूर्ण वात्स्यायनादि से सम्बन्धित चित्र समृद्धियुक्त विविध प्रकार के मावोत्तेजक हुआ करते थे। कोशा वेश्या की चित्रशाला में चातुर्मास कर निर्विकार रहने वाले महामुनि "स्थूलिमद्रात् अपरो न योगी" कहलाये थे।

यद्यपि प्रागैतिहासिक काल और आगमकाल की प्राचीन चित्र समृद्धि के नष्ट हो जाने से आज केवल कुछ आदिवासियों के टेढ़े-मेढ़े अंकन ही कतिपय गुफाओं में हग्गोचर होते हैं पर उन चित्रों को सुकुमाल पीछी से नहीं किन्तु स्थपति की छैनी हथौड़ी से उल्कीणिंत विविध विधाएं आज भी पर्याप्त उपलब्ध हैं। भूमि उल्लानन से प्राप्त न केवल टेराकोटा ही अपितु मिट्टी के घड़े आदि पर भी चित्रकलामिव्यक्ति के विकीण सण्ड यत्र-तत्र मिलते हैं।

प्राचीन भारतीय जैन चित्रकला के विह्नावलोकन के अनन्तर आइये हम वर्तमान में उपलब्ध जैन चित्रकला के उस संबल पक्ष की ओर इष्टिपाल करें जो अपने आप में जैन चित्रकला की एक अनुठी और गौरव पूर्ण देन है। कागज, ताड़पत्र, वस्त्र, काष्ट्रफलक और कूटे के चित्र सहस्राहिद पूर्व के यद्यपि तिरोहित हो चुके हैं प्रस्तु सार्द सहस्राहिद पूर्व के यद्यपि तिरोहित हो चुके हैं प्रस्तु सार्द सहस्राहिद पुराकालीन मितिचित्र केवल गुफाओं में ही बच पाये हैं। अजन्ता की प्राचीन कला समृद्धि मारतीय श्रमण संस्कृति बौद्ध शास्त्रा से सम्बन्धित है जविक जैन चित्रकला की साकार उपलब्धि हम सित्तनवासल के गुफा मन्दिरों में आज भी देखते हैं। मद्रास से २५० मील और

पदुकोटा से १० मील यह एक छोटा-सा गांव है। सित्तन-वासल अर्थात् सिद्धव महापुरुषों का निवास स्थान । यह स्थान चारों ओर नार्थमलय पर्वत. डयादिपटी. कुदुमीय मलय और कुन्नानद कोईल नामक पर्वतों से धिरा हुआ रमणीक स्थान-छोटा सा गाँव है । सित्तनवासल का गुफामन्दिर तिरुच्चिरापल्ली के निकट है और वहाँ पख़द कालीन चित्रकला की प्राचीन कला-कृतियाँ विद्यमान हैं। इसका निर्माता महेन्द्र वर्मा प्रथम पलव वंशीय राजा था और वह सातवीं शती के प्रारम्भ में हुआ है । नौवीं शती के प्रारम्भ में पाण्ड्या काल में इन गुफाचित्रों का पुनरुद्धार हुआ था परन्तु इसके पलवकालीन चित्रों पर किसी भी प्रकार की इतर-परत नहीं चढ़ी थी । गुफा मन्दिर का एक तमिल गापा का पद्य लेख मदुरें के जैनाचार्य इलन गौतमन द्वारा अर्द्ध मण्डप के पुनरुद्धार, अलंकरण और मुख मण्डप के निर्माण का उल्लेख करता है। पल्लव महेन्द्र वर्मा की भाँति पाण्डच अरिकेशरी परांकुश भी बाद में शेव हो गया था परन्तु गुफा-मन्दिरों का सम्बन्ध जैन परम्परा की अविच्छिन्नताओं को प्रकाशित करता है । यहाँ के भित्तिचित्रों में जलाशय के मतस्य, पशु, पक्षी, कमलनास यक्त पृष्प और पृष्प चयन आदि के शान्त और भावोत्पादक चित्र बड़े ही मनोज्ञ हैं। कमलनाल, वत्तक, मतस्य और मैंसों के चित्र बड़े सन्दर और स्वामाविकतापूर्ण है। इन चित्रों का रंग और आकृ.तियाँ सौष्ठवयुक्त हैं । नर्त्तकी और मुकुटबद्ध राज-दम्पति के चित्र बड़े सरल व प्रेक्षणीय करविन्यास्युक्त हैं। कमनीय देहयदिट वाले प्रमाणोंपेत चित्रों की भाव-मंगिमा वस्तुतः आकर्षक और उस काल की प्रतिनिधि चित्र क्लाभिव्यक्ति है। जैन साधु का एक चित्र केवल ञान्त और सादगी का वातावरण इंगित करता है। गुका में भगवान पादर्वनाथ की प्रतिभा होने से उनकी जीवनी से सम्बन्धित इस चित्र में कलिकुण्ड पार्श्वनाथ तीर्थोत्पत्ति और हाथी दारा अभिषेक किये जाने के मात हैं।

सित्तनवासल के पश्चात् एलोरा की इन्द्रसमा की

भित्तिचित्र -

भित्तियाँ एवं छल के चित्र बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। यह स्थान औरंगावाद से १५ मील दूर है। ये चित्र नौवीं-दशवीं शती के हैं और जैन ग्रन्थों के चित्राष्ट्रमों की अनुकृतियों के साथ-साथ पत्र, पुष्प तथा पशु-पक्षियों पर आधारित कलारूओं का भी मनोरम अंकन है। गोम्मटेश्वर का जो चित्र यहाँ उपलब्ध है, श्रमणबेलगोला की प्रतिमा शैली से उसकी तुलना की जा सकती है । ध्यानस्थ भगवान् बाहुबली के पैरों में चींटियों के वरुभीक एवं लता-गुलम देहयाँड के चतुर्दिश् आवेष्टित हैं। छत का एक कक्ष दिक्पाल समूह के चित्रांकनों से समृद्ध है। मेघ-छटा के मध्य व्योमचारी देव-देवियों और आलिंगन बद्ध विद्याधर दम्पति की सुकुमार शरीर-रचना विशाल नेत्र आदि का अंकन चित्रकला की परमोन्नत शैली के उदाहरण हैं। उनका पुष्पाञ्चलि अर्पण, पंचशब्द शंखवादन, तालबद्ध संगीत आदि युक्त गणों के चित्र भी कम महत्त्व के नहीं हैं। दक्षिणात्य राष्ट्रकृट वंश के शासनकाल में रचे गये चित्रों के ये अवितिष्ट नमूने समस्त भारतवर्ष की तत्कालीन कला-शैली को प्रभावित करने वाले और जैन चित्रकला परम्परा की अमूल्य देन मानना पड़ेगा। गुफा नं० ३२-३३-३४ की छत पर ये भित्ति चित्रबने हुए हैं जिनकी प्रतिकृति बनवाकर इस अमूल्य देन को सुरक्षित रखना चाहिए ताकि आगामी पीढ़ी भी चिरकाल तक लाभान्वित हो ।

नौवीं शती के चोल शासक भी बड़े कला प्रेमी, उदार व अपने शैव धर्म के प्रति निष्ठावान होने के साथ-साथ सभी धर्मों में समभाव रखते और प्रश्रय देते थे। तंजाबुर में राज-राज ने कलापूर्ण शिवालय बनवाया. उसकी वहिन कंदवहने तिरमल्लै तथा अन्य स्थानों पर जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था। चोल कालीन चित्र जो जैन स्मारकों में हैं वे नर्त्तमल्लै के बाद के हैं। इनमें विजयनगर शैली का सम्मिश्रण है। लक्ष्मीश्वर मण्डप के निम्नतल और बाह्यकक्ष पर

चित्रित करणवासी देव समूह के चित्र प्रारंभिक सतह के हैं। इसके विस्फारित नेत्र और रत्नाभरण बड़े मोहक हैं। दूसरी सतह विजयनगर चित्र शैठी में चित्रित है।

काष्ठ फलक व साङ्पत्रीय चित्र—

भित्ति चित्रों के पश्चात् काष्ठफलक चित्र व ताड़-पत्रीय चित्रों की बारी आती है । दक्षिण शैली की परंपरा में होयसल कालीन भित्तिचित्र उपलब्ध नहीं हैं पर विष्णवर्द्धन (सन् १९०६-४१) जिसे रामानुज ने विष्णव बना लिया था-ने वेल्र और हलेविड में सुन्दर मन्दिर निर्माण कराये थे । उसकी रानी जैन धर्मावलम्बी थी एवं मंत्री गंगराज व सेनापति हुलि दण्डनायक भी जैन थे । उसकाल के उत्कृष्ट स्थापत्य व शिल्प कला-कृतियाँ होते हुए भी भित्ति चित्र के उदाहरण अवशिष्ट न होने से मुड्बिद्री के भण्डार की होयसलकालीन चित्रकला पर ही हमें दृष्टिपात करना होगा । यहाँ की भट्टारक पीठ की ताखपत्रीय पाण्डलिपियाँ और उनके चित्र होयसल काल के हैं एवं उनकी लिपि विध्यवर्द्धन के ताम्रशास-नादि से मिलती-जुलती हैं। चित्रों की रंग की चटक और रेखांकन बेलूर मन्दिर के धालु पत्रों के पुष्पाकारों से निकटता रखती है जो विष्णवद्रंत और उसकी जैन पतनी शांतला के समकालीन मानने को प्रेरित करती है।

ताड़पत्रीय ग्रन्थ लम्बे तो पर्याप्त हैं ते थे पर उनकी चौड़ाई सीमित होने से मित्ति चित्रों की माँति विशालता का अभाव होते हुए भी छोटे-छोटे चित्रों की शेली और रेखांकन में कोई अन्तर नहीं आता, अतः चित्रकला व लेखनकला की उभय दृष्टियों से इनका महत्व निर्विवाद है। दिगम्बर परम्परा के जैनागम षट्खण्डागम की धवला-टीका की प्राचीन पाण्डुलिपि मूड-विद्री के ग्रेमण्डार में सं० १११३ की है। इस पर तीर्थंकर सुपाइवंनाथ की शासनदेवी काली का चित्र वृषम वाहन युक्त हैं। गौरवणां देवी की सुकोमल देह को उजागर करने वाली लाल रंग की रेखाएं

राहरदार और बल खाती हुई हैं। दब्भ के मृंग दक्षिण भारत के बेलों के अनुरूप हैं। द्वितीय कक्ष में अंकित भक्त परिवार का चित्र भी अत्यन्त मनोहर है। पर उसका जपरि भाग नष्ट हो गया भालम देला है। इसके केन्द्रवर्ती चित्र में भगवान महावीर स्वामी की दो सुन्दर प्रतिमाएं चित्रित हैं जिनमें एक पद्मासन और दूसरी खड़ासन मुद्रा में स्थित है । पद्मासनस्थ प्रतिमा के आसन पर मकराकृति अलंकरण व उसके पृष्ठ भाग में सिंह व उभय-पक्ष में चामरधारिणी मनोरमरूप से अंक्ति है। प्रभु के मस्तक पर धत्र व पृष्ठभाग में प्रभामण्डल फलक की भाँति गोल है । खङ्गासन की प्रतिमा परिकरविहीन और निम्नमाग में जानु से कुछ नीचे तक चरण-विहीन है। ताइपत्र के रंगीन चित्र में भगवान पृष्पदन्त (सुविधिनाथ) के अजितयक्ष तथा दूसरे कक्ष में दो मक्तगण अवस्थित दिखाये हैं। इन उभय चित्रों में एक ही रंग और लाल रेखाओं से आकृति अलंकरण है।

मुखविद्री की भव्य पाण्डलिपियों में लाल रंग के साथ हरे रंग का भी उन्मुक्त प्रयोग हुआ है। एक पाण्डलिपि में भगवान पार्खनाथ का चित्र पत्ते जसे हरितदर्भ का है, अवशिष्ट लाल रंग प्रयुक्त है । प्रभू के मस्तक पर सप्त फण छत्र है। प्रभु के आसन में उभय पक्ष में सिंह परिलक्षित है। उभयपक्ष में चामरधारी परिचारक हैं जिनकी भावमंगिमायुक्त आकृति उभयपक्ष में मड़ी हुई और कमनीय है। उष्णीपादि अलंकरण प्रेक्ष-णीय हैं। दोनों ओर हरित पृष्ठभूमि पर धरणेन्द्र एवं पदावली के चित्र बने हुए हैं । धरणेन्द्र का चार भुजाओं वाला खड़ा चित्र है, उसके मस्तक पर सप्तफण सुशो-भित है। पद्मावती के चित्र में भी चारों हाओं में अंकुश-पाश आदि विविध आयुध हैं। देवी के मस्तक पर भी सप्तफण मण्डित हैं और उलटे हुये कमल पंखड़ियों वाले आसन के निकट २वेत हंस बैठा हुआ है । दूसरा कक्ष (फलक १९) श्रतदेवी का बताया है जिसके उभयपक्ष

में वृक्ष है । मध्यवर्ती देवी के उभयपक्ष में चामरधारिणी परिचारिकाओं के बल खाए हुए कमनीय देह चित्र हैं और हरित वर्ण की कंचुकी परिधापित है । श्रुतदेवी के अंकुश-पाश तो दिखाए हैं पर वीणा, कमण्डलु, पुस्तक आदि का अभाव इतर देवी होने की आशंका पैदा करता है।

भगवान् वाहबली का चित्र (फलक २०) हरित वर्ण का और खड़ासन स्थित है जिसकी पृप्ठमुमि लाल रंग की है पर उभयपक्ष में खड़ी हुई ब्राह्मी सुन्दरी बहिनें हरित पृष्ठभूमि पर हैं । गौर वर्णा वहिनों के वस्त्रपट लाल रंग के लहरदार हैं । बाहुबलीजी के पैरों पर लताएं परिवेष्टित दिखाई हैं। फलक (२१) श्रुतदेवी उपर्यक्त नं० १९ के सहश है। दक्षिण भारत की ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों में और भी अनेक चित्र हैं। सिंहवाहिनी अभिवका आम्र वृक्ष के तल उभय शिश्ओं सहित जैन स्थापत्य में अति प्रसिद्ध हैं। उनका चित्र भी यहाँ उपलब्ध है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ, सुपार्खनाथ और भक्तमण्डली. पूजा-अर्चा की सामग्री, गजवाहन युक्त मातंग यक्ष, श्रुतदेवी और महामानसी. हंसवाहिनी, कच्छप वाहनवाला ग्रजितयक्ष आदि के चित्र भी होयसल कला के प्रभावोत्पादक कलामय सजन है।

दक्षिण भारत की परवर्ती भितिचित्र कलाशैली यद्यपि सित्तनवासल आदि से अपनी किइयाँ जोड़नेवाले साक्ष्यों के अभाव में अलग शृंखला हो जाती है पर सन् १३३५ में हरिहरने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की तो उसके वंश के चार सो वर्ष व्यापी शासनकाल ने सभी धर्मों को पख्रवित किया। अच्युतराय ने जैन और वैष्णव धर्मप्रमुखों को परस्पर मिलाकर सन्मानपूर्ण समझौता करा दिया। इस काल में कला का पर्याप्त उन्नयन हुआ। गोपुरों, मन्दिरों, मण्डपों की छत पर अगणित भित्ति चित्रों का निर्माण हुआ, जिनमें जैन कथावस्तु के अंकन भी महत्त्वपूर्ण और उल्लेखयोग्य हैं । कांचीपुरम् के

तिरुप्पतिक्कुण्रम् स्थित वर्द्धमान मन्दिर के संगीत मण्डप के जैन चित्र उल्लेखनीय हैं। इनमें कतिपय आरंभिक काल के और अधिकांश परवर्ती काल के चित्र हैं। यह मण्डन वुक्कराय दितीय के जैन मंत्री इरुगप्प ने वनवाया था। अतः इसके चित्र चौदहवीं शलाब्दी के अन्तिम चरण के हैं। इन चित्रों का विजय भगवान् महावीर के जीवन वत्त से सम्बन्धित है। भगवान के जनमोत्सव के समपूर्ण भाव अभिषेक पर्यन्त वड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। उत्तरकालीन सोलहवीं-सतरहवीं शती के चित्र भी ऋषभदेव, महावीर, नैमिनाश व उनके भ्राता श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बन्धित सदीर्घ चित्रमालाओं का सविस्तार अंकन है। इनके साथ तमिल भाषा में लिखे शीर्षक-चित्र परिचय रहने से इस स्वस्थ परिपाटी का महत्त्व अत्यधिक हो गया है। चिदम्बरम् , तिरुवस्त्र र आदि स्थानों में भी तमिल, तेलुगु भाषा में प्राप्त शीर्पक युक्त चित्र अपने आप में एक गौरवपूर्ण अस्तित्व रखते हैं।

तिरुप्पतिक्कुण्रम् के महावीर जिनालय में अंकित चित्र के जपरिकक्ष में भगवान ऋषभदेव के समक्ष लोकान्तिक देव के दीक्षा समय सूचनार्थ निवेदन और निम्न कक्ष में भगवान के दीक्षार्थ अमिनिष्क्रमण का माव चित्रित है। एक दूसरा चित्र मगवान ऋषमदेव के वैराग्य और कच्छ-महाकच्छ के आख्यान युक्त चित्रित है। निम्नकक्ष में निम्नविनिम के चारित्र व ऋषभदेव स्वानी के चरणों में अवस्थित युक्त है। तीसरे चित्र का जपरिकक्ष निम्नविनिम के अभिषेक समारोह और निम्नकक्ष में ऋषभदेव प्रमु की चर्या से सम्बन्धित चित्राङ्कित है। महावीर स्वामी के मन्दिर में ऋषभदेव चरित्र के अतिरिक्त एक चित्र में कृष्णलीला के विविध दश्यों से मुखरित जमय कक्ष है। इन चित्रों में अनेक सामाजिक चित्र, रीतिरिवाज स्वागत परक मांगलिक उपादान, नृत्य वाजित्रोपकरण युक्त अनेक प्रकार के चित्राङन हैं।

इस प्रकार दक्षिणात्य कला का धारा प्रवाह शताव्दियों तक चला आया है जिसमें जैनधर्म जेनकला का उल्लेखनीय योगदान रहा है। कलकत्ता के स्व॰ श्री पूरणचंदजी नाहर के संग्रह में एक ७×२१ फुट का विशाल चित्रपट है जिसमें श्रवण वेलगोला स्थित गोम्मटेश्वर वाहुवलीजी के सम्पूर्ण चित्र चित्रित हैं। एक १०१ ४१। साइज के समवसरण काले रंग से चित्रित मध्य स्थित गंधकुटी में हैं। वस्त्रपटों पर चित्रित और भी चित्रपट दक्षिण भारत के हम्पी आदि स्थानों में देखने में आये हैं।

उत्तर भारत की वित्रकला-

दक्षिणापथ की चित्रकला का विहंगावलोकन करने के पश्चात् आइये, हम उत्तर भारत की जैन कलाशेली में चित्रित उपादानों की ओर भी दृष्टिपात करें। वस्तुतः कला पक्ष में जेनों का भारत को कितना अवदान है इस का लेखा-जोखा कर पाना अति कठिन है। उत्तर भारत की चित्रकला में गुजरात और राजस्थान की जो अनुपम-देन है वह केवल भारत में ही नहीं विश्व के कोने कोने में विश्रत और प्रशंसा प्राप्त है । इसकी अनेक विधाएँ हैं । भित्तिचित्र, काष्ठ ताडुपत्रादि, वस्त्रपट एवं कागज व कुटेपर अत्रस्थ कलाकारों की सुकुमार पींछी शताब्दियों से चलती आई है। और वह अन्य देश-प्रान्तीय धाराओं में भिश्रित हो कर नवीन कलाशैली के रूप में उद्रमृत हो गई है। यही कारण है कि गुजरात की शैली में भी प्रदेशगत विभिन्नताएं एवं राजस्थानी चित्रशैली में भी बीकानेर, जयपुर, किशनगढ, जैसलमेर, नागौर, कोटा, ्दी, उदयपुर, नाथद्वारा, जोधपुर आदि की शैली भिन्न-भिन्न परिलक्षित होने लगी। विदेश से आये हये कलाकारों में ईरान, पर्शिया आदि की कला व पंजाब, काँगडा आदि की कला। शैली के विभिन्न उन्मेष आकर भिले । मुगलकला, बुंदेलकला व अपभ्र शकालीनकला सभी धाराएँ इस प्रकार मिलने के साथ-साथ लोककला के सम्मिश्रण से मधेरण जैन चित्रकला शैली भी निकल

पड़ी । पूर्वी भारत में बंगाल की कला का प्राचीन चित्र-कला में तो नहीं पर आधुनिक जैन चित्रकला में उसका विकास और आदान-प्रदान विशाल रूप में हो गया। जोनपुर के कल्पसूत्रादि के चित्र भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इन सभी शेलियों के चित्र विभिन्न रूपों में संप्राप्त हैं।

दक्षिण भारत में पर्वत गुफाओं का आधिक्य होने से वहाँ के मितिचित्र चिरकाल तक टिके रहे पर उत्तर भारत में ईट-चुने की दीवालों पर नवनिर्माण नई शेली (केंशन) के मोह में एवं कलागत अनभिज्ञतावश बहुत से भित्ति-चित्र तिरोहिल हो गये । उनका स्थान आधुनिक प्राकृतिक दृश्यों व जापानी टालियों व अंग्रेजी फेशन ने ले लिया। अतः भित्ति चित्रों में प्राचीन शेली के उदाहरण क्वचित् ही मिलते हैं । फिर भी गुजरात-राजस्थान के मन्दिरों में कहीं-कहीं बच पाये हों तो सीमाग्य की बात है। नागौर के दिगम्बर जेनमन्दिर में एक दिशाल तीर्थयात्रा का मित्ति चित्र देखा गया जो दो शती पूर्व का अवश्य है। गिर-नारजी पर हेमचन्द्राचार्य जी का प्राचीन चित्र देखा स्मरण में आता है। कली पर बने हुए भित्तिचित्रों की प्रथा में कमी आ जाने पर भी कहीं-कहीं देखी जाती है। आधनिक भित्ति चित्र कला तेल चित्रों से बड़ी ही विकसित और समृद्ध रूप में सर्वत्र संप्राप्त है। इसमें इतनी अधिक विविधता है कि दर्शक उसका अनुमान करते ही चकित हो। जाता है। श्रीपाल चरित्र, तीर्थंकर चरित्र, सहापुरुषों के चरित्र, दादागुरुओं के विभिन्न चित्रित भाव, तीथों के चित्र. सतियों के चित्र आदि एक प्रकार के बीसों चित्रों के सेट चित्रित हैं। गत शताब्दी में यह चित्रकला पर्याप्त उन्नत हुई है। बीकानेर के भाण्डासरजी के महावीर स्वामी के मन्दिर में उस्ता मुरादबल्श के हाथ से बने हुये भित्ति चित्र हैं। इसके पुत्र हसामदीन में भी अपने कुशल चित्रकार पिता की विरासत परिलक्षित है । मन्दिरों व दादाबाड़ी में पर्याप्त चित्र पाये जाते हैं । चम्पापूरी

तीर्थं में श्रीपाल चरित्र उल्लेखनीय हैं। दिल्ली नीघरा के मन्दिर में स्नात्रपूजादि के प्राचीन चित्र हैं। आधुनिक चित्र भी ऊपर पर्याप्त सुन्दर बने हैं। रंगीन कांच के टुकड़ों के चित्र भी आजकल अच्छे बनते हैं। नाकोड़ा तीर्थं में शान्तिनाथ चरित्र के एवं फजौदी पार्श्वनाथ जी में पार्श्वनाथ भगवान के मवों की पूरी जीवनी चित्रित है।

वस्त्रपट चित्रकला---

भित्ति चित्रों के परचात् वस्त्रपटों की चित्रकला का कुछ परिचय कर या जाना आवश्यक है। वस्त्रपट बने चित्रों के अनेक प्रकार हैं। इनमें नन्दीश्वर द्वीप, लोकन:लपट, ढाई द्वीप के पट, जम्बुद्वीपपट, अष्टद्वीपपट, चौदह राजलोक पट. पंचतीर्धीपट. शत्रुंजयपट, गिरनारपट. सुरि मंत्रपट, विजय यंत्र पट, वर्द्धमान विद्यापट, सिद्धचक्र नवपद यंत्र पट, चिन्तामणि पाइवनाथ पट, कलिकुण्ड मंत्र पट, विंशति स्थानक पट, ऋषिमण्डल पट, नामिज्रण मंत्र पट, अट्टे-मट्टे मंत्र पट, नेमिनाथ बरात पट, समदशरण पट, ही कार पट, चौवीस तीर्थंकर पट, ज्ञानदाजी क्षेत्र-समास, कर्मप्रकृति, तीर्थयात्र। पट, विज्ञप्ति पत्र, जन्म पत्रिका टिप्पणक, सचित्र पंचाङ्ग टिप्पणक, अनानुपूर्वी, जिनालय पट, चतुर्दश महास्वपन, अध्ट मांगलीक आदि संख्याबद्ध चित्रपट गत छः-सात सौ वर्षों में बने हुए प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं। कतिपय जैन ग्रंथ भी दस्त्र पट पर लिखे हुए संप्राप्त हैं. इनमें पत्राकार और टिप्पणकाकार (Scroll) भी हैं। यतः-कच्छली-रास. धर्मविधिप्रकरण, कर्मप्रकृति, बारहवतरास, ओसवाल-वंश के गोत्रों की वंशावलियाँ, आगम आलापक आदि में कुछ हमारे संग्रह में भी चार-पाँचसी वर्ष प्राचीन संप्राप्त हैं। कलकता के सुप्रसिद्ध शीतलनाथ जिनालय में स्तोत्रादि वस्त्र पट पर लिखे हुए दीवालों में कांच के अन्दर जड़े हुए हैं। तंत्रयुग में अनेक यतिजन हनुमानपताका, पंचांगुली, रावणपताका. घण्टाकर्ण.

त्रिपुरा यंत्रादि अनेक प्रकार के यंत्रमय चित्रपटादि बनाकर अपनी पूजा में रखते थे। ब्रह्म देश की सीमा पर स्थित मणिपुर में वस्त्रपट पर चित्रित काम बहुत सस्ते में होता था। कई बन्धुओं ने वहां के चित्रत्रटों पर जंन चित्र अंकित करवाये हैं। गुरुजनों के पृश्ठमाग में लगाए जानेवाले पृठिये व चंदोवों पर भी जरी, कलाबन, तारा-सलमा व कारचोबी के कामवाले जिनमें मोती व जवाहिरात प्रचुरता से लगे हैं ऐसे पट तीर्थं कर. गणधर, समवसरण, सिद्धचक्र और इन्द्रादिदेव व श्रीपाल मेनासुन्दरी के माव वाले आज भी प्रचुर परिमाण में बनवाये जाते उपलब्ध हैं।

अब कतिपय महत्त्वपूर्ण चित्रपटी का परिचय दिया जा रहा है—

(१) श्रीचिन्तामणि पार्श्वनाथ पट यह पट वर्त्तमान में प्राप्त सभी वस्त्रपट चित्रों में प्राचीन है। यह १९×१८ इंच परिमित है। खादी के वस्त्र पर घोटाई करने के अनन्तर रंगीन व रेखा चित्रों के अनुठे सम्मि-श्रण से इस चित्रपट का निर्माण हुआ है। इसके मध्यवर्त्ती वलय में श्रोपाञ्चनाथ भगवान की दवेत परिकर के मध्य हरितवर्णी प्रतिमा चित्रित है। भगवान सप्तफग-मण्डित हैं। इस वलयं की परिधि का मीतरी भाग लगभग छः इंच का है। भगवान पार्श्वनाथ स्वामी के स्वर्ण व मुक्तातंकार परिधापित मुकुट, कर्णफूल, भुजडंद, श्रीफल, कण्ठहार व मोतियों की लड़ें व हार आदि सुशोभित हैं। भगवान के नेत्र वर्ड आकर्षक व सुन्दर हैं । भालस्थल पर तिलक के स्थान पर हीरों से जड़ी हुई गोल टीकी है जिसके चतुर्दिक, लालरंग का घेरा माणिकजटित प्रतीत होता है। पद्भासनस्थ प्रभागोपेत प्रतिमा के निम्नभाग में आसन पर सर्प का लांछन अलंकृत चित्र है। परिकर इवेत संगमरमर का है। जिसका तौरण माग प्रायः नष्ट• सा हो रहा है। ऊपरि भाग में दो ैंठी हुई व नीचे उभय पक्ष में खड़ी हुई परिचारक इंद्र की मुक्टबद्ध एक-

एक चश्म प्रतिमाएँ हैं।

भगवान पार्श्वनाथ के चतुर्दिग् पाँच वलय हैं जिनकी रवेत पृष्टभूमि पर एक-एक कोष्ठक एक-एक नाम स्वर्गाक्षरों से लिखित हैं । मध्यवलय में भगवान के उभयपक्ष में धरणेन्द्र पद्मावती खड़े हुए हैं । दाहिनी ओर धरणेन्द्र के मस्तक पर स्याम सर्प एवं ठेठ पूरे पाँव तक लंग्बी धोती पहनी हुई है जिसके बूटे व किनारी नीले रंग की है । उत्तरीय वस्त्र के बूटे व किनारी लाल रंग की है । उत्तरीय वस्त्र के बूटे व किनारी लाल रंग की है । उत्तरीय का उर बाहर तक निकला हुआ है । प्रमु के वाएँ पार्श्व में पद्मावती देवी का जो चित्र है उसका मुखमण्डल का रंग उड़ गया है किन्तु देवी रक्तवर्ण है । वस्त्रों की अनंकृति सुन्दर वेजबूटों से युक्त है । वेवी पद्मावती विविध प्रकार के आभरणों से सुसज्जित है ।

इस चित्र पट के सुरक्षित न रहने से प्रथम वलय के सभी नाम उड़ गए हैं. इसमें आठ कोव्ठक हैं। दितीय वलय भी आठ कोव्ठकमय हैं। "ॐ उवज्झायाणं हीं" नमः" तथा "ॐ सर्वसाह्णं हीं नमः" दिखाई देते हैं। तीसरे वलय में काली. महाकाली. अच्छुप्ता आदि पोड़श विद्यादेवियों के नाम लिखे हैं। चतुर्थं वलय में चौबीस तीर्थंकरों की माताओं के नाम, पंचम वलय में चारों दिशाओं—ऊपरि भाग में अग्नि, दाहिनी ओर ईशान, वामपार्श्व में नेऋत और निम्न माग में वायु लिखा है। अवशिष्ट वलयों में विजया, जयन्ती, वरुण, जंमा, कुबेर, वीरा आदि के नाम लिखे हैं। ऊपरि माग के हीं कार से साढ़े तीन ऑटे लगाये हुए हैं. ये सभी लाल रंग के हैं।

इस चित्रपट के अविशिष्ट भाग की पृष्ठभूमि लाल रंग को हैं जिसमें हीँ कार के उभय पक्ष में मयूर और मयूरी चित्रित हैं। मयूर का चित्र सुन्दर है और उसकी चोंच में माला धारण की हुई है, मयूरी का चित्र लुप्त-प्रायः है।

चित्रपट के दाहिने कोने में ४×५ इंच परिमित पार्श्व यक्ष का सुन्दर चित्र है जिस पर काली स्याही से

'श्री पार्श्व यक्षः' लिखा हुआ है। पार्श्व यक्ष का सारा वर्ण हरित रंग का है। यक्षरांज के हाथों में नकुल, पारा, वीजोरा आदि परिलक्षित हैं। ऊपरी माग के उभय पक्ष में गोल हरित पृष्ठ भूमि में गुलावी कमल बने हुए हैं। इनके आगे और मयूर के पृष्ठ भाग में तथा सामने मयूरी के पृष्ठ भाग में दो व्यक्ति चित्रित हैं जिनके मस्तक पर स्याम केंद्र और तन्त्रह्य गुलाबी रंग की खूंव लगी है। एक की धोती लाल रंग की व उत्तरीय मील रंग का है। दूसरे की धोती काले रंग की व उत्तरीय लाल रंग का है। दोनों व्यक्ति व्योम स्थित होने से उनके उत्तरीय हवा में लहरा रहे हैं।

चित्रपट के ऊपरि भाग में वाम पार्श्व के चित्र में "श्री वैरुट्या देवता" लिखा है। देवी का वर्ण नील है, चारों हाथों में माला आदि धारण किये हैं। देवी का मुख-मण्डल एक चरम हैं, नेत्र दोनों दिखाए हैं। देवी का अविशिष्ट चित्र पूरा है और मुख ही कार की और है। देवी का आकर्षक मुख-मण्डल का तीखा नाक और चित्रुक भी सुन्दर है। यह चित्र अपम्रंश शैली के कल्य-सूत्रादि सुप्रसिद्ध जैन कला शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। देवी के वस्त्र गुलाबी और साड़ी का रंग गुलाबी और कुछ माग पीत वर्ण का है। ऊपरि माग में गुलाबी रंग की छींट का चंदोवा और उमय पक्ष में मोतियों की माला के फूंदेयुक्त लटकल है। देवी के पृष्ठ माग में प्रमा-मण्डल के घरे की गोल रेखाएँ हैं।

वलय के उभय पक्ष में दो व्यक्ति चामरधारी काली दादी वाले अवस्थित हैं। ये एक हाथ ऊँचा किये चामर की डांडी पकड़े हुए हैं। चामर का रंग उड़ गया है। इन पुरुषों में एक के नील रंग की वूटेदार धोतो व लाल रंग का बूटेदार उत्तरीय है। दूसरे के लाल बूटे की धोती व नील रंग का उत्तरीय धारण किया हुआ है। इनके गले में हार, हाथों में वलय व पैरों में भी नुपूर पहने हुए हैं। वाम पाइवस्थित पुरुष के नीचे वलय का लालघेरा समाप्त

होकर 'कों' बीजाक्षर आलेखन में परिणत हो गया हैं।

पट के निम्न साग में सामने दाहिनी ओर मद्रासन पर आचार्य प्रवर श्री तरूगप्रमसूरिजी महाराज विराजमान हैं। गौरवर्ण वाले आचार्य देव अपने हाथ में मुख के सामने मुखवस्त्रिका किये हुए वैठे हैं। इनका दाहिना गोड़ा सिंहासन पर व वाँया पांव नीचे किया हुआ है। सूरिजी के वगठ में रजोहरण पड़ा है और शरीर पर पत्तली-सी चादर ओढ़ी हुई है। चोलपटा नीचे पाँवों तक दिखाया गया है।

सिंहासन पर अप्टापद-सिंह व हाथी आदि के चित्र तीन लाल चक्रों में काली रेखा से चित्रित है। आचार्य श्री के मस्तक पर काले केश हैं एवं दाढ़ी-मूंछ का केश लूंचन किया हुआ है। सूरिजी के सम्मुख माग में काले रंग के डण्डे वाली ठवणी पर ताड़पत्रीय ग्रन्थ व स्थापनाचार्यजी स्थापित हैं जिन पर फूल-पत्तीदार वस्त्र झिलमिल ढंका हुआ है और उभय पक्षा में नीचे फूंदे लटक रहे हैं। ताड़पत्रीय ग्रन्थ के जरीदार बीटांगणे (वेष्टन) का स्वणिम रंग बहुत कुछ उत्तर गय। है। सिंहासन के दोनों पायों का रंग उड़ गया है पर सामने पीले रंग की चित्रित फूलदार पट्टी है। आचार्य श्री के समक्ष छोटे वाजोट पर नीचे शिष्य अवस्थित है जिसके दोनों हाथों में विज्ञप्तिपत्र का लंबा टिप्पणक खोल कर पढ़ते हुए दिखाया मालून देता है।

चित्र पट के वाम पार्श्व में सामने सिंहासन पर कोई वाचनाचार्य या उपाध्याय विराजित हैं जिनके दोनों पाँव सिंहासन के नीचे हैं। जोड़े हुए दोनों हाथों के बीच मुखवस्त्रिका एवं वगल में रजीहरण धारण किया हुआ है और वे चेत्र्यवन्दन करते हुये प्रतीत होते हैं। इनके आगे नीचे बाजोट पर एक शिष्य वैटा हुआ है जो इसी प्रकार हाथ जोड़े हुए चेत्यवन्दन मुद्रा में है। मध्यवर्ती रिक्त स्थान को कमल के चित्रों दारा सुशोमित बनाया गया है।

यह चित्र पट हमारे शंकरदान नाहटा कला भवन में हैं और चौदहवीं शती के शेप की उत्कृष्ट चित्रकला का नमूना है। इसका सनय विक्रम संवत् १४०० के आस-पास का है।

(२) ढाई द्वीप का पट--- यह पट २२ × २२ इंच माप का है और से लहवीं काती की अपभ्रंश कला का सुन्दर उदाहरण होते हुए भी मध्य स्थित जम्बू द्वीप का भाग नष्ट हो कर लुप्त हो गया है। इसमें नगर, खण्ड, पर्वतादि के नाम भी लिखे हुये थे। धातकी खण्ड व पुष्कर द्वीप में एक-एक जिनेश्वर व उनके उभय पक्ष में कोणाकृति के मध्य नर-नारी युगल स्वतन्त्र कक्ष में वनाए हैं। समुद्र व नदियों का जल गहरे आसमानी रंग का है व काली लहरें व मत्स्यादि जंतु दिखाए हैं। पट के चारों कोनों में चार शाश्वत जिनालय भी कलापूर्ण शिखरवद्ध बताए है।

(३) सिद्धचक्रपट- यह चित्रपट एक फुट लंवा व नो इच चौड़ा है । इसके बीच में लाल रंग की रेखाओं से हीँकार का वलय वनाकर ऊपरिभाग में हीँकार से प्रारम्भ होकर साद्धे तीन आँटा लगने के बाद 'क्रों' मंत्राक्षर से शेष किया गया है। इस चक्र के मध्यवर्ती केन्द्रीय अरिहंत भगवान के चित्र से परिचय कराने का प्रयत्न किया जाता है-मध्य से प्रथम वलय के अन्दर बना हुआ चतुष्कोण ही कार भी साढ़े तीन घेरों में 'क्रों' वीजाक्षर से शेष होता है । इसकी मध्यवर्ती पृष्ठभूमि चतुष्कोण है जिसमें सिंहासन पर अरिहंत भगवान विराज-मान है । प्रभु प्रतिमा मुकुट, हार, भुजवंद, श्रीफल और मुक्ताहार आदि आभरणों से सुशोमित है । भगवान के स्कन्धौं तक पृष्ठभूमि में सिंहासन का रंग नीला है तदपरि भाग में हरी नाल वाले लाल रंग के बंद कमल इस रहे हैं। प्रभु के नेत्र अणियाले और मौहें लहर-दार धनुषाकृति को है । नीचे का आसन पटकोण या अष्टकोणाकृति वाला है।

वलय और चतुष्कोण ही कार के मध्य रिक्त स्थान में नीचे से प्रारंभ हो कर अक्रम से उभय पक्ष में ॐ हो अ सिआउसा इउउ ऋ ऋ ळू ळू एऐओ औं अं अः स्वाहा ॥ लिखा हुआ है । द्वितीय वलय में कमल की आठ पंखुड़ियाँ हैं जिन पर अर्हन्त भगवान के सामने अर्थात् नीचे उँ हीँ सिद्धेभ्यः स्वाहा ॥२॥ दाहिनी ओर ॐ ही ँ आचार्येभ्यो स्वाहा ॥३॥ ऊपरिभाग में अर्थात् पृष्ठभाग की पंखुड़ी पर ॐ हीँ उपाध्यायेभ्यः स्वाहा ॥४॥ वाम पार्ख की पंखुड़ी पर ॐ हीँ सर्व साधुभ्यः स्वाहा ॥५॥ फिर ॐ हीँ सम्यक् दर्शनाय स्वाहा ।।६।। तत्पश्चात् सिद्धं भगव न के बाद ॐ हीँ सम्यक् ज्ञानाय स्वाहा ॥७॥ फिर ॐ हीँ सम्यक् चारित्राय स्वाहा ॥५॥ लिख कर अंतिम पंखुड़ी पर ॐ हीँ सम्यक् तपसे स्वाहा ॥९॥ लिखा है । यहाँ तक नवपदीं की स्थापना पूर्ण कर तृतीय वलय में षोडश दल की पंखिडियाँ बनाई हैं। पंखिडियों के मध्यवर्ती रिक्तस्थान को काले रंग के बीच रिक्त पत्तियाँ छोड़कर अलंकरण किया गया है।

तृतिय वलय की पंखुड़ियों पर लालरंग से एक-एक पंखुड़ी छोड़ कर आठों पंखुड़ियों में ॐ णमो अरिहंताणं लिखा है। अवशिष्ट आठ पंक्तियों में ॐ हों ॐ अहं अ आ इ ई उ ज ऋ ऋ ल ल ल ए ऐ ओ ओ अं अः ।।१।। फिर ॐ हों अहं क ख ग घ ड हों स्वाहा ॥२॥ फिर ॐ हों अहं च छ ज झ अ स्वाहा ॥३॥ फिर ॐ हों अहं व छ ज झ अ स्वाहा ॥३॥ फिर ॐ हों अहं त थ द ध न हों स्वाहा । तत्पथात् ॐ हों प फ व म म हों स्वाहा । फिर ॐ हों अहं य र ल व हों स्वाहा ॥ फिर ॐ हों अहं व च स ह हों स्वाहा । फिर ॐ हों उहं त थ द ध न हों उहं य स ह हों स्वाहा लिख कर पोडश दल की पूर्ति की गई हैं। चतुर्थ वलय में चार दिशा और चार विदिशाओं में केवल ॐ हों लिख कर रिक्त रखा हुआ।

इस होँकार वलय के चतुर्दिक् लाल रंग की पृष्ठ-

भूमि है जिसपर चारों कोनों में चार बड़े-बड़े चित्र बने हुए हैं। दाहिनी ओर ऊपरि माग में नीले रंग के आसन पर धरणेन्द्र विराजमान हैं जिसके बाँए गोड़े के नीचे गजवाहन और चारों हाथों में अंकुश, बीजोरा, कमलनाल और मुद्रा युक्त न्यास मालूम देता है। धरणेन्द्र के मस्तक पर सप्तफण मण्डित स्वर्ण मुकुट युक्त है। कुण्डल, हार व हाथों-पैरों में भी आभरण हैं । धोती लाल बूटीदार व उत्तरीय के काली बूटी व पत्र-युक्त हाथों में लहरा रहा है। बाँयीं ओर जपर में देवी का चित्र बना हुआ है जिसकी चार मुजाएं हैं। दो हाथों में कमलनाल जैसी वस्तु है। देवी के स्वर्ण मुकुट व हार आदि सुशोभित हैं। देवी का घाघरा नीली चौकड़ी के मध्य ब्टीदार व ओढणा लाल रंग की ब्टीवाला है। नीचे बिछे हुए आसन पर देवी विराज-मान है और बाँयें गोड़े के नीचे नीले बुटे की छींट मण्डित प्रतोल्याकार-सा वस्त्रखण्ड वन गया है। पैरों में भी देवी ने आभूषण पहने हुए हैं और उनके सामने गोल चन्द्राकार जैसा कुछ है और नीचे एक उड़ता हुआ पुरुपाकार गरुड जैसा दिखाया है जो उसका वाहन है।

वलयाकार हीँ के नीचे के दोनों कोनों में दो देव वने हुए हैं जिसके समक्ष वाहन रूप में श्वान अवस्थित हैं। दोनों के सिर पर एक जैसा छत्र है एवं एक वस्त्र परिधापित है। दोनों मृगचर्म पहने हैं और लाल छापे का ब्ट्रेटार उत्तरीय लहरा रहा है। दोनों देव चार मुजावाले हैं, हाथों में डमरू, खप्पर, ढाल जैसी वस्तु धारण की हुई है। संभव है कि ये दोनों मैरव क्षेत्रपाल हों। वाम पार्श्व स्थित मैरव के सम्मुख एक वेदी जैसा मदासन बना हुआ है।

इस पट के सभी चित्र बड़े सुन्दर और अपग्रंश चित्र शैली के उत्कृष्ट नमूने हैं। इसमें देव देवियों के नाम लिखे हुये न होने से अनुमान से ही लिखा है। इसकी पृष्ठ भूमि लाल है और अपग्रंश मध्य काल की पन्द्रहवीं शती की शैली विदित होती है। अक्षरों में पड़ी मात्रा प्रयुक्त हुई है। इसे जिनभद्रसूरि युग की शैली का मानने के अनेक कारण हैं। यह चित्रपट हमारे क्लाभवन में स्थित है।

(8) ही कार पट--यह पट ३८॥×३८॥ इ'च सम-चौरस मिल के वस्त्र पर बना हुआ सौ वर्ष प्राचीन है और चारों ओर उलटा कर मशीन से सिलाई किया हुआ है। इसके मध्य में ह्याँकार माया बीज में चौवीस तीर्थंकरों के चित्र बने थे जो नष्ट प्रायः हो गए। सभी जिनविम्बों के नीचे नाम लिखे हुए हैं। सामने दोनों द:दा श्री जिनदत्तसूरिजी व श्री जिनकुशलसुरिजी विराजमान हैं। दूसरी और भी श्री जिनदत्तसूरिजी थे, चित्रं नष्टप्रायः है । हीँ कार वलय के बाहर सात वलय और हैं जी स्वर्णमय हैं और सभी कोष्ठ को लिखे हुये नाम नष्ट हो गए हैं। ऊपरि भाग में दाहिनी ओर खडे धरणेन्द्र और वाम पार्श्व में देवी पद्मावती सिंहासन पर विराजित हैं जिसके समक्ष वाहन कुकर्कूट अवस्थित है। निम्न भाग में गोरा भैरव और काला भैरव के खड़े सुन-हरे चित्र हैं पर दोनों के पास स्वान वाहन काले रंग की रेखा चित्र हैं । हींकार वलय के चतुर्दिग वर्त्तलाकार साढ़े तीन लाल लाइनों का घेरा बना हुआ है। चारों ओर लाज धारी के बीच बेल-बूटे हैं।

(५) कलिकुण्ड महाप्रमावक यंत्र—यह पट मी उपर्युक्त हीँ कार पट जैसा ही समकालीन निम्ति है। मध्य में पड़कीणाकृति के मध्य चतुष्कोण में पार्श्वनाथ मगवान की हरित वर्ण की प्रतिमा है। इसके नीलवर्ण की पृष्ठ मूमि है और स्वर्ण का पूरा उपयोग हुआ है। उमय पक्ष में चामरधारी अवस्थित हैं। धरणेन्द्र पद्मावती आदि के अन्य कोष्ठकों में नाम भी लिखे हुये हैं। इस वलय के बाहर दो और वलय हैं जिनके रंगीन काष्टों में नाम थे। इस पट के चारों ओर यंत्र का नाम आलेखित है। एक कोने में निम्नोक्त लेख है।

जं हीं श्री कलिकुण्ड श्री पाश्वनाथ दुष्ट दुर्जन

वश्यं दैत्य दानव भूल प्रेत मोगा क्षेत्रपाल खवीस पिशःच डाकिणी साकणी संहारी अन्येपि दुष्ट देव देविय वंध मोहय-मोहय सर्व वश्यं कुरु स्वाहा अहरीक्षा मम गच्छ स्वजन संबंधी मम श्रावक श्राविका पश्ग्रिह सुखं कुरु कुरु स्वाहा ॥

श्री पूरणचन्दजी नाहर के संग्रह में भी अनेक प्रकार के चित्रपट हैं। ढाई द्वीप पट, नंदीश्वर द्वीप पट, रामायण के पट, ही कार पट, नेभि बरात, वद्धमान विद्या पट सोलहवीं शती से लेकर उन्नीसवीं शती तक के हैं। तपागच्छ वंशवृक्ष १० फुट लंबा और ४२ इंच चौड़ा है जो सं० १५९० का है और उसमें अहमदाबाद के सेठ शांतिदास के वंशज सेठ वस्तचंद आदि के नाम हैं।

मुनि पुण्यविजयजी के संग्रह में अट्टेन्म्ट्टे यंत्र पट है जिसमें हीँ कार के वीच श्री पाश्वनाथ मगवान विराजित हैं। इसमें अनेक देव-देवियों के सुन्दर चित्र हैं। आराधक मुनिराज भी सामने करवद्ध वैठे हैं। यह पट ई० सन् १४०० के आसपास का होना अनुमानित है। एक और वर्द्धमान विद्या का यंत्रपट है जो श्री जिनमंडन गणि के लिए निमित है। इसके मध्य स्थित हीँ कार में एक चित्र है और सभी घरों में मंत्राक्षर लिखे हैं। यह भी मुनिपुण्यविजयजी के संग्रह में है।

श्री साराभाई मणिलाल नवात्र ने श्री सूरिमंत्र कल्प सन्देश व जैन चित्रावली आदि में कतिपय पट प्रका-शित किए हैं जो महत्वपूर्ण होने से यहाँ परिचय कराना आवश्यक है।

(१) पंचतीर्थी पट—शत्रुंजयः, गिरनारः आबूः सम्मेत शिखरादि का यह पट पन्द्रहवीं शताब्दी का बना हुआ है। इसके मध्य स्थित पार्श्वनाथ भगवान सहस्रकणा जल कमल के मध्य पद्मावती शीर्षस्थ ध्यानावस्था का चित्र है जो तीर्थ अहिष्टता का कमठोपसर्ग मालूम

देता है. यह नील वर्ण का है । इस चित्र पट की पृष्ठभूमि लाल है और भगवान के जलपूर्ण चित्र कक्ष के दोनों ओर तीन-तीन देवियाँ व सामने पार्श्वयक्ष तथा वाम पार्ख में दाढ़ीवाला अरवारोही माला लिये खड़ा है। प्रमु के आगे तक नागराज के शरीर का अधोभाग फेला हुआ है। सामने वेदी के बाँयें तरफ एक श्रमण और दाहिनी ओर एक भक्त बैठा है। निम्न भाग में ९ ग्रह. नागराज और देवी की प्रतिमा है। प्रमु के उत्पर तीन छत्र हैं जो एक उत्पर और दो वरावर हैं। दोनों ओर टोडों पर दादी वाले व्यक्ति कमलनाल लिए अवस्थित हैं। प्रमु के दोनों ओर वाह्यभाग में दो-दो कक्ष हैं जिनमें प्रथम कक्ष में दाहिनी ओर गजारूढ़ अंकुश, पाश लिए फगमण्डित धरणेन्द्र व वाम पार्श्व में पद्मावती देवी की रक्तवर्णा खड़ी प्रतिमा है। दोनों ओर फिर दो चामर-धारिणी अवस्थित है। अहिछत्ता वीर्थ के चारों कोणों में शत्रंजय, गिरनार, आवु और सम्मेतशिखर महातीर्थं हैं। पहाडों पर चढ़ते हुए यात्री परिलक्षित हैं । सम्मेत-शिखरजी के जलमन्दिर में साधु और श्राविकाएं खड़े हैं। ञात्रख्वय तीर्थ पर दोनों शिखरों के प्रतीक दो मन्दिर और पांच पाण्डव प्रतिमाएं दिखाई हैं। गिरनारजी की पहली टंक और आबु तीर्थ के तीन मन्दिर दिखाए हैं अतः खरतरवसही का निर्माण चित्रपट वनने से पूर्व हो गया था । अपमंश चित्र शेली का यह सुन्दर चित्रपट सारा-भाई के संग्रह में है।

(२) सूरिमंत्रपट—यह चित्र लाख रंग की पृष्ठ मूमि में वना हुआ मुगलकालीन हैं। मध्य में पट्कोण के बोच हीँ कार में जिन प्रतिमा है। बाहर के चार वलयों में नामयुक्त कोष्टक हैं। बाद के वलय में आठ जिन प्रतिमाएं और तदुभय पक्ष में देवी-देवता हैं। उसके बाद के वलय में चौदीस तीर्थंकर अपने-अपने वर्ण में चित्रित हैं। वलय से बाहर चारों कोनों में देवियाँ हैं, दाहिनी ओर उपर चतुर्मुजी, नीचे महालक्ष्मी और वाम पार्ख

में ऊपर सिंहवाहिनी नीचे के कोण में गजवाहिनी हैं. दोनों ही पोडशभुजी हैं। ऊपर से नीचे तक उभय पक्ष में सूरिमंत्र गत देव-देवियाँ और उनके प्रतीक वने हुए हैं। ऊपरि माग में तोरण के उभयपक्ष में चार हाथ वाले गजारूढ़ देव और निम्नमाग में एक और गुरु पादुका, मध्य में आठ कलश व दूसरी ओर आराधक विराजित हैं। यह पट सारामाई के संग्रह में है।

- (३) वर्द्धमान विद्या पट—यह खरतरगच्छ आम्नाय का १६ वीं शतों के प्रारंभ का चित्र पट है। इसके मध्य में मगवान महावीर विराजित हैं, उनके परिकर में दोनों ओर उपिरमाग में कलशधारी और मातंग यक्ष, ब्रह्मशांति यक्ष एवं सिद्धायिका व एक और देवो है। नीचे के दोनों ओर कक्ष में किन्निरयां नृत्य-वाजित्ररत हैं एवं तिनम्न भाग में नौ ग्रहों के चित्र हैं जिनके उपर वर्द्धमान विद्या लिखी हुई है। प्रशस्ति में लिखा है कि वर्द्धमान विद्या देवता जयसागरोपाध्याय शि० रत्नचन्द्र शि० मिक्ताभोग्याध्यायस्य सपरिवारस्य शांति-तृष्टि करें। यह पट पं० अमृतलाल मोजक के संग्रह में है।
- (४) सूरिमंत्र गिमत वृहद् सिद्धचक पट—यह मुगल कालीन चित्रपट है जिसके मध्यवर्ती नवपदमंत्र के सात वलयों में सूरिमंत्र के अधिष्ठायक चित्र. यंत्र व नविधि आदि चित्रित हैं। चारों द्वार-वातायनों के उभयपक्ष में चामरधारी खड़े हैं एवं चारों कोणों में हाथी, वृश्म, अश्व, मृग पर बैठे मातंग, ब्रह्मशांति आदि देव हैं जिनके हाथों में भिन्न-भिन्न आयुध हैं और आगे-पीछे परिचारक हैं जिनके हाथों में मोरछल, चामर, माला, नेजा आदि वस्तुएँ हैं। सब की वेश मूषा पर मुगल प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। यह पट साराभाई के संग्रह में है।
- (५) सूरिमंत्रपट—यह राजपूत कलम का अलंकरण विहीन चित्र पट है। इसमें षट्कोण के मध्य गौतम स्वामी हैं जिनके उभय पक्ष में हाथी और चामरधारी हैं। चारों कोणों में सरस्वती, लक्ष्मी, मातंग यक्षादि चित्रित हैं।

निन्न माग में वाजोट पर साधु और सामने श्रावक वैठा है। उनके ऊपर 'श्रीमुनिसुन्दरसूरिगुरुम्यो नमः' लिखा है।

- (६) सूरिमंत्र गर्मित संतिकर स्तोत्र यंत्र पट—यह पट सिद्धचक्र की माँति वृत्ताकार बना हुआ है । मध्यस्थित पट्कोण पर अहँत भगवान और फपर नीचे चतुर्दिग् लक्ष्मी आदि देव-देवी व मंत्र लिखित है । मध्य के क्लय में संतिकर स्तोत्र व बाहरी वलय के कक्ष में मंत्रादि लिखे हुए हैं । सूरिमंत्र के पांच पीठों के देव, श्रुतदेवता, त्रिमुवनस्वामिनी, लक्ष्मी, गणपिटक, यक्षराज, नदग्रह आदि चित्रित हैं ।
- (७) ऋषिमण्डल वृहद् यंत्र—यह चित्रपट लाल पृष्ठ-भूमि पर वना हुआ वड़ा सुन्दर है। इसके मध्य के वलय में हीँ कार है जिसमें चौबीस तीर्थंकर बने हैं। बाद में (१) बीजाक्षर ३५ का वलय (२) मानुकाक्षर (३) आठ मंत्राक्षरों का है फिर अप्टदल बमन का वलय है जिसमें ९ ग्रह हैं। चारो कोणों में दश दिग्पाल, धरणेन्द्र, पद्माक्ती, सरस्वती, लक्ष्मी, अम्बिका, क्षेत्रपाल व गौतम स्वामी के चित्र हैं। निम्न माग में नव निधि कलश हैं। वामपाश्व में आराधक मुनि विराजित हैं। सोलहवीं शती का यह सुन्दर चित्रालंकरण युक्त व रंग की चटक भी अच्छी है।
- (फ) मंत्राधिराज चिन्तामणि यंत्र—यह चित्र भी उपयुंक्त चित्र की भाँति पन्द्रहवीं इती का सुन्दर चित्र
 है। इसकी लाल पृष्ठभूमि है, मध्य में श्री पार्श्वनाथ
 भगवान है और धरणेन्द्र पद्मावती भी खड़े हैं। दो वल्रयों
 में अष्टदल हैं। बाहरी भाग में नव ग्रह, नव निधान, दस
 दिग्पाल, सरस्वती, लक्ष्मी, त्रिभुवनस्वामिनी, क्षेत्रपाल,
 ब्रह्मा, इन्द्र आदि हैं। चित्रों के पास सूक्ष्माक्षरों में नाम
 लिखे हैं। 'हीं' के घेरे को 'क्रों' में लाकर शेष किया
 गया है।
- (९) शत्रुंजय तीर्थयात्रा पट—पाटण के संदवी पाड़ा के मण्डार में सं० १४९० में आये हुए यात्री संघ के चित्रों

वाला वस्त्रपट है जिसमें थोड़ में अधिक भाव व्यक्त किये हैं। नगर के परकोट में दो जिनालय हैं। बाहर में एक ओर गाड़ी पड़ी है जिसके नीचे वैल वैठे विश्राम कर रहे हैं। एक ओर गुरु महाराज वा व्याख्यान हो रहा है। गोल जलाशय के पास यात्री खड़े हैं और खोंचे वाले विक्रेताओं से सामान क्रय कर रहे हैं। पड़ाड़ पर वृक्षादि भी हैं त्रौर यात्रीगण चढ़ रहे हैं।

इसी प्रकार गिरनार यात्रार्थ आए संघ के चित्र में तलहटे. नगर परकोटे में जिनालय, जलाशय, गुरु महाराज का व्याख्यान, गाड़ियां, वहली, देहरासर-रथ, चलते हुए यात्रीगण आदि सुन्दर दिखाए हैं। शत्रुंजय गिरिराज दर्शन में सं० १६९५ के पंचतीर्थी पट के शत्रुं-जय पटांश का फोटो छपा है जो अहमदावाद के सुप्रसिद्ध सेठ शांतिदास दारा निर्माणित है। इसमें तीर्थ के संक्षिप्त माव दिखाये हैं। इसकी प्रशस्ति के अनुसार इसमें गिरनार आह, चंद्रप्रमा, मुनिसुवत, जीरावला, नवखंडा, देवकुलपाटक, हस्तिनापुर, कलिकुण्ड, फरावृद्धि, करहेटक, शंबेश्वर तीर्शादि के चित्र भी होने चाहिए।

तीर्थयात्रापट दो प्रकार के होते हैं। आज भी शत्रुंजय पट पालीवाना आदि में प्रचुर परिमाण में बनते हैं और पापाणमय पट भी प्राचीन काल से वनते आये हैं उनका बड़ा मारी ऐतिहासिक महत्व है। तीर्थों के मानचित्र में नव निर्माण होते रहने से कव क्या परिवर्तन आया है यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। ये पट आकार में बहुत बड़े होते हैं। वीकानेर ज्ञान भण्डार में कित्यय और हमारे संग्रह में भी बहुत बड़ा चित्रपट हैं। जयपुर के खरतरगच्छीय ज्ञानमंडार में अनेक प्रकार के चित्रपट संगृहीत हैं जिनमें एक यात्रा पट जो टिप्पणक (Scroll) आकार में २५ फुट लंबा और २३॥ इंच चौड़ा है। यह विज्ञप्तित्र की भाँति चित्रित हैं। इसमें सं० १६७५ वैशाख सुदि १३ के श्रीजिनराजसूरि जी और जिनसागरसरि के नेतृत्व में संघ यात्रा और रूपाजी

संघवी द्वारा चौमुखीजी की ट्रंक प्रतिष्ठा आदि का चित्र है। आचार्यों और संघपित आदि के चित्र भी अनेक और महत्वपूर्ण हैं। यह चित्रपट जैसलमेर में खरतरगच्छ की वेगड़ शाखा के जिनेश्वरसूरि के समय पं० अमरदत्त द्वारा चित्रित है जो स्वयं यात्रा में साथ थे और लगमग एक वर्ष पश्चात् सं० १६७६ वैशाख सुदि ३ में बनकर तैयार हुआ है। प्रशस्ति में अनेक नगरों के संघ और श्रावकों के नाम भी हैं। भौगोलिक दृष्टि से शत्रुखय तीर्थ की तत्कालीन स्थित की पर्याप्त जानकारी मिलती है।

इसी चित्र शेली और वीकानेरी कलम का लगभग ३० फुट लंबा बद्रीनारायण यात्रा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टिप्पणकचित्र श्रीलालचंदजी वीधरा के संग्रह में देखा था जिसका विवरण प्रकाशित किया जा चुका है।

काष्ठफलक चित्र-

शिल्प और चित्रकला के उपादानों में काष्ठ का स्थान भी बढ़ा महत्त्वपूर्ण है। वाड़ी पार्श्वनाथ का अद्रमुत गवाक्ष विदेशों के संग्रहालयों की शोमा बढ़ाता है । इसी व्रकार शत्रुश्चय के एक जिनालय का परिपूर्ण आकार अमेरिका में विद्यमान है। काष्ठफलकादि पर चित्रित प्राचीन चित्र भी पर्याप्त प्रमाण में उपलब्ध हैं । राजमहलों में सेठ-साहकारों के घरों व मन्दिरों के शहतीर आला, अलमारी आदि के कपाटों पर चित्र करने की प्राचीन प्रथा थी। मन्दिरों में व्यवस्थापकों की असावधानी से एतदिषयक सामग्री नष्ट हो गई । हस्तिलिखित ग्रन्थों को रखने के लिए जो खिब्बे होते उन्हें "डाबड़।" कहा जाता था। उन पर भी विविध भाँति के चित्राङ्कन पाये जाते हैं जिन में अष्टमङ्गल, चतुर्दश महास्वप्रादि के साथ-साथ मगवान की माता एवं फूल-पत्तियाँ और घटनाक्रम के चित्र भी अंकित रहते थे। प्रन्थों को रखने की बड़ी पेटियाँ भी कहीं-कहीं सुन्दर चित्रों से युक्त कल।पूर्ण होती थीं। लाक्षा व रोगन वानिश के लेप से उन्हें चमकदार बनाया जाता था । छोटे-छोटे कलमदान भी चित्र संयुक्त बनाये जाते थे।

काष्ठ-चित्रों में ताङ्पत्रीय ग्रन्थों के काष्ठफलक लगमग बारहवीं शती से उपलब्ध होते हैं । इन्हें विविध माप के ताङ्गत्रीय ग्रन्थों के लिए उसी माप के वनाए जाते थे। इनमें लम्बाई के अनुपात में कई कक्षों में विभाजित कर सन्दर बेलपत्तियों के हाँसियों सहित चित्रित किए जाते थे। आठ-नौ सौ वर्षपूर्व के बने चित्रों में रंग की चमक आज की-सी विद्यमान हैं। इन काष्ठ-पट्टिकाओं में सर्वप्राचीन हमारे संग्रह की श्री जिनदत्तस्रिजी के आचार्यपद से पूर्व की है जिसमें आचार्य गुणसमुद्र सूरिजी के साथ मुनि सोमचनद्र (जिनदत्तसूरि) विराजमान हैं। इसके पश्चात् जिनवल्जभसूरि और श्री जिनदत्तसुरि के चित्रों वाली कई काष्ठपट्टिकाएँ **उ**पलब्ध हैं जिनमें से एक पट्टिका लोहावट के भण्डार में है। त्रिभुवनगिरि के यादव राजा कुमारपाल के साथ दादा श्री जिनदत्तसूरि के प्रवचन-सभा के चित्र वाली काष्ठपट्टिका जैसलमेर के ज्ञानभण्डार में है। वादिदेवसरि और दिगम्बर कुमुदचंद्र के शास्त्रार्थ के भावों की अस्यन्त सुन्दर काष्ठ-पाट्टकाएं भी जैसलमेर के श्रीजिनमद्रसूरि ज्ञान मण्डार की अमूल्य निधि थी जो मुनि जिनविजयजी ने लाकर भारतीय विद्या भवन में रखी । परन्तु आज वह विड्लाजी के संग्रहालय की शोभा वदः। रही है। जैसलमेर भण्डार में महावीर पंचकल्याणक चित्रपहिका, चतुर्विशति तीर्थंकर मातृ-पहिकाएं, आदिनाथ प्रम के जीवन प्रसंग, चतुर्दशस्वप्र, जलक्रीडा एवं जिराफ आदि दुर्लम प्राणियों की चित्रमय पट्टिकाएं विद्यमान हैं। लौंकागच्छीय मण्डार की भगवती सूत्र की बारहवीं शती की ताद्धपत्रीय प्रति की काष्ठ-पट्टिका में भगवान नेमिनाश स्वामी के नौ भवों के चित्र हैं । इनके अतिरिक्त वेल-पत्तियों आदि के चित्रयुक्त काष्ठपट्टिकाएँ भी उपलब्ध है। पूर्वकाल में शत्रंजय तीर्थ पर सुन्दर काष्ठ की कोरणी व चित्र काम वाले मन्दिर थे, बाद में अग्नि उपद्रवादि के कारण उनके स्थान पर पत्थर एवं ईंट-चुने द्वारा मन्दिरों का निर्माण होने लगा है।

980]

सूरत के संयदपुरा स्थित नंदीखर द्वीप मन्दिर में लकड़ी के पाटिये पर १०८ फुट का अंत्रुंजय गिरिराज का चित्र वना हुआ है जिसमें आगन्तुक संघ एवं तत्का-लीन सभी मन्दिरों अर्थात् वि० सं० १७८० से पूर्व की सभी टूंकों का दृश्य चित्रित है। इस कलापूर्ण चित्र को अचार्य श्री ज्ञानविमलसूरि जी ने चित्रित करवाया था। काष्ठमय चित्रों में यह बड़ा महत्वपूर्ण है। श्री शत्रुंजय गिरिराज दर्शन में लिखा है कि सं० १६७९ का सेठ शांति दास के समय का पट आनंद जी कल्याण जो को पेढ़ों में विद्यनान है जिसका कुछ माग मार्ग में प्रकाशित हुआ है।

कूडे के चित्र—

कागज को लुग्दी, वस्त्र खण्ड और चिकनी मिट्टी आदि के संयोग से निर्मित कूटे की कई प्रकार की वस्तुएं बनायी जाती थी। इनमें देवालय, सिहासन, डाउड़े, कलम दान आदि विविध उप द:न वनते थे जिनपर सुन्दर चित्रकारी भी की जाती थी। ऐसे डावड़े आदि लगभग चार पाँच सौ वर्ण प्राचीन भी पाये जाते हैं। इन सभी में मिट्टी का उपयोग नहीं होता था। हमारे संग्रह में ऐसे रंगीन कांच जड़े हुए व चित्रित सिहासन व बड़े-बड़े हाथी भी विद्यमान है। एक छोटा कलम-दान कृष्णलीला के अत्यंत सुन्दर चित्रसंयुक्त है जिसकी चित्र शैंकी दक्षिण भारतीय कला से प्रभावित है। कई स्थानों में कूटे की बड़ी-बड़ी कोठियों में ग्रन्थ रखे जाते थे।

ताङ्पत्रीय चित्र—

यद्यपि सिचित्र ताज़्पत्रीय ग्रन्थ स्वल्प मिलते हैं पर वे बड़े मूल्यवान हैं। प्राचीन झान मण्डारों में जो भी सिचित्र ताज़्पत्र पाये जाते हैं. वे जैन साहित्य की अमूल्य निधि हैं। दक्षिणापथ के ताज़्पत्रीय चित्रों के सम्बन्ध में आगे लिखा जा चुका है। पर उत्तर भारत के ताज़्पत्र 'श्रीताल' के पत्रों पर चित्रित-लिखित होने से वे सुन्दर और टिकाफ होते हैं। यों तो दक्षिण भारत व उड़ीसा में आज भी ताड़पत्रीय ग्रंथ लिखे जाते हैं. पर वे लौह लेखनी से उत्कीणित होते हैं। उन पर बने चित्र भी वैसे ही उत्कीणित एवं रेखा चित्र व रंगीन चित्र भी मिलते हैं। जेन ताड़पत्रीय ग्रन्थ लेखन चित्रण आज नहीं किये जाते. अतः जो भी है पांचसों से हजार वर्ग प्राचीन है।

जेसलमेर ज्ञानभण्डार के कल्पसूत्र की लाडपत्रीय प्रति में भगवान पाइर्वनाथ के जीवन-प्रसंग के बीस चित्र हैं। दशवकालिक आदि कई प्रतियों में हाथो, कमल, श्री. देव आदि के चित्र हैं। क्र गंक ११५ में महावीर स्वामी एवं प्रवचनकर्ता आचार्य महोदय एवं श्रोताओं के चित्र हैं। क्रनांक १५९ में सं० १३८५ के पार्खनाथ, समवसरण, अजितनाथ, शान्तिनाथ और जिनालय के चित्र हैं। इनमें स्वर्णमय स्याही भी प्रयुक्त हुई है। क्रमांक १५६ में भी चोदहवीं शतो के सरस्वती व श्रावक-श्राविकाओं के आठ स्नदर चित्र हैं। क्रमाङ्क २०६ में सं० १२९५ के भगवान महावीर, देवी और आचार्य महाराज के तीन सन्दर चित्र हैं। क्रमाङ्क २२८ में संपरिकर शानितनाथ, नं० २४५ में म० नेमिनाथ एवं आचार्य महाराज के चित्र हैं । नं० २५७ में दो मुजा वाली खड़ी हुई सरस्वती व वैरोट्या देवी का चित्र है । क्रमाञ्च २६३ में सिद्धायिका, आचार्य महाराज, श्रावक-श्राविका व पूर्णकलश का चित्र है। क्रनाङ्क २९६ में खडी हुई सरस्वती का सुन्दर चित्र है। क्रमाङ्क ३३५ में म० पार्खनाथ, आचार्य हेमचन्द्र, अभयतिशकगणि, जिनेश्वरसूरि व शाह दिमलचंद्र के चित्र हैं।

पाटण व खंभात के ज्ञान मण्डारों में भी सचित्र ताड़पत्रीय ग्रन्थ हैं। श्रीजिनेश्वरसूरि बितीय का सुन्दर चित्र हमने ४५ वर्ष पूर्व प्राप्त कर ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह में प्रकाशित किया था। मुनिराज श्री शीलचन्द्र विजय के पास श्री विजय नेमिसूरि ज्ञान मन्दिर, पांजरा- पोल-अहमदाबाद के श्रावकधर्म प्रकरण संवृत्ति की एक सुन्दर ताड़पत्रीय प्रति के अत्यन्त सुन्दर वित्र देखे जो शांतिनाध भगवान के चरित्र के १२ भवों से सम्यन्धित हैं। इसमें जालोर में श्रीजिनेश्वर सूरि प्रतिष्ठित श्री शांतिनाध जिनालय निर्माताओं के चित्र विद्यमान हैं। यद्यपि काल दोष से अब वह जिनालय तो नहीं रहा किन्तु उसके निर्नाताओं को स्मृतिशेष उपर्युक्त सुन्दर ताड़पत्रीय चित्रों में आज भी विद्यमान है। उभय काव्उपट्टिकाओं में दोनों ओर चार लंबी चित्रमाला है। ये प्र३ सें० भी० लम्बी व ६ सें० मी० चौड़ी हैं। मुनिश्री इस चित्र समृद्धि का अध्ययन प्रस्तुत करने वाले हैं। हमारे कलामवन में तो मात्र एक ही ताड़पत्रीय चित्र का नमूना है।

कागज के सचित्र ग्रन्थ--

चोदहवीं शताब्दी के पश्चात् प्रायः ताङ्फ्त्रीय ग्रन्थों का लेखन बंद हो गया और ग्रन्थादि लेखन बद्देया और टिकाज कागजों पर होने लगा । यद्यपि लेखन शैली ताडपत्रीय ग्रंथों की ही चलती रही. बीमें छेदकर डोरा पिरोने व संख्या के अंक भी उसी शैली के एकतरफ संकेत लिपि में लिखे जाते थे. पर कागजों पर विकास का क्षेत्र प्रशस्त हो गया। ताङ्पत्रीय ग्रंथों में चौड़ाई अधिक न होने से चित्रकला का अधिक विकास नहीं हो सका था, पर कागज का प्रचलन होने से उस पर लिखे जाने वाले ग्रन्थ क्रमशः दगुनै तिगृने चौडे हो गए ! उनमें चित्र-कला का आरचर्यजनक विकास हुआ। केवल करपसूत्र और कालकाचार्यकथा की संकड़ों ही नहीं बलिक हजारों प्रतियाँ लिखाई गई। श्रावकों ने स्वर्णाक्षरी, रौप्याक्षरी, गंगा-जमनी और सचित्र प्रतियों के लिखवाने में करोड़ों रूपये ट्यय किए। एक-एक प्रति में पचचीस - तीस से लेकर सेकडों मुल्यवान चित्र बने । बेजपत्तियों व हाँसिये के चित्रों में गज पंक्ति, हंस पंक्ति इत्यादि विविधताओं का वड़ा विकास हुआ । स्वर्ण, रजत एवं अन्य रंगों की विविधता द्वारा जैनकला शैली में आश्चर्य

जनक निखार आया जिससे उसके समक्ष सारे चित्र श्रीहीन-फीके पड गए। देवसापाई के सुप्रसिद्ध करप-सूत्र के एक-एक पन्ने का मूल्य आज दस-दस हजार से कम नहीं आंका जाता। इसके चित्र इतने समृद्ध हैं कि समुचा पन्ना चित्रों से परिपूर्ण है। ग्रन्थ के तो मात्र एक दो प्रत ही लिखे गये हैं । इसके हाँसिये में संगीत. नृत्य अ।दि के विविध दृश्य भी बड़े आकर्षक और सुन्दर दंग से चित्रित किये राष्ट्र हैं। अहमदाबाद के खरतर-गच्छीय भण्डार के सोलहवीं शती के कल्पसूत्र में ३५ चित्र हैं पर दूसरी प्रति में बीसवीं शती के लगभग ६५ सुनहरे चित्र बने हुये हैं। क्षमाकल्याणजी के भण्डार वीकानेर के चित्रों की कला शैली बीकानेरी कलम से संबंधित है । श्री पूरणचन्द जी नाहर, कलकत्ता के संग्रह में कल्पसूत्र की कई प्रतियाँ हैं जिनमें सं० १५११ की लिखित में ४६ चित्र, सोलहवीं शती की लिखित में ४३ चित्र, सत्रहवीं शती के कल्पसत्र में अपूर्ण चित्र, एक रजत चित्रमय तथा एक उन्नीसवीं शती की प्रति में ३४ सुन्दर सुनहरे चित्र राजपूत कलम के हैं। सं० १५५3 के पत्र १९३ में सन्देहविषौषधि टीका सह ७१ चित्र सुनहरे हैं। सं० १५४५ के शिखे कल्पसूत्र में ३३ चित्र हैं। कालिकाचार्य कथा की कई सचित्र प्रतियाँ नाहरजी के संग्रह व हमारे संग्रह में एवं विभिन्न ज्ञानभण्डारों में प्रचर परिमाण में पायी जाती हैं । नाहर जी के संग्रह की स्वर्गाक्षरों ९ पत्र की प्रति में ६ चित्र और बोर्डर में विभिन्न वैलपत्तियाँ, साध-साध्वी, स्त्रियाँ और मस्तक पर भार ढोते हुए हबशी लोगों के भी सुनदर चित्र हैं।

जिनमद्र युग की परिग्रह परिमाण विधि सं० १५०१ की स्वर्णां भें तीन चित्र हैं । आचार्य महाराज की व्याख्यान समा एवं नंदि रचना के समक्ष व्रत ग्रहण और वासक्षेप लेते हुए सुन्दर चित्र हैं । इसी प्रकार योगविधि की प० १०२ की प्रति में आचार्य महाराज श्री जिनमद्र सूरि व जयसागरोपाध्याय के चित्र हैं। यह सं० १८५६

की हैं। दोनों प्रतियाँ नाहर जी के संग्रह में हैं। हमारे संग्रह में त्रिविष्टिशलका पुरुष चरित्र के अंतिम पत्रों में आचार्य श्री जिनराजसूरिजी और सामने बाजोट पर उपाध्याय जयसागरजी बैठे हुए मालूम देते हैं प्रशिरत के अनुसार ये जयसागरोपाध्याय जी के ६ माला पालहा, झांटा, मंडलिक, मालहा, महीपित में से चार हैं। दूसरे कक्ष में साध्वयों के समक्ष इनकी धर्मपितनयों मी हैं। ये आध्वीर्थ स्थित खरतरवसही के निर्माता दरहा गोत्रीय श्रावक थे। ये चित्र हरिद्रारंग की पृष्ठमूमि में चित्रित हैं।

इनके अतिरिक्त उत्तराध्ययन सूत्र, ज्ञाता सूत्र, सूपार्श्व-नाथ चरित्र आदि ग्रन्थों में भी अपभ्रंश शैली के सुन्दर चित्र किये हुए मिलते हैं। यह जैनों की विशिष्ट शैली थी जब कि इस शेली में चित्रित बालगोपाल स्तुति व वात्स्यायन शास्त्र की भी प्रतियाँ क्वचित् दृष्टिगोचर होती हैं। श्री सारामाई मणिलाल नवाव आदि ने जैन चित्रों को प्रकाश में लाने का स्तुत्य प्रयास किया है पर सर्वांगीण शोव होने की अव भी आवश्यकता है। सोलहवीं शती में यह अपभ्रंश चित्रशेली अपनी उन्नति के शिखर पर थी। जीनपुर भी मुगलकाल तक जैनों का केन्द्र था। वहाँ की शैली के कल्पसूत्र,दि प्रसिद्ध हैं । सत्तरहवीं शताः शै की चित्रकला शैली में एक नया मोख आया. इस में अन्यान्य धाराएँ आकर मिली और प्रस्पर-रागत लेखक-चित्रकारों के अतिरिक्त अन्यान्य कलाकार भी आ मिले । सं० १६१३ में जब चतुर्थ दादा युग प्रधान श्री जिनचन्द्रसुरिजी ने क्रियोद्धार द्वारा तीन सौ में से १६ यतिजनों को स्वीकार कर अवशिष्ट सभी को गृहस्थ-मथेरण-महातमा वना दिया था । वीकानेर के मंत्री संग्रामसिंहजी वच्छावल की इसमें विशिष्ट भूमिका थी । वे लोग जब गृहस्थ हो गए तो आजीविका का साधन जुटाना अनिवार्य था अतः उन्हें पठन-पाठन-अध्यापन, लेखन तथा चित्रकारी का काम सौंपा गया। इसके

वाद जैन ग्रन्थों का अधिकांश लेखन-चित्रग वे ही करने लगे। ये लोग जैन ग्रन्थों के चित्र, चौवीसियाँ, भित्ति-चित्र एवं लक्ष्मी, गणेश आदि विविध प्रकार से लांकिक चित्र भी निर्माण करने लगे जिससे इनकी चित्र शेठी में लोक कला शैली का उन्मेय हो गया। उसी मधेरण जैली में जिन प्रन्थादिक लेखन-चित्रण होने लगा । मुगल कला के प्रभाव से वेश-भूग एवं शेली में आमूल परि-वर्तन आ गया । अपभ्रंश शैली लुप्त होकर मिश्रित वंली का विकसित रूप राजस्थान की विविध शैली राजन प्तकलम, उस्ता कलन, आदि में क्षेत्रीय परिवर्त्तन के साथ प्रचलित हो गई। श्री नाहरजी के संग्रह के इस काल के कल्पसूत्रादि के चित्रों में यह प्रभाव सुस्पव्ट परि-लक्षित होता है। शाही दरवार में रहने वाले जहांगीर के चित्रकार उस्ता शालिवाहन जैसे कठाकारों से भी समृद्धि-शाली जेन श्रावकों ने चित्र निर्माण कराये । बाबू वहादूर-सिंहजी सिंघी, कलकत्ता के संग्रह की शालिभद्र चौपई की मूल्यवान प्रति उसी के द्वारा चित्रित है। इस प्रति में जिनराजसूरि जिनरंगसूरि, लावण्यकीति मुनि एवं चित्र कराने वाले नागड गोत्रीय सा० भारमह व राजपाल के सं० १६८१ में चित्रित ७ चित्र हमने जिनराजसूरि कृति कुसुमांजलि में प्रकाशित किये हैं। सं० १८५२ की प्रति के जिनराजसूरि जिनरंगसूरि के चित्र की हमने ऐति-हासिक जेन-काव्य संग्रह में दिया था। शालिवाहन ने न केवल जैन कथावस्तु को चित्रित किया था पर उसके चित्रित किया हुआ श्री विजयसेनस्रुरिजी को आगरा संघ द्वारा दिया हुआ विज्ञप्तिपत्र भी अपने आप में कला और इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

इसी शालिवाहन चित्रकार के द्वारा चित्रित मदनकुनार श्रे० च० की एक प्रति सं० १६६७ में दयासमुद्र रचित अहमदावाद के विजय नेमिसूरि ज्ञान भण्डार में हैं। यद्यपि इस महत्त्वपूर्ण अज्ञात प्रति में नाम व तिथि नहीं है किन्तु जमाकान्त प्रेमानन्द शाह के अनुसार यह शालि- वाहन की कलम द्वारा चित्रित हैं।

अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में मथेरणों द्वारा चित्रित प्रतियाँ पर्याप्त परिमाण में उपलब्ध है। जैन यति-साधुओं में शास्त्रलेखन की प्रथा तो थी ही। उसी के संदर्भ में मौगोलिक आदि विवयों के प्रतिपादन हेतु संग्रहणी, क्षेत्र-समास जैसी कलापूर्ण प्रतियों की बड़ी-बड़ी प्रतियाँ मी पर्याप्त परिमाण में लिखी गईं।

राजस्थानी और गुजराती का प्रचार अधिक होने से रासः चीपई, चौढालिया, चौबीसी आदि की रचनाएं भी प्रचुर परिमाण में हुई । इन रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ व बह प्रचलित कृतियों की अधिकाधिक और सचित्र प्रतियाँ भी लिखाई जाने लगी। उपर्यक्त शालिमद्र चौ० का प्रचार हुआ । उसकी उपर्युक्त शालिवाहन चित्रित प्रति के पश्चात अनेकों प्रतियाँ पाई जाती हैं। कलकत्ता के श्री परणचंद्र जी नाहर के संग्रह में मथेरण रामकृष्ण द्वारा सं १५२६ में चित्रित प्रति है जिसे बीकानेर में चित्रित की थी। इसी रामकृष्ण के पुत्र मधेरण जयकिशन दारा सं १५२५ में चित्रित ४७ चित्रों वाली प्रति हमारे संग्रह में है । बीकानेर के वृहत् ज्ञान भंडार. श्रीपुज्यजी के संग्रह, महोपाध्याय विनयसागर जी के संग्रह में भी इसकी उल्लेखनीय सुन्दर प्रति है। अंजना संदरी चौपाई ४३ चित्रों वाली सं १६८९ साचौर में रचित प्रति नाहर जी के संग्रह में है जिसे बीकानेर में मथेरण अमेराम ने चित्रित किये था । श्री जिनराजसूरि चौबीसी के अतिरिक्त नाहर जी के संग्रह में सुदर्शन चौपाई (8१ सुन्दर चित्र), शालिमद्र चौ० के १३ चित्र पूरे पृष्ठ के. सिंहलसुतित्रयमेलक रास की २९ चित्रों वाली मधेरण सरतराम चित्रित प्रति, मानतंगमानवती चौ० की २८ चित्रों वाली सं १५४७ की मधेरण जयकिशन चित्रित प्रति सम्यक्टबविचार-नवतटव बाला० की प्रति में पहले भ० महावीर का चित्र व बीच में व हाँसिये में विविध सुन्दर चित्र है, जो सं० १७१२ पटना में जिनमागिक्यसूरी

प्रम्परा के पं0 महिमोदय द्वारा लिखित है। गौतम रास की प्रति में १२ पदासन व १ खड़ासन चित्र की प्रति है। द्रीपदी चौपई की प्रति के १९वें पत्र में सुभूम उद्यान का सुन्दर चित्र है। चनद्रलेहा चौपाई में २६ सुंदर चित्र हैं। मुगाङ्कलेखा चौपाई की प्रति में ५५ चित्र सं० १७७४ के हैं। संघयणी की प्रति में भी १५६९ में चित्रित पचासों सन्दर चित्र हैं । चंदन मलयागिरि चौपाई की भी कई सचित्र प्रतियाँ मिलती हैं । एक गुटकाकार प्रति हमारे संग्रह में भी है । चंद राजा के रास की सचित्र प्रतियां भी भिलती है। बीकानेर में हंसराज वच्छराज चौ० की दो प्रतियां एवं मृगांव लेखा ची० की एक प्रति एवं विक्रमाहित्य खापरा चोर चौ० की एक प्रति मधेरण आसाराम चित्रित, वैदर्भी चौपाई की सं० १५४६ की एक प्रति मधेरण जयकिशन चित्रित प्रतियाँ पीपांड के श्रीजयमल ज्ञान-भंडार में हैं। वहाँ और भी कई चित्रित पट एवं संग्रहणी सूत्र की सचित्र प्रतियाँ, चंद्रलेहा चौ० की सं १५३३ की सचित्र प्रतियाँ है ! बीकानेर के मथेरण अखैराम जोगी दासोत ने सं० १८०१ में बीकानेर के चित्रों का विज्ञप्ति पत्र तैयार किया जो श्री जिनभक्ति सूरि को राधनपर भेजा गया था। इस प्रकार विभिन्न ज्ञानमंखारों व संग्रहों में मथेरण आदि कलाकारों द्वारा चित्रित प्रतियाँ प्रचर परिमाण में उपलब्ध हैं।

सचित्र विज्ञप्ति पत्र

जैन समाज में गुरुजनों को आमन्त्रणार्थ विद्यप्तियत्र भेजने की प्राचीन प्रथा है। इनमें दो प्रकार थे, एक तो सण्डकाव्य मय गद्य-पद्य अलंकारिक चित्र काव्य युक्त और दूसरे नगर के मानचित्र युक्त । हमारे संग्रह में सं० १६०४ से १६११ के बीच का ऐसा ऐतिहासिक महत्वपूर्ण विद्यप्तियत्र हैं। सचित्र विद्यप्तियों की विधा बड़ी ही महत्वपूर्ण है। पांच दस फुट से लगा कर सौ-सौ फुट लंबे विद्यप्तियत्र उपलब्ध हैं। शाही चित्रकार शालिवाहन द्वारा चित्रित आगरा से श्रीविजयसैन-

सुरिजी को प्रेषित विज्ञाप्तिपत्र का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। हमारे संग्रह में उदयपुर का छेद्र सी वर्ष प्राचीन विज्ञप्ति पत्र ७२ फ्ट लंबा है जिसमें वहाँ के सभी ऐतिहासिक स्थान एवं राणाजो, उनके महल, पीछोला तालाव, श्रीपूज्यजी व राणाजी की सवारी, काप साहब आदि के सुन्दर विशद् चित्र हैं । बीकानेर के वड़े उपाश्रय में १०८ फुट लंबा विज्ञप्तिपत्र बीकानेर चित्र-कला का अप्रतिम उदाहरण है जिसमें वहाँ के भाण्डासर जी चिन्तःमणिजी आदि मन्दिर व वडा उपःश्रय आदि के हवह सुन्दर चित्र लगभग १५० वर्ष प्राचीन हैं। इसो प्रकार जयपुर, जोधपुर, मेखता, सीरोही, लखनऊ जैसलमेर आदि नगरों के वीसों महत्वपूर्ण सचित्र विज्ञप्ति-पत्र हैं। डा॰ हीरानन्द शास्त्री के सम्पादित एक ग्रन्थ में उसका सचित्र प्रकाशन हुआ है। अव भी वीसी विज्ञप्ति पत्र अप्रकाशित स्पलब्ध हैं। ये सब टिप्पणकाकार (Scroll) मिलते हैं। जैनेतर शैलो के भी क्वचित् उपादान उपलब्ध हैं । हमारे संग्रह में एक वैष्णव शैली का है व बदीनारायण यात्रा का उल्लेख ऊपर आया ही है। पटना के श्री राधाकृष्ण जी जालान के संग्रह में ऐसी ही वौद्ध कथा-वस्तु का चित्रित टिप्पणक देखा था। कलकत्ता के आञ्चतीय म्यूजियम, जोधपुर म्यूजियम-पूर्णचंद जी नाहर के संग्रह में कलकता की नित्य विनय मणिजीवन जैन लायब्रेरी में ऐसे जैन विज्ञप्ति पत्र संग्रहीत है। इती लायब्रेरी में राजवलम शिल्प शास्त्र के नक्शों सहित लंबा टिप्पणक है । उपर्युक्त बीकानेर विज्ञप्तिपत्र भाण्डासर जी के मन्दिर के गुम्बज में भी चित्रित भित्तिचित्र के रूप में देखा जा सकता है।

तीर्थादि के विशाल चित्र

जयपुर के तहबीलदारों के रास्ते में रहने वाले गणेश मुसव्यर चित्रकार के बनाये हुए चित्रकला सौष्ठव की दृष्टि से बड़े ही मूलयवान और संख्या में भी प्रचुर

पाये जाते हैं। वह सं० १९२५ से १९३७ तक तो निश्चित रूप से कलकता में रहा और उससे बड़े पंचायसी मंदिर में जौहरी रिधुलालजी फौफलिया के पुत्र शिखरचंद जी तीशों के वड़े-बड़े मूल्यवान चित्र बनवाये । शत्रुंजय, गिरनार, अष्टापद, तारंगा, केशरियाजी, पाव।परी, सम्मेतशिखर, राजगृह, चम्पापुरी, गौड़ीपार्श्वनाथ, राणकपुर, हस्तिनापुर, महावीर समवसरण, नेमिनाश बारात. आदि के नयनाभिराम मृनिसुब्रतस्वामी सभामण्डप में लगे हये हैं । इसी अरसे में राय बद्री-दास कारित शीतलनाथ जिनालय में भी ६०×७० इंच लंबे लगभग ३०-३५ चित्र निर्माण किये जिनमें श्रीपाल चरित्र, सोलह सती, तीर्थंकर चरित्र, दादा गुरुओं के चरित्र, कात्तिक महोत्सवजी की सवारी आदि भावों वाले अत्यन्त सुन्दर और प्रेक्षणीय हैं और जन चित्र शेली की अमुल्य निधि हैं। जियागंज के विनलनाथ जिनालय में दादासाहव के चरित्र से सम्वन्धित सुन्दर और दिशल चित्र लगे हुए हैं।

पूठे-पटड़ी

जिस प्रकार ताड़पत्रीय ग्रन्थों के लिये काष्डफलक होते थे उसी प्रकार कागज के ग्रन्थों के लिये पूठे-पटड़ी-फाटिये आदि गते कूटे-कागज को चिपका कर मज़्द्र किए हुए हुन्ना करते हैं। रही कागजों को चिपका कर बनाये हुए एक पूठे के खुल जाने पर हमने लगभग ५०० वर्ज पूर्व का श्री जिनपतिसूरिजी के समय का पालनपुर का साध्वीमण्डल का पत्र प्राप्त किया था। इन पुठों पर मखमल. साटण, जरी, कीमखाव आदि वस्त्र मढ़े हुए तथा जरी, कलावत्, कारचोवी और रेशम द्वारा अष्टमञ्चल, चौदह स्वप्न, तीर्थंकर माता, इन्द्रादि देव वनाये जाते रहे हैं। कई पूठों पर कांच पर किये चित्र भी मढ़े हुये मिलते हैं। इनके अतिरिक्त पूठे पर वानिश करके जो चित्र वनाये हुए मिलते हैं वे लगभग दो सौ से चार सौ वर्ष जितने

प्राचीन हैं । इन पर अष्टमंगलीक, चौदह स्वध्न, त्रिशला माता. दशाणमद्र का प्रमु वन्दनार्थ गमन, इलापुत्र की नट विद्या. नेमिनाथ मगवान की बरात, तीर्थंकरों के समव-सरण, हाथी. सिंह, सरस्वती आदि विमिन्न प्रकार के सुन्दर चित्र चित्रित हैं । इनमें स्वर्णाम रंग का भी प्रयोग होता था । हमारे संग्रह में जहांगीरकालीन वेश-मूषा का एक महत्त्वपूर्ण पूठा है एवं चमड़े के हाथी लगे हुए चित्र की पटड़ी हैं । एक पूठे पर हाथी दौंत की चीपियाँ लगी हुई हैं ।

गष्टाजी आदि—पीतल, काष्ठ, चांदी के दक्कनदार गोल डिट्ये को गष्टाजी कहते हैं। इनमें तीर्थंकर पार्खनाथ, नवपदजी, बीस स्थानकजी, चौबीसी आदि के सुन्दर कलापूर्ण चित्र मढ़ें रहते हैं। इन चित्रों पर सोने के वर्क का मनौती काम व सच्चे मौती के हार आदि चिपकाये रहते हैं। इनमें लाल, नीला, हरा, खेत, स्वर्णाम, पीत आदि सभी रंगों का प्रयोग हुआ है। पीतल के किवाड़ीदार देवालयों में भी चित्र मढ़ें हुये पाये जाते हैं।

चौवीसी व अनानुपूर्वी—आजकल जिस प्रकार मुद्रित चौबीसियाँ आती हैं उसी प्रकार आगे हाथ के चित्रों वाली प्रचार परिमाण में बनायी जाती थी। कई चौबीसियाँ साधारण, कई मध्यम और कई असाधारण कला-सौण्डत युक्त चित्रित होती थी। हमारे संग्रह की दो एक चौबीसियाँ अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण हैं। इनमें जिनालय का पूरा चित्र, प्राकृतिक दृश्य व इन्द्र-इन्द्राणी आदि दिखाये गए हैं। तीर्थंकरों के वर्ण व लांछन के अनुसार चौबीस जिन चित्र निर्माण होते हैं। उनमें दादासाहब की चरण/मूक्ति, गौतम स्वामी आदि के चित्र, पद्मावती, भैरव आदि स्वेच्छानुसार बनवाकर तैयार होने लगे। जिनालयों व जिनेश्वरों व पंच कल्याणक के स्वतन्त्र चित्र भी पाये जाते हैं।

भावचित्र-शास्त्र विहित औपदेशिक भावों के चित्र-

निर्माण की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है। पुराने ज्ञानमण्डारों में मधुविन्दु, छः लेश्या, ज्ञानबाजी (चौपड़), लोकनाल, मेरूपर्वत, जनगामिषक, जम्बूवृक्ष-शालमली वृक्षादि पर जिन प्रतिनाएँ ओर श्रावकों द्वारा दर्शन-पूजनयुक्त तथा स्नात्रपूजादि की भाव चित्रावली दिल्लो आदि अनेक स्थानों के मन्दिरों में मदी हुई व अन्य भी अनेक विधाएँ संप्राप्त हैं। मारण्ड पक्षी, आकाश पुष्प, एक मस्तक अनेक देह आदि की इतनी चित्र सामग्री प्राप्त हैं जिस पूर्ण रूप से व्यक्त करना कठिन है। संग्रहणी में जिस प्रकार स्वर्ग नरक आदि के चित्र हैं वैसे स्वतन्त्र रूप में भी चित्र वनाये गए। नारकी के चित्र जिनमें परमाधामी देव विविध प्रकार से कष्ट देते हैं और किस कर्म के परिणाम में क्या-क्या विषाक उदय में आया इसके उभय पक्ष के चित्र भी जैन नित्रकला में प्रचुरता से पाये जाते हैं।

ऐतिहासिक व्यक्ति चित्र—जिसप्रकार ताड़पत्रीय ग्रंथों, काष्ट्रफलकों आदि में जैनाचारों व श्रावकों के मूल्यवान चित्रं संप्राप्त हैं यतः हेमचन्द्राचार्यं, वादि देवसूरि, जिनवल्लभसूरि, जिनदल्लभूरि, जिनसार्वाच्यक्ति अवित् अवित अवित प्रकार कागज के ग्रन्थों में जिनभद्रसूरि, जयसागरोपाध्याय, जिनराजसूरि प्रथम व दिलीय, जिनरंगसूरि आदि, आचार्यों के चित्र उपलब्ध हैं । ऐतिहासिक व्यक्तियों के स्वतन्त्र चित्रं भी पाए जाते हैं। यतः मुनियों में जिनमक्तियूरि, जिनस्वसूरि, जिनहर्षसूरि, जिनहर्षसूरि, जिनहर्षसूरि, जिनहर्षसूरि, जिनहर्षसूरि, जिनसौमाग्यसूरि, जिनमहेन्द्रसूरि, जिनमुक्तिसूरि आदि, आचार्यों में क्षमाकल्याणोपाध्याय, ज्ञानसार, जयकीति आदि, श्रावकों में शांतिदास सेठ, कर्मचनद्रमंत्री, अमरचंद सुराणा, मानाजी मण्डारी, मोतीशाह सेठ आदि।

लौंकागच्छ में से स्थानकवासी परम्परा लगभग तीन सौ वर्ज पूर्व निकली ! जिसके बनवाये हुये चित्र में साधुओं के मुखवस्त्रिका वंधी हुई हैं ! ऐसे चित्र कुछ

हमारे संग्रह में. पीपाड़ के जयमलजी मंडार व बीकानेर की सेठिया लायब्रेरी व जयपुर के विनयचंद ज्ञानभंडार में हैं। पीपांड का ज्ञानमंडार कला की दृष्टि से समृद्ध है। जिसका उल्लेख आगे किया गया है। स्थानक-वासियों में से दो सी वर्ष पूर्व तेरापंथी निकले उनमें यति परम्परागत चली आई चित्रकला प्रचलित थी । यद्यपि वे भी मृत्ति को अमान्य रखते थे, फिर भी चित्र-कला के क्षेत्र में पश्चात्पद नहीं थे। नरक-स्वर्ग आदि के परम्परागत लोकचित्रों के माध्यम से वे जनता को दुष्कृत्यों से वचने का उपदेश देते रहे हैं । पूज्य जया-च:र्य के पश्चात् माधवागणि और डालगणि के समय में चित्रकला कुछ उन्नत हुई और भावचित्रों की कई विधाएँ निर्मित हुईं । एक कागज के मध्य में वने हुये चित्र पर किनारों को मोड़ कर उस पर वने चित्रों से विविध आकु-तियाँ उभारी जाती हैं और आतमा के विभिन्न योनियों में परिभ्रमण/रूपधारण की बातें बतायी जाती है। एक बड़े मर्गे के अन्तर्गत कई रूप हो जाने की दूसरी विधा भी चल निकली । भाव चित्रों में मधुबिन्दु व घट लेश्या तो थे ही और नये उन्मेष हुये । कमल भ्रमर के चित्र में रस-ल्ब्य भ्रमर का सूर्यास्त के समय कमल में वन्द हो जाने के माव चित्र बने । घड़े के पैंदे में तल मरन, मध्य भरन व गलबे से भगन के माध्यम से श्रोताओं की तीन श्रेणियाँ वताई गई। हरे व सूखे वृक्ष में सूखे वृक्ष के पक्षी उसे त्यागकर हरे वृक्ष पर जा कर निवास करने लगे। कवीर की उक्ति प्रसिद्ध है---

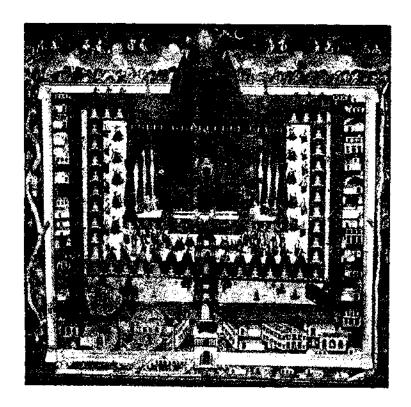
> हरे गाछ पर पंछी बैठा लेता नाम हरी। झड़ गये पत्ते उड़ गए पंछी ये ही रीत बुरी ॥ अब मोहे जान पड़ी ॥

माव चित्रों में उत्तराध्ययन आदि के शास्त्रीय भावों का व्यक्तिकरण हुआ । तेरापंथ में गत सी वर्षों में व्यक्ति चित्र भी बनने लगे । माधवागणि-डालगणि के संयुक्त और स्वतन्त्र चित्रों की उपलब्धि इसके साक्ष्य

हैं । भाव चित्रों के कलाकार मुनि कुन्दनमलजी और मुनि दुलीचन्दजी का नाम प्रधानता से लिया जाता है

विना रंग पीछी के मात्र कर्तरिका द्वारा कागज को काटकर विविध चित्र बनाने की प्राचीन प्रथा है। ज्ञान-भण्डारों एवं हमारे संग्रह में भी उसके उदाहरण विद्यमान हैं। वर्तमान में इस कार्य में निष्णात रामप्रसाद जिड़्या और उनके शिष्यों में इस पद्धति की संरचना प्राप्त है।

जैन चित्रकला में पहले शतावधानी पं० धीरजलाल शाह ने भी पर्याप्त कार्य किया। मुशिदाबाद के हीराचंदजी दूगड़ और उनके सुपुत्र इन्द्र दूगड़ भारत विख्यात् चित्र-कार हैं। कलकता के बड़े मन्दिर में इनके द्वारा आदिनाथ जीवनी-समय तरण व दादाबाड़ी में दादा साहब की जीवनी का चित्र लगा है। गोकुलदास कापड़िया ने भगवान महावीर की जीवनी चित्रावली रूप में प्रस्तुत कर बड़ा ही प्रशंसनीय कार्य किया है। जसवंतसिंह बीधरा. जनरचन्द दसाणी और गणेशजी ललवानी आदि ने भी चित्रकला में प्रशंसनीय योगदान दिया है। आशा है प्राचीन और नवीन चित्रकला के क्षेत्र में नये चेहरे आकर जैन चित्रकला को उन्नति के शिखर पर आहद करेंगे।



श्री केशरिया जी तीर्थ —चित्रकार गणेश मुसव्वर

989

सांकेतिक महाराष्ट्री लिपि का एक ग्रन्थ

भारतीय मापाओं में विविधता होने पर भी जिस प्रकार प्राकृत और मंस्कृत को प्रधानता दी जाती है, उसी प्रकार भारतीय लिपियों में अनेकता होने पर भी प्रधानता ब्राह्मी लिपि को और उसके बाद खरोष्ठी को दी जा सकती है। प्राचीन अभिलेख उन्हीं उमय लिपियों में प्राप्त हैं. जिनमें ब्राह्मीलेखों का वाहुल्य है। 'पण्ण-वणासुत्त' आदि जैनागमों में आर्य की परिभाषा वतलाते हुए ब्राह्मी लिपि का उल्लेख किया गया है। इससे इसकी प्रतिष्ठा का विशेष रूप से पता चलता है।

पश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मी आदि समस्त भारतीय लिपियों को सेमेटिक लिपि से उत्पन्न हुई बताने की चेप्टा की थी. पर एतद्विपयक अधिकारी विद्वान् स्वर्गीय डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपनी 'मारतीय प्राचीन लिपिमाला' में प्रमाणित कर दिया है कि भारतीय लिपियाँ अतिप्राचीन और स्वतन्त्र हैं। बौद्ध ग्रन्थ 'ललितविस्तर' में ६४ लिपियों की नामावली प्रस्तुत करते हुए प्रथम ब्राह्मी और खरोष्टी लिपियों का उल्लेख किया गया है। इन ६४ लिपियों की नामावली इस प्रकार है—

ब्राह्मी, खरोष्ठी, पुष्करसारी, अंग-लिपि, वंग-लिपि, मगध-लिपि, भांगलय-लिपि, भनुष्य-लिपि, अंगुलीय-लिपि, शकारि-लिपि, ब्रह्मवल्ली-लिपि, द्रविद्ध-लिपि, कनारि-लिपि, दक्षिण - लिपि, उग्र - लिपि, संख्या-लिपि, अनुमोल-जर्ध्वधनुर्लिप, दरद - लिपि, खास्य - लिपि, लिपि. चीन-लिपि, हुण-लिपि, मध्याक्षर-विस्तर-लिपि, पृष्प-लिपि, देव-लिपि, नाग-लिपि, यक्ष-लिपि, गन्धर्व-लिपि, किन्नर-लिपि, महोरग-लिपि, असर-लिपि, गरुड-लिपि, मगचक्र-लिपि. चक्र-लिपि, वायुनक-लिपि, भौम-देव-लिपि, अंतरिक्ष-देव-लिपि, उत्तरकुरु-लिपि, अपरगौडादि-लिपि, पूर्वविदेह-लिपि, उत्क्षेप-लिपि. निक्षेप-लिपि. विक्षेप-लिपि. ਪ੍ਰਭੇਧ-ਲਿਧਿ, सागर लिपि, वज्र-लिपि, लेख-प्रतिलेख-लिपि, अनुद्र त-लिपि, शास्त्रावर्त-लिपि, गणावर्त-लिपि, उत्क्षेपावर्त-लिपि, विक्षेपा-वर्त-लिपि, पादेलिखित-लिपि, द्विकत्तर-पद सन्धिलिखित-लिपि, दशोत्तरपद सन्धिलिखित-लिपि, अध्याहारिणी-लिपि, सर्वरुत्संग्रहणी-लिपि, विधानुलोम-लिपि, विमिश्रित-लिपि. ऋषितपस्तप्त-लिपि, धरणीप्रेक्षणा-लिपि, सर्वौषधनिष्यंद-लिपि, सर्वसारसंग्रहणी-लिपि और सर्वभूतरुद्वग्रहणी-लिपि।

जैनागमों के अनुसार प्रथम तीर्थंकर मगवान् ऋषमदेव ने इस अवस्पिणी काल में सारे लोक व्यवहार का प्रचलन किया। इससे पूर्व के मनुष्य युगलिक थे, उनकी आवश्यकताएँ वहुत सीमित थीं एवं उन्हें आवश्यक वस्तुओं का अमाव नहीं था। क्रमशः आवश्यकताएँ वहने लगीं और वस्तुओं की कमी होने लगी, अत्तएव मगवान् ऋषमदेव ने युगानुकूल प्रवृत्तियों की शिक्षा दी, जिसमें लिपिविज्ञान मी सम्मिलित हैं। उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को १८ लिपियाँ सिखायो थीं, जिनमें प्रधान लिपि का नामकरण उसी के नाम से ब्राह्मी किया। यह लिपि दाहिनी ओर से लिखी जाती है। 'आवश्यकिनर्युक्ति-भाष्य' गाथा १३ में 'लेहं लिविविहाणं जिणेण वंभीइ दाहिणकरेणं' शब्दों दारा यही सूचित किया है। पंचमांग 'मगवती सूत्र' के प्रारंभ में भी ''नमो वंभीए

लिवीए" शब्दों द्वारा ब्राह्मी लिपि को नमस्कार करके उसका महत्त्व प्रदर्शित किया गया है।

'समवायांग सूत्र' के १८ वें समवाय में १८ प्रकार की लिपियों का एवं ४६ वें समवाय में ब्राह्मी लिपि के प्रध्न मानुकाक्षर * होने का उल्जेख पाया जाता है। १८ लिपियों के नामावली इस प्रकार है—

वंभीएगं लिवीए अड्रारसविहे लेख विहाणे पन्नते। तंजहा-- उंभी जवणाणिया, दोसाउरिया, खरोड्टिया, पुक्खर-सारिया, पहाराइया, उससरिया, अक्खरपुट्टिया, भोग-वयन्ती, वेणतिया, णिण्हइया, अंकलिवी. गणियलिबी. गंधव्वलिवी, भूयलिवी, आदंससिवी, महेसरी लिवी, दामिली लिवी, पुलिदी लिवी।

'पन्नवणासुत्त' में इन लिपियों के नामों में कुछ भिन्नता पायी जाती है। 'उच्चतरिया' के स्थान पर 'अंतक्खरिया', 'उयंतरिक्खिया' और 'उयंतरकरिया' तथा 'आदंसलिवी' के स्थान में 'आयासलिवी' मिलता है।

'विशेषावश्यक भाष्य' में. जो कि जिनभद्रगण क्षमाश्रमण द्वारा सालवीं शती में रचा गया है, लिपियों की संख्या १८ वताने पर भी उनके नाम उपर्युक्त नामों से सर्वथा भिन्न पाये जाते हैं-

हंस लिवी१ मुअ लिवी२ जन्खी३ तह रक्ससीय४ दोध-घर उड़ीप जवणीद तुरक्कीं कीरीन दविद्धीं य सिंधविया?० मालविणि११ निखरे नागरि१३ लांखलिवि१४ पारतीय१५ वोधव्या तहुअ निमित्तीय१६ चाणक्की१७ मूलदेवीय१८।

उपर्युक्त नामावली में अधिकांश प्रान्तीय लिपियों के नामों के साथ-साथ अन्त के दो नाम सांकेतिक लिपियों के भी प्रतीत होते हैं । वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में इन्हें संकेत-लिपि बताते हुए "म्लेचिअतविकलपाः" कहा

लु त्र, ज्ञा और ळ, के अतिरिक्त) हैं।

गया है। जिसका अर्थ जयमंगला टीका में-"यत् साधुशब्दोपनिबद्धमप्यरक्षव्यत्यासादस्पष्टार्थः तद्गः म्लेन्छतं गढवस्त्मन्त्रार्थम्" लिखा है। अर्थात्, 'म्लेन्धित' वह है जो शुद्ध शब्द-रचना वाला होते हुए भी अक्षरों के हैर-फेर से लिखने बोलने में अस्पष्ट अर्थ वाला हो; इसका उपयोग गुप्त वात और मंत्रादि के लिए होता है।

'कामसूत्र' में कौटिलीय (चाणक्यी) और मूल-देवी का स्वरूप इस प्रकार लिखा है-

दादेः क्षान्तस्य कादेश्च. स्वरयोर्ह्हस्व-दीर्घयोः। बिन्दूष्पणोविपर्यासाद्, दुर्वोधमिति संज्ञितम् ॥ अको खगी घड़ो चैद. चटौ तपौ यशौ तथा। एते व्यस्ताः स्थिरा शेषाः मूलदेवीयमुच्यते ॥

-- अधि० १ अध्या० ३ सूत्र १६

अर्थात-'क' से थ' तक और द' से 'क्ष' तक के व्यंजन. ह्रस्व और दीर्घ स्वर, अनुस्वार और विसर्ग को उलट कर लिखने से कौटिलीय (चाणक्यी) लिपि वनती है।

मुलदेवी लिपि में 'अ' को 'क', 'ख' को 'ग', 'घ' को ''छ', 'च छ ज झ अं को 'ट. ठ, ख, ख, ण' से 'त थ ट ध न' को 'प फ ब म म' से तथा 'य र ल व' को 'श ष स हं से बदलना होता है।

मुनि श्री पुण्यविजयजी के पास सं० १६६३ मैं लिखित एक लिपि-पत्रक है जिसमें मूलदेवी, सहदेवी. शुन्यपञ्जवी. रेखापञ्जवी. औषध लिपि अंकपस्रवी, और दातासी लिपि—इन सांकेतिक लिपियों का विवरण है। इसी प्रकार सारामाई मणिलाल नवाब के पास सं० १८९७ के लिखित पत्र में सहदेवी और दातासी लिपि के उदाहरण लिखे हुए हैं। इनके लिए मुनि पुण्यविजय जी का 'भारतीय श्रमण संस्कृति अने लेखनकला' पृष्ठ ७ से ९ देखना चाहिए।

मूल में वे अक्षर कौन से हैं, यह नहीं कहा गया. पर टीकाकार के अनुसार वे अ से क्ष तक (ऋ ऋ छ

989

हमारे संग्रह में भी १८ वीं शती के तीन लिपिपत्रक हैं जिनमें दो पत्रों की लिपि में सांकेतिक वर्णमाला और पद्म हैं, पर लिपि का नामोल्लेख नहीं है। तीसरे पत्र में बंगालदेशी, तिलंगी, कर्णाटी और एक अज्ञात लिपि की वर्णमाला है। नामोल्लेख वाली लिपियाँ भी उन देशों की प्रचलित लिपियों से सर्वथा भिन्न हैं, अतः सांकेतिक लिपि ही मालूम देती हैं।

वणीं की माँति अंकों के सांकेतिक चिह्न भी ताड्यत्रीय ग्रन्थों के पत्रांक रूप में, एवं अन्य ग्रंथों में भी पाये जाते हैं।

सांकेतिक लिपियों का आविष्कार अपने भावों को गुप्त या सीमित वर्ग में रखने हेतु ही हुआ था। आज भी मंत्र-लंत्र आदि सांकेतिक लिपियों में लिखे जाते हैं। ओसवाल आदि जातियों के वंशावली लेखक भाटों ने भी अपनी सांकेतिक लिपि बना रखी है. जिससे उन बहियों को उनके अतिरिक्त यजमानादि पढ़ने में असमर्थ रहते हैं। लिपि के अतिरिक्त बोलचाल और व्यवहार में व्यापारी वर्ग एवं स्वर्णकारादि जातियों ने सांकेतिक शब्द बना रखे हैं, जिससे पास में बैठा दूसरा व्यक्ति रहस्य भी न समझ सके और उनका काम भी चलता रहे।

मध्यकाल में प्राचीन लिपियों के ज्ञान के अभाव में कितने ही प्राचीन शिलालेख और ग्रन्थ अस्तव्यस्त होकर नष्ट हो गये। कुछ गड़े धन की तालिका, मंत्र, यंत्र, स्वर्णसिद्ध आदि अन्ध परम्परा के पोयक बने। मुसलमानी साम्राज्य के समय दिल्ली में लाये हुए लौह-स्तम्म की प्राचीन लिपि उस समय कोई भी पढ़ नहीं सका था। सं० १६६२ में जोधपुर राज्य के घंघाणी स्थान में कित-पय प्राचीन जैन मूर्तियाँ मिली थीं जिन पर महाराज संप्रति, चन्द्रगुप्तादि के लेख उत्कीर्ण थे। इन लेखों को खरतरगच्छीय मट्टारक श्री जिनराजसूरि ने अम्बिकादेवो के साहाय्य से पढ़ा था। इसका उल्लेख 'खरतरगच्छ-पट्टावली' में पाया जाता है। अंग्रेजी शासन के समय तक विस्मृत लिपियों की वर्णमाला कोई भी तैयार नहीं कर सका। पाश्चात्य विद्वानों को इन भारतीय प्राचीन लिपियों ने विस्मय में खाल दिया। उन्होंने भारतीय विदानों के साहाय्य से कई वर्षों तक निरन्तर श्रम करके उन उलझी हुई गुत्थियों को सुलझा कर छोड़ा। इस सम्बन्ध में मान्य-वर गौरीशंकर ही० ओझा, श्री भगवानलाल इन्द्रजी, श्री काशीप्रसाद जायसवाल आदि विदानों के प्रयत्न विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ओझाजी की 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' हिन्दी साहित्य में अपने ढंग का एक अलग ही ग्रन्थ है।

अभिलेखों में उत्कीर्ण एवं ग्रंथ-रूप में लिखित लिपि के अतिरिक्त भारतवर्ष में कई ऐसी लिपियाँ भी हैं जिनके विषय में हमारी जानकारी अत्यन्त ही सीमित है। महाराष्ट्र देश में महानुभावी नामक एक धार्मिक सम्प्रदाय है जिसे गुजराती चक्रधर स्वामी ने (संः १२५० से १३३०) स्थापित किया था । इनका गृहस्था-वस्था का नाम हरिपाल था । महानुभावी संप्रदाय का थोडे ही समय में वहत प्रचार हुआ और वह महाराष्ट्र की जनता से लेकर देवगिरि के बादव-नरेजों के दरवार तक में सम्मानित हुआ । जिजया जैसे भयानक कर से कुछ समय तक इस समप्रदाय वाले मुक्त रहे थे। इन्होंने श्रीकृष्ण की मक्ति और सदाचार का अच्छा प्रचार किया । अस्पृश्यता एवं जाति तथा वर्ण-व्यवस्था को इन्होंने अमान्य किया । इस सम्प्रदाय में जाति वर्ण के मेद-भाव विना सभी व्यक्ति संन्यास के अधिकारी थे। इनका प्रचार इतना वढा कि दक्षिण से उत्तर तक. यंजाब कारमीर, काबुल, अफगानिस्तान में भी इनके मठ स्थापित हो गये और अनेक संन्यासी-संन्यासिनें एन मठों में रह कर धर्म-त्रचार करने लगे । उस समय वैदिक संस्कृत के अनुयायी बड़े कहरपंथी थे । वे इस सुधारप्रिय संप्रदाय से घबड़ाये और उन्होंने इसका जोरों से दिरोध करना

प्रारंभ कर दिया। उन्होंने इस संप्रदाय के अनुया-यियों पर झठे दोवारोपण किये और उन्हें नाना यातनायें दीं । विरोधी व्यक्तियों से अपने सिद्धान्तों तथा धर्म-ग्रंथों को सुरक्षित रखने के लिये महानुभावियों ने कई साम्प्रदायिक लिपियों का आविष्कार किया, जिनमें से २५-३० प्रकार की संकेत लिपियों का पता चल चुका है। महानुभावी साधुओं ने काफी साहित्य निर्माण किया, फिर भी इन लिपियों की अनिभज्ञता के कारण अन्य विद्वान् कुछ वर्ज पूर्व तक उससे अपरिचित ही रहे । कहा जाता है कि इनके साहित्य पर गुजरात के जैनों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। सं० १८१० के लगभग 'सहादि' ग्रंथ के निर्माता राघवोपाध्याय (उर्फ रवलो व्यास) ने 'सकल-साल' लिपि का निर्माण किया । सं० १४६० के लगभग कवीश्वरी अंक लिपि का गुर्जर शिव बयास ने आविष्कार किया था। इनके अतिरिक्त सुन्दरी लिपि, मांडल्य लिपि, वज्र लिपि, सुभद्रा लिपि, सिंह लिपि आदि में लिखित ग्रन्थ भी प्राप्त हैं। इन में वज्र लिपि और सुन्दरी लिपि का प्रचलन न्याय ब्यास ने सं० १४१० में किया था। कुछ वर्षा पूर्व महाराष्ट्र विद्वानों ने इसके पढ़ने का प्रयहन किया और इसके द्वारा महाराष्ट्री साहित्य को एकाएक बहुत बड़ी साहित्यिक निधि प्राप्त हो गयी ।

कुछ वर्ष हुए हस्तिलिखित प्रंथों का संग्रह करते हुए हमें एक ऐसा ग्रन्थ मिला जिसकी लिपि बड़ी विचिन्न-सी प्रतीत होती थी। हमने उसे पढ़ने के लिये कई विद्वानों की सहायता से प्रयत्न किया पर सफल न हो सके। इसमें कुछ अक्षर तो नागरी लिपि से मिलते-जुलते थे, कुछ सर्वथा मिन्न थे। इससे बड़ी दुविधा होने लगी। सिलिसिलेवार पढ़े बिना इसके नामादि का पता लगाना भी संभव न हो सका। इसकी लिपि को किसी विद्वान ने कुछ और किसी ने कुछ बताया। पर पर्याप्त परिश्रम के बिना इसका निर्णय होना संभव न था। सीन वर्षा हुए मैने इसकी प्रशस्ति पढ़ने का प्रयत्न किया।

संवत् का अंक तो स्पष्ट था, पर अन्य बातें कुछ ठीक और कुछ वेठीक रूप से पढ़ी गयी थीं। उस समय वर्गमाला बनाने का विचार भी किया गया, पर उसके लिए जैसी लगन से प्रयत्न करना आवश्यक था. नहीं हो सका । इसके जंपर के वेष्टन-वस्त्रादि को देखते हुए इसकी लिपि दक्षिणी होने का अनुमान किया गया था । यही अनुमान हुआ कि महाराष्ट्र आदि के विद्वानों से पढ़ाने का प्रयतन किया जाना समीचीन होगा। गत वर्ध काकाजी अगरचंदजी नाहटा ने इसे वम्बई, पूना आदि स्थित कई विदानों को दिखाया. पर कोई भी इसे पढ़ नहीं सके । तब मुझे पढ़ने का प्रयत्न करने की प्रेरणा करते हुए वह गुटका उन्होंने मेरे पास कलकत्ते में रख दिया । गत वालमुकुन्द गुप्त समृति महोत्सव के प्रसंग पर उपस्थित हिन्दी के कई विद्रानों को यह ग्रन्थ दिखाने पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के समापति श्री चनद्रबली पण्डिय ने अन्त में यही सुझाव दिया कि आप जब इसका कुछ-कुछ अंश पढ़ने में समर्थ हो सके हैं तो प्रयत्न कीजिए । वर्णमाला तैयार करके इसे आप पूरा पढ़ लेंगे। इससे उत्साहित होकर मैंने इसे पढ़ **डालने का निश्चय किया और बीच का पृष्ठ** खोलकर अनुमान से पढ़ना प्रारंभ कर दिया । लिपि के साध-साध इसकी भाषा भी भेरे लिये अपरिचित थी. फिर भी अन्ततोगत्वा इसकी एक वर्णमाला तैयार कर ली गई और इसके आधार पर इस लिपि और ग्रन्थ का कुछ परिचय प्रस्तुत लेख द्वारा कराया जा रहा है।

यह गुटका ५×३॥ इंच की साइज का है और इसकी पत्र संख्या ३१६ है किन्तु पत्रांक कहीं भी दिया हुआ नहीं है। ग्रंथ पत्तले सफेद कागजों पर काली स्याही से लिखा गया है। दोनों ओर लाल स्याही की लकीर देकर हाशिया छोड़ा हुआ है। सिलाई मजबूत होते हुए भी जपर केवल एक पत्तला, इकहरा, हाथ की बुनी दक्षिणी साड़ी के छीले का वस्त्र लगा हुआ है जो जीर्ण-

शीण होकर नष्टप्रायः हो गया है । प्रति के अंतिम इ-४ पत्र घिस कर आधे-आधे नष्ट हो गये हैं । ३१५ पत्र दोनों ओर लिखे हुये हैं । पत्रांक १६१, १६२ खाली हैं । पत्रांक ६४, ५६२ खाली हैं । पत्रांक ६४, ५८०, ५०, १६४, २४०, २४१ एक तरफ लिखे हुये हैं । प्रति पत्र में १० से १४ तक पंक्तियाँ और प्रति पंक्ति में १६ से १९ तक अक्षर हैं। अंतिम ३१६वें पत्र में केवल ४ पंक्तियाँ हैं । अक्षर गणना से ग्रन्थ लगमग ४००० श्लोक-परिमाण का प्रतीत होता है ।

ग्रन्थ के पुष्पिका लेख से ज्ञात होता है कि शक संवत् १५३५ में अक्षय तृतीया सोमवार के दिन जांबू गाँव में इस प्रति का लिखना प्रारंभ किया गया था। पूर्वकाल में जांबू गाँव नासिक नगर का एक भाग था । इस प्रति के लेखक का नाम आसुटी हरीचंद्र है। 'आसटी' सम्भवतः लेखक की उपाधि है । संकेत लिपि में लगभग २०० रलोक प्रतिदिन लिख कर १९ दिन में, अर्थात मिति ज्येष्ठ कृष्णा ६ शुक्रवार को, जांबू गाँव में ही लेखन समाप्त किया गया है। इस ग्रन्थ का नाम 'पावा पाठ" है । प्रस्तुत प्रति में 'पूर्वार्ड पावा पाठ' लिखा है, अ**तः इ**सका उत्तरार्द्ध भी अवश्य होना चाहिए । महानुभावी सम्प्रदाय मिक्त प्रधान था, अतः इसका प्रतिपाद्य विषय स्वभावतः पूजा - पाठ, टान. ब्राह्मण-सत्कार, उपदेश, प्रार्थनादि है ! दीच दीच में प्रसंगोपात्त कथाओं में दातादि दुर्व्यसनों के स्याग का भी निर्देश है । भगवःन् श्रोकृष्ण, पदानाभि, मार्कण्डेय, इत्ता-त्रेय. अवड्ला माता, महाराष्ट्र के महान् व्यक्ति चांगदेव, लरूमदेव, माईदेव, गोपाल, हरिपाल प्रमृति व्यक्तियो तथा गुजरात, दारावती, महाराष्ट्र, बनारस, सारंगधर आदि देशों के तीथों तथा गोनती, तुंगमद्रादि नदियों के नाम इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर आये हैं। एक स्थल पर चांगदेव की जन्म-भूमि राउल का नाम आया है. जो अब भी महाराष्ट्र में विद्यमान है।

ग्रन्थ का प्रारम्भ करते समय 'श्री परेशायनमः'' नागरी अक्षरों में लिख कर संकेत लिपि का प्रारंभ हुआ है । समस्त ग्रन्थ, आदि से अन्त तक, प्राचीन महा-राष्ट्री गद्य में लिखा गया है। बीच-बीच में एकाध अक्षर नागरी वर्णमाला का भी दे दिया है। यह पद्धति कभी-कभी भाषा से अनभिज्ञ पाठक को भ्रम में डाल देती है । एक से नौ तक के अंकों में नागरी पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। कहीं कहीं पद्यांक को भाँति ५-६ पंक्तियाँ लिख कर अंक दे दिये गये हैं। व क्यों के वीच बीच में ऐसे अक्षर आ जाते हैं जिन्हें अभी तक ठीक-ठोक नहीं पदा जा सका। लिपि-पत्रक में ऐसे अक्षरों को 'अस्पष्टाक्षर' की संज्ञा टी गयी है। संयुक्ताक्षरों में कुछ सांकेतिक और कछ नागरी वर्ण दिये हैं । मैंने उन सब का उसी रूप मे लिपि-पत्रक में समावेश कर दिया है।

भारतीय प्राचीन साहित्य में संकेत-लिपि के जो वर्णन मिलते हैं, उनके विषय में उत्पर लिखा जा चुका है। महानुभावी संप्रदाय में भी २५-३० तरह की संकेत लिपियाँ थीं। आलोच्य लिपि का क्या नाम है. यह तो नहीं कहा जा सकता; पर किन-किन अक्षरों में कैसा परिवर्तन हुआ है और किस ढंग से लिखा गया है, इसका कुछ विवरण लिखा जाता है।

इस लिपि में नागरी के दन्त्य 'स' 'सा' को 'अ' 'आ' मूर्धन्य 'प' 'वी' को 'इ' 'ई' और 'ह' को 'उ' 'ऊ' माना है । 'ए' 'ऐ' में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया है । 'ओ' 'औं' 'उ' 'ऊ' के सदश प्रतीत होते हैं।

कण्ठच वर्ण 'क खग घ' को 'यर छ व' के सहश लिखा है। तालव्य वर्ण 'च छ ज झ' को 'प प व म' के सहश लिखा है। 'छ' का रूप 'पू' के जैसा तथा कहीं-कहीं नागरी के 'छ' जैसा ही है। अनुन।सिक 'छ' तथा 'अ' का कोई निश्चित रूप नहीं है। 'अ'

३ चिंदीं शि: पे । शिहा- शंडीं (अस्प कासर)
स्व द दा व्य वृ का अ मह स्ती कृ क्या प्र मृब स्व
से स्व द दा व्य वृ का अ मह स्ती कृ क्या प्र मृब स्व
से स्व द दा व्य व्य क्या स्व ख य या या ह स्य ब्य स्य
क्या त व्य द स्य ध्य क्या स्व ख य या या ह स्य ब्य स्य
क्या त व्य द द व्य ध्य क्या स्व ख य या या ह स्य ब्य स्य
क्या ता व्य स्व ध्य सः स्व त्य सि अभी का स्व स्व कृं य त्या व्य
से स्वा त्य व्य स्व ध्य ख व्य व स्वा व स्य (संवक्ता वर)
तो ता था ब्य स्व ध्य ख व्य व स्वा व स्य
ता त्य व्य व्य ध्य ख व्य व स्वा व स्य
ता त्य व्य व्य ध्य ख व्य व स्वा व स्य
से स्व ध्य द व्य व स्व व्य व स्य
ता त्य व्य व्य स्व ध्य व स्व व्य व स्य
ता त्य व्य व स्व ध्य द व्य व स्व व स्य
ता त्य व्य व स्व ध्य द व्य व स्व व स्य
ता त्य व्य व स्व ध्य द व्य व स्व व स्व
ता त्य व्य व स्व ध्य द व्य व स्व व स्व
ता त्य व्य व स्व ध्य द व्य व स्व व स्व
ता त्य व्य व स्व ध्य द व्य व स्व व स्व
ता त्य व्य व स्व ध्य द व्य व स्व व स्व
ता त्य व्य व स्व ध्य द व्य व स्व व स्व
ता त्य व्य व स्व ध्य व स्व व स्व
ता त्य व्य व स्व ध्य द व्य व स्व व स्व
ता त्य व्य व स्व ध्य द व्य व स्व व स्व
ता त्य व्य व स्व ध्य द व्य व स्व व स्व
ता त्य व्य व स्व ध्य द व्य व स्व व स्व
ता त्य व्य व स्व ध्य द व्य व स्व व स्व
ता त्य व्य व स्व ध्य द व्य व स्व व स्व
ता त्य व्य व स्व ध्य व स्व व स्व
ता त्य व स्व स्व ध्य व स्व व स्व व स्व
ता त्य व स्व स्व व स्व व स्व व स्व
ता त्य व स्व स्व व स्व व स्व व स्व स्व

के लिये लिपि-पत्रक में '8' के रूप का अनुमान कर के प्रश्नवाचक चिन्ह लगा दिया है। मूर्धन्य वर्ण 'ट ठ ख ढ ण' को दन्त्य वर्ण 'त थ द ध म' तथा 'त थ द ध न' को मूर्धन्य 'ट ठ ख ढ ण' के रूप में परिवर्तित संकेत बना लिया है। ओष्ठच वर्ण 'प फ व म म' को तालव्य 'च छ ज झ ज' में परिवर्तित किया है। 'म' वंगला लिपि के 'ह' के सहश है। 'य' के दो रूप हैं—एक शून्याकार 'o' तथा दूसरा 'क'। 'र' के रूप में गुजराती 'ख' या नागरी के 'अ' का निकटवर्ती आकार प्रयुक्त हुआ है। 'ल' 'व' में ठीक 'ग' 'घ' का परिवर्तन है। तालव्य 'शं और मूर्धन्य 'ष' में कोई परिवर्तन नहीं है। दूसरे सभी अक्षर गुजराती की तरह खुले-मस्तक हैं, पर 'श ष' को अपरिवर्तित ग्रहण करके मस्तक पर लकीर भी रखी है। 'ष' के खुले मस्तक वाले रूप को ग्रहाँ 'इ' की मान्यता दी है। दन्त्य 'स' को हिन्दी के 'म' जेसा माना है, और 'ह' को 'इ' से मिलता-जुलता रूप दिया है। 'झ' को 'उ' जैसा लिखा है। 'श्र' और 'इं में कोई खास परिवर्तन नहीं है। 'ळ' के 'ग' रूप में चले जाने से 'ळ' के लिए 'ल' रूप रखा गया है।

मात्राओं के प्रयोग में केवल हस्य उकारान्त के

नीचे '.' बिन्दी देकर काम चलाया है। दूसरी मात्राओं के प्रयोग में विशेष परिवर्तन नहीं है पर दीर्घ ईकार पाठक की भ्रम में अवश्य डाल देता है क्योंकि मात्रा विशेष फँची न ले जाकर 'आ' कार की तरह ही है, जबकि आकारान्त खुले-मस्तक की अलग पाई है और ईकारान्त व्यक्षन से मिला हुआ है। पूर्ण विरामादि के लिए प्रति में। या॥ के चिह्न हैं किन्तु स्थान-स्थान पर अक्षर-वाक्यों के आगे-पीछे विसर्ग चिन्ह ':' का प्रचुरता से व्यवहार किया है, जो तत्कालीन महानुभावी सम्प्रदाय की अन्य मराठी संकेत-लिपियों में भी इष्टिगोचर होता है।

महानुभावी पंथ की सांकेतिक लिपियों को महाराष्ट्र के दो-एक विद्वानों ने पढ़ने का प्रयतन किया है। इसमें उन्हें महाराष्ट्र भाषा का ज्ञान बहुत सहायक सिद्ध हुआ। किसी भी ग्रन्थ की भाषा का ठीक ज्ञान हो तो लिपि के अक्षरों का अनुमान लगाने में बड़ी सहायता मिलती है और तुरंत निर्णय पर पहुँचा जा सकता है । हमने हस्त-लिखित गुन्थों की प्राचीन लिपियों का अभ्यास, उन ग्रन्थों के प्रकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती माषा में होने से, सुगमता से कर लिया था. पर इस गुटके की लिपि की समस्या उससे सर्वथा भिन्न थी: इस ग्रन्थ को पढ़ने में दो कठिनाइयाँ शैं-एक संकेतलिपि की और दूसरी महाराष्ट्री भाषा की । मैं ठहरा दोनों विषयों से अनभिज्ञ, अतः पाठक मेरी परेशानी को स्वयं समझ सकते हैं। जिस भाषा के शब्दों का भी ज्ञान न हो तथा जिसकी लिपि भी अज्ञात हो. उसका प्रथम परिचय देने में अशुद्धियों का बाहुल्य अवश्यस्भावी है. पर वह एक अज्ञ व्यक्ति द्वारा सम्पादित होने के कारण उतना ही क्षंतव्य और विद्वानों द्वारा संशोधन-विषयक सुझाव प्राप्त करने का अधिकारी भी है।

नमूने के तौर पर ग्रंथ की कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्गध्नत की जाती हैं— आदि—

श्री परेशाय नमः ॥०॥ फळेठान । कर्हाया ब्राह्माणाः चा धरी :रू: स्विकरिला :: केतुला एक दीस राज्य केलें :8: श्राद्ध जालें :तेः ३ ों : मार्या रतिचिया चाडा :लें: णेः भाःते व्हेळि ब्रह्मचयाची-ःमः ते निम्ति करूणि माता पूरा : यें: ते य देव-रीत विजें करिताः श्रीदत्तात्रये प्रभूम्या श्रो चा वेखधरूनि जाळी तळींगि :यें: हो की धला: श्री मुकुटावरि चवडा ठेविला : लोकु-या-तो परतागेलाः तथ शक्ति स्वीकरिलाः॥:रूः स्विकरिला ऐसी एकि वासना :॥:२: यु-द्वारावति जीए :तवः ३:तेथ होते :२:३:-द्वारावति-:॥१॥:३: द्वारावत्ति जीए :तवं: ३:तेथ होते :२:३:-द्वारावति--: ॥१॥ :३: द्वारावतिए सिखरा***'डीति :२: सुवींपुंजे भरीतिः ॥ वरिठेवीतिः गोमतियं मध्य'''मार्गु प्रकटे खराँटेणि विद्याः ॥२॥***तिःयं सयासु स्विकरिलाः म-रूद्धि पूरा ःयेः ते शौणि मागु तें द्वारावतिये :ये: गोमतियेचां तीरी जपंत होते: पढ़ां दंखरोविला : ो: तेथ :३: यें टा: वरि स् पठे-विले :वेः खरांटेणि हाणि तलें दंजुमोजुणि गोमतिये मध्यें घातला :तेथ:ओं: शक्ति स्विकरिली: दुसरी वासणारू: स्वीकरिला :२: त्राद्धि पुरा :यै: ॥३॥

अन्त्य-पुष्पिका---

तरंगवती

शरद् ऋतु के सुहावने दिन प्रारम्भ हो गये हैं। आकाश में श्वेत बादल दौड़ते मालूम देते हैं। ग्रीष्मकाल बिताने गये हुए राजहंस लौट कर यमुना नदी एवं अन्य सरोवरों में कल्लोल करने लगे हैं। नदी तट-स्थित कितने ही वन फीके, कितने ही आसमानी और कितने ही पीले बन गए हैं तो सप्तपर्ण के जंगल बरफ जैसे सफेद हो गए हैं।

इस समय मध्य देश स्थित वत्स देश अत्यन्त मनोहर लगता है। उसके धान्य भरे खेत, जलपूर्ण नदी नाले एवं हर्ष भरे मानव मन हर किसी को आनन्द-दायी हैं। इसकी राजधानी कौशाम्बी तो उत्सवों का धाम हो गई है।

यहाँ के नगर सैठ ऋष्मसेन का खिला हुआ बगीचा पूरे बहार में हैं। उसके घर की समस्त महिलाएँ इस सद्यान की मीज उड़ाने के लिए निकल पड़ी हैं। पतिंगए की पांस जैसे मनोहर वस्त्र एवं विविध अलंकारों के परिधान से वे नन्दन वन में विहार करती अध्सराओं के जैसी लगती हैं। कोई फूल तोड़ती है तो कोई लतामण्डपों की कुंज गलियों में घूमती है। कोई पुष्प हार बनाती है तो कोई पक्षियों के कलरव-गीज सुनने में मस्त है।

इस समय दो तरुण वालाएं बाग के बीच में स्थित तालाव के किनारें खड़ी-खड़ीं उसकी शोमा देख रही हैं। इनमें एक का नाम तरंगवती और दूसरी का नाम सारिसका है। तरंगवती ऋषभसेन सेठ की उत्यन्त लाडली पुत्री है! उसके गणित, वाचन, लेखन, नृत्य, गायन, पृष्प-पालन कला, वनस्पति शास्त्र, रसायन शास्त्र आदि विषयों के निष्णात शिक्षकों के पास अभ्यास किया हुआ है।

तरंगवती यमुनाजो की मान्यता से हुई थी अतः उसका नाम तरंगवती रखा गया! वह आठ माइयों में सबसे छोटी और लाडली वहिन है। उसके पास खड़ी सारंसिका उसकी प्रियं सखी है।

तालाव में गुलावी, आसमानी और भूरे कमल खूब खिले हुए हैं जिनका पराग संग्रह करने के लिए मस्त बने भूमर गुंजार कर रहे हैं। बत्तक और चक्रवाक युगल इसमें तैर कर कल्लोल कर रहे हैं। यह दृश्य देखते-देखते तरंगवती एकाएक मूशित होकर भूमिसात् हो गई।

एकाएक इस घटना से सारसिका घदड़ा गई। वह दौड़ कर तालाब से कमलपत्रों का दोना बनाकर पानी लाई और तरंगवती के मुंह पर छिड़कने लगी। थोड़ी देर में तरंगवती सचेत हो गई, उसकी आँसों से अशुधारा प्रवाहित थी।

'वहिन! एकाएक तुम्हें क्या हो गया ? कोई मध्मक्षिका ने डंक मारा या चक्कर आ गया ? जो हो शीघ्र कहो. त:कि उसका उणय किया जाय! सारसिका के इन प्रिय दचनों के उत्तर में तरंगदती ने कहा—'वहिन। न तो मुझे मधुमक्खी ने काटा और न चक्कर ही आया था।' 'तब क्या हुआ था?' सारसिका ने पूछा।

तरंगवती ने कहा—'प्रिय सखी ! तुम वचपन से मेरी सुख-दुःख की साथीन हो और मेरी समस्त गुप्त वातें जानती हो अतः तुम्हे कहने में कोई आपित्त नहीं किन्तू, यह बात तुम्हारे मन में रखना है । इसके लिये कसम खाकर कही कि मैं किसी के सामने प्रकट नहीं करूँगी ।' सारसिका के कसम खाने पर तरंगवती ने कहा—'चक्रवाक युगल को

वर्षत }

देखते ही मुझे पूर्व जन्म कि बात स्मरण हो आई जिससे मैं मूर्छित हो गई थी। यह सारी बात तुम्हें संक्षेप से बतलाती हूँ।

'यहाँ से कुछ दूर अंग नामक देश है जहाँ से होकर गंगा बहती है । इसके उभय तट पर बहुत से ग्राम-नगर बसे हुए हैं। इसमें जल-पक्षियों के झण्ड के झुण्ड रहते हैं। मैं अपने पूर्व भव में वहाँ चक्रवाकी थी एवं मेरा पति शरीर से सुन्दर और स्वभाव से तपस्वी की भाँति सरल था । हम स्वतन्त्रता का पुरा आनन्द उठाते थे । चक्रवाक में जितना प्रवल और सच्चा स्नेह होता है वह सारे संसार में अप्रतिम है। हम दोनों हरदम साथ-साथ रहते । तैरने में, खेलने और उड़ने में हमें एक दूसरे का वियोग असहा था। एक दिन कोई महागजराज गंगा नदी में जलपान करने आया। वह सुंड में भरकर इधर-उधर पानी उद्यालता और कह्रील कर रहा था । इतने में एक यमदूत जैसा काला भीषण पारधी आकर वृक्ष के नीचे खड़ा हो ग्या । हाथी का शिकार करने के लिये धन्य पर बाण चढ़ाकर जोर से हाथी की ओर फेंका किन्तु दुर्भाग्यदश वह हाथी को न लगकर डाल पर बैठे मेरे पति को लग गया । उनकी एक पाँख कटने से मुर्व्छित हो वे नदी के तट पर जा गिरे। मैं भी पीछे-पीछे उड़ी और उनकी वेदना सहन न होने से मुख्ति हो गई । कुछ देर बाद होश में आने पर मैंने चंचु द्वारा उनका तीर खींचकर निकाल दिया और अश्रुपूर्ण नेत्रों से अपनी पाँचों दारा हवा करने लगी। मैंने उन्हें जीवित समझ कर बहुत चेष्टा की कि वे कुछ बोले पर वे बोले नहीं । मैं पनः अचेत हो गई। चेतना लौटने पर मैंने अपनी चोंच से अपनी पांख के अन्दर के पिच्छ निकाल फेंके और उसी प्रकार स्वामी की पाँखों के पिच्छ भी चुन-चुनकर निकाले और उनसे चिपक कर विलाप करने लगी । इतने में हो वह पारधी वहाँ आया और हाथी के बदले मेरे स्वामी को मरा देख कर कहा-

'आह । प्रभु ।' मैं उसके भय से उड़ कर सुदूर वृक्ष की शाखा पर जा वैठी। पारधी उन्हें बालू पर रख कर काव्ठ लाने चला गया । मैं फिर डाल से उत्तर कर उनके पास आकर वैठ गई। मेरी वेदना का कोई पार नहीं था। इतने ही में पारधी काप्ठ लेकर आया और मैं आकाश में उड़ गई। पारधी ने मेरे स्वामी का अग्नि-संस्कार कर चला गया। आह ! मेरे पति उस चिता में जल रहे थे। अतः मैं भी उसमें कुद पड़ी। मेरे पति के शरण में वह अगिन भी मुझे सुख रूप लगी। इतनी वात कहकर तरंगवती फिर वेहोश हो गई। होश में आने पर उसने फिर बात आगे चलाई—'गंगा के तट पर मैं सती होने के पश्चात कौशाम्बी नगरी में सेत ऋषभसेन की पुत्री रूप में जल्पनन हुई। एकबार आगे भी मुझे यह वात समरण हो आयी थी । मैंने तुम्हें संक्षेप में यह बात कही है पर अब जब तक मैं अपने पति से न मिल सकं तका तव तुम यह वात किसी को भी नहीं कहना ।

'आज सात वर्ष से मैं अपने प्रियतम से मिलने की आशा मैं माता-पिता को झ्ठी-झूठी आशाएं देती आ रही हूँ। यदि यह सम्भव नहीं हुआ तो मैं हृदय की संताप दूर करने के लिये साध्वी वन जाऊँगी. ताकि फिर संसार के बन्धनों में न फँसना पड़े।'

यह बात सुनते ही सारसिका के भी आँखों में आंसू आ गए और वह धेर्य बंधाते हुए बोली—'सखी! तुम्हारा प्रेम स्वर्गीय है. वेजोड़ है। यह प्रेम तुम्हें स्वामी से अवश्य मिलन करावेगा।' फिर वे दोनों जहाँ अन्य स्त्रियाँ थीं वहाँ चली गईं। इसकी माता पुत्रबधुओं को नहलाने की व्यवस्था कर रही थी। तरंगवती की आँखे लाल और मुंह उदास देखकर कहने लगी—'प्रिय पुत्री! तुम्हें क्या हुआ?' तरंगवती ने कहा—'मां, मेरा सिर दर्द कर रहा है।' यदापि आज बगीचे में ही सेल सपाटा और भोजन की व्यवस्था आयोजित थी. सब लोग आनन्द मना रहे थे पर एकाएक पुत्री को अस्वस्थ देखकर माता

को वड़ी चिन्ता हुई किन्तु सबके आनन्द में मंग न पड़े इसलिए सारी व्यवस्था करके स्वयं तरंगवती और सारसिका को लेकर घर अ। गई!

ये तो वड़े घर की संतान, सहज ही आँख-माथा दुखे तो वैद्य - हकीमों की दौड़ा-दौड़ी हो जाती है। ऋषभसेन ने अविलंब कुशल वैद्यों को बुलवाया। उन्होंने नाड़ी परीक्षा की, अन्य प्रश्न पूछ कर अभिप्राय दिया कि—'भय जेसी कोई वात नहीं। वाई के शरीर में कोई रोग नहीं, थकावट या मानसिक चिन्ता से ही सिर-दर्द हो गया लगता है।' संध्या समय सब लोग वगीचे से घर आ गये। दूसरे दिन से तरंगवती का सिर-दर्द तो मिट गया पर मानसिक व्याधि बढ़ गई। पूर्वभव के पति की प्राप्ति के लिये उसके रोम-रोम में रटना लग गई।

तरंगवती के अपार रूप और गुणों से आकृष्ट होकर अबतक अनेक श्रीमन्त परिवारों से माँगे आती थी पर चरित्र, विद्या, वय, गुण और धन आदि से योग्य न लगने से वे मांगे ठुकरा दिए जाते थे।

तरंगवती को अञ्चक्य मनोरथ कैसे सफल हो इसी की तमन्ना लगी थी अतः उसने कठिन व्रत उपवास मी किये जिससे उसका शरीर सूखने लगः।

एकाएक उसके हृदय में एक विचार का उद्भव हुआ कि मेरे स्वयं पूर्वभव के सारे प्रसंगों को चित्रों में अंकन कर प्रदर्शनी लगाई जाय ! संयोगवश मेरे पित को भी उन्हें देख कर पूर्वभव का स्मरण हो जाय तो हमारा मिलाप हो सकता है उसने ये विचार अपनी सखी सारसिका को कहा और थोड़े समय में ही अत्यंत कुशलतापूर्वक पूर्वभव के सारे प्रसंग आलेखित कर चित्र-माला तैयार कर डाली।

कार्तिक-पूर्णिमा आने पर तरंगवती ने उन चित्रों को मूल्यवान चौखटों में मढ़ा कर अपने आंगन में प्रदर्शनी आयोजित कर सजा दिया और सारसिका को इसकी देख- रेख पर नियुक्त कर दिया । पर्व दिवस होने से स्वयं उपवास किया था. अतः सादी चटाई पर आसन जमा कर क्या होता है जानने के लिये प्रतीक्षा करने लगी ।

ऋषभसेन सेठ की हवेली राजमार्ग पर थी और उसका आंगन कला की दृष्टि से भी अलंकार रूप माना जाता था । अतः चांदनी रात में लोग प्रदर्शनी देखने के लिये खुव आने लगे। देर तक ऐसा चलता रहा। जब भीड़ कम हुई तो एक नदयुवक अपने मित्रों के साथ चित्र प्रदर्शनी अवलोकनार्थ आया । चित्रों को देखकर वह प्रशंसा करने लगा कि—'अहो ! क्या ही सुन्दर गंगा नदी चित्रित की है ! यह चक्रवाक युगल भी कैसे ताहश बनाये हैं। ये कमल वन में साथ-साथ घमते हैं, बालुका पर आराम करते हैं। आकाश में भी साध-साथ उड रहे हैं। अहा ! ये कैसे पिंबत्र प्रेम में बंधे हुये हैं। अरे ! यह हाथी भी कितना सुन्दर और स्वामाविक है ! इस शिकारी के लाल नेत्र और दीर्घकाय तो देखों । पैर चौड़े कर किस प्रकार धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ा कर खींच रहा है। अरे, यह चक्रवाक इसी से घायल होता है जिसका दृश्य कितना दयनीय लगता है ! और अग्निशरण करते ही चक्रवाकी भी उसमें कद कर चिता प्रवेश कर जाती है। यह तो अजब स्नेह। स्वर्गीय प्रेम !' इस प्रकार बोलते ही वह वेहोश हो गया। उसके मित्र भी चित्र देखने में इतने तस्त्रीन थे कि उन्हें इस वात का पता तक न लगा। पता लगते ही वे उसे किनारे ले जाकर हवा देने लगे। सारसिका भी जनके पीछे-पीछे गई । जब सचेत हुआ तो वह बोलने लगा-'अहा ! मेरी प्रिय चक्रवाकी ! आज तुम कहाँ हो ? तुम्हारे बिना यह जीवन नहीं टिक सकेगा!' मित्रों ने कहा-'क्या उटपटांग बोल रहे हो ? पागल तो नहीं हो गए ? कैसी चक्रवाकी और क्या हुआ है तुम्हें ?' तरुण ने कहा— 'मैं पागल नहीं हुआ हूँ । तुम मानो या न मानो किन्तु ये चित्र मेरी पूर्व-जन्म-कथा से सम्बन्धित हैं। मैं ही

चक्रवाक हूँ। मृत्यु पर्यन्त की घटना मुझे याद शी पर बाद में क्या हुआ वह इन चित्रों से आज मालूम कर सका । मेरी प्रिय चक्रवाकी मेरे साथ ही जनकर मस्म हो गई। हाय। आज वह कहां मिलेगी?' सारसिका यह सुनकर चित्रों के पास आकर खड़ी हो गई। इतने में उस तरण के एक मित्र ने आकर पूजा—'सबको पागल बना देने वाले इन चित्रों का अंकन किसने किया है?'

सारसिका ने कहा—'सेठ ऋषभसेन की पुत्री तरंग्वती ने ये चित्र बनाये हैं। ये केवल कल्पना मात्र नहीं हैं, इसके पीछे तथ्य छिपा हुआ है।'

यह बात उसने अपने मित्र से कही जिसे सुनकर वह शोकपूर्वक कहने लगा—'नगर सेठ तो बड़ा अभिमानी है। तरंगवतो के लिये आयी हुई सभी माँगे उसने ठुकरा दिये हैं। मेरी माँग वह कैसे स्वीकार करेगा?' मित्रों ने कहा—'तुम चिन्ता मत करो. किसी भी प्रकार से तुम्हारा सम्बन्ध तरंगवती के साथ करा देंगे!' वे उसे घर की ओर ले गए। सारसिका भी पीछं-पीछे चली। राज-मार्ग पार कर एक मध्य मवन में वे सब प्रविष्ट हो गए तो उसने बाहर रुककर सारी पृष्ठताष्ठ कर ली।

रात्रि पूर्ण हुई । प्रमात होने पर सारसिका दौड़कर तरंगवती के निकट गई और उसे आलिङ्गनबद्ध कर बोली—'बहिन ! काम सफल हो गया ! तुम्हारे पति का पता लग गया है।' फिर उसने रात की सारी बात कही । तरंगवती ने कहा—'सखी, तुम माग्यशाली हो कि तुमने उन्हें नजरों से देखा । मैं कब उनके दर्शन करू गी ? अरे. तुमने मुझे उनका नाम तो बतलाया ही नहीं ।' सारसिका ने कहा—'उनका नाम पदादेव है और उनके पिता का नाम धनदेव । उनका मकान सारे नगर में केवल अपने से ही मध्यता में कुछ न्यून है । रूप में तो वह कामदेव के जैसा है और सचमुच वह बिल्कुज तेरे योग्य पति है।' यह कह-कर वह चली गई !

दिन के दूसरे प्रहर में सेठ धनदेव अपने दो आत्मीय जनों के लाथ सेठ ऋषभसेन के पास आया और तरंगवती की मांग की । ऋषभसेन ने कहा—'वह सो व्यापारार्ध परदेश ही घूमता रहता है और दासियों के साथ धमता है। उसे मेरी पुत्री दं तो वह क्या सुख भोगेगी ? सदा पति वियोग में अश्रुपात करेगी, और कभी अच्छा पहिनने-ओढ़ने का मोका नहीं मिलेगा। उस प्रवासी से तो यहाँ रहने वाले किसी कंगाल को देना अच्छा है। धनदेव को यह उत्तर बहुत बुरा लगा, वह क्रुद्ध होकर चला गया। सारसिका संलग्न खण्ड में वैठी हुई सव कुछ सुन रही थी। उसने अश्रुपूर्ण नेत्रों से आकर तरंगवती को कहा। इस समाचार से वह वज्रपात से धराजायी होते वृक्ष की भाँति स्तब्ध हो गई। जद स्वस्थ हुई तो उसने कहा-'सारसिके ! मेरे पिता के इस जवाव को सनकर उन्हें सख्त आघात होगा जिससे उनका जीवितव्य भी जोखिम में आ पड़ेगा, अतः मैं एक पत्र लिखती हैं जिसे दे आओ।' तरंगवती ने पत्र तैयार किया और सारसिका उसे लेकर पदादेव के मकान पहुंची । दरवानों ने अनजान व्यक्ति ज्ञातकर पूछा—'किससे मिलना है ?' सारसिका ने कहा—'पदादेव ने मुझे किसी कार्य के लिये बुलाया है ।' इससे उन्होंने अन्दर जाने दिया और एक दासी उसे पदादेव के पास छोड़ गई।

पदादेव की हालत इस समय बड़ी खराब थी। वह गाल पर हाथ देकर चिन्तित मुद्रा में बैठा था। सारसिका ने उसे नमस्कार कर कहा—'आप जिसकी चिन्ता में बैठे हैं, उसी का सन्देश लेकर में आई हूँ!' कहकर पत्र हाथ में रख दिया। तरंगवती ने उसमें लिखा था —पूर्वभव में जिसने आपके साथ चिता प्रवेश किया था, वही आज नगरसेठ के यहाँ पुत्री रूप में अवतरित है। आपकी खोज के निमित्त ही यह प्रदर्शनी आयोजित की गई थी। वही प्रेम आज भी कायम हो तो अपनी देह को सुरक्षित रखें व मुझे भी जीवित रखें। अपना

यह स्नेही जीवन जब तक सुखी न हो तब तक सारी बात गुप्त रखना ।

यह पत्र पदकर पदादेव की आँखों में अश्रधारा प्रवाहित हुई, देह कांपने लगा । पूर्व भव का स्नेह जिसके हृदय में इतना ही ताजा हो गया था कि उसने कहा-मेरी दशा वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। कल वाले चित्र वास्तव में मेरी पूर्व मव की कथा से सम्बन्धित थे। उन्हें देखते ही में मूच्छित हो गया था। वहाँ से आते ही लगभग सारी रात उसी स्थित में विताई। प्रात:-काल मेरे मित्रों ने मेरे पिताजी से कहा कि आप तरंगवती के लिये माँग भेजें । उन्होंने यह सुनकर कहा— तुम भले अन्य कन्या के लिये कहो किन्तु उसका नाम छोड़ो । वह अभिपानो नगरसेठ नहीं मानेगा। फिर भी जब मेरे भित्रों के आग्रह से वे स्वयं वहाँ गए किन्तु उत्तर वहीं मिला जो पहले से सोचा हुआ शा तो मैंने आत्महत्या करने का निश्चय किया और इतने में ही तुम आ गई। तुम उसके पास मेरा पत्र ले जाकर धैर्य वंधाओं कि तुम्हें वह चक्रवाकी की माँति ही चाहला है और तुम्हारे पिता को जब तक युक्तिपूर्वक मना लिया जाय तब तक धैर्य धारण करो।

सारसिका ने आकर पद्मदेव का पत्र देकर सन्देश कहा। तरंगवती को पत्र पढ़कर अत्यन्त आनन्द हुआ। उसमें चक्रवाक की अपनी मृत्यु तक की सारी वालों के साथ-साथ अपने हृदय की स्थिति लिखी थी। उसने साथ ही आखासन दिया था। तरंगवती ने हुलें लास से पत्र पढ़ा था पर कुछ ठंडी पड़ गई। उसने धारणा की कि पद्मदेव धेर्य धारण करने को कहता है तो क्या उसका स्नेह ढीला पड़ गया? सारसिका ने उसका समाधान किया।

रात्रि में तरंगवती का मन तरंगों में चढ़ा और यहीं सोचने लगी कि कब अपने प्रियतम से जाकर मिलूं? अन्त में उसने गुप्त रूप से जाने का निश्चय कर सारसिका से कहा । सारसिका ने कहा—'बहिन । यह तो अति- साहस होता है, इससे तुम्हारे कुल की मर्यादा मंग होगी । समय आने पर तुम्हारे पिता तुम्हारे मन की इच्छा समझ कर स्वयं उसके साथ तुम्हारा विवाह करने को राजी हो जायेंगे। तुम उताबली मत बनो।'

तरंगवतों ने कहा—'तुम इतनी लंबी राणना कब सीख गई ? मनुष्य को सफजता प्राप्ति के लिये सभी प्रकार के जोखिम उठाना सीखना चाहिए। यदि तुम मुझे वहाँ नहीं ले जाती हो तो मैं एक घड़ी भी निकाल नहीं सक्यों। मेरे जोवितव्य की आशा न रखना।'

यह सुनकर सारसिका ने पदादेव के पास ले जाना स्वीकार किया ।

तरंगवती ने अपने अत्यन्त मूल्यवान वस्ताभूषण धारण किये और कुछ रात्रि पड़ने पर दोनों घर से वाहर निकली । जब वे पद्मदेव के मकान पर पहुँची तो वह मित्रों के साथ आंगन में बैठा सारंगी बजा रहा था। सारसिका को दूर से ही देखकर उसने अपने मित्रों को छुट्टी देते हुए कहा—'अब मैं सोर्जुंगा, तुम लोग मी जाओ। इस शरद रात्रि में आराम करो!' उसने सारसिका को बुलाया। तरंगवती पास वाले कक्ष में छिपी खड़ी रही।

पदादेव ने कहा—'सारसिके ! चलो. अपने कल दाले चित्रों का निरीक्षण करने चलें । किन्तु यह तो बतलाओं मेरी आंखों के तारे के समान तरंगवती का क्या सन्देश लाई हो ?' यह कहता हुआ वह उसी कक्ष में आ गया जहाँ तीरंगवती खड़ी थी। तरंगवती ने उसे बारंबार प्रेमपूर्वक देखा जिससे उसका सारा शरीर प्रफुक्षित हो गया। सारसिका ने कहा—'में कोइ सन्देश नहीं लाई हूँ किन्तु सागर से मिलने के लिये जैसे नदी दौड़कर आती है उसी प्रकार वह आपसे मिलने दौड़ आई है।' इसी समय तरंगवती ने पदादेव के चरणों में गिर कर हर्षाश्रुओं से उनके चरण प्रक्षा-लित किये। पद्मदेवने उसे प्रेमपूर्वक उठा कर कहा—'प्रिये.

तरंगवती! तुम यह साहस कैसे कर सकी ? तुम्हारे पिता को सहमत कर सकूं, वहाँ तक प्रतीक्षा करने को मैंने तुम्हें कहा था। वे राज्य के कृपापात्र हैं. पता लगने पर वे हर उपाय से मेरे परिवार का बिगाड़ कर डालेंगे अतः तुम्हारी अनुपस्थित ज्ञात होने से पहले ही तुम घर लौट जाओ। क्योंकि वात तो हवा में उड़कर फैल जाती है।

इसी समय नीचे के राजमार्ग से कोई व्यक्ति वोलता जा रहा था—'ऋपने आप चलकर आई हुई प्रिया, यौवन, अर्थ, राज्य, लक्ष्मी, वर्षा, समय, चांदनी और चतुर स्नेहियों के आनन्द का जो उपयोग नहीं कर सकता वह घर पर आई हुई का मूल्यांकन नहीं जानता। जीवनाधार अपनी प्रिया को प्राप्त कर जो छोड़ देता है वह दुखी होता है।'

इन वचनों से पद्मदेव के विचारों ने पलटा खाया और वह बोला—'यदि हम परदेश चले जाएं तो विध्न और आशंकाओं से छुटकारा हो सकता है।'

तरंगवती ने रोते-रोते कठिनता से कहा—'प्रियतम ! आपकी इच्छानुसार में करने को प्रस्तुत हूँ पर अब मेरेसे घर वापस नहीं जाया जाएगा ।' फिर कितने ही विचार विमर्श के अन्त में दोनों ने पलायन कर परदेश जाने का निर्णय किया । पद्भदेव ने कहा—'तब में यात्रा की तैयारी कर लेता हूँ!' तरंगवती ने अपने आभूषणादि सामान लाने के लिए सारसिका को अपने महल में मेज दिया।

इधर पद्मदेव तैयार होकर बोला—'अब अपने को किञ्चित् मी विलम्ब नहीं करना है। अतः तुम्हारे पिता को ज्ञात होने से पूर्व ही हमें चल दैना चाहिए।' तरंगवती ने कहा—'पर अभी तो सारसिका नहीं आई, वह आवे तब चलें।' पद्मदेव ने कहा—'गुप्त बात में दासी को मिलाना ठीक नहीं इससे विध्न उपस्थित हो सकता है । फिर वह अपने साथ रहने से वाधा-सी रहेगी अतः अभी चले चलें ।'

तरंगवती और पद्मदेव चल पड़े । नगर के द्वार दिन-रात खुते रहते थे अतः वे सीधे यमुनाजी के किनारे जा पहुँचे । पद्मदेव ने यात्राएं खुव की थी अतः वह नौका चलाना भी अच्छी तरह जानता था। उसने पड़ी हुई नौका का लंगर उठाया और उसमें बैठकर वे तुरंत रवाना हो गये । इसी समय दाहिनी ओर शृगाल का शब्द सुना तो पद्रमदेव ने कहा—'प्रिये ! उत्तम शकृन हो जाएं तव तक नौका रोकें।' उसने नौका को रोका भी, पर नदी के वेग में अटका रखना कठिन था। अतः अनिच्छा पूर्वक भी उन्हें चल देना पड़ा। नदी के प्रवाह में नौका वेग से चलने लगी । दोनों किनारों पर घना जंगल था जिसमें से जंगली जानवरों की आवाजें आ रही थीं । थोडी-थोडी दूर पर निद्रामग्न गाँव भी दिखायी पहले थे । पट्रमदेव ने पतवार चलाते हुए कहा—'प्रिये! कितने चिर-वियोग के पश्चाद हम मिले हैं! अहा. तुम अपने मिलन की इच्छा नहीं करती और चित्रांकन न करती तो क्या हम मिल सकते ? तुमने मेरे जीवन को खब सुखमय बना दिया है।

तरंगवती ने लक्षा से नीचे देखते हुए कहा—'नाथ! आप ही मेरे जीवन-धन हैं, अब मुझे कभी भी दूर न करें, आपके विना मैं जीवित नहीं रह सकूंगी।'

पद्गनदेव ने कहा—'तुम ऐसी कोई चिन्ता न करो, हम अब काकंदी के निकट आ पहुँचे हैं। वो दूर नगर के सफेद महल दिखाई दे रहे हैं।' फिर आखिंगन कर उसके साथ गन्धर्व विवाह कर लिया। यह प्रेम-विवाह सर्वदा स्थायी रहे. इसके लिये इंट्ट देवों से प्रार्थना की।

अव वे गंगा के संगम पर पहुँचे। नौका गंगाजी पर तैरने लगी। पूर्वभव में जैसे इस नदी के पास चक्रवाक युगल तैरते थे उसी प्रकार इस भव में मानव

युगल तैरने लगे । जिथानाल हुआ, पशु-पक्षी जग कर कलरव करने लगे । पूर्व दिशा में सूर्य-किरणों का प्रकाश सर्वत्र फैला । पद्मदेव ने कहा—'प्रिये ! अव दांतीन करने का समय हुआ। ।' सामने नदी तट की बालुका पर उत्तरें । तरंगवती को स्वीकृति से नौका को किनारे लगाकर उत्तरें । अभी थोड़ी ही दूर चले थे कि झाड़ियों में से लुटेरे-डाकू निकल आये जिन्हें देखते ही तरंगवती चीस पड़ी और पद्मदेव से चिपटते हुए बोली—'अब क्या करेंगे।' पद्मदेव ने कहा—'तुमने अभी तक मेरा लाठी चलाना नहीं देखा है। छोड़ो मुझे—मैं उनकी खबर लेता हूँ। प्राण रहते मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा— चिन्ता मत करें।'

तरंगवती ने कहा—'नाथ ! मुझे अकेली छोड़कर उनसे न मिड़ें। आपका डाक़ूओं के हाथ से पकड़ा जाना मैं नहीं देख सक्गी। फिर मी आप जाते हो तो मैं अपना प्राण त्याग करती हूँ, तब तक ठहरें।'

इतने में लुटेरे आ पहुँचे । तरंगवती ने उनके पैरों में पड़कर आजीजो करते हुए कहा — 'तुम्हें जो कुछ चाहिये ले लो पर मेरे पति को कष्ट न दो ।' उन्होंने नोका पर अधिकार करके उतमें रखा हुआ सारा धन ले शिया और तरंगवती व पद्वदेव के सारे आमूनण उतार लिये।

ओं । वित्ते वड़े परिश्रम से दोनों गिले, तो अव उनका सुसी मिलन स्वप्नवत हो गया। लुटेरों ने उन्हें केदी बनाया और जंगल में ले चले। विध्याचल पहाड़ के दक्षिण की ओर वे जा रहे थे। बहुत देर चलने के बाद वे एक सुन्दर पहाड़ी की खोह में प्रविष्ट हुए। वहाँ एक गुफा आई। उसके द्वार पर कितने ही मनुष्य माला और तलवार धारण किये सतर्क पहरा दे रहे थे। अन्दर से ढोलक तथा गायन व नृत्य की ध्वनि सुनाई दे रही थी। उसकी प्रतिध्वनि सारी गुफा में गुंज रही थी।

यहाँ उन्होंने इन दोनों को वंधन से बांधा और अन्दर ले गये। ध्वजा-पताका से मीतरी भाग सजाया हुआ था। यह सब देखकर पद्रमदेव और तरंगवती समझ गये कि यह तो काली जी का मन्दिर है। डाकुओं का दूसरा गिरोह भी एक बड़ा डाका डालकर आया था। उन्होंने परस्पर नमस्कार किया और रति-कामदेव जैसे जोडे को देखने लगे । उन्होंने इन्हें देखकर क्या-क्या टीका-टिप्पणी की। बस्ती में पता लगने पर छोटे-वड़े सभी इन दोनों को देखने आये। फिर उन्हें वहाँ से भी आगे ले गये जहाँ कितने ही कैदियों को भर रखा था। एक और लुटेरों का गान-तान और दूसरी ओर कैदियों के भयंकर चीत्कार को देखकर वह स्थान स्वर्ग और नरक का मिश्रित रूप प्रतीत होता था । कैदी स्त्री-पुरुष तरंगवती और पद्भदेव को देखकर मोह और दया से न जाने क्या क्या बोलने लगे । इतने में कांटों की वाड़ वाला सरदार का घर आया । उसमें घास का एक झोंपड़ा बना हुआ था जिसमें दोनों को ले गये । सरदार का तगड़ा शरीर, उसके धारण किये हथियार और परिपार्श्व में वैठे हुए उसके साधियों से वह स्थान यमदूत के निवास जैसा लगता था । इन दोनों कैदियों ने उसे नमस्कार किया। उसने तोक्ष्ण दृष्टि से इन्हें नख से शिख पर्यन्त देख लिया और एक साथी के कान में कहा—'माता के शरद ऋतु के भोग देने के लिये यह जोड़ी उपयुक्त है । अतः इन्हें कैद में डाल दो और सख्त पहरा रखी। नवमी की रात्रि में ले आना।

यह आज्ञा पाकर एक डाकू खड़ा हुआ और दोनों को एक घर में ले गया। यहाँ पहरेदारी ठीक लगेगी अतः पद्मदेव को एकाएक स्तम्म से बाँध दिया। तरंगवती से यह नहीं देखा गया तो उसने कल्पान्त करते हुए कहा—'माईं! मुझे भी इसी के साथ हो बाँध दो।' कहकर पद्मदेव के पास आ गई। डाकू ने यह देखकर उसे धका मार कर किनारे हटा दिया। पद्मदेव

को क्रोध आया. वह जोर लगाकर बंधन-मुक्त हो उस डाकू के साथ लड़ने का प्रयास करने लगा।' पर व्यर्थ ! इतने दृढ़ वन्धन में वह वद्ध था कि कुछ न कर सका। डाकू ने और दृढ़ता से उसे बाँध दिया और फिर मूढ़े पर वैठकर कच्चा मांस खाकर मदिश पान करने लगा।

तरंगवती ने उस डाकू से कहा—'ये कौझान्वी के एक व्यापारी के लाडले पुत्र हैं और मैं नगर सेठ को पुत्री हूँ । यदि हमें छोड़ दोगे तो जितना कहो हीरा. मोती और सोना देंगे । तुमलोगों में से एक व्यक्ति को हमारी चिट्ठी लेकर मेजो । धन मिलने से हमें छोड़ देना ।'

डाकू ने कहा—'हमारे सरदार ने काली माता के आगे तुम्हारा विलदान देना निश्चित किया है। उनकी कृषा से तो हमारे सारे कार्य सफल होते हैं। उन्हें मान्यता किया हुआ भोग न दें तो हमारा सर्वनाश हो जाय।'

स्वयं को ऐसे स्थल पर मरना पड़ेगा और स्वामी निर्देय वंधन में पड़े हैं—देखकर तरंगवती करण क्रदन करने लगी। पद्भवेद ने तरंगवती को धैर्य बँधाते हुए कहा — मरना है तो शाँति से मरना है. शोक करने से क्या हाथ आयेगा?' इन शब्दों से वह थोड़ी शानत हुई पर उसका क्रंदन हरेक के हृदय को द्रवित करने वाला था। तत्र स्थित केदी स्त्रियाँ भी यह देख रोने लगी और पूछने लगी-'विहन!तुम किस प्रकार इनके द्वारा पकड़ी गई?' तरंगवती ने अपनी कथा संक्षेप से कह सुनाई। यह सुनते हुए उस डाकू का हृदय भी इतना दयाद हुआंकि वह बेहोश हो गया। थोड़ी देर में सचेत होकर उसने पद्भवेद के बन्धन दीले कर दिये और कहा—'तुम छरो मत, मैं तुम्हें मौत से बचा लूंगा।'

यह सुनकर दोनों को आनन्द हुआ पर अभी पूर्ण विश्वास नहीं हुआ कि यहाँ से मुक्त हो जायेंगे। उन्होंने मन ही मन इष्टदेव से प्रार्थना की और उपवास किया। वे अपना सारा समय धर्म ध्यान में ही विताने लगे । अर्द्ध रात्रि में डाकुओं की गुफा कोलाहलपूर्ण हो गई थी । कोई नाचने-कुदने लगा, कोई गाने लगा, तो कौई हो-हला करने लगा। जब सब ञान्त हो गए तो वह पहरेदार आया और पद्मदेव को वन्धन-मुक्त करते हुए कहा-मेरे पीछे-पीछे दोनों चले आओ। वह उन्हें अज्ञात जंगली मार्ग से लेकर चला । उस समय जंगल में कहीं दूर और कहीं निकट जंगली जानवरों की आवाज सुनायी पड़ती थी। कहीं-कहीं तो सुखे पत्तों पर उनके घटचाप की खडखडाहट से नीड में सोए पक्षी जग पड़ते थे । इस प्रकार जब वें जंगल को उल्लंघन कर गये तो उस डाकू ने कहा-'अब अ.प लोग निर्भय हैं। निकटर्ती गाँव में चले जावें। मैं भी ऋपने रास्ते चला जार्जगा । अपने सरदार की आज्ञा से आपको वंधन में बाँधना पद्धा, इसके लिए क्षमा करें !'

घट्टमदेव ने कहा ंतुम्हारा जितना उपकार मानें थोड़ा है। अपने सरदार की आज्ञा होते हुए भी अपने प्राणों को संकट में डालकर हमें बचाया. इसका बदला कब चुकाऊँगा ? में कौशाम्बी के सेठ धनदेव का पुत्र हूँ । तुम मेरे साथ चलो, तुम जो चाहोंगे सो दूंगा। उस डाकू ने कहा—'समय आने पर देखूंगा।' पद्रमदेव ने उसे कसम दिलाते हुए कहा—'कौशाम्बी आओ तब अवश्य मेरे यहां आना! तुम्हारा बदला तो कभी नहीं चुका सकता।' डाकू ने कहा—'आपको सम्तोष हुआ, यही पर्याप्त है, अब अपने आप चले जाइये।' कहकर वह अपना मार्ग पकड़ लिया।

तरंगवती और पड्मदेव दोनों बिना रास्ते के मैदान में जल्दी-जल्दी चलने लगे । तरंगवती कभी इस प्रकार चली नहीं थी। अनम्यास के कारण उसके लिये चलना

कित हो गया। इसिलिये पद्भदेव ने उसे अपनी पीठ पर उठा लिया। यद्यपि तरंगवती ने बहुत ना कही थी। थोड़ी देर में वे एक गाँव में पहुँचे! अब भय सो कोई था नहीं अतः तरंगवती को थकावट और क्षुधा का कट हुआ। उसने कहा—'स्वामिन्! अव असह्य भूख लगी है, कहीं से कुछ प्राप्त कर लावें!' पद्मदेव के कहा—'इस जीम ने कभी दुःख की पुकार नहीं की तो याचना तो करता ही क्या? फिर भी तुम्हारे प्रेम के कारण वह भी करूँगा।'

तरंगवती सीताजी के मन्दिर में बैठ गई और पद्मदेव गाँव में गया। वहाँ कितने ही सिपाही लोगों के साथ एक अञ्चारोही सामने मिला। वह पदमदेव को देखते ही नीचे उत्तर पड़ा और प्रणाम कर बोला-'सेठजी ? मैंने आपके यहाँ बहुत दिन नौकरी की है !' पद्मदेव भी उसे पहचान गया और परस्पर मिलकर पुछ।—'तुम यहाँ कहाँ ?' उसने उत्तर दिया—'प्रातः होते ही नगरसेठ के घर में पता चल गया कि पुत्री नहीं दिखाई देती। अतः खोज की गई। सारसिका ने पूर्व भव से लेकर तुम दोनों के पलायन कर जाने के विचार पर्यन्त सारी बात कही। तरंगवती की माता तो उसी समय सै रोने लगी। नगरसैठ आपके पिलाजो के पास आये। उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा-भेरे कठोर शब्दों से आपको जो कष्ट हुआ. उसके लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ। आपके पुत्र की खोज करावें. उसे किञ्चित भी भय का कारण नहीं। वह बिचारा परदेश में कहाँ मटकेगा? यह कहकर उन्होंने सारसिका की बतलाई हुई सारी बातों से अवगत कराया। इस दुतान्त से सब के हृदय भर आये। प्रातःकाल होते ही सारे नगर में बात फैल गई कि नगरसेठ की पुत्री व पद्भदेव को पूर्व भव याद आया है और वे दोनों निकल गए हैं। उस समय आपके पिता और नगरसेठ ने दोनों की खोज के लिए बहुत से व्यक्ति दौडाए। मैं भी उन्हीं

में से थे ड़े सिपाहियों को लेकर आपकी खोज के लिए निकला था। आपके पिताजी और नगरसेठ ने अपने हस्ताक्षरों से पत्र लिखकर मुझे दिये हैं. वे ये रहे। पहमदेव ने उन पत्रों को पढ़ा। उनमें किञ्चित भी क्रोध की वात नहीं थी। प्रत्युत स्नेहपूर्ण शब्दों से भरे हुये थे:

पदादेव तरंगवती के पास आया और सारा वृतान्त कहा । अश्वारोही ने पद्भदेव के हाथ सूजे हुए देख उसका कारण पूछा तो उसने सारी आत्मकथा कह सुनायी । फिर उस गांव में एक ब्राह्मण के घर गए जहाँ पद्मदेव और तरंगवती ने अच्छी प्रकार से मोजन किया। फिर सभी घर की ओर जाने के लिए निकल पड़े।

दांनों के लिये धोड़े तयार थे, सवार हो गए। पहले प्रणाशक नगर की ओर चले। यह नगर तमसा और गंगाजी के सुन्दर संगम पर क्सा हुआ था। वे एक परिचित स्नेही के यहाँ उतरे, उसने दोनों को गरम जल से स्नान करवाया, तेल अभ्यंगादि कराये और अच्छी तरह भोजन कराया। फिर आराम पूर्वक सोकर थंकावट उतारी। अश्वारोही ने कौशाम्बी समाचार भेज दिया कि दोनों मिल गये हैं और थोड़े समय में पहुँचेंगे। यहाँ आवश्यक आराम करने के पश्चात् उन्होंने चलने की तैयारी की। तरंगवती रथ में बैठी, पद्रमदेव उसके पीछे अश्वारूढ़ होकर चला। दोनों ओर खोज के लिए आये हुए सिपाही लोग चलने लगे। गाँव में से यह मण्डली निकली तो सब लोग ठाठ देखकर चिंकत हो गए।

गांव से बाहर आकर पद्मदेव भी घोड़े से उतर कर रथ में वैठ गया। वे लोग धान के हरे-भरे खेत. मार्ग के विश्राम-चौतरे और पानी की प्रपाएँ देखते हुए वासालिक गाँव आये। प्रभु महावीर केवलज्ञान प्राप्ति से पूर्व छद्रमस्थावस्था में एक वटवृक्ष के नीचे रहे थे. इसीसे इसका नाम वासालिक पड़ा था। इन दोनों ने इस

पवित्र वटवृक्ष की प्रदक्षिणा देकर दर्शन वन्दन किया। फिर आगे चलते हुए शाखांजना नगर में आये. यहाँ इन लोगों का बड़ा सत्कार हुआ। प्रातःकाल वहाँ से खाना होकर मध्याह में कीशाम्ब्री के निकट आ पहुँचे। एक विशाल वटवृक्ष के नीचे दोनों के पारिवारिक जन और मित्र कींग आकर खड़े थे. सब लोगों ने इनका स्वागत किया। तरंगवती यहाँ से घोड़े पर बैठ गई। उसके पीछे सारसिका आदि सखियाँ व पीछे-पीछे सवार चले। पद्मदेव भी अपने अश्वारोही मित्रों के साथ दूसरी और चला। नगर में उनके स्वागतार्थ तोरण वंधे थे. ध्वजाप्ताकाएँ लगी थी; देखने के लिये जनता एकत्रित थी।

नगर प्रवेश के समय कोई अंगुली निर्देश से वताने लगे कि वह पूर्व भव का चक्रवाक है और वह नगरसेठ के यहाँ अवतिरत चक्रवाकी है । अहा ! क्या दोनों का स्वरूप है, दोनों की एक सरीखी जोड़ी है। इस प्रकार नागरिक जनों का वार्तालाय सुनते हुए वे पद्मदेव के घर आये । वहाँ अभिनन्दन सत्कार करने के हेतु आत्मीय. सगे-सम्बन्धी एकत्र हुए थे । दोनों ने वड़ों के चरणों में नमस्कार किया । उन्होंने दोनों को एक आसन पर वैठाकर आमूल-चूल से वृतान्त पूछा । पद्मदेव ने पूर्व-भव की सारी वात कही । यह सुनकर नगरसेठ ने कहा—'तुमने पहले ही यह सब क्यों नहीं कहा ? तुम्हें संकट भी नहीं पड़ता और पड़चाताप भी नहीं होता । यह बात ज्ञात होने पर कोई कभी भी अस्वीकार कर सकता है ?'

फिर सभी अपने-अपने घर गए और दोनों के विवाह-की तैयारियाँ हुईं। बड़े ही समारोह पूर्वक दोनों का विधिवत् विवाह सम्पन्न हुआ, कौशाम्बी में ऐसा विवाहो-दसव कभी नहीं हुआ था।

दोनों अत्यन्त स्नेहपूर्वक रहने लगे । साथ ही खाना-पीना, साथ ही नहाना, साथ ही घूमना, साथ ही जाना- आना होता । वे कभी एक दूसरे से अलग नहीं होते। उनके स्नेहपूर्ण संसार को देखकर चाहे जिसको भी सहज मध्य ईर्षा आ जाती।

एक वार वसन्त ऋतु आने पर दोनों क्रीड़ा करने के लिये वन में गए । वहाँ एक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ टैठे एक महात्मा को देखा । तरंगवती और पद्मदेव उन्हें नमस्कार करके सम्मुख वैठे । महात्मा ने धर्मंलाम दिया और वड़ी खूबी के साथ धर्म सिद्धान्तों का उपदेश दिया जिसे सुनकर दोनों को वड़ा आनन्द हुआ । पद्मदेव ने श्रद्धापूर्वक नमस्कार कर कहा—'मुनिराज ! आपने ऐसे उत्तम जीवन की साधना कैसे स्वीकार की कृपा कर वतलायें और यह जानने की उत्कण्ठा के लिये क्षमा करें।'

महात्मा ने कहा—'चम्पानगरी की राज्य सीमा पर एक वीहड़ जंगल था. जहाँ मैंसे. साँप. चील तथा जंगली हाथी भी बहुत बड़ी संख्या में रहते थे। वहाँ शिकारी भी बहुत रहते थे जो दिन भर जंगल में शिकार कर अपनी उदर-पूर्ति करते थे। मैं भी अपने पूर्व-भव में उसी जंगल में एक पारधी था। मुझे हाथी का शिकार करने में बड़ा आनन्द आता। दिनभर मुझे जंगल में घमना भी प्रिय लगता। वाण-विद्या में मैं वेजीड़ कहलाता था जिससे मुझे लोग 'सिद्धवाण' नाम से पहचानते थे। मेरे माता-पिता भी वड़े होशियार पारधी थे जिससे वे व्याधराज नाम से पहचाने जाते। मेरी माता का नाम वनसुन्दरी था।

'एक बार मैंने हाथी पर तीर फेंका तो मेरे पिता ने कहा—बेटा ! अपने कुल का जो आचार है, वह सुनो ! जो हाथी दल का नायक हो और प्रजा उत्पन्न कर सकने वाला हो, उसे कभी मत मारना । जो बच्चे को लेकर जाती हो उस हथिनी को भी नहीं मारना । उसी प्रकार जो हाथी का दच्चा स्तनपान करता हो. उसे भी नहीं मारना । हाथी-हथिनी क्रीड़ा करते हों उन्हें

भी नहीं मारना । कोई भी नर-मादा जोड़ा क्रीड़ा करता हो उसे नहीं मारना । जो इन नियमों को तोड़ता है उसका नाश हो जाता है, इस बात को अवश्य ध्यान में रखना ।

'मेरा विवाह उसी जंगल में निवास करने वाले एक पारधी की रूपवती कन्या के साथ हुआ था जिससे मेरा संसार वहुत सुखी था।

'एकवार मैं धनुष-वाण लेकर हाथी की खोज में निकला। वहुत मटकने पर भी एक भी हाथी हमारे जंगल में दृष्टिगोचर नहीं हुआ जिससे मैं उसकी खोज में ठेठ गंगातट तक जा पहुँचा। वहाँ एक हाथी को मैंने गंगातट पर जलपान करने आया हुआ देखा। मैंने तीर फेंका पर वह निशाना चूक कर कुछ ऊँचा चला गया और वृक्ष पर ीठे चक्रवाक युगला से चक्रवाक को जा लगा। चक्रवाक तुरंत घायल होकर भूमि पर आ गिरा और चक्रवाकी भयंकर चीत्कार करती हुई हवा में उड़ने लगी।

'जिव मैंने निकट आकर देखा तो मुझे अपार दुःख हुआ। अज्ञानता वहा मेरा नियम भंग हो गया। फिर मैंने वन में से काष्ठ एकत्र कर उसका अग्निसंस्कार किया। अभी मैं थोड़ी ही दूर गया था कि चक्रवाकी भी उस चिता में आकर दग्ध हो गई। यह देखकर मुझे बड़ा परचाताप हुआ। हे जीव! जो कार्य कभी नहीं किया और आज इस प्रकार कुज़-धर्म का लोप किया और इन बेचारे पक्षियों के जोड़े को नष्ट कर दिया। यह परचाताप करते करते मुझे अपने पापी जीवन से घृणा हो गयी और मैंने भी उसी चिता में अपने को अग्निशरण कर दिया। अपनी इस जीवन शुद्ध से मैं नरक में न जाकर काशी में एक सेठ के यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। मैरा नाम रूद्र यशस् रखा गया। मैं समस्त कलाओं का अभ्यास कर निष्णात हुआ पर मुझे वाल्यकाल से ही जुए का दुर्व्यसन लग गया। जुआ एक ऐसा भयंकर दुर्गण है जो समस्त सद्गुणों को

नष्ट कर देता है । मैं शनैः शनैः चोरी करने लगा और लूट खसींट से भी धन प्राप्त करने लगा। मेरे इस नीच कार्य से मेरे माता पिता का भी मस्तक झुक गया। एक रात्रि मैं चोरी करने निकला किन्तु लोगों को पता लग गया। मुझे पकड़ने लगे तो मैं निकटवर्सी जंगल में प्राण वचाकर भाग गया। विन्ध्याचल का यह जंगल शिकार से भरपूर था। उसमें लुटेरे भी बहुत से रहते थे। मैं चलते चलते एक गुफा के सन्मुख आ पहुँचा। वहाँ सशस्त्र पहरा था। यह सिंह-गुफा नामक डाकुओं की गुफा थी। वे व्यापारी एवं वनजारों को लूट कर आनन्द करते थे। जहाँ तक होता वे ब्राह्मण, श्रमण, स्त्री. रोगी और बालक को नहीं सताते थे। मैं इस गिरोह में मिलकर डाकू वन गया।

'हमारा सरदार माला चलाने में बड़ा निष्णात था। वह भक्तप्रिय नाम से प्रसिद्ध था। विशेषतः धनवानों को वह बहुत सताता। मैंने उसके तत्वावधान में अनेक डाकों में भाग लिया था। मेरे शौर्य के कारण सारी मंडली में मेरा बड़ा नाम था। और मैं सरदार का विश्वासी अंगरक्षक बन गया।

'एक वार हमारा गिरोह लूट करने के लिए निकला और वह एक सरुण जीड़ी को घेर कर ले आया। उनका ठावण्य देख कर कालीमाता की प्रार्थना करने लगे और सरदार ने उन्हें देखकर कालीमाता को भोग चढ़ाने का निर्णय किया। उसने मुझे एकान्त में बुलाकर कहा कि इस नवमी के दिन इस जोड़ी को कालीमाता के भोग चढ़ाना है अतः तुम बराबर इन पर नजर रखना। मैं उस जोड़े को एक घर में ले गया, वहाँ पुरुष को स्तंम से कस कर बांध दिया। यह देखकर उसकी स्त्री करण चीत्कार कर रदन करने लगी। जिससे अन्य कैदी स्त्रियों को भी दया आ गई और वे झुण्ड की झुण्ड मिलकर उससे पूछने लगीं कि तुम कहाँ से आये और इन लुटेरों के हाथ कैसे पड़ गए!

ि १६५

'उस स्त्री ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से कहा हम किसी समय गंगातट पर चक्रवाक पक्षी थे और आनन्द से जीवन बिताते थे। एक बार एक शिकारी ने आकर हाथी पर शरसंधान किया पर वह मेरे पति को लगा जिससे वे मृत्यु प्राप्त हुए, में भी उनके साथ जलकर मर गई। वे कौशाम्बी के एक सेठ के यहाँ पुत्र रूप में और में नगरसेठ के यहाँ पुत्री रूप में जन्मी! चित्रों के माध्यम से हमने एक दूसरे को पहचान निकाला। इन्होंने मेरा मांगा मेजा पर मेरे पिता द्वारा ठुकरा देने पर एक दासी को में इनके पास मेजी और अंधेरी रात्रि में में इनके पास पर्वांची! माता-पिता के मय से हम एक नौका में बैठकर निकल पड़े और गंगा नदी के तटे पर इन लुटेरों के हाथ पकड़े गए।

'यह वात उसने खूब रो-रोकर सुनाई थी। जिसे सुनकर मैं तो बेहोश हो गया और मुझे अपने पूर्व भव की बात स्मरण हो आई। मैं सारी वस्तु स्थिति समझ गया जिससे मेरा हृदय द्रवित हो गया। जिन्हें एक समय निर्दयता से मार खाला था उन्हें अब जीवितव्य दान देकर बदला चुका देने का निश्चय किया। पुरूष को बन्धन मुक्त कर पिछली राश्रि में गुप्त मार्ग द्वारा जंगल से बाहर छोड़ आया। अब मैं अपने गिरोह का अपराधी हो गया था अतः वापस वहां न लौटकर में उत्तर दिशा की ओर चला गया। मेरा मन अब सांसारिक भोग और उसके हेतु पाप कार्य करने से विरक्त हो गया। अतः मैंने संन्यास धारण कर लिया।

'एक बार मैं भ्रमण करता हुआ पुरिमताल नगर जा पहुँचा। वहां एक अत्यन्त सुन्दर वटवृक्ष के पास लोगों की भीड़ देखकर मैंने पूछा कि यहां इतने सारे लोग क्यों इकट्ठे हुए हैं! लोगों ने मुझे परदेशी जानकर बतलाया कि प्राचीनकाल में श्री ऋषभदेव नामक एक महापुरूष हुए थे जिन्हें इस वटवृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। जिससे यह पवित्र तीर्थ कहलाता है। सभी लोग इसके दर्शनार्ध एकत्र हुए हैं। यह सुन कर मैं भो वहां भक्ति भाव से नतमस्तक हो गया। उस समय वहां निकट ही एक महात्मा ध्यानस्थ वैठे थे, मैंने उनकी चरण वन्दना कर करबद्ध प्रार्थना की—भगवन् ! मैं इस संसार समुद्र को पार करने के लिए आपका शिष्य होना चाहता हूँ, कृपा कर मुझे अपना शिष्य वनाइये ! उस महात्मा ने कहा—आजीवन साधु धर्म पालन करना कठिन है, अतः अच्छी तरह विचार करो । किन्तु मैंने आग्रहपूर्वक उनसे अनुरोध किया तो उन्होंने मुझे दीक्षा दे दी । मैं ने धीरेधीरे साधु-जीवन के समस्त नियम और आचारांग आदि सूत्र का अभ्यास कर गया । बारह वर्ष पर्यन्त इस प्रकार स्वाध्याय में रहने से मुझे जगत के स्वरूप का लोगों को धर्मी- प्रदेश देता विचरण करता हुआ लोगों को धर्मी- प्रदेश देता विचरण करता हुं !

तरंगवती और पद्रमदेव को यह बात सुनकर स्वयं अनुभव किया हुआ दुःख ताजा हो गया। वे विचारने लगे कि ये महापुरुष हमारे लिये विष और अमृत जैसे प्रमाणित हुए शे किन्तु आज इन्होंने अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त की है और हम अभी तक वैसा नहीं कर सके, अतः अव इस मोग-विलास से दूर होना चाहिए। उन्होंने मुनिराज को मस्तक नमाकर कहा—ंजो चक्रवाक युगल मानव रूप में आपके हाथ से बचा, वे हम हैं। आपने हमें दुःख से उबारा वैसे ही जन्म-मरण से भरे हुए संसार से भी उबारें! हमें साधु जीवन की पवित्र दीक्षा दें!

मुनिवर ने कहा—'महानुभावों ! आत्मबल वालों के लिए कुछ भी अञ्चलय नहीं हैं । जहां तक तुम्हारी इन्द्रियाँ काम देती हैं वहां तक त्याग तपश्चर्या का सम्यक् आराधन कर अपनी आत्मा को उज्जवल बनाओं।' यह सुनकर उसी क्षण पद्ददेव एवं तरंगवती ने अपना शृंगार उतार डाला और दास-दासी-को सौंप कर कहा—'ये आमूषण हमारे माता-पिता को संभलाकर देते हुए कह देना कि वे जन्न-मरण से विरक्त होकर पवित्रता के पथ पर आरुढ़

हो गये हैं। हमारा जो भी अपराध हुआ हो, क्षमा करें।

दास-दासी यह सुनकर रो पड़ें और कहने लगे— 'हमारें जीवन के आप ही आधार हैं, हमें निराधार करके क्यों जा रहे हैं ? कृपालु! कृपा करो।' किन्तु उनका मन अब मोह के प्रवाह में पुनः प्रवाहित होने वाला नहीं था। उन्होंने मुनिराज की ओर मुंह करके अपने हाथ से ही अपना केश-लुंचन कर लिया। मुनिराज ने उन्हें यावजीव का व्रत उच्चारण कराया—साधु जीवन की दीक्षा दी।

जब उनके माता-पिताने यह बात सुनी तो वे तथा अन्य स्नेही स्वजन-परिजन भी वहां आ पहुँचे । पद्म-देवके माता-पिता जोर-जोर से रोने लगे । ऋष्मसेन सेठ धार्मिक वृत्ति वाले होने से अपने को संयमित रख सके शे। सभी ऐसा कहने लगे कि अभी तुमलोगों ने अल्पावस्था में यह क्या किया ? किन्तु दढ़ मन वाले दोनों ने उत्तर दिया कि—

'अब सांसारिक सुखों से हमारा मन विरक्त हो गया है। भगवान महावीर के बतलाए हुए पवित्र संयमी जीवन मार्ग पर चलकर अपना आत्म-कल्याण करना चाहते हैं। आप सब का कल्याण हो।'

तरंगक्ती महासती चंदनबाठा की ही प्रशिष्या थी। संयम और तपश्चर्या में मस्त होकर उसने अपनी आत्मा की निर्मल बनाया और ग्रामानुग्राम विचरणकर भगवान महावीर का अहिंसा धर्म सन्देश सर्वत्र प्रचारित किया।

मूल लेखक शतावधानी पं० धीरज लाल शाह । गुजराती से अनुदित ।

कसौटी

[ऐतिहासिक शील कथा]

अहमदाबाद में सुलतान मुहम्मद बेगड़ा राज्य करता था । गुजरात में जैन धर्म का प्रमाव बढ़ा-चढ़ा होने से वहाँ के शासक भी अपेक्षाकृत कोमल, उदार और सिहण्णु दृति वाले हो गये थे । मुहम्मद बेगड़ा ने सामान्य उपाध्याय को आचार्य पद देकर गच्छाचार्य श्री जिनेश्वरसूरि बनाया अर्थात् उसने स्वयं पद स्थापना कराके अपने नाम से बेगड़ा विरुद्ध दिया जिससे खरतरगच्छ की बेगड़ शाखा प्रसिद्ध हुई । निम्नोक्त पद्य इस विषय का ज्ञातव्य देते हैं कि

परतो पूरची सान ने. अगहिलवाड्ड मांहि हो।
महाजन बंदि मुंकावीयो, मेल्यों संघ उछाहि हो । सामाय राजनयर नइ पांगुरचा, प्रतिवेध्या महमद हो।
पद ठवणो परगट कियो, दुख दुरजन गया रद्द हो।।सामा सीगड़ सींग वधारिया, अति ऊँचा असमान हो।
धींगड़ माई पांच सई, चोड़ा देधा दान हो।।सामा सामाय साहि हो।
सिवा कोड़ि धन खरचीयो, हरस्यो महमद साहि हो।
विरुद्ध दियो वेगड़ तणो, प्रगट थयो जग मांहि हो।।सामा सामा हो।

इस काट्य में सूरिजी द्वारा मुहम्मद शाह वेगड़ा को प्रतिबोध किये जाने व अपने भ्राता द्वारा पांच सौ

अर्दों का दान तथा सवा करोड़ द्रव्य व्यय करके पदो-दसव कराने का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से काव्य एवं पट्टावलियों में बेगडगच्छ के उत्कर्ष का विशद् उल्लेख पाया जाता है । ओसवालों में वेगड़ गोत्र भी इसी कारण प्रसिद्ध हुआ। और अब भी विद्यमान है। कहा जाता है कि ज्ञाह खेमा देदराणी मी इसी समय हुआ और उसने सुलतान मुहम्मद वेगखा को प्रचुर द्रव्य देकर दुष्काल के एक वर्ष का व्यय वहन कर महाजनों का ''शाह'ं विरुद कायम रखकर अक्षण्ण यश उपार्जन किया था । इसी बादशाह मुहम्मद वेगड़ा के समय में देवचन्द व अमीचन्द नाम के दो तरुण जैन मित्र हुए जिनकी कहानी-इतिवृत्त कच्छ के ज्ञानमण्डार के एक वृहत् कथा-कोश से यहाँ प्रस्तुत की जा रही है-इसमें दो मित्रों की मित्रता निर्वाह के साथ-साथ देवचन्द और वजीर पुत्री रूपसुन्दरी का उदात चरित अवश्य हो भारतीय संस्कृति को गौरवान्वित करने वाला है।

अहमदाबाद में मुहम्मद वेगङ्ग वादशाह करता था। उसके नवलराय नामक एक वजीर था। वजीर नवलराय की पुत्री रूपसून्दरी अत्यन्त सुन्दर व लावण्यवती थी. जो पाठशाला में पढ़ती थी। उसी नगर के अधिवासी दो व्यापारियों के पुत्र, देवचन्द व अमी-चन्द्र भी उसी पाठशाल। में पढ़ते थे। प्रतिदिन के परिचय प्रसंग से कितने ही अरसे वाद वजीर की पूत्री रूपसुन्दरो और देवचन्द में परस्पर इड प्रोति हो गई। उन दोनों में परस्पर इतना प्रेम था कि एक दूसरे को विना देखे घड़ी भर भी रहना कठिन था। दोनों का अध्ययन शेप होने पर जब पाठशाला छोड़ने का समय आया तो रूपसुन्दरी ने देवचन्द से कहा, "अपनी पढ़ाई तो शेव हो गई. हम अब कैसे मिल सकेंगे ?" देवचन्द ने रूपसन्दरी से कहा, "इसकी तनिक भी चिन्ता मत करो, मैं प्रतिदिन रात्रि के सभय तुम्हारे महला में आया करू गा।" रूपसुन्दरी संतुष्ट होकर अपने घर आई और

देवचन्द, अमीचन्द दोनों मित्र भी पण्डित से खुट्टी पाकर अपने-अपने घर आ गए।

अब रात्रि के समय देवचन्द का वजीर की पुत्री रूपसुन्दरी के महल में जाने का नित्यक्रम हो गया। रूपसुन्दरी ने एक छोरी की निसरणी बना रखी थी जिस के अवलंबन से देवचन्द महल में निरापद पहुँच जाता और अपने लिये बिछाये हुए आसन पर जाकर बैठ जाता। रूपसुन्दरी अपने प्राणप्रिय मित्र के साथ रात मर शास्त्र-चर्चा करती जिससे उन दोनों के अध्ययन की पुनरावृति होने के साथ-साथ बुद्धि मी दिकसित होती जातो थी। वे परस्पर दूहा, गूढा, गाहा, छन्द, हीयाली, प्रश्न-प्रहेलिका, अन्तर्लापिका, बहिलापिका आदि की पृच्छा द्वारा रात्रि व्यतीस करते और जब चार-पाँच छड़ी रात रहती तो देवचन्द अपने घर आकर सो जाता।

एक दिन ज्योंही देवचन्द अपने घर से निकलकर वजीर के घर जा रहा था त्योंही संयोगवश बादशाह ने देख लिया । बादशाह काली नकाब धारण किये गश्त लगा रहा था और उसके हाथ में दुधारी तलवार थी। उसने सोचा. अभी आधी रात में यह कौन मनुष्य कहाँ जा रहा है। इस बात का निर्गय करने के लिये वह देवचन्द के पीछे-पीछे हो गया । देवचन्द ने जयोंही वजीर की पूत्री के महल में जाने के लिये निसरणी पर पाँव रखा बादशाह ने उसका हाथ पकड़ लिया और कड़े शब्दों में पुछा, "तुम कौन हो ?" देवचन्द ने कहा, "मैं चोर या जार जो भी कहो सो हूँ।" बादशाह ने उसका हाथ पकड़े हुए अपने साथ ले लिया । आगे चलकर बादशाह ने देवचन्द से पूछा, "क्या तुम्हारा यहाँ कोई सगा-सम्बन्धी है, जो तुम्हें रात भर की जमानत देकर रख सके ?" देवचन्द ने कहा। "मेरे भाई, माँ. बाप सभी हैं।" और वादशाह को अपने घर ले आया । पुकारने पर द्वार खोल कर वाप नीचे आया । बादशाह ने पूछा "सेठ! तुम्हारा यह क्या लगता है ?" उसने कहा,

"यह मेरा पुत्र है।" नकाबपोश बादशाह ने कहा, "यह बादशाह का अपराधी है, इसे रात भर अपने घर में रखी, मैं प्रातःकाल इसे बादशाह के सम्मुख उपस्थित करूंगा।" देवचन्द के पिता ने कहा, "हमने इसे घर से वाहर निकाल दिया है, तुम्हारे जो जँचे सो करो।"

फिर बादशाह ने देवचन्द से पूछा, "और कोई जामिन हो तो बोलो !" देवचन्द उसे अपने माई के यहाँ ले गया, उसने भी पिता की भाँति रूखा उत्तर दे दिया। वादशाह ने कहा, "और भी कोई हो तो बोलो।" देवचन्द ने कहा, "मेरा एक मित्र हैं, उसके वहाँ चलिये।" कहते हुए उसको अपने मित्र के गृहद्वार पर लाया और पुकार कर उसे उठाया । मित्र के नीचे आकर उपस्थित होने पर बादशाह ने पूछा, "यह तुम्हारा कौन है ?" अमीचन्द ने कहा—"यह मेरा मित्र है, प्राण है, जीवन है और सब कुछ है ।" बादशाह ने कहा, "लुन इसे रात भर की जमानत देकर रखोगे ?" अमीचन्द ने कहा. "इसके लिये मेरा मस्तक हाजिर है।" यह कह कर अमीचन्द देवचन्द को अपने घर में ले गया । बाद-शाह ने उसके घर पर पान का पीक डालकर चिन्ह कर दिया और एक किनारे खड़ा हो गया। शोड़ी देर बाद देवचन्द्र मित्र की आज्ञा लेकर घर से बाहर निकल पड़ा ! बादशाह उसे निकलते देख त्वरित गति से वजीर की पुत्री के महल के नीचे जा पहुँचा और निसरणी पर चढ़कर महल की राँस के बरामदे में जाकर कोने में क्रिप गया । देवचन्द भी थोड़ी देर में निसरणी के द्वारा महल पर जा चढ़ा । उसने देखा, दीपक का प्रकाश मन्द पड़ गया है और रूपसुन्दरी शोकपूर्ग मुद्रा में गलहत्था दिये बैठी है। उसके अश्रप्रवाह से सारी अंगिया भीग गई है। उसे दीर्घ निःश्वास लेते देखकर देवचन्द ने संसार किया तो रूपसुन्दरी एकाएक हर्षोल्लासपूर्वंक उठ खड़ी हुई और उसका आगत-स्वागत करने लगी। उसने उससे पूछा, "स्वामिन ! आज आपको इतनी देर कहाँ

लग गई ?" देवचन्द ने सारा किस्सा बताते हुए कहा
"मैं अमीचन्द से पूछकर तुम से मिलने हेतु यहाँ आया
हूँ। कल प्रातःकाल तो न जाने बादशाह मेरो क्या दुर्गति
करेगा।"

देवचन्द द्वारा वर्णित सारी घटना श्रवणकर रूप-सुन्दरी अत्यन्त चिन्तित हुई और थोड़ी देर तक कुछ सोचती रही। फिर वह करबद्ध होकर कहने लगो, "स्वामिन्! इतने दिनों तक हम दोनों ने किसी भी प्रकार से लेशमात्र मर्यादा का उल्लंघन किये बिना पवित्र प्रेम को निमाया है। और अब जब कि अन्तिम समय सन्तिकट दिख रहा है ऐसी स्थिति में मन की हौंस मन में न रह जाय अर्थात् 'पृहंक पण न खाधी अने हाथ पण दाधा' वाली गुजराती कहावत चरितार्थ न हो जाय। इसलिये यह चरणों की दासी प्रस्तुत है और आत्मा के साथ यह भौतिक शरीर भी जो विशुद्ध मनः संकल्प से आपके श्री चरणों में समर्पित है. यथेच्छ उपमोग दारा अपनी हौंस पूर्ण करें।"

देवचन्द ने कहा, "प्रिये रूपसुन्दरी! परमात्मा ने आज तक जो अपनो मर्यादा को सुरक्षित रखा है तो अल्पकाल के लिये क्यों इस मन, वचन और काया को अपवित्र किया जाय? यदि हम दोनों का प्रेम सच्चा है तो अवस्य ही आगे चलकर परमेश्वर मवान्तर में अपना मिलाप करावेगा। फिर भी तुम इतना काम करना कि जब मुझे शूली देने के लिए बाहर ले जाया जाय. तुम वहाँ अवश्य उपस्थित रहना।"

रूपसुन्दरी ने कहा, "स्वामिन । मैं वहाँ निस्संदेह आर्फ़्रेगी, पर आप मुझे पहचानेंगे कैसे ? हजारों की मीड़ के बीच खोजना भी तो कठिन होगा।"

देवचन्द ने कहा. "यह संकेत तो तुम्हीं वताओ।" रूपसुन्दरी ने कहा. "मैं पुरुष के देव में काले स्वांग में आकर उपस्थित हो जुँगी।" देपचन्द ने कहा. "बहुत

अच्छा, धेर्य और साहस ही हमारा संबल है ।"

कहना न होगा कि बादशाह स्वयं इसी महल के कोने में छिपा छिपा सारी वातें सुन रहा था। वह साँस रोके इस प्रेमी-युगल को, इस एकान्त महल को, इस तरुण अवस्था को, इस आकर्षक रूप-राशि को, इस रात्रि के समय को और परस्पर एकांगी प्रीति सब कुछ देख रहा था, फिर भी अपनी मर्स्यादा को अक्षण्ण रखना, काजल की कोठरी में नित्य रहते हुए भी काली रेखा न लगाना। धन्यवादाह हैं ये ! देवचनद वस्तुतः मनुष्य नहीं देव ही है, अरे ये तो वेदाग हीरे हैं ! कहाँ हमारी हैवानी संस्कृति और कहाँ इस आर्यावर्त की पावन संस्कृति; वस्तुतः जैसा मैंने गुरु महाराज श्रीजिनेश्वरसूरिजी से धर्म का स्वरूप सुना, प्रसंगवश विजयकुमार और विजया का जो अतीत-कालीन इष्टान्त सुना, आज इस तरुण युगल में वह भावना साकार रूप में दिष्टगोचर हो रही है। सत्य हो ऐसी अल किक संतान के कारण ही बिना शंभे के आकाश खड़ा है तथा सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी और समुद्र अपनी मर्ट्यादा को निभाते हुए चल रहे हैं।

इस प्रकार मन-ही-मन दोनों की प्रशंसा करते हुए बादशाह वजीर की हवेली से नीन्चे उत्तर गया और रूप-सुन्दरी की फिर परीक्षा करने का कार्यक्रम सोचता हुआ अपने महलों में चला गया। देवचन्द ने रूपसुन्दरी से विदा माँगते हुए कहा—

> 'आतां तणा जुहार, वलतां तणां वधामणा देव तणा विवहार, मिलसुं के मिलसुं नहीं।'

यह दोहा कह कर देवचन्द भी रूपसुन्दरी के महल से उत्तर कर अपने प्रिय भिन्न अमीचन्द के घर आकर निश्चिन्त सो गया।

प्रातः काल होते ही बादशाह अपनी राजसमा में आकर तख्त पर आसीन हो गया और अहलकार को आज्ञा दी कि वह अमीचन्द के पीक चिन्हित घर से

देवचन्द को तुरन्त लाकर उपस्थित करें । राजपुरुष ने अभीचन्द के यहाँ आकर पुकारा । अमीचन्द खिड्की के आगे वैठा हुआ दातीन कर रहा था। देवचन्द को उपस्थित करने की राजाज्ञा सुनकर अमीचन्द तुरन्त उठा और देवचन्द के स्थान पर स्वयं उसके साथ चल पड़ा। अमीचन्द की स्त्री ने देवचन्द को उठाकर कहा कि "तुम्हारे माई को राजपुरुष बुलाकर ले गया है।" देवचन्द यह सुनते ही हड़बड़ाकर उठा और दौड़ कर अमीचंद के पास जा पहुँचा । वह राजपुरुओं से कहने लगा, "अरे ! तुमलोग किसे ले जा रहे हो ? देवचन्द तो मैं हूँ।" अमीचन्द ने कहा, "नहीं, नहीं, देवचन्द मैं ही हूँ।" इस प्रकार कितनी देर तक दोनों का विवाद देखकर राजपुरुओं ने कहा, 'भाई, वहाँ कौम-से लख्ड बँटते हैं ? तुम दोनों में जो देवचन्द हो वही हमारे साथ चले।" देवचन्द ने बड़े ही हठ और अनुनय-विनयपूर्वक अमीचंद को अपने घर वापस भेजा और देवचन्द राजपुरुवों के साथ वादशाह के पास आया !

वादशाह ने वजीर की पुत्री का स्नेह देखने के लिए कोतवाल को बुला कर उसके कान में कहा, "इसे हरगिज मारना नहीं, पर गदह पर वैठाकर वजीर के घर के नीचे से निकालते हुए पूर्वी दरवाजे से गुजरना!" कोतवाल शाही आज्ञानुसार देवचन्द को गदह पर चढ़ाकर पूर्वी दरवाजे पर ले गया! बादशाह स्वयं वजीर को साथ लेकर शिकार के बहाने निकल पड़ा और घूमते-फिरते पूर्वी दरवाजे पर आ पहुँचा! बादशाह ने वजीर से कहा, "अरे नवलराय! देखों तो सही, सब लोगों से मिनन यह काले वस्त्रों वाला सवार कोन है?" वजीर ने घोड़े की बाग उस ओर की! बादशाह और वजीर को अपने निकट आते देखकर श्याम वस्त्रधारी सवार रूपसुन्दरी चमकी और तत्काल घोड़े को मोड़ा! वजीर ने भी सामने आकर पुत्री को पहिचाना और बादशाह से कहा. "यह तो हज़र की फरजन्द है!" वादशाह ने प्रसन्न होकर

शिरोपाव मँगाया और देवचन्द को नहलाकर सात बार सुनहरे शिरोपाव पहनाया। इसके बाद उसको हाथी पर बैठाकर पंच शब्द, वाजित्र बजाते हुए अपनी राज-कचहरी में लाया। वादशाह सिंहासनारूढ़ हुआ और देवचन्द को अपनी गोद में बैठाकर वजीर से कहा, "अरे नवलराय। तुम्हारी रूपसुन्दरी और मेरे इस पुत्र देवचन्द की जोड़ी उत्तम है, अतः इनका परस्पर विवाह हो जाना चाहिए।" वजीर ने कहा, "बादशाह सलामत की आज्ञा शिरोधार्य है। ऐसा अवस्य करें।"

बादशाह ने ज्योतिषियों को बुलाकर तत्काल विवाहलग्न निकाला और उसी दिन दोनों का विवाह कर के
उन्हें सात्मंजिला महल देकर उसमें रखा । पाणिग्रहण के
पश्चात् हथलेवा छुड़ाने के अवसर पर बारह गाँवों
सहित धोलका नगर दिया । कहना नहीं होगा कि बादशाह ने विवाह विधि आर्य-संस्कृति के अनुसार ही की
थी । दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही बादशाह ने देवचन्द
के माई व पिता को बुलाकर उन्हें अस्यन्त तिरस्कृत करते
हुए कहा—''छोरू होय ते कछोरू थाई पण मावीत्र कुमावीत्र न थाये अतः तुम लोग मेरे नगर में रहने योग्य
नहीं हो ।'' उन्हें नगर से निर्वासित करके बादशाह ने
देवचन्द के मित्र अमीचन्द को बुलाया और उसकी मित्रता
को धन्य-धन्य कहकर मूरि-मूरि प्रशंसा करते हुए पुरस्कार
पूर्वक उसके घर पहुँचाया । देवचन्द और अमीचन्द
अखण्ड प्रीति पालन कर सुखी हुए ।

मित्र देवचन्द्र, अमीचन्द्र और रूपसुन्दरी तीनों अपनी परीक्षा की कसौटी पर खरे उतरे । मुसलमान शासक मुहम्मद बेगड़ा की शासम पद्धति और विशाल हदयता भी सराहनीय थी । वासना रहित सच्चा प्रेम, शील का आदर्श और मानवीय श्रेष्ठ गुणों से ओतप्रोत इस ऐतिहासिक वृतान्त का हार्द है । आचार्य जिनेश्वरसूरि के उपदेश इसकी पुष्ठभूमि में विराजमान हैं ।

[ବ୍ୟବ

आनंदजो कल्याजी पेढी के संस्थापक श्रीमद् देवचन्द्रजी महाराज थे

रवेताम्बर जंन समाज की प्रतिनिधि समृद्ध पेढी अत्यां कि करवायं जी का नाम सर्व विश्वत है। यह पेढी ढाई सी वर्जी से क्रांचाः उन्नति करती हुई जी सेवा कर रही है वह अवस्य ही समाज के लिए गौरव का विजय है। इसके सर्वाष्ट्रीय इतिहास का सम्यक् ज्ञान कराने वाली पुस्तक का अभाव बराबर खटकता था। अभी विश्वत विदान श्री रितजाल दीपचंद देसाई के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'सेठ आनंदजी कल्याणजीनी पेढी नो इतिहास' का प्रथम माग प्रकाश में आया है जिसमें पेढी की गरिना के साथ-ताथ छोटी-मोटी अनेक घटनाओं पर शोजपूर्य प्रकाश डाला गया है। वे जब इस पुस्तक को लिख रहे थे तो हमलोगों ने उन्हें इस पेढी की संस्थापना श्रीमद्द देवचन्द्रजी महाराज द्वारा होने की सूचना दी थी जिसे उन्होंने अमान्य करते हुए मुझे ता० २१-१०-५० के पत्र में इस प्रकार लिखा कि—

(५) "देवदिशास (ऐतिहासिक जैन-काव्य संग्रह, पृ० २५१) में पूज्य देवचंद्रजी महाराज की प्रेरणा से सिद्धाचल के ऊपर कारखाना बनने की जो बात शिखी गईं है उसका अर्थ आगे पीछे के सन्दर्भ को देखते हुए पेटी की स्थापना नहीं होता किन्तु जीगोंद्धारादि कार्य को कारीगर लोग ठीक तरह से कर सकें ऐसी सुविधा होता है। इसमें सिद्धाचल उपरे शब्द का अनुसंधान करने पर यह अर्थ ध्वनित होता है।" (७) "वि० सं० १७५७ पूर्व पेटी अहमदाबाद में थी इसका सबूत पालीताने की बही-खाते में मिला है।"

मैंने विचार किया कि यही समय तो श्रीमद् देवचन्द्रजी महाराज के शत्रंजय तीथोंद्वार का कार्यकाल है। शिला-लेख, पेढ़ी के खाता-बही, स्तवनादि अन्य प्रमाणीं से विश्वरत होकर सम्पादक महोदय सही इतिहास स्वीकार कर लिख देंगे क्योंकि उस समय श्रीमद्र देवचन्द्रजी महाराज ही एकमात्र ऐसे सर्वोच्च ज्ञानी, सर्वगच्छमान्य, युगप्रधान कल्प महापुरुष थे जिन्होंने अपनी ३० वर्ष की आयु में अदमुत ज्ञान दशाप्राप्त की और राजस्थान से गुजरात पंधार कर अपनी समस्त आयु गुजरात में बितायी ! अर्थात् सं० १७७७ से सं० १८१२ तक शत्रुंजय तीर्थोद्धार के लिए उपदेश देते हुए पाटग. अहमदाबाद, संभात, सूरत, धांगधा, राधनपुर, लींबडी, बढ़वाण, भावनगर, नवानगर (जामनगर), परधरी, चंडा आदि गुजरात के विविध स्थानों में विचरण कर अध्यातम-ज्ञान का प्रचार किया। मुर्तिपूजा के विरोधी इंडकमत के फैलते हुए प्रचार को रोक कर वन्द पड़े मन्दिरों में पूजा करवायी । नये मन्दिरों का निर्माण एवं पुरानों का जीगेंद्वार एवं सार-संभाल के साथ वहाँ की जनता को मृतिपुजा स्वीकार कराके सनमार्ग में चढ़ाकर उपकृत किया। इसी बीच रात्रुंजय के जीगींद्धार का कार्य सतत चालु रहा। आपने उपदेशों द्वारा प्रेरित करते हुए अनेक बार शत्रुंजय संघ निकलवाये. गुरु महाराज श्री दीपचन्द्रोपाध्याय और शिष्यमण्डती सहित अनेकशः प्रतिष्ठाएं कराई। उस काल में उनके सनकक्ष आनेवाली एक भी प्रभावशाली प्रतिभा नहीं थी जिनके उपदेश से यह महान् कार्य होता।

रवेतांबर समाज में गुरुजनों के उपदेश, प्रेरणा और आशीर्वाद के विना कोई भी कार्य नहीं हुआ करता। सारे समाज में उस समय उनके जैसा विद्वान, ।उपदेष्टा और व्यक्तित्व वाला आत्म-लिंब्य-सम्पन्न अन्य कोई नहीं था! अतः श्रीमद्द देवचन्द्रजी महाराज द्वारा पेढी की स्थापना का श्रीय स्वीकार करेंगे पर विद्वान लेखक ने ऐसा न कर महोपाध्याय विनयसागरजी को ता० ५-७-५३ के पत्र में उनके ता० ३०-५-५३ के उत्तर में मुझे लिखे हुए उपर्युक्त खुलासे का उल्लेख करते हुए इस-प्रकार लिखा—

'देवविलास (पृ० २८१) मां आ प्रनाणे लख्युंछे— तीर्थ महात्म्यनी प्ररूपणा गुरुतणी, सांमले श्रावक जन्न । सिद्धाचल उपर नवनवा चैत्यनी, जीणेद्धार करे सुदिन्न ॥५॥ कारखानो तिहां सिद्धाचल उपरे, मंखाव्यों महाजन्न । द्रव्य सरचाये अगणित गिरि उपरे, उलसित थाये रे तन्न ॥६॥

"आ कड़ी मां श्री सिद्धाचल उपर कारखानुं कराव्या नुं लख्युं छे तेनो अर्थ एवो समजवानो छे के जूना मन्दिरो ना जीणोंद्धार माटे तथा नवा मन्दिरो नुं निर्माण करवा माटे शिलिनओं अने कारीगरो ज्यां बेसो ने काम करी शके एवुं कारखानुं एटले छापरुं गिरिर ज ऊपर उम्नं करवा मां आव्युं एटले एनो अर्थ एवो नथी थतो के श्रीशत्रंजय महातीर्थ नी बची व्यवस्था संमाली शके एवी पेढी नी स्थापना करवा मां आवी हती जो आवी पेढी नी स्थापना ने आ बात होत तो ते. सिद्धाचल उपर नहीं पण, पालीताणा शहेर मां करवा मां आवी होत आ कड़ी मां नो 'सिद्धाचल उपर' ए शब्दो खास महत्व नां छे, जे आ भावनं सूचन करे छे।

'वली आ ग्रंथ नी शुरुआत मां 'काव्यों का ऐतिहासिक सार' लख्यों छे तेमां (पृ० ५% मा) आ कड़ी नो जे सार नोंध्यों छे तेपण आ बात नुं समर्थन करें छे, ते आ प्रमाणे छे— 'व्याख्यान में आपने शत्रुंजय तीर्थ की महिमा बतलाई, इससे श्रावकों ने शत्रुंजय पर कारखाना स्थापित कर नवीन चेत्य और जीर्णोद्धार करवाना आरंभ किया।'

"एटले देव विलास' मां नो आ रब्जेल त्री शत्रुंजय तीर्थ नो वहीवट संमाली शके एवी पेढीनी स्थापना ने लगतो नथी, ए आप समझी शकशो"

इस पत्र में लेखक महोदय ने 'कारखाना' का अर्थ कारीगरों के काम करने का 'छपरा' किया है, जबकि इस ग्रंथ के पु० १०६ में स्वयं ''ते गिरिराज श्री शत्रंजय तीर्थ नो वहीवट संमालती पालीताना नी पेढ़ी नो अर्थात् कारखाना नो छे" "२ तीर्थ स्थान नो वहीवट संभालती पेढी ने श्री संघ मीटे भागे, 'कारखाना' ना नाम थी ओलखे हैं" शब्दों दारा कारखाना. कार्यालय या पेढी एक ही अर्थ के द्योतक स्वीकार किया है। पू० १०५-९ में पैदी के लिए आठ बार कारखाना शब्द आया है। राजस्थान में भी राज्य के कई कारखाने होते थे जिनमें बीकानेर के किले में बढ़ा कारखाना के आफिशर शाह नैमचंटजी कोचर थे जिनसे महाराजा गंगासिंहजी को भी पहनने के जैवर आदि माँगने पड़ते थे। अतः कारखाने का अर्थ 'छपरा' करना यह लेखक महोदय की ही विचित्र सुझ-बुझ है। पेढी में प्राप्त सर्व प्राचीन सं० १७७७-७८ के चोपड़े हैं, तदनुसार वहां का नया वर्ष आषाढ़ सुदि २ (रथयात्रा) से प्रारंभ होता है जबकि गुजरात में कार्तिक सुदी १ को नया संबत् होता है। सं० १७८१ से १७८८ के चोपड़ों में भी आनंदजी करयाणजी का नाम नहीं मिलता। चोपड़ों के अनुसार सं० १७८७ में सर्व प्रथम सेठ आनंदजी कल्याणजी का नाम दृष्टिगोचर होता है। इससे मालूम होता है नं० ४ चोपडे के समय पेढी का नामकरण नहीं हुआ था जो बाद में हुआ। इस वर्ष भी पालीताना की बहियों में "अकारो

993

कल्याण'' राजनगर और ब्रह्मदाबाद पेढी का खाता है। इसी वर्ष चोपड़ा नं० ७ में आनंदजी कल्याणजी के नाम जमा नार्ने मिलता है। संमवतः पेढी का नाम भगवान के नाम पर आरम्भ समारंभ से बचने के लिए 'अकार' अर्थात् आदीश्वर दादा के कल्याणकारी सांकेतिक नाम दिया हो क्योंकि 'अकारो' का नाम स्पष्ट अर्थ बोधक नहीं है।

श्री आनंदजी कल्याणजी नामकरण के लिए जो जनश्रुति गीतार्थ स्थविरों के मुख से महोपाध्याय विनयसागरजी ने सुनी थी वह इस प्रकार है—

अहमदाबाद में जोधपुर के श्री रतनसिंह मंखारी सुवेदार थे। उस समय अहमदाबाद के एक तत्वज्ञ सैठ शाह आणंदराम जी दृढियों के चक्कर में थे. श्रीमद्र देवचनद्रजी महाराज के पास आकर तस्वचर्चा किया करते थे। वे गुरु महाराज के अथाह ज्ञान को देखकर अभिमूत होकर मूर्तिपूजा के दढ़ श्रद्धालु और श्रीमद्द के परम भक्त हो गए। उन्होंने सूबेदार श्री रतनसिंहजी मण्डारी के समक्ष कहा—''मारवाड़ से आये हुए समस्त विद्या से पारंगत ज्ञानियों में शिरोमणि गुरु महाराज यहाँ विराजते हैं।" मण्डारी जी अपने अग्रेश्वरी श्री आणंदरामजी के साथ श्रीमद्र के सम्पर्क में आये और उनके तत्व ज्ञान की गहराई देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे प्रतिदिन पूजा अर्चा करने लगे । अहमदाबाद में मृगी उपद्रव फैलने पर मण्डारी जी की प्रार्थना से श्रःमद्र ने रोगोपशान्ति की। मराठा सेना के साथ रणकुजी ने जब अहमदाबाद पर चढ़ाई की तो श्रीमद्भ देवचंदजी महाराज की कृपा से अलप सेना होने पर भी विजय प्राप्त कर गुजरात को बचाने में भण्डारी जी सफल हुए। अहमदाबाद में मंदिर बिम्ब प्रतिष्ठाएं हुईं। एक दिन सतरह मेदी पूजा हो रही थी। शत्रुंजय के हेतु पेटी की स्थापना हुई उपाध्याय साधुकीति जी कृत सतरह मेदी पूजा की तैरहवीं अध्ट मंगल पूजा के अन्त में जब 'आणंद

कल्याण सुख रस में पद कर्णगोचर हुआ तो मंडारीजी ने सुझाव दिया कि पेढ़ी का नाम यही रखा जाय । गुज-रात के सूबेदार श्री मंडारी जी द्वारा पेढ़ी का नामकरण सुनकर उनके प्रधान श्री आणंदराम शह को उसमें अपना नाम आते देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई । संघ ने पेढ़ी का नाम 'आनंदजी कल्याणजी' प्रसिद्ध कर दिया ।

श्रीमद देवचन्द्रजी महाराज ने सं० १७७९ में खंभात के चातुर्मास में शत्रुंजय महात्म्य की व्याख्या करते हुए तीथोंद्धार के लिए सचोट उपदेश दिया। सं० १७७७ में अहमदाबाद नगोरीसराय में चातुर्मास किया तब भी माणिकलालजी स्थानकवासी को प्रतिबोध देकर ढंढकों के पास से मक्त कराया और उनके नुतन चेत्यालय में बिम्ब स्थापना की एवं शांतिनाथजी की पोल में भूमिगृह में सहस्रफगा, सहस्रकृट विम्वादि प्रतिष्ठित किए थे । श्रीमद् ने सूरत चातुर्मास करके वहाँ भी शत्रुंजय के निमित्त अर्थसंग्रहाथं आनंदजी कल्या-णजी की पेढ़ी स्थापित कराई थी जिसका नामकरण मले बाद में हुआ हो, पेढी के सं० १७९०-९१ के चौपड़ों से प्रमाणित है। सिद्धाचलजी के कारखाना की वहीं में ''सेठजी आणंदजी कल्याणजी सुरत' तथा ''श्रीसुरत सेठ आणंदजी कल्याण" नाम से प्रमाणित है। देवविलास के अनुसार शत्रंजय तीर्थोद्धार के बीच सुरत की दिनती से संवतः १७८४ का चातुर्गास वहाँ किया । उसी समय के उपदेश प्राप्त सूरत के कल्याणचंद्र सोमचंद्र के सं० १७८८ के निर्मापित समवशरण अभिलेख से प्रमाणित है।

श्रीरतिलाल भाई ने लिखा है कि देविदलास में कारखानों सिद्धाचल उपरे लिखा है यदि पेढ़ी की स्थापना का लिखते तो पालीताना में होता। परन्तु यह व्यावहा-रिक सत्य है कि पालीताना और सिद्धाचलजी पर्याय-वाची है क्योंकि कोई भी यात्री सिद्धाचलजी पर नहीं रहते। रहते तो शहर की धर्मशाला या घरों में हैं। पहाड़ पर खाना-पीना या शौच-क्रिया भी कुछ नहीं करते अतः कारसाना मंडाने का अर्थ पालीताने का ही समझना चाहिए न कि 'छपरा' बंधाने जैसा धृष्टतापूर्ण अर्थ जो कमी रासकार का अभिप्राय नहीं हो सकता। यात्री संध जो शत्रुंजय जाता था सीहोर, पालीताना या गरियाधार कहीं से तोर्थ को वधाकर पड़ाव डालता था। आज समेतशिखरजी जाने वाले यात्री मधुवन जाने का नहीं कहते सदा से ही समेतशिखरजी कहते आये हैं चाहे संघ के पड़ाव पालगंज, तोपचांची, निमियाघाट कहीं भी रहे हों आज मधुवन ठहरते हैं और वहीं ठहरना खाना-पीना तलहटी के मन्दिर धर्मशालाओं से समृद्ध होने पर भी कहते समेत शखरजी का ही है और पेढी आदि सब मध्वन में हैं। अतः पालीताना और सिद्धाचल नाम के चक्कर में जाना कोई औचित्य नहीं रखता। इसी रास में अनेकशः शत्रुंजय, पालीत न। जो एक दूसरे के पर्यायवाची हैं, श्रीमद के अनेक बार पधारने और चैत्य-दिम्बप्रतिष्ठादि के साथ-साथ संक्षिप्त उल्लेख है । यहाँ देवविलास की उन गांथाओं को उदधत किया जाता है*−*

> तीर्थ महातम्य नी प्ररूपणा गुरुतणी. सांभले श्रावक जन्न ॥ स्०॥ सिद्धाचल ऊपर नदनवा चैत्यना. जीर्णोद्धार करे सुदिन्न ॥ सु० ॥५॥ती० । कारखानी तिहाँ सिद्धाचल उपरे. मंखाव्यो : महाजन्म ।। सु०॥ टब्य खरचाये अगणित गिरि उपरे. ्थाये तन्त्र ॥ सू०॥६॥ती० । उल्लिसत संवतसतर एकासीये (१७८१) ब्यासीये त्र्यासीये कारीगरे काम ।।सुः।। चित्रकार सुधानां काम ते. हषद्व उज्वलता रै नाम ॥ सु० ॥७॥ती० । फिरी ने श्रीगुरु 'राजनगरे' मला, तिहां भविने उपदेश ॥ सू० ॥

विनती सुरति बंदिर नी भली. चौमासा नी रे विशेष ॥ सु०॥८॥ती०। श्रीदेवचनद्रजी 'स्रतिबंदिरे' कीधा भविने उपगार ॥ स्०॥ जाणीये. पंचासीये छयासये. जे मंडार '॥ सु० ॥९॥ती० । बुद्धितणा पालीताणै प्रतिष्ठा करी मली. खरच्यो द्रव्य भरपूर ॥ सु० ॥ 'वधुसाये' चैत्य शत्रुंजय उपरे. प्रतिष्ठा देवचन्दनी भूरि गस्वा१०।।ती० !

इसके बाद की गाथाओं में १७९६ में १८०४ में पालीताना पधारने और वहाँ के मृगी उपद्रव दूर करने और सं०१८०५ में शत्रुंजय संघयात्रा में सं०१८१० कचरा कीका के संघों में आने और साठ हजार द्रव्य व्यय कर प्रतिष्ठा कराने का उल्लेख हैं। सं०१८९२ में अहमदाबाद में उनका स्वर्गवास हो गया। इन्हीं वर्षों में गुजरात के अन्य स्थानों में विचर कर श्रावकों को. राजाओं को, ठाकुरों को प्रतिबोध देने तथा जिन मन्दि-रादि प्रतिष्ठा कराने एवं ग्रन्थ रचना का उल्लेख हैं। इसके लिए देवविलास देखना चाहिए।

श्रीमद देवचंदजी महाराज ने अनेकशः पालीताना जाकर प्रतिष्ठाएँ कराई जिनके अमिलेख तत्कालीम लेखों में सर्वाधिक है पर वे अमी तक अप्रकाशित हैं! नमूने के तौर पर कापरङ्गजी के जिनालय निर्माता मानाजी मंखारी के वंशजों के एक लेख की नकल यहाँ दे रहा हूँ जिसमें श्रीमद् के द्वारा शत्रंजय, आबू, गिरनार प्रतिष्ठा कराने का उल्लेख है। "स्वस्तिश्री जयो मंगला म्युदयश्च, संवत् १७९४ वर्षे शाके १६५९ प्रवर्त्तमाने आषाढ सुदि १० रविवारे ओइस वंशे वृद्ध शाखायां नाष्ट्रल गोत्रे मंखारी जी श्री मानाजी तत्पुत्र माँ। नारायणजी पुत्र मां। ताराचंदजी पुत्र अनेक चेल्योद्धारक मां। रूपचंदजी तत्पुत्र न्याय कलित अनेक जेन शासन कार्य

कारक मं । शिवचंद जी पुत्र हर्षचंद्र युत्तेन श्रीशत्रृंजयो-पिर चैत्योद्धार कारितं श्री पार्श्व बिंबं स्थापितं खरतरगच्छे श्री जिनचंदसूरि विजयराज्ये तथा प्रतिष्ठतं च महोपाध्याय श्री राजसागर जी तित्शच्य उ० श्री ज्ञानधर्मजी तित्शच्य उ० श्री दीपचंदजी तित्शच्य संवेग-मार्गाग्रगी श्रो. शत्रुंजय गिरनार आबू प्रमुख चैत्य प्रतिष्ठा कारक पं.खित देवचंद्रेण खूंगरवाल सा मैरव वास (? दास) सा किसनदासौज सहायात् श्री जैतारण वास्तव्य पुर धरणा लि० सेवग किशोरदास बीकानेरीया । शुर्म भवतु ॥ श्री नेमिनाथ बिंबं स्थापितं ॥"

इससे ज्ञात होता है कि श्रीमद्भ देवचन्द्रजी महाराज के उपदेश से गुजरात, राजस्थान आदि के संघ का जीणींद्धार कार्यों में पूर्ग सहर्योग था। गुजरात, अहमदाबाद के सूबेदार श्री रतनसिंहजी मंखारी निर्धापित मंदिर की प्रतिष्ठा तपगच्छी शुमविजय के कर-कमलों से हुई थी। सूरत के कल्याणचंद्र के पुत्र सोमचंद्र ने सं० १७५५ में जो बिमलवसही में हजारों के व्यय से समवशरण बनवा कर तपागच्छीय आचार्य महाराज सुमतिसागरसूरि से प्रतिष्ठा कराई उसके अमिलेख में "श्रीमत्खरतरगच्छीय उपाध्याय दीपचंद्र शिष्य पं० देवचंद्र मुखाल् श्री विशेषावश्यक दृत्तिगत गणधर स्थापन समोसरण विधि श्रवणात् संजात् हर्षेन श्री १०५ श्री महावीर जिन चैत्य समवशरणाकारकारितं" आदि वाक्य लिखने में अपना गौरव समझा है।

श्रीमद्द देवचंद्रजी के उत्तरार्द्ध जीवन का कार्यक्षेत्र गुजरात ही रहा है। उनके एक पूर्व के ज्ञानी होने की गुजरात में प्रसिद्ध है जिसका उल्लेख मस्त योगी छोटे आनंदघनजी नाम से प्रसिद्ध श्रीमद्द ज्ञानसारजी ने किया है। वे लिखते हैं ''आनंदघनजी टंकशाली. जिनराजसूरि बाबा अवध्यवचनी यशोविजयजी टानर-टुनरिया, देवचंदजी गटरपटरिया—एक पूर्व के ज्ञानी, मोहनविजयजी लटकाला आदि कहावत गुजरात में प्रसिद्ध

है। आचार्य ज्ञानविमलसूरि और गीतार्थ क्षमाविजयजी श्रीमद्भ देवचंद्रजी का बढ़ा आदर करते थे। श्री उत्तम-विजयजी, पद्मविजयजी, विवेकविजयजी आदि अनेक बड़े-बड़े गीतार्थ उनके छात्र रहे हैं. उनकी शिष्यों की भाँति सेवा की है। वे गच्छ विवाद से फ्रॅंचे उठे हुए महापुरुष थे। तपागच्छीय योगिराज मणिचंद्रजी के समक्ष श्रीमद्भ देवचन्द्रजी को महाविदेह में केवलज्ञान उत्पन्न होने की और उनके उत्सव में आमिल होने की घटना एक देव ने सुनाई थी।

जैन शासन के स्तंभ रूप अनेक महापुरुषों ने उनके वर्ता । में महाविदेह क्षेत्र में केवली अवस्था में विचरने का दत्तान्त प्रामाणिक माना है। उनका वास्तविक मूल्याष्ट्रन आज से ७० वर्ष पूर्व किया शा १०५ ग्रन्थों के रचयिता महापुरुष योगनिष्ठ आचार्यदेव श्री बुद्धिसागर सूरिजी ने। उन्होंने दीक्षा लेने से पूर्व श्रीमद् देवचन्द्र कृत आगमसार को १०० वार पढ़ा था और दीक्षा लेकर उनके समस्त ग्रन्थों को, जीवनी को प्रकाश में लाने का भागीरथ प्रयत्न किया। २५ संस्कृत रहोकों में उनकी स्तुति और पद लिखे । उनके उपदेश से अध्यातम ज्ञान प्रसारक मण्डल, पादरा ने उनका साहित्य प्रकाशित किया। उसी प्रभाव से पादरा की लब्भग ३० साध्वयाँ दीक्षत हुई खरतरगच्छ में प्रवर्तिनीजी श्री वल्लम श्री जी और प्रवर्तिनीजी श्री विश्वक्षण श्रीजी के पास । श्री मोहनलाल हीमचंद वकील, मणिलाल मोहनलाल पादराकर, साहित्य महारथी मोहनलाल दलीचंद देशाई, नागकुमार मकाती, शतावधानी धीरजलात टोकरसी शाह, पं० सुखलालजी स्वामी ऋष्मदासजी (मद्रास), छतरावचंद जी जरगङ् उनके भक्तों ने बहुत कुछ लिखा है। योगीन्द्र युगप्रधान सद्गुरु श्री सहजानंदघनजी महाराज (मद्रमुनिजी) और गणिवर्य श्री बृद्धिम् नजी महाराज ने भी बड़ी प्रेरणा दी और गुरुदेव ने उनका साहित्य स्वयं संशोधन कर देना स्वीकार किया था। मैंने पूरी प्रेस कापियाँ तैयार की पर

उनमें से थोड़ी-सी कृतियाँ 'देवचन्द्र पद्य पीयूव' नाम से प्रकाश में आई हैं। चौबीसी विवेचन, देशनासार, अध्यात्म गीता आदि साहित्य यद्यपि 'प्रकाश में आये हैं पर राष्ट्रभाषा में अभी बहुत कुछ करना अपेक्षित है।

श्रीमद्भ देवचन्द्रजी की स्नात्रपूजा में जिन माव-उमियों का व्यक्तिकरण हुआ है, गाने वाले आत्मिविभोर हो जाते हैं। क्योंकि उनके गर्म में आने पर माताने देवेन्द्रों द्वारा मेरुशिखर पर स्नात्र महोत्सव का स्वप्न देखा था. जिससे उनका जन्म नाम देवचन्द्र रखा गया और देशा नाम राजविमल होने पर भी उसी नाम से प्रसिद्धि हुई। कवियण ने 'देवविलास' में यह भी लिखा है कि उनके मस्तक में मिण थी जो अग्नि-संस्कार के समय उग्रल कर पाताल में चली गई, किसी के हाथ नहीं आई। स्नात्रपूजा में जो पदलालित्य और मावों को उझसित कर आत्मा को ऊँचा उठाने की शक्ति है वह अन्य पूजाओं में नहीं, क्योंकि वह असली माल है बाकी सब नकलें हैं फिर भी आज गच्छ व्यामोह और पक्षपात वहा उससे लाम उठाने का अनेक स्थानों में निषेध करते हैं, गाने में मुंह चुराते हैं।

श्रं मद्र की शिष्य परम्परा दो सौ वर्ष पूर्व ही शेष हो गईं। उनका जीवनचरित्र शिष्यों ने कवियण से 'देवविलास' रूप में लिखवाया था क्योंकि वे स्वयं समर्थ विदान होने पर भी लिखने से कहीं अतिशयोक्ति न हो जाय इस कारण निस्पृह रहे थे। देवविलास भी उनके स्वर्गवासके १४ वर्ष बाद लिखा गयातथा अन्य कवि की रचना होने से सर्वाष्ट्रीण जीवनी नहीं हो सकी हैं तथा घटनाएं कुछ आगे पोछे हो गयी हैं फिर भी यह अमूल्य जीवन स्रोत है। पेढी पर. गुजराल पर तथा मरत क्षेत्र पर वर्तमान में महाविदेही केवली अवस्था में विचरण करने वाले उन महापुरूष का महान् उपकार है। पेढी के इतिहान में उनका नाम आने में पेढी का ही गौरव है। उनकी जीवनी का अध्ययन खुले दिल से उदारतापूर्वक करें, वे

ही पेदी के संस्थापक महापुरुष हैं । गुजरात में शोध करने पर उनकी जीवनी के अनेक बन्द पृष्ठों का उद्धा-टन हो सकता है क्योंकि उन्होंने जीवन का सम्मूर्ण उत्तराद्धं वहीं व्यतीत किया और अन्तिम श्वास तक शत्रुंजय की सेवा की थी। शत्रुंजय पर कौवों का आना अमंगलकारी समझा जाने से श्रीमद् ने ही उनका आना बंद करवाया।

नगरसैठ शान्तिदासजी के उदय से पूर्व शत्रश्चय तीर्थ की व्यवस्था जहाँ जहाँ के संघ के हस्तात रही उस पर संशोधन की आवश्यकता है। पहले अगृहिलपुर पाटण के संघ के हाथ में यह व्यवस्था थी। कारण श्रीजिनपतिस्र रेजी महाराज सं० १२५३ में वहाँ थे और सप्रसिद्ध मंखारी नेमिचंद्र को प्रतिबोध दिया था। उसके बाद मुसलमानों द्वारा पाटण नगर का विध्वंश होने पर सुरिजी ने धाटी गाँव में आकर चातुर्मास किया। उसके बाद कुछ समय तक व्यवस्था धोलका संघ के हस्तगत रही फिर पाटण संघ के हाथ में आई और समराशाह के जीणींद्वार के समय वहीं की व्यवस्था थी। मंत्रीश्वर कर्मचंद्र के पूर्वज तैजपाल रुद्रपाल के समय में व्यवस्था उनके हाथ में था। जिन्होंने सं० १३७७ में जिनकुशलसूरिजी का पाट महोत्सव किया व पाटण संघ के साथ मानत्गविहार नामक खरतरवसही निर्माण कराई व प्रतिमाएँ भी शत्रुञ्जय के लिए पष्टण में प्रतिष्ठित कराई-ऐसी बहुत सी जानकारी आवश्यक है। बादशाही फरमानी में मंत्री कर्मजंद्र को शत्रंजय अकदर द्वारा देने का प्रमाण है । सं० १६५६ में उनके स्वर्गवास के पश्चाल बीकानेर महाराजा रायसिंह की जागीर में जब सोरठ-पालीताना था तब सं० १६५७ में सतीवाद का निर्माण हुआ जिसका सतीवाद के शिलालेख में उल्लेख है। अब तक के प्रकाशित सभी इतिहासों में सतीवाव के निर्माता अहमदाबाद के सेठ शांतिदास को लिखा है जब कि शांतिदास सेठ उस समय बारह वर्ज के थे। मैंने ४५ वर्ष पूर्व इस विषय में 'जैन' पत्र में

लिखा था कि 'सतीवाव' बीकानेर के सेठ सतीवास द्वारा निर्मापित है। पर अब तक किसी ने संशोधन नहीं किया। बाद में सं० १७०० के आस-पास सेठ शांतिदास के हाथ में तीथ व्यवस्था आई। इन सब बातों की चर्चा का यहाँ स्थान नहीं, पालीताना में भी समृद्ध श्रावकों के घर थे तथा गुजरात के अन्य नगर भी व्यवस्था में सम्निलित थे।

'टाड'स राजस्थान' में टाड साहब के अहमदाबाद, सूरत. बड़ीदा और पाटण के संघको व्यवस्थापक कमेटी द्वारा तोर्थ को संमालने के उल्लेख को लेखक महोदय ने निराधार बतलाया है पर विजयराजसूरि की सलाह से १५ वीं अती की बात लाये हैं जिसका प्रमाण देना आवश्यक था। इसे आप भ्रमात्मक बता सकते हैं पर श्री पूरणचन्दजी नाहर के जेन लेख संग्रह मा० ३ में प्रकाशित अमरसागर के

शिलालेख लेखांक २५३० की सं० १८८१ (सन् १८३४) की प्रशस्ति के निम्नोक्त उल्लेख का आपके पास क्या समाधान हैं?

प्रशस्ति नं १ में पटवों के संघ वर्णन में लिखा है कि— "श्री मूलनायकजी रें मंडार रें ताला ३ गुजरातियां रा हा सो चौथों तालो संघव्यां आपरो ।दयो ।"

इस से स्पष्ट है कि पेढ़ी व्यवस्था-तीर्थ व्यवस्था में अन्य नगरों का मी सहयोग था।

अन्त में पेढी एवं श्री रितलाल भाई से निवेदन हैं कि इतिहास सन्दर्भ में सत्यान्वेथी होकर श्रीमद् वैवचन्द्र जी महाराज की सेवाओं और उपकार पर गहराई से विचार कर इतिवृत्त के प्रकाशन में प्रयत्नशील हों और अग्रिम भागों में संशोधन करें।

स्वर्गीय पूरण चन्दजी नाहर

संघ रतनों की खान है। श्रीपुरणचनद्रजी नाहर एक ऐसे हो उदात्त विचारों वाले, परिश्रमी और लगनशील साहित्य-पुरातत्त्व रसिक विद्वान थे जो केवल बंगाल में ही नहीं अधितु समस्त भारत में ख्याति प्राप्त और मान्य प्रामाणिक पुरुष थे । आपके पूर्वज दो सौ वर्ष पूर्व राजस्थान से बंगाल में आकर बसे थे और धार्मिक व सामाजिक प्रवृत्तियों में अग्रगण्य रहे हैं ! आपके यहाँ परम्परागत क्रिया कलाप की ति-स्लंभ की भाँति सर्वंत्र परिलक्षित होते हैं। दिनाजपुर, जहाँ आपकी जमीन्दारी थी-का जिनालय, अजीमगंज का मन्दिर, कलकत्ते का कुमारसिंह हॉल व आदिनाथ जिनालय, पावापुरी का नाहर धर्मशाला, राजगृह का शान्तिभवन, पालीताना का नाहर विलिंडग आदि रुथान इस बात के जीवन्त साक्ष्य हैं। आप बंगाल के ओसवाल समाज में सम्भवतः प्रथम ग्रेज्युएट थे। अपनी शिक्षा का सदुपयोग आपने जैन साहित्य और परातत्त्व की सेवा में किया ! हिन्दी, अंग्रेजी और बंगला भाषा में आप समानरूप से लिखते श्रे और आपकी बाते प्रामाणिक मानी जाती थी। आपके पिताश्री ने स्तवनावली आदि कई पुस्तकें प्रकाशित की थी और आपका तो कहना ही क्या? अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन, लेखन व प्रकाशन करके आपने समाज का बढ़ा उपकार किया है!



श्री नाहरजी अद्वितीय संग्राहक थे। अपने भ्राता कुमारसिंह और मातुश्री गुलाबकुमारी जी के नाम से स्थापित कुमारसिंह हॉल में गुलाबकुमारी जी के नाम से स्थापित कुमारसिंह हॉल में गुलाबकुमारी लायबेरी और संग्रहालय एक तीर्थ-मूमि से कम नहीं है। जिनलय में विराजमान स्फटिक रहन की विशाल जिन प्रतिमाएँ पूर्व और उत्तर भारत में दुर्लम है। जिन्होंने आपके संग्रहालय की प्रतिमाएँ, चित्रों, ग्रन्थों, सिक्कों व कलाहमक वस्तुओं को देखा है वे आपकी अनुपम संग्राहक वृत्ति एवं कला प्रेम से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। आपने विविध सामग्री का असाधारण संग्रह तो किया ही था पर आपके डाक की टिकटें, दियासलाई के लेखुओं, कुंकुम-पत्रिकाओं, विज्ञापनों, सामयिक पत्रिकाओं के मुख पृष्ठ एवं समाचार-पत्रों के कटिंग आदि साधारण वस्तुओं के विशिष्ट संग्रह को देखकर विस्मित हो जाना पद्धता था।

प्रथम भेंटः

मैं पचास वर्ष पूर्व जव कलकत्ता आया तो आपके

नाम की ख्याति से परिचित हो गया था पर उन दिनों केवल जिनालय दर्शन के अतिरिक्त आपसे साक्षाटकार करने का केई प्रसंग नहीं था। ४७ वर्भ पूर्व जब साहित्य में रुचि जागी तो कविवर समयस्टर की रचनाओं के संग्रह के संदर्भ में आपके यहाँ जाना अनिवार्य हो गया. क्योंकि श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने कविदर की 'पाप छत्तीसी' नाहरजी के संग्रह में होने का उल्लेख किया था। में भाई मोहनलाल नाहटा के साथ सीधा कुनारसिंह हॉल में जा पहुँचा! दरवान ने कला-भवन खोल दिया और हम लोग प्रदर्शित चित्र।दि सामग्री को बारीकी से देखने में व्यस्त हो गए। थं ड़ी ही देर हुई होगी कि सीजन्यमुर्ति नाहरजी स्वयं आ पहुँचे और सम्मानपूर्वक हमें वैठाकर काफी देर तक बातचीत की और दरवान को हमारे आने की सूचना न देने के लिए कड़ा उपातंभ दिया । तदुपरान्त उन्होंने स्वयं समस्त महत्त्वपूर्ग वस्तुओं का परिचय कराया और मुझे सप्ताह में एकबार अवश्य आने का आग्रह-पूर्ग आदेश दिया । वह 'पाप छत्तीसी' तो हमें पूर्व प्राप्त 'पाप आलोयणा छत्तोसी हो निकलो पर उस प्रसंग को लेकर वे अनेकशः याद दिला दिया करते थे कि आप 'पाप छत्तीसी' के प्रसंग से हमारे मित्र हुए हैं।

आत्नीयता और अतिथि सत्कारः

नाहरजी के साथ जब से हमारा साक्षात्कार हुआ, वे वृद्ध वयोनमुखी थे। पर उनका उत्ताह युवकों जैसा था। कला पारखी होने के साथ-साथ मनुष्य की परोक्षा में भी उनकी दृष्टि पैनी थी। विद्वानों का आवागमन आपके यहाँ बराबर रहता था और उन्हें अमीप्सित विषय की पूर्ण जानकारी प्राप्त करवाकर आपको परम संतोष होता था। माहरजी का प्रेम हमें हफ्ते में एकबार—र विवार को तो आकृष्ट कर ही लेता। वे अपने अनुभव बताते, आये हुए पत्रों की फाइल सामने रख देते, इस प्रकार उनके साथ हमारा बहुत सा समय वार्तालाए और निरीक्षणादि में बीत जाती । समव्यसनी होने के कारण नई-नई जानकारी प्राप्त होती और हमें भी उनके जैसा संग्रहालय खड़ा करने का शौक लग गया । हमारा स्वप्न साकार हुआ और उन्होंने हमें संग्राहक बना खाला। उनके यहाँ जाने पर दोपहर में जलपान तो अवश्य ही करना पड़ता यद्यपि हम दो बार से तीसरी बार भोजन नहीं करते थे पर उनके सप्रेम आदेश को अस्वीकार करने का कभी साहस नहीं कर सका । काकाजी अगरचन्दजी जैसे निवृत्ति प्रिय और अल्प आवश्यकताओं पर निर्मर रहनेवाले व्यक्ति को भी उनके साथ फल और जलपान में शामिल होना पड़ता था। यदि कभी अस्वीकृति कर दी तो कहते कि-धबड़ाइए मत. हम अभी वीकानेर नहीं आने वाले हैं। आप संकोच क्यों करते हैं ? हम से कुछ जवाब देते नहीं बनता। वे एक तल्ले के कमरे में बैठते थे , कुर्शी-टेबुल पर नहीं पर गद्दे पर आराम से बैठते. हमेंभी तकिया अवस्य लगाना पड़ता। धनिया,सुपारी और पान की डिबिया सामने पड़ी रहती। उनके यहां जाकर हमें में हमान की माँति नहीं पर घरके सदस्य की माँति निःसंकोच आराम के साथ बैठना पहता । बड़े-बड़े विद्वानों ने उनकी मिलनसारिता, आत्मीयता, कलाप्रियता, अतिथि सत्कार और सौजन्यादि गुर्गों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

सौजन्यः

हमारी शिक्षा और ज्ञानरुचि की ओर लक्ष्य कर वे कहते कि आपने पढ़ी-पढ़ाई अंग्रेजी मी मुला दी. जिसकी आज के युग में बड़ी आवश्यकता है। यदि एक दो महीना हमारे पास रहें तो आपको इसका पर्याप्त ज्ञान हो सकता है। आप तो बड़ाबजार छोड़ कर यहाँ आते ही नहीं, जब कुछ दिनों से आते हैं तो वार्ताजाप में ही समय बीत जाता है, काम तो थोड़ा ही हो सकता है। यहाँ दो तीन मास बराबर रहिये. आपका ही घर है। जम कर रहेंगे तब काम होगा! हमारे जैसे साधारण

व्यक्ति को प्रोतसाहन देकर आगे बढ़ाने की उनमें जो भावना थी वह सौजन्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। उन दिनों 'जैन लेख संग्रह' का जैसलमेर विषयक तीसरा भाग छप रहा था जिसमें मैंने समयसुन्दरजी के कुछ ऐतिहासिक स्तवन दिए जिन्होंने उक्त ग्रन्थ में मेरे नामोल्लेख पूर्वक साभार प्रकाशित किया ! एकबार साहित्य सम्मेलन के प्रसंग में कुमारसिंह हॉल में साहित्य प्रदर्शनी की गई जिसमें हमारे संग्रह की सचित्र प्रतियाँ आदि मंगवाकर सूची में नाम सहित प्रकाशित किया। इसी प्रकार श्री वंशीलालजी कोचर के दो सामुद्रिक चित्र मी उनके नामोल्लेख सह प्रदर्शित किए, यह उनका बड़ा भारी सौजन्य था। उनके यहाँ फिरंगी नामक एक नौकर रहता था जिनके पुत्र को पढ़ा-लिखाकर मैट्रिक पास करा दिया जिससे वह अपने जीवन को ऊँचा उठा सके। वै अपने सम्पर्क में आये व्यक्ति का बढ़ा ध्यान रखते थे।

गुणानुरागः

खरतर गच्छ के महान् आचार्यों के प्रति आपकी भक्ति और बहुमान था। आपने स्तवनावली, सांझी संग्रह और जैसलमेर के महत्त्वपूर्ण अभिलेख प्रकाशित कर गच्छ की महान् सेवा की। दादा साहब श्रीजिन-कुशलसूरिजी के आप परम मक्त थे। जयसागर उपाध्याय कृत 'रिसह जिणेसर सो जयउं स्तीत्र तो आपको कण्ठस्थ था और बड़े प्रेम पूर्वक गाया करते थे। खरतर गच्छ पष्टावली के लिए आपने कहा—मैंने रात में दो-दो बजे तक परिश्रम किया है। जो लोग ईंप्यांवश अभयदेवसूरि को खरतर गच्छीय नहीं मानते उन्हें सचीट सप्रमाण उत्तर देने का मेरा विचार है। उन्होंने कहा—मुझे जो सं० १४१२ की राजगृह पाश्वंनाथ प्रशस्ति मिली वह भी इसके लिए उत्कृष्ट प्रमाण है। यह प्रशस्ति, मन्दिर ध्वस्त होने पर दो टुकड़ों में विभक्त हो गई थी और मुझे उसका दूसरा टुकड़ों में विभक्त हो गई थी और मुझे उसका दूसरा टुकड़ों

बाबाजी के भांग या चटनी पीसने की सिला रूप मैं बिहार में प्राप्त हुआ था जिसे मैंने अपने शांति भवन में लगा दिया है ! आपने इस विषय में स्वयं बोल कर एक पेज मेरे से लिखवाया भी था पर वह कार्य पूर्ण न हो सका। यद्यपि आप लोंकागच्छा के थे पर खरतर गच्छा की महानता जन्हें निःसंकोच स्वीकार्य थी।

ओसवाल जाति के इतिहास पर लिखे गए मुनि ज्ञानसुन्दरजी के गण्य पुराण पर आप बड़े झंझलाते और वीर संदत् ७० में ओसवाल जाति की उत्पत्ति उन्हें बिलकुल अमान्य थी। वे उसे छठी शताब्दी से पूर्व का नहीं मानते थे। वे कहते -कभी मैं इसकी सप्रमाण आलोचना करूंगा । आपका जाति-प्रेम उल्लेखनीय शा। ओसवाल सम्मेलन आदि के कृतिस्व इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उन्हें अपने 'नाहर' गोत्र का उल्लेख जहाँ कहीं मिलता नकल कर लेते। हमारे संग्रह के नाहर गोत्र के लेखीं का संग्रह तो किया ही पर जब कवि जटमल नाहर के सम्बन्ध में यह ज्ञात हुआ कि वे उन्हीं के गोत्रीय सकवि थे तो उन्होंने अपने व हमारे संग्रह से नवीन ज्ञात जट-मल के ग्रन्थों की नकलें बड़े उत्साह के साथ करवा कर रखी । हमने स्वामी नरोत्तमदासजी के साथ उसका सम्पादन भी किया । नाहरजी उसे प्रकाशित करना चाहते थे पर उनका स्वर्गवास हो जाने पर आज चिर काल से वह अप्रकाशित ही रहा।

संस्कृति व धर्मरक्षकः

आप तीर्थ रक्षा वा धर्म रक्षा में सर्वदा कटिबद्ध रहते थे। किसी ने भी जैन धर्म और संस्कृति के सम्बन्ध में कोई गलतफहमी फैलाने की चेशा की तो आप उसका प्रेम पूर्वक निराकरण करते, उनसे पत्र-व्यवहार आदि द्वारा भ्रम दूर करके विश्राम लेते। एकदिन वार्तालाप के प्रसंग से मैंने उन्हें बतलाया कि जगदीशसिंह गहलोत ने मारवाड़ राज्य के इतिहास में राणकपुर के मन्दिर के सम्बन्ध में लिखते हुए उसे "पातरियों का मन्दिर"

ि १५१

बतलाया है तो आपने उनसे पत्र व्यवहार किया और राणकपुर के शिल्प के महत्त्व के सम्बन्ध में काफी लम्बी चर्चा चलाई। एक अन्य प्रसंग आने पर उन्होंने इस बात की मधुर चुटकी लेते हुए कहा कि आप ऐसा सिलसिला छेड़ गए कि मेरे लिये वह लम्बी उधेड़-बुन हो गई। इसी प्रकार आपने श्वेताम्बर-दिगम्बर प्राचीनता आदि के विषय में निबन्ध लिखकर भ्रम का निराकरण किया।

वकालत का सद्द्रपयोगः

हमारे सिलहट के एक व्यापारी नरेन्द्रचन्द्र दास जिसमें हमारे हजारों रुपये बाकी थे. उसने अपनी सम्पत्ति देवोत्तर कर खाली । हमने उस पर हाईकोर्ट में केस कर अग्निम कुर्की निकाली। उस मामले के कागजात नाहरजी ने गौर से देखते हुए उचित सलाह दे रहे थे इतने में ही एक वंगाली बैरिस्टर नाहरजी के यहाँ आ पहुँचे । उन्होंने नाहरजी के कहने पर कागजी को उठाया और पृष्ठों को उलट-पुलट के रख दिये। नाहरजीने मेरे से कहा-देखो, यह धन्धा कैसा है। बिना स्वार्थ ये लोग नजर उठाकर भी नहीं देखते. राय देना तो दूर रहा । हाईकोर्ट की वकालत की सनद लेकर भी मुझे इस धन्धे से साहित्य और पुरातत्त्व की सेवा ही अच्छी लगती है किर भी अपने अनुभव का उपयोग तो करना ही चाहिये। नाहरजो ने अपने कानूनी ज्ञान का सदुपयोग राजगृह, पावापुरी आदि तीश्रौँ के मामलों में अच्छी तरह किया था। आपके संग्रह में ऐसी तीर्थ माला जिसपर पटना हाईं कोर्ट की छाप लगी थी तथा कमलसंयमोपाध्याय लिखित स्वर्णाक्षरी पत्रादि भी थे जिन्हें उन्होंने शहादत में पेश किए थे। तीथों के सम्बन्ध में आपकी सेवाएँ उल्लेखनीय थीं । जैन समाज का कर्ताञ्य है कि आप के स्टेंच्यू-चित्र आदि वहाँ लगाएँ । गणी जनों के प्रति आदर:

एकबार बिहार से हमलीग राजगृह जा रहे थे। संलग्न

खब्बे में नाहर जी बैठे हुये थे। मैंने उन्हें देखा. ज्योंही चार नजर हुई कि मुझे अपने पास बलाकर राज-गृह में अपने शान्ति भवन में ठहरने व रसोई पानी की कुछ भी खटपट न करने के लिये कहा। हमारे साथ काकाजी अगरचन्दजी भी थे। उन्हें सिलहट जाने की जल्दी थी अतः हम एक ही दिन ठहर कर कलकत्ता जाने लगे । नाहरजी ने इसके लिये कड़ा उपालंभ दिया। उस समय कवि लल्लूलालजी गन्धर्व राजगृह आए हुए थे। जब नाहरजी को उनकी काव्य प्रतिभा मालूप हुई तो उन्होंने उन्हें अपने वहाँ निमन्त्रित किया। नाहरजी का दरवान धर्मशाला में आया. लल्लूलालजी के साथी वहाँ बैठे थे जिनके मार्फत निमन्त्रण को पाकर वे शान्तिभवन गए और एक तत्कालिक कविता सुनाई जिसमें उनके निमन्त्रण का "ये तो दिजराज के वुलाइवै को साज है" कहकर अन्त में "नाहर दनराज है" कहकर आने का कारण दर्शाया। नाहरजी उनकी काव्य प्रतिमा से बड़े प्रभावित हुए।

असाधारण प्रभाव व अनोखी सूझ:

बीकानेर से ठाकुर रामसिंहजी और स्वामी नरोत्तम-दासजी कलकत्ता पधारे तो मैं उन्हें नाहरजी के यहाँ ले गया। किव जटमल नाहर की गोरा बादल कथा की जिस हस्तिलिखित प्रति के आधार से बाबू श्याम-सुन्दरदासजी ने उसे गद्य रचना बतलाई थी. उस प्रति का निर्णय करने के लिये हम लोग नाहरजी के साथ 'रयाल एसियाटिक सोसायटी आफ बेंगाल' में गए। नाहरजी वहाँ के विशिष्ट सदस्य थे और उनका वहाँ बड़ा प्रमाव था। बेचारे थुल-थुल शरीर दाले युरोपियन पुस्तकाध्यक्ष ने स्वयं खड़े-खड़े प्रतियों को खोज कर उपर्युक्त कथा की प्रति निकाली और हमलोंगों का अच्छा स्वागत किया। नाहरजी के इस प्रयत्न से गोरा बादल संबन्धी हिन्दी साहित्य मैं जो गतानुगतिक बड़ा भ्रम फैला हुआ था. उसका सदा के लिये निराकरण

हो गया। आपने इसके सम्बन्ध में "कुँएँ माँग" शीर्पक वाला सुन्दर लेख लिख कर "विशाल भारत" में प्रकाशित किया। यह शीर्षक भी आप की असाधारण सूदा-वूझ का परिणाम है और गतानुगतिक साहित्य मनीपियों के लिये एक बड़ा व्यंग भी।

उत्तम परीक्षकः

अप दिश्वदिद्यालय के सर्वोच्च कक्षाओं के मानद परीक्षक तो थे ही पर प्राचीन मुद्रा शास्त्र के भी एक मर्मज्ञ विद्वान थे। एक बार एक ऐसे सिक्के को ब्रिटिश म्यूजियम के क्यूरेटर ने नाहरजी को भुलावे में डालने के लिये नक्छी बतला दिया जो उस म्यूजि-यम के संग्रह में भी नहीं था। नाहरजी के इस उतर से कि आप दूसरे को भुलावे में डालिये, मैं इसके महत्व से अनमिज्ञ नहीं हूँ. मुझे इसकी पूरी परीक्षा है— क्यूरेटर मुँह ताकता ही रह गया।

मिलनसारिताः

एक बार मेरे पूज्य पितामह श्री शंकरदान नाहटा कलकत्ता पधारे तो उन्होंने नाहरजी से मिलने का विचार किया। नाहरजी को मालूम होते ही वे स्वयं हमारी गद्दी आरमेनियन स्ट्रीट में आ पहुँचे और बड़े प्रेम पूर्वक मिलकर काफी देर तक बातचीत में लग गए।

जैन अभिलेख :

नाहरजी ने प्रतिमा लेखों का बहुत बड़ा संग्रह किया था। जैन समाज में सब से पहले अभिलेखों का संग्रह करने वाले वे ही थे। दूसरे सभी संग्रह बाद में प्रकारित हुए थे। उनके लेखों का संग्रह तीन मागों में पूर्ण हुआ। तीसरे माग में जैसलमेर के समुचे लेख प्रकाशित किए थे। उनमें जो भी रह गए हमने मूल लेखों से मिलाने के पश्चात् अपने बीकानेर जैन लेख संग्रह में लगभग २०० लेख प्रकाशित कर दिए। हमें लेख संग्रह करने

की उनसे बड़ी प्रेरणा मिली थी अतः हमने अपने ३००० शिलालेख, १०० चित्र और १०० पृष्ट की प्रस्तावना वाले इस वृहद् ग्रन्थ को स्वर्गीय नाहरजी की पृण्य स्मृति में उन्हें समपर्ण कर अपने को कृतकृत्य माना । 'एपिटम आफ जैनिजम' ग्रन्थ भी जैन धर्म सम्बन्धी जानकारियों से परिपूर्ण है जिसका लेखन आपने श्रीधोष महाशय के साथ किया।

अंतिम अमिलाषाएँ :

नाहरजी ने जैन लेख संग्रह के चतुर्थ माग में मथुरा के प्राचीन लेखों का महत्वपूर्ण संकलन किया था। उन्होंने बड़े ही परिश्रम पूर्वक मूल लेखों को हिन्दी व अंग्रेजी अनुवाद सह बिल्कुल तैयार कर लिया था और मथुरा जाकर एकबार फिर से लेखों को देख आने की मावना की थी पर उनका स्वर्गवास हो जाने पर वह कार्य यों ही रह गया।

उनकी इच्छा थी कि तीनों भागों की एक संयुक्त तालिका प्रकाशित कर दें ताकि इतिहास शोधकों के लिए एक महत्वपूर्ण कार्य हो जाय । यों अन्य अभिलेख संग्रहों से नाहरजी के लेख संग्रहों के परिशिष्ट अधिक स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण थे।

नाहरजी ने अपने जीबन के अन्तिम वर्षों में हस्तलिखित प्रतियाँ की पुष्पिका—प्रशस्तियों के संग्रह की
ओर ध्यान दिया था क्योंकि उनका महत्त्व भी ऐतिहासिक
दृष्टि से देखा जाय तो शिलालेखों से किसी प्रकार न्यून
नहीं है। नाहरजी में यह विशेषता थी कि जिस काम में
वे लग जाते उसे सफल बनानेमें पूर्ण शक्ति लगा देते
थे। अपने संग्रह की प्रशस्तियों का तो उन्होंने संग्रह
किया ही पर जहाँ भी जाते प्रशस्तियाँ नकल करवा
कर भेजने के लिए योग्य व्यक्तियों को निर्देश
दे आते। आपकी प्रेरणा से हमने अपने संग्रह
की दाई हजार प्रशस्तियाँ एकन्न कर खाली। आपकी

[953]

बड़ी इच्छा थी कि इनका एक विशाल संग्रह प्रकाशित हो पर आपके अकाल में ही स्वर्गवासी हो जाने से वह इच्छा मन की मन में रह गई। जैन समाज का कर्तव्य है कि उनके अमोप्ट कायों को पूरा कर के साहित्य-सेवियों के लिए सामग्री सुलम कर दें।

स्वर्गवास के पूर्व नाहरजी मारत के प्रायः समस्त जैन तीथों की यात्रा एवं विशिष्ट स्थानों का प्रवास कर के लौटे थे। वे घर आते ही बीमार पड़ गए। जब मैं मिलने गया तो उन्होंने कहा मेरा जवर उत्तर जाय तब आप दो चार दिन बाद आइये और थोड़ा कष्ट करके मूर्तियों के लेख और दूसरी वस्तुओं की सुव्य-वस्थित तालिका बनादें कारण यह कार्य तो आपको ही करना है। उस समय किसे मालूम था कि नाहरजी से फिर मुलाकात ही नहीं होगी। पाँच-छ दिन मैं उनके यहाँ नहीं जा सका और वे स्वर्गवासी हो गए। उनकी अन्त्येष्ठि क्रिया हो जाने के पश्चात् ही मुझे वह दुःखद समाचार मालूम हुआ।

काव्य और अलंकार ज्ञानः

नाहरजी सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न थे। एकबार

काव्य अलंकार के सम्बन्ध में वार्तालाप होनेपर उन्होने विभिन्न छन्दों के उदाहरण वैठे-वैठे प्रस्तृत कर दिए जिनकी रचना में गणों का. मात्राओं का इस प्रकार प्रयोग होता है। उन्होंने द्रुतविलम्बित छंद के उदाहरणों में ''नत नरेश्वर मौलिमणिप्रमा'' आदि समयसंदर जी कृत दादा कुशल स्तोत्रका एक छंद बोला । त्रोटक छंद के उदाहरणों में अजीर्णमंजरी का श्लोक प्रस्तत किया—"धनसेकदलं कदलं च घृतं घत विनाशन ज्भरसम् तदुषद्रब नाशकरं लवणं, लवणेषुच तन्दुलवारिवरम्" तथा "शारदे वरदे तुमि कल्पतरु, तुमि भिन्न चराचर शुक्क मरु । प्रखरातप तप्त प्रखिन्न जने. वर देहि में माता हृष्ट मने" । फिर बतलाया—"बिलेते पालाते छटफट करे नव गौड़े । बिना हैट कोट पोरे धती पोरे मान रहे ना" इत्यादि।

नाहरजी का स्वर्गवास हुए आज लगभग चार दशक बीत गए पर उनके कार्य-कलाप, उनकी सौम्य-शुप्र मुद्रा, उनकी मधुर ओजस्वी वाणी आज भी मेरे हृदय-पटल पर अंकित है।

बहत्तरवीं कला की परीक्षा

बसंतपुर नगर में अजितसेन राजा राज्य करता था। उसके सुबुद्धि नामक प्रधान और सहस्रवृद्धि नामक कोतवात था। उसी नगर में धनावाह नामक एक साह-कार रहता था जिसके चार पुत्र थे। उनमें सबसे छोटे पुत्र का नाम श्रीदत्त था। सेठ ने श्रीदत्त को पाठशाला भेज कर उपाध्याय के पास पुरुष की बहत्तर कलाएँ सिखलाई । श्रीदत्त ने इकहत्तर कलाओं की परीक्षा दी जिसमें वह उसीर्ण हो गया, परन्तु बहतरवीं चोरी की कला अपरीक्षित रह गई तो श्रीदत्त ने सोचा इसे भी प्रयुक्त कर देखना चाहिए। इन विचारों से प्रेरित हो वह उसी नगर में रहने वाले धनाट्य जौहरी सिंहदास के यहाँ गया। जौहरी सिंहदास ने श्रीदत्त को सम्मान-पूर्वक बैठाया। श्रीदत्त ने उसके समक्ष जवाहिरात की ग्राहकी बताते हुए माल दिखाने के लिए कहा । जौहरी श्रीदत्त को लेकर ऊपर दूसरे तल्ले में गया और तिजोरी खोजकर जवाहिरात निकालने लगा। श्रीदत्त ने पास पड़ी हुई चामियाँ लेकर अपनी जेब से मोम कि गोटियाँ निकाली और उन पर छाप लेकर अपनी जेब में डाल ली। जौहरी ने कई प्रकार के जवाहिरात दिखाए परन्तु श्रीदत्त से कोई भी सौदा नहीं पटा। श्रीदत्त सेठ को प्रणाम कर अपने घर लौट आया।

अब श्रीदत्त ने मोम की छाप के अनुसार लौह-कार से नवीन चामियाँ बनवाकर अपने पास रखी और एक चन्दन गोह खरीद कर उसे पालने-पोसने लगा। एक दिन अवसर पाकर वह गोह को लेकर निकला। आधी रात का समय था। वह सीधा सिंहदास सेठ के घर के पृष्ठ-मार्ग से गोह के प्रयोग से ऊपर चढ़ा। उसने गवाक्ष में आकर देखा कि सेठ सिंहदास संघ रहा है। सेठ को निद्राधीन देखकर उसका पुत्र भी उठ कर सोने चला गया था! श्रीदत्त चुपचाप जौहरी के पुत्र के स्थान पर आकर बैठ गया और खाता खोल-कर कलम हाथ में ले ली । इसी समय सहस्रबुद्धि कोतवाल नगर रक्षा के हेतु घमने निकला और जीहरी सिंहदास के घर में दीपक का प्रकाश देखकर पुकारा--गवाक्ष में कौन वैठा है ? श्रीदत्त ने खँखारा जिससे कोतवाल ने समझा सेठ का पुत्र बैठा काम कर रहा है, अतः आगे निकल गया। कोतवाल के चले जाने पर श्रीदत्त उठकर तिजोरी के निकट आ गया और अपनी जेब में रखी चामियों को उसमें डालकर बैठ गया। थोड़ी देर में अर्द्ध-रात्रि के घण्टे बजने प्रारम्भ हुए। श्रीदत्त ने घण्टे की आवाज के साथ-साथ तिजोरी खोलकर तुरन्त जवाहिरात के छः ढब्बे निकाले और तिजोरी को बन्द कर दिया । इसके बाद रतन-मंजिषकाएँ और चामियाँ लेकर धीरे से द्वार खोलकर अपने धर आ गया । वह उन पेटियों को धर में सुरक्षित छिपा कर अपने काम में लग गया।

धः महीने परचात् जौहरी सिहदास ने किसी ग्राहक को दिखाने के लिए रत्नों की तिजोरी को खोला तो उसमें से छः पेटियाँ गायब मिली। सेठ का मुँह सफेद हो गया। उसने घर में सबसे पूछा, अच्छी तरह जाँच की पर जब कहीं भी पता न लगा तो राज-दरबार में जाकर प्रार्थना की—राजन्। मेरे घर से छः लाख के जवाहिरात बन्द तालों में से कोई ले गया। राजा ने सहस्रबुद्धि कोतवाल को

बुलाकर कहा—सेठ सिंहदास के घर से ग्रुजवाहिरात की छः पेटियाँ चली गई, तुम क्या खाक चौकीदारी करते हो ? देखो एक सप्ताह में तुम चोर और माल को बरामद करो अन्यथा चोर का दण्ड तुम्हें दिया जायगा। कोतवाल अपने तलाशी के कार्य में लग गया। राजा ने सिहदास से कहा—तुम्हारा धन साल दिन में आ गया तो ठीक. अन्यथा आठवें दिन मेरे खजाने सेले लेना, तुम्हें चिंता करने की आवश्यकला नहीं है। राजा के आश्वासन से जौहरी तो निश्चिन्त हो गया पर सहस्रबुद्धि कोतवाल बड़ी भारी चिंता में पड़ गया कि छः महीने पूर्व गये माल का कैसे पता लगाया जाय? उसका चित्त चिन्ता के मारे उदास हो गया। चिंता ऐसी ही चीज है। कहा है:

चिंता में चतुरपन घटे, घटे कित्त गुण गाह।
हाम काम विद्या घटे, चिन्ता समुद्र अथाह॥
चिंता समुद्र अथाह जल, दिवस मोजन निहं भाव।
घटे मित्र पर भाव, स्यणि निद्रा नहु आवे॥
रूप होण तनु सीण, जास घट व्यापे चिंता॥
कवि भाद' कहै दहें जीव, जास घट व्यापे चिंता॥

चितातुर कोतवाल को चिता ही चिता में सात दिन वीत गए पर वह इस विकट समस्या को सुलझा न सका। सातवें दिन अर्द्ध-रात्रि में जब वह बाजार में से निकल रहा था तो एक दुकान में दीपक जलते हुए देख कर पूछा—हाट में कौन है ? श्रीदत्त ने उत्तर में खेंखारा तो कोतवाल ने दुकान पर आकर दार खुलवाया। श्रीदत्त ने कोतवाल को वैठने के लिए आस्त दिया और पान, सुपारी, लवंग, इलायची आदि मनुहार करने लगा। कोतवाल ने पूछा—सेठ. सुम्हारे पिता का नाम क्या है ? श्रीदत्त ने कहा—धनावाह मेरे पिता हैं और में हूँ श्रीदत्त। कोतवाल ने पूछा—अपने नगर के जौहरी सिहदास तुम्हारे सगे-सम्बन्धी हैं ? श्रीदत्त ने कहा—उमारा

उससे कोई रिस्ता नहीं है। यह सुनकर कोतवाल ने कहा— सुनो श्रीदत। आज से छः मास पूर्व मध्यरात्रि में तुम सिहदास के घर में बैठे थे, दीपक जलता देखकर जब मैंने पूछा—कौन बैठा है, तब तुमने खँखारा अतः जौहरी को जवाहिरात के चोर तुम्हीं हो। श्रीदत्त ने कहा—वाह कोतवाल साहब, आप भी पादर देवी वाली वात करते हो। कोतवाल ने कहा—सो कैसे ? श्रीदत्त ने कहा—किसी गाँव में पादरदेवी का मंदिर था। वह देवी सबसे बिल, भोग लेती और उन्हें कहती में तुम्हारे सारे विध्न हरण करती हूँ। किसी धूर्त ठग ने कहा—देवी। तुम्हारे ही सिर विध्न आवेंगें जब ? देवी ने कहा—मैं सारे विध्न गाँव पर ही खाल दूँगी। वेसे ही आप "तबेले की बला बन्दर के सर" कह रहे हो। कोतवाल सुबह बात करने को कह कर चला गया और श्रीदत्त निश्चन्त होकर सो गया।

आठवें दिन प्रातःकाल राजा ने कोतवाल को बुला कर पूछा-चोर को शोध निकाला ? उसने कहा-हाँ महाराजः पता लगाया है। इसी नगर के सेठ धनावाह का पुत्र श्रीदत चोर है। राजा ने श्रीदत्त को तुरन्त उपस्थित करने की आज्ञा दी । राजाज्ञा से श्रीदत्त राज-सभा में उपस्थित किया गया । उसने कहा—महाराज. क्या आज़ा है ? राजा ने कहा—जीहरी सिंहदास के रतन तुमने चराये हैं, मेरा कोतवाल कभी झठ नहीं वोलता। श्रीदत्त ने कहा-आप मुझे स्वेच्छानुसार धीज कराइये। यदे मैं चोर हूँ तो दण्डित होजाँगा। राजा ने मंत्री. कोतवाल सब से सलाह लेकर निर्णय दिया कि हमारे नगर की रक्षिका श्री कालिकादेवी चमत्कारी और प्रत्यक्ष हैं। वह चोर को मार देती है और साहुकार को जीवित निकाल देती है अतः उस देवालय में रात भर रहकर प्रभात में निकल आने पर तुम निर्दोष प्रमाणित हो सकोगे। श्रीदत्त ने राजाज्ञा शिरोधार्य की।

सन्ध्या समय राजा-प्रजा सभी मानव - मेदिनी

कालिका देवी के मन्दिर के अहाते में एकत्र हुए। श्रीदत्त भी सपरिवार आया और राजा को नमस्कार कर देवालय में प्रविष्ट हो गया। मन्दिर के द्वार वन्द हो गये। राजा ने मंदिर के चतुर्दिक पहरेदार बैठा दिये। सब लोग प्रातःकाल उस धीज का परिणाम जानने की इच्छा से अपने-अपने घर चले गये। श्रीदत्त के घरवाले बड़ी व्ययता से उसके निर्दोष घर लौटने की कामना कर रहे थे।

इधर श्रीदत ने सर्वप्रथम फल-फूल-मेवा-मिष्ठानन आदि सामग्री से देती की पूजा की। फिर देवी की आरती करके दीएक की जयोति के सामने दैठकर उनकी आराधना करने लगा। एक प्रहर बीतने पर सिंहवाहिनी विञ्रल धारिणी देवी विकराल रूप में उपस्थित हुई! उन्होंने कहा - अरे पापी ! चोरी और सीनाजोरी! चोरी करके भी सत्यवादी बनना चाहते हो ? मेरे समक्ष तुम्हारी कारसाजी नहीं चलेगी। अपने इष्ट को स्परण करके कल मरने के लिये तैयार हो जाओ। श्रोटत ने विनम्र होकर कहा-साताजी, मेरे ऐसे माग्य कहाँ जो आप के हाथ से मृत्यु हो। परन्तु मेरे मन में एक संशय है, उसका निर्णय हुए विना मेरे मन की बात मन में ही रह जायेगी । अतः मेरा संशय दूर करके आप खशी से मारिए । देवी ने कहा-तम अपने संशय की बात कहो। श्रीदत्त ने कहा— सुनिये माताजी! पली नामक एक गाँव है. जिसमें कलंबी जाति के दो पिता-पुत्र रहते हैं। कर्म संयोग से दोनों की स्त्रियाँ भर जाने से वे विधुर हो गये। उन्होंने विचार किया स्त्री के विना घर क्या ? अतः वे अपना घर बसाने के उद्देश्य से नाता (विधवा-विवाह) करने के लिये घर से चल पड़े। दो चार दिन में वे रूद्र नामक गाँव में आकर ठहरे। वहाँ से प्रातः कारा रवाना होते समय उन्हें अच्छे शकुन हुए । बाप ने कहा-बेटा, ये शकुन कहते हैं कि आगे जाने पर हमें दो स्त्रियाँ मिलेगी, जिनके साथ अपना सम्बन्ध होगा। जन्होंने थोड़ी दूर जाने पर मार्ग में दो स्त्रियों

के पद-चिन्ह भी-देखे। पिता ने कहा-अपने शकन हो गये अतः पहले ही वरण कर लें। पुत्र ने कहा--पिताजी ! छोटे पैरों वाली स्त्री मेरी और वर्ड पैरोंवाली अप्रकी । आगे जाते कुछ ही दूरी पर उन्हें उन दोनों स्त्रियो से साक्षातकार हो गया। उन्होंने स्त्रियों से पूछा-तुम लोग कौन हो, कहाँ रहती हो ? स्त्रियों ने कहा-हम रुद्रपठी गाँव में रहने वाली कलंबी जाती की हैं, हम दोनों विधवा हैं अतः घर मांडने के लिए निकली हैं। आप लोग कौन हैं ? उन्हाने कहा- हम भी कलंबो जाति के हैं और इसी उद्देश्य से घर से निकले हैं अतः अपने परस्पर नाता कर लें। पिता-पत्र ने पूर्व निर्णयानुसार उनसे सम्बन्ध कर लिया। वे दोनों माँ वेटी थी. छोटे पैरों वाली माँ थी जो पुत्र की और बड़े पैरों वाली पुत्री थी वह पिता की घरवाली हुई। वे अपने घर आकर आनन्द से गृहस्थी चलाने लगे। कुछ अरसे बाद दोनों गर्भवती हुई और दोनों ने पुत्र को जन्म दिया। अव माताजी, यह बतलाइये कि दोनों का परस्पर क्या सम्बन्ध हुआ अर्थात् वे एक दूसरे के क्या लगे? यही संशय है।

श्रीदत्त की बात सुनकर देवी विचार में पड़ गयी और एक प्रहर बीत जाने के बाद भी वह एक-दूसरे के सम्बन्ध का निर्णय नहीं कर सकी। देवी ने झंझला कर कहा—पापी तुम मुझे इस प्रकार वारजाल में फंसाकर ठगना चाहते हो? श्रीदत्त ने कहा— नहीं माताजी अभी रात्रि तो तीन प्रहर बाकी है. अधीर न होकर स्वस्थ चित्त से विचार कर मेरा संशय मिटाइये। में आप के आगे मागकर तो नहीं जाऊँगा। देवी यह सुन वापिस मूर्ति के पास आ बैठी। देवी विचार करते-करते किसी निर्णय पर न पहुँची तो उसने फिर आकर श्रीदत्त से कहा। श्रीदत्त उन्हें बारम्बार संशय निवारणार्थ प्रेरित करता रहा। देवी इधर पशोपेश में रही और उधर प्रमात होते ही

द्वार खुळ गया। श्रीदत्त एक क्षण में बाहर कूद पड़ा। पहरैदार उसे राजसभा में ले गये। वह राजा को सहर्ष प्रणाम करके बैठा। राजा ने कोतवाल को बुलाकर उसे मिध्यादीषारोपण के अपराध में शूली का दण्ड दिया।

श्रीदत्त ने अनुनयपूर्वक कहा—महाराज! यदि अपराध क्षमा करें तो एक बात कहूँ । राजा ने वहा, कहो। कहो। तुम्हें तो सात मुनाह माफ है। श्रीदत्त ने कहा—आप ऐसे बुद्धिमान कोतवाल को क्यों मार रहे हैं जिसने छः मास के वाद भी मेरा खँखारना पहिचान लिया। श्रीदत्त ने आदि से अन्त तक सारी वात राजा के पास निवैदन की। राजा ने कहा—तब देवी झूठी हुई ? श्रीदत्त ने रात् की सारी वाल खोलकर कहीं कि उसने किस प्रकार देवी को वाग्जाल में उन्हां कर चतुराई से अपनी प्राणरक्षा की। श्रीदत्त की बात सुनकर राजा व सभी समासद्ध उसके बुद्धिक्ल की प्रशंसा करते हुए धन्य - धन्य कहने लगे। श्रीदत्त ने घर से जवाहिरात की छही पेटियाँ मैंगाकर राजा को संमलाई। राजा ने पूछा—तुमने यह सब प्रयंच क्यों किया? उसने कहा—श्रीमान्, मैन बहत्तरवीं कला की परीक्षा करने के लिए ही यह कार्य किया था। राजा ने श्रीदत्त को प्रधान मंत्री पद दिया। बुद्धिमान कोतवाल को सम्मानित करने के साथ सिहदास सेठ को बुजाकर उनकी अमानत जवाहिरात सुपुर्द की। श्रीदत्त अपने बुद्धिकल से उत्तरीत्तर उन्नित शिखर पर आरूड होकर सुखी हुआ।

अहिच्छत्रा पार्वनाथ तीर्थ

[प्राचीन ऐतिहासिक तीर्ध अहिच्छत्रा के सम्बन्ध में जब अस्त-व्यस्त दि० उल्लेख सामने आये तो काकाजी अगरचंद जी के आदेशानुसार श्वेताम्वर प्रमाणों को एकत्र किया और निबन्ध रूप में प्रकाशित किया।

किनंद्यम साहब को सन् १८९४ में अहिन्छत्रा में से एक ताम्बे का सिका प्राप्त हुआ था जिसके एक तरफ पुष्प सहित कलश अंकित था और दूसरी ओर 'श्री महाराज हरिगुप्तस्य" लिखा हुआ था । यह लेख विक्रम की छठी शताब्दी का है। यह कोई गुप्त वंश का राजा होना चाहिए क्योंकि पुष्प सहित कलश जैनों का मांगलिक कलश है और मथुरा के स्थापत्य में वह मुख्यता से आलेखित हुआ है। ये राजिं जेनाचार्य हो गये हैं जो हुण सम्राट तोरमाण के गुरु थे। मालव्यति देवगुप्त हर्षवर्द्धन के ज्येष्ठ श्राता राज्यवर्द्धन से युद्ध में हारकर गुप्त वंश के जैनाचार्य हरिगुप्त के शिष्य बन गए हों—यह बात पुरातत्वाचार्य श्री जिनविजयजी ने अपने कुदलय-माला विषयक लेख में लिखी हैं।

श्री विजेन्द्रकुमार जैन. दिल्ली द्वारा प्रकाशित अहिच्छत्र। तीर्थं की स्मारिका में ''अहिच्छत्रा नगर 'का ध्वंश १००४ ई॰ के उपरान्त स्यारहवीं शती ई॰ में ही हो गया लगता हैं लिखते हुए "महाकवि वाग्मट्ट ने इसी नगर में नेमि निर्वाण काव्य रचा था" लिखा है यतः—

> अहिच्छत्र पुरोलपन्न प्राग्वाट कुल शालिनः । छाह्डस्य सुतरचक्रे प्रबन्धं वाग्मष्टः कवि ॥

जब अहिच्छत्रा का ध्वंश ही हो गया तो वहाँ रचना कैसे हुई । वास्तव में यह अहिच्छत्रा उत्तर प्रदेश का प्रस्तुत तीर्थ न होकर राजस्थान की ही नगरी है। पोरवाड़ जाति श्रीमालनगर (भीनमाल) और राजस्थान से हीं संबन्धित थी और सुप्रसिद्ध इतिहासकार छा० गौरी-शंकरहीराचन्द ओझा ने नागीर को अहिच्छत्रा माना है। नागौर के निकट ओसतरां गाँव भी है एवं उच्छित्तवाल-ओसतवाल गोत्र भी ओसवाल जाति में विद्यमान है जिसके प्रतिमा-लेखादि पाये जाते हैं और सुप्रसिद्ध तपागच्छाचार्य विजयदेवसुरि का जन्म इसी गोत्र में हुआ था। अतः नेमि-निर्वाण काव्य के रचयिता निश्चित ही राजस्थान की अहिच्छत्रा के थे वह चाहे नागोर हों या ओसतरां। अस्तु।

प्रस्तुत निबन्ध में उक्षिसित शिलालेखों के गण, कुल, यात्री संघों के विवरण, और आगम ग्रन्थादि के उल्लेखों से अहिच्छत्रा खेताम्बर जैन तीर्थ प्रमाणित होता है।]

तीर्थंकरों के च्यवन, जनम, दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष पांच प्रसंगों को कल्याणक की संज्ञा दी गई है, अर्थात् जिससे जीवों का कल्याण हो या जो आत्म-कल्याण में साधन—कारण हो । ये प्रसंग जिन तिथ्यों और स्थानों में घटते हैं जन तिथ्यों को कल्याण-तिथि और स्थान को कल्याणक तीर्थं कहा जाता है। प्रथम ते थंकर भगवान ऋषमदेव के च्यवन, जनम और दीक्षा अयोध्या में, केवलज्ञान पुरिमताल और निर्वाण अष्टापद पर हुआ। ये तीनों स्थान आज भी तीर्थं रूप में मान्य हैं, जब कि अष्टापद हिमालय के हिम राशि में अदृश्य-लुप्त हो गया है। इसी तरह अन्य सभी तीर्थंकरों की कल्याणक

तिश्यों व स्थानों का विवरण पाया जाता है। और उन तिश्यों की आराधना तप और जाप आदि विशेष रूप से मान्य किया जाता है। कल्याणक तीर्थों की यात्रायें करके धर्मनिष्ठ व्यक्ति अपने को भाग्यशाली मानते हैं। मगवान नेमिनाश का जन्म सौरीपुर, दीक्षा केवल ज्ञान व निर्वाण गिरनार पर्वत पर हुआ किन्तु अन्य स्थानों के सम्बन्ध में विस्मृति होती गई अतः उनकी जहाँ पुनस्थापना की गई वे स्थापना तोर्श रूप में मान्य हुआ क्योंकि बीच बीच में राजनेतिक उथल पुथल व उपद्रवादि के कारण कल्याणक मूमियों की यात्रा बन्द सी हो गई थी। अतः कल्याणक मूमियों का सही पता लगाकर निर्णय करना कठिन है। पर राजगृह, गिरनार आदि पर्वत सो अपने स्थान पर स्थित हैं अतः ऐसे स्थानों के सम्बन्ध में तो विशेष शंका का अवकाश नहीं है।

भगवान पार्वनाथ ऐतिहासिक काल में हुए, यह वात सर्वमान्य है । उनका च्यवन, जन्म एवं दीक्षा तो वाराणसी नगरी में हुई जो काशी-वाराणसी के नाम से आज भी सर्वमान्य लीर्थ रूप में प्रसिद्ध है, अन्य १९ तीर्थंकरों के साथ-साथ भगवान पाइर्वनाथ का निर्वाण भी सम्मेतिशिखर तीर्थंपर हुआ। यह दिगम्बर-स्वेताम्बर सभी को मान्य है पर पाइर्वनाथ स्वामी का केवल-ज्ञान स्थान कई श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार वाराणसी में हुआ और दिगम्बर ग्रन्थों के अनुसार अहिच्छत्रा क्षेत्र में हुआ। पर यह दोनों सम्प्रदायों को मान्य है कि केवलज्ञान से पर्व और दीक्षा के बाद बीच के 53 दिनों में कमठ के जीव मेचमाली द्वारा म० पार्श्वनाथ को सबसे बड़ा उपसर्ग हुआ। वह स्थान पहले शंखावती नाम से प्रसिद्ध था पर जब मेचमाली देव द्वारा अन्य उपसर्ग के बाद भयंकर मैघ-द्रव्टि का उपसर्ग हुआ, पृथ्वी जलजलाकार हो गयी, नासाग्र तक पानी आ गया तब पंचारिन साधक कमठ तापस की धूनी में से जिस सर्प की रक्षा की शी और जो धरणेन्द्र देव हुआ था उसके उपयोग में भगवान पर

इस महान् उपसर्ग का ध्यान आया तो उपसर्ग निवारणार्थ उनके मस्तक पर सप्तफण या सहस्रफण धारण कर देवी पद्मावती सहित वह मक्ति करने लगा। जिस स्थान पर यह उपसर्ग हुआ और अहि अर्थात् सर्प ने फण फेला-कर उपसर्ग निवारण किया वह स्थान अहिन्छत्र। नाम से प्रसिद्ध हुआ। म० पार्श्वनाथ का यह विशिष्ट जीवन-प्रसंग होने से अहिन्छत्र। तीर्थ रूप में मान्य हो गया। इवेताम्बर जेनागमों में आचारांग सूत्र सबसे पहला और प्राचीनतम मान्य आगम है। उसकी मद्र-बाह रचित निर्युक्ति में उस समय के प्रसिद्ध जंन तीर्थों का उल्लेख निम्न गाथा में हुआ है—

अञ्चावय-उज्जिते गयगगपएय धममचक्केय । पास रहावत नगं चमरूप्पायं च वंदामि॥ ३३॥ •'गजाग्र पदे दशार्णकूट वर्तिनी तथा तक्षशिलायां धर्मचक्रे तथा अहिच्छत्रायां पार्श्वनाथस्य धरणेन्द्र महिमास्थाने।''— आचारांग निर्यक्ति ।

इससे पूर्ववर्ती तीन गाथाओं में यह कहा गया है कि दर्शन ज्ञान-चारित्र-तप-वैराग्य-विनय जिन कारणों से शुद्ध वनला है जनका लक्षण कहूँगा। तीर्थंकर भगवन्तों के प्रवचन प्रचारक, प्रभावक आचारों के केवल-मनवर्यंव अवधिज्ञान, वैक्रियादि अतिशायी लब्धिधारी मुनियों के सम्मुख जाने, नमस्कार करने, जनका दर्शन करने, गुणों का कीर्तन करने जनकी पूजा करने, से दर्शन-ज्ञान-चारित्र वैराग्य गुणों की शुद्धि होती है।

जन। कल्याणक स्थान, जन्मामिष्के स्थान, दीक्षा स्थान, श्रमणावस्था की विहारमूमि, केवल-ज्ञानोत्पति स्थान और निर्वाण कल्याणक मूमि को तथा देवलोक, असुरादि के मुवन, मेरूपर्वत, नंदीश्वर के चेत्यों और व्यन्तर देवों के मूमिस्थ नगरों में रही हुई जिन प्रतिमाओं को तथा अष्टापद १, उज्जयंत २, गजाग्रपद ३, धर्मचक ४, अहिच्छत्रा स्थित पार्श्वनाथ ५, रथावर्त तीर्थ ६, चमरो-

त्यात ७ इन नामों से प्रसिद्ध जैन तीथों में स्थित जिन प्रतिमाओं को मैं वन्दन करता हूँ।

मुनि कल्याणविजयजी ने जिखा है निर्युक्ति की गाथा ३३२ वों में निर्युक्तिकारने तत्कालीन भारतवर्ष में प्रसिद्धि पाये हुए ७ अशाश्वत तीथों को वन्दन किया है। मुनि कल्याणविजय जी ने इन सातों प्राचीन जैन तीथों की यथाज्ञात जानकारी दी है उसमें अहिच्छत्र। तीर्थ के सम्बन्ध में जिनप्रभसूरि के अहिच्छत्र। नगरी कल्प का आवश्यक उद्धरण दिया है।

आचारांग निर्युक्ति परम्परागत श्वेताम्बर मान्यता-नुसार चतुर्दश पूर्वधर श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी रचित है जो वीर निर्वाण संवत् १७० में स्वर्गवासी हुए । अतः अब से २३३५ वर्ष पूर्व का यह श्वेताम्बरोल्लेख अहिच्छत्रा तीर्थ की प्राचीनता व प्रसिद्धि का सबल प्रमण है।

रवेताम्बर सम्प्रदाय में अहिन्छत्रातीर्ध प्राचीनकाल से मान्य व प्रसिद्ध रहा है इसकी पुष्ट वर्तमान के पारचात्य विदानों की खोज से प्राप्त मूर्तियों व शिलालेखों से भी हो जाती है। ई० सन् १५९२ में डा० फूहरर ने जब शोध कार्य किया तो उन्होंने अपनी लखनऊ म्यू जियम की अप्रिल की खोज रिपोर्ट में लिखा है कि —''इस प्राचीन स्थान में मूर्तियाँ, पव्यासन और अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। एक प्राचीन जीर्ग जैन मन्दिर उत्स्वनन द्वारा एक खण्डित मूर्ति हस्तगत हुई। यह मूर्ति पव्यासन सहित ध्यान मुद्रा में पव्यासन रूप में हैं। पब्बासन के मध्य माग में उभयपक्ष में सिंह खड़े हैं. मध्य में धर्मचक्र के पास दोनो ओर एक-एक पुरुष मूर्ति को वन्दन करते हुए अवस्थित हैं। मूर्ति के नीचे पब्बासन सन में एक अमिलेख 'उत्कीणित है जो कुशानकालीन ब्राह्मीलिपि में हैं—

"सं० १०२ व ४ दि० १० एतस्य पूर्बायां कोट्टियातो

गणतो बह्मदासियातो कुलतोउचेनगरितो साखातो गणिस्य आर्य पुश्चिलस्य शिशिनि दतिलाति ति हरिनंदिस्य मिगिनिये निवर्तना साविकानां वद्धकिनिनं जिनदासि रुद्रदेव दाता गाला रुद्रदेवसा निना रुद्रः गारुहिनित्रः जुमारिशिरि बमद दासि हस्तिसेना ग्रहशिरि रुद्रदेता जयदासि मित्रशिरि।

"अर्थात् सं० १२ वर्षा के चतुर्थमास १० वं दिन कोटिकगण ब्रह्मदासीय कुल और उचानगरी शाखा के आर्य पुश्चिल की शिष्या दितला" हरिनन्दिनी भगिनी की आज्ञा से सुतार श्रांवक श्राविकाओं जिनदासी रद्रादेवा, दाला, गाला (गांव) की रुद्रदेव सामीरुद्र" ग्रहमित्र "कुमारश्री वमदासी (वामदासी) हस्तिसेना, ग्रहश्री रुद्रदत्ता, जयदासी मित्रश्री "" (ने बिंब करवाया)"

्रिडॉ० फुहरर की उंश्लिखित सं० ७४ की चौमुस प्रतिमा के चारों ओर दो-दो पंक्तियों में खुदे लेख की नकल भी यहाँ दे रहें हैं।

"सं० ७०४ ग्र० १ दि० ५ अय वरणतो कुलातो वजन-करितो शाखातो अयशीरकातो " न धनस्य वाचकस्य शिशिनिये अर्थ गहवलाये पण ति धारिये शिशिनिये आर्य दासिये देवस्य कटुं विनये धरवायाये दति सशुये।

''अर्थात् सं० ७४ की ग्रीष्म ऋतु के प्रथम मास के पाँचों दिन'''देवकीपत्नी धरवरु। ने बारणगण-कुरु वज्र नगरी शाखा और आस्रक (संभोग) तीन धन'''वाचक की'''शिष्या '''ग्रहवला की आज्ञा से, दान''''

(सन् १९११ के अगस्त सितम्बर कान्क्रेंस हेरल्ड में प्रकाशित लेखानुसार जेन सत्यप्रकाश, वर्ज १३ अं०४)

ये दोनों प्रतिमार्ये इस समय कहाँ है ? इनके फोटो व शिलालेख प्रकाशित होने चाहिए।

भगवान पार्श्वनाथ की जीवनी सम्बन्धी श्वेतःम्बर साहित्य में प्रस्तुत उपरोक्त अहिच्छत्र। का उल्लेख प्रायः

सभी पार्श्वनाथ चरित्र लेखकों ने किया है। रयारह अंगों में मूल आगम सूत्रों में छड्डे ज्ञातासूत्र में अहिच्छत्रा नाम आया है यतः—

"१. तीसेणं चंपाए नयरीए उत्तर पुरच्छिमे दिसि माए अहिच्छन्ना नाम नयरी होल्था रिद्धत्थिमय समिद्धा वण्णओ, तल्थणं अहिच्छन्नाए नयरीए कण्णकेउ नामं राया होल्था।

"२. सेयं खलु मम विपुलं पणिय मंखमायाए अहिच्छत्तं नगरं वाणिज्ञाए गमित्तए ।

"३, अहिस्तं नगरं वाणिज्जाए गमित ते।" (ज्ञाताधर्म कथा, प्र०१९२)

तीर्थकरों के स्वतन्त्र जीवन चरित्र तो बाद में रचे गए हैं, पहले प्रसंगवश ज्ञालासूत्र आदि आगम, कल्पसूत्र, आवश्यक-निर्युक्ति, पलमचरियां, वसुदेव-हिण्डी आदि में विवरण मिलता है फिर ५४ या ६३ शलाका पुरुष चिरत्री में संयुक्त रूप में खेताम्बर-दिगम्बर दोनों संप्रदाय के रचित ग्रन्थों में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वास्देव, ९ प्रतिवासुदेव के चरित्र पाये जाते हैं। इनमें से श्वेता-म्बर ग्रंथी में सं० ९२५ में शीलाचार्य रचित चउपन्न महापुरुष चरियं का सर्वप्रथम स्थान है । बातों की भिन्नता लिए हुए पार्खनाथ चरित्र वर्णित है। इस ग्रन्थ पार्श्वनाथ के उपसर्ग के वर्गन में धरणेन्द्र ने हज़ार फणा के छत्र का विकुर्वण भगवान के जपर किया वह एक तरह से मण्डप जैसा बन गया आदि लिखा है। स्वतंत्र पारुर्वनाथ चरित्रों में सं० ११६८ में देवभद्रसुरि रचित चरित्र (प्रकृत) तीसरे प्रस्ताव में कुछ भिन्न वर्णन करते हुए लिखा है-

"प्रभु ने उत्पर त्रण रात्रि सूधि छत्र धारण कर्यं त्यार पछी स्वामीए अन्यत्र विहार कर्यो पछी ते नगरी पृथ्वीतल ने विषे प्रसिद्धि ने पामी।"

इसके थोड़े वर्ष बाद हैमचन्द्राचार्य रचित त्रिषष्टि-श्रलाका

पुरुष चरित्र पर्व ९ सर्ग ३ में लिखा है कि भगवान विचरते हुए किसी नगरी के निकट तापसाध्रम के समीप कुए के पास एक वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग ध्यान में स्थित रहे, वहाँ मेघमाली ने बहुत से उपसर्ग किये। घनधोर वर्ग का जल भगवान के नासिका तक आने पर धरणेन्द्र ने आकर प्रमु के नीचे कमल विकुर्वण किए और स्वयं धत्र धारण करके रहा। धरणेन्द्र की स्त्रियों नृत्य करने लगी। मैचनाली प्रमु के चरणों में गिरा।

वहां से विहार कर वाराणसी के आश्रमपदोद्यान पद्यारने पर घातकी वृक्ष के नीचे प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

आचार्च हैमचन्द्र के इस उल्लेख से उपसर्ग स्थान अहिच्छत्रा और केवल-झान स्थान वाराणसी मिन्न-भिन्न स्थान सिद्ध होते हैं और केवलज्ञान वाराणसी के आश्रमपदोद्यान में होने का स्पष्ट उल्लेख है।

सं० ११६ फ के पार्श्वनाथ चिरत्र में अहिच्छत्रा का स्पष्ट उल्लेख है ही ! इसके बाद १८ वीं शताब्दी में तो जिनप्रमसूरि ने यह तीर्थ-यात्रा स्वयं की लगती है। उन्होंने जो इस तीर्थ का स्वतन्त्र कल्प रचा है उसमें उस समय जो प्रतिमाएँ वापी कूप स्थानादि का उल्लेख वहाँ की ओपध्यों और जल का प्रभाव बताते लिखा है वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपने विविध तीर्थ कल्प के चौरासी महातीर्थ नाम संग्रह कल्प में "अहिच्छत्रायाँ त्रिभुवन मानु" दिया है और पार्श्वनाथ तीर्थों में उल्लेखनीय होने से कल्प में सम्मिलत किया है। एवं फलविद्धि पार्श्वनाथ कल्प में उस समय के प्रतिद्ध पार्श्वनाथ सम्बन्धी तीर्थ-स्थानों के नाम दिए हैं जिसमें अहिच्छत्रा का भी नाम है—

''कलिकुण्ड - कुक्कुडेसर-सिरिपव्वय - संखेसर - सेरि-सय - महुरा - वाराणसी - अहिच्छता - धंमणय अज्जाहर -पवरनयर -देवपट्टण - करहेखय नागद्दह - सिरिपुर -सामिणी-

चारुप - दिपुरी -उज्जेणी - सुद्धदेती - हरिकंखी किबोखया**इ** ठाण वट्टमाण - ''

अन्त में फलविद्ध पार्श्वनाथ तीर्थ का महात्म्य बतलाते हुए लिखा है कि इस तीर्थ की यात्रा करने से उपरोक्त पार्श्वनाथ सम्बन्धी सभी अन्य तीर्थों की यात्रा हो गई ऐसा सम्प्रदाय पुरुषों का उपदेश है।

जिनप्रभस्तृरि के उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हैं कि चौदहवीं शती में अहिच्छत्रा पार्श्वनाथ दवेताम्बर मान्य उल्लेखनीय तीर्थ रहा है। अब इस तीर्थ के स्वतन्त्र कल्प का हिन्दी अनुवाद नीचे दिया जा रहा है जिससे इसका विशिष्ट महात्म्य भली माँति उजागर हो जाएगा।

अहिच्छत्रा- तीर्थ कल्प

त्रिभुवनभानु के नाम से प्रकट श्री पार्श्वनाथ जिनेश्वर को नमस्कार करके अहिच्छत्रा नगरी का कल्प किंचित् यथाश्रुत कहुँगा।

इसी जंबुद्वीप के भारतवर्ष में मध्य खण्ड स्थित कुर-जांगल जनपद में शंखावती नामक ऋद्धि-समृद्ध नगरों शो । वहाँ भगवान पार्श्वनाथस्वामी छदास्थ विहार में विचरते हुए कायोत्सर्ग स्थित रहे । पूर्व निबद्ध वैर के कारण कमठासुर ने अविच्छिन्न धारा प्रवाह से बरसता हुआ मेघ विकुर्वण किया. जिससे सारे मूमण्डल में जल-जलाकार होकर भगवंत के आकण्ठ जल आ गया।

पंचारिन साधक कमठ तापस द्वारा जलाए काठ में दरध साँप को निकाले गए प्रमु उपकार को स्मरण कर नागराज धरणेन्द्र ने अवधिज्ञान से देखा और अपनी अग्रमहिषियों के साथ आकर मणिरत्नमय सहस्रफणालंकृत छत्र प्रमु के फपर करके कुण्डलीकृत नागराज ने उन्हें ग्रहण कर उस उपसर्ग को निवारण किया। तभी से उस नगरी का नाम अहिच्छत्रा हो गया। वहाँ प्राकार कारकों ने जैसे-जैसे उरग रूपी धरणेन्द्र ने कुटिल गति से सर्पण किया उसी प्रकार से ईंट-निवेश किया ! आज भी वैसा ही प्राकार रत्न दृष्टिगोचर है.ता है। संघ ने श्री पार्श्वनाथ भगवान का चैत्य निर्मण कराया! चैत्य के पूर्व दिशा में अतिमधुर प्रसन्नोदक कमठ जलधर से भरे हुए सात जलपूर्ण कुण्ड हैं। उन कुण्डों के जल में विधिपूर्वक स्नान करने वाली मृतवत्सा स्त्रियाँ स्थिरवत्सा होती हैं। उन कुण्डों को मिट्टो से धातुर्वादी लोग धातु-सिद्धि होना बतलाते हैं। पाषाण शिला से मुद्रित मुख वाली सिद्धि रस-कू.पेका भी यहाँ दृष्टिगोचर होती हैं। जहाँ म्लेच्छ राजा द्वारा अग्निदाह आदि अनेक उद्ग्राटनोपक्रम निष्फल हो गए।

उस नगर के भीतर और बाहर सवा लाख कुंएँ और वापिकाएं हैं। मधुरोदक की यात्रा के लिए आये हुए लोगों और पाइर्वनाथ चैत्यों में स्नात्र करते हुए लोगों को आज भी कमठ प्रखर तुफान और काली मेघ घटा और गर्जन व बिजली आदि दिखाता है। मूल चैत्य के निकट सिद्धक्षेत्र में श्री पार्खनाथ स्वामी का धरणेन्द्र-पदावती सेवित चैत्य है। प्राकार के समीप श्रीनेमिनाथ भगवान की प्रतिमा सहित सिद्ध-बुद्ध कलित आम्र लुम्ब धारिणी सिंहवाहिनी अम्बिकादेवी विद्यमान है। चनद्र किरणों की माँति निर्मल जल से परिपूर्ण उत्तरा नामक वापी है जह स्नान करने और वहाँ की मिट्टी का लेप करने से कुष्टियों का कुष्ट रोग शान्त हो जाता है । धन्वन्तरि कूप की विचित्र वर्णवाली मिट्टी से गुरु आम्नाय से सोना बनता है। ब्रह्मकुण्ड के तट पर उगी हुई मण्डुक ब्राह्मी के पत्ती का चर्ण एक वर्ण वाली गाय के दूध के साथ पीने से प्रज्ञा मेधा सम्पन्न निरोग और किन्नर की माँति स्वर होता है। वहाँ उपवन के समस्त वृक्षों में औषधियाँ उपलब्ध होतीं हैं जो उन उन कार्यों को सिद्ध करती है जैसे जयन्ती, नागदमणी, सहदेवी, अपराजिता. लक्ष्मणा. त्रिवर्णी, नकुली, सकुली, सर्पाक्षी, सुवर्णशिला, मोहनी,

सामलें. रविभक्ताः निर्विशे, मोरशिखा, शल्याः विशल्या प्रभृति महौषधियाँ यहाँ विद्यमान हैं। यहाँ हरिहरः हिरण्यगर्भः, चःश्डिकामवनः, ब्रह्मकुग्ड आदि लौकिक तीर्थं हैं।

यह नगरी महातपस्वी सुगृहीत नामधेय कृष्णिं की जन्मभूमि है। तत्पद पंकज पराग कण निपात से पवित्रीकृत एक वस्त्र वाले पार्श्वनाथ भगवान को स्मरण करने से आधि-व्याधि, सर्पविष, सिंह, हाथी, रण, चोर, जल, अग्नि, राज्य, दुष्ट्यह, मारि, मूत, प्रेत, शांकिनी, प्रमुख क्षुद्रोपद्रव विशेष कर भव्य जीवों को पराभव नहीं करते। सकल अतिशयों की निधान रूप यह नगरी है।

यह अहिच्छत्रा नगरी का करूप पद्मावती धरणेन्द्र और कमठ के प्रिय श्री जिनप्रमसूरि ने संक्षेप में वर्णन किया है।

॥ अहिच्छत्रा कल्प समाघ हुआ ग्रन्थाग्रं ३६॥

अहिन्छत्रा पार्श्वनाथ कल्प में श्री जिनप्रमसूरिजी ने एक ऐतिहासिक तथ्य और महत्वपूर्ण उल्लेख किया है कि अहिन्छत्रा में सुगृहीत नामधेय महा तपस्वी कष्ह ऋषि का जन्म हुआ था।

"तहा एसा नयरी महातवस्तिस्स सुमिहीय नाम-धेअस्स कण्हरिसिणोजम्मभूमिति।"

ये कण्ह ऋषि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के शे जो काफी प्राचीन काल में हो गए हैं। मशुरा के जैन पुरातत्त्व में उनकी मूर्ति भी प्राप्त है। जेन साहित्य के इतिहास पृ० १२४ में मशुरा के एक खण्डिल पष्ट का अभिलेख युक्त चित्र छपा है जिसमें स्तंभी पर छज्जे के जापरि भाग में मध्य में स्तूप और उभय पक्ष में दो-दो जिन निम-नेमि-पार्श्व-महावीर की चार प्रतिमाएं हैं। जपर नीचे ब्राह्मी लिपि में अभिलेख उत्कीणित है।

१ (सि) द्धम् सं० ९५ (२) ग्री २ दि १५ कोइय (1)

तो गणातो थानियातो कुठातो वहर (1 तो) (सा) खातो आर्य अरह (मह) ।

२ सिसिनि धामथाये (२) ग्रहदतस्यधि-धनहथि।

अर्थात्—सिद्ध संवत् ९५ (?) ग्रीष्म ऋतु के दूसरे महीने में १८ वें दिन कोटिक गण के थानीय कुल की बंध शाखा के आर्य महा (दिन) शिष्यणी धामश्च की बीनती से गृहदत्त की पुत्री और धनहथी (धनहस्ति) का पुत्री की (मेंट)।

नीचे कण्हमुनि खड़े हैं जिन हे दाहिने हाथ में ऊँचा किया हुआ रजोहरण और बाँएं हाथ में वस्त्र-खण्ड है। दाहिनी ओर अभयमुद्रा में स्त्री खड़ी है और बाएँ तरफ सप्तफणधारी धरणेन्द्र करवद्ध अवस्थित हैं। आगे दो व्यक्तियों में एक करबद्ध खड़ा है। चित्र परिचय में सं० ९५ माँ जैन यति कण्हनी मूर्ति, मथुरा, पृ० १२४ लिखा है। अहिच्छत्रा में जिन कण्ह ऋषि की जन्म मूमि होने का लिखा है वे संभवतः यही हैं। वैसे आठवीं शताब्दी में एक अन्य कण्ह मुनि राजस्थान में हुए हैं उनके संबन्ध में पं० लालचंद भगवानदास गाँधी का लेख द्रष्टव्य है।

जिनप्रभसूरि के बाद उत्तर प्रदेश. बिहार और पूर्व देश में मुसलमानी साम्राज्य के कारण काफी हलचल रही अतः आवागमन बहुत कठिन हो गया । जिनप्रभसूरि द्वारा उल्जिखिल मूर्तियां भी संमवतः उसके बाद कईं नष्ट हो गईं, कई स्थानांतरित हो गईं तथा भूगर्म उत्खनन होने पर उसमें से भी निकलना संमव है।

श्री महेन्द्रप्रमसूरि कृत तीर्थमाला सवृत्ति में

सिवनयरि कुसग्गवणे पासी पिंडमं ठिओअ धर्रामदी। उविर तिरतं छत्तं धरिसु कासीय वर महिमं ध्र९ तं हैउं सा नयरी अहिच्छता नामओ जणे जाया।

तिहयं निममे पासं विग्ध विणासं गुणावासं "६० पिलाप वियं पासं कमठो हिर किर पिसाय पमुहेहिं। उत्रसिगाअ तो विरसह अखंड जुण मुसल धाराहि "६१ उदमं जेण नासग्गं पतं तो लहु करेइ धरणिंदो। जिंग उविर फणा छत्तं भोगेग्य देह विह परिहिं "६२ चरणाहो गुरुनालं कमलंतो कमठ खामिखं नहो। धरणो गउ सवासं जिय उवसग्गं नमह पासं "६३

टीका—शिवनगरे कुशाग्रवने श्री पार्ख्यः प्रतिमास्थितः कायोत्सर्गे स्थितः भक्त्या च ज्ञानेन तत्ज्ञात्वा धरणेन्द्रः पातालान् आगत्य उपरि त्रिरात्रं छत्रं अधार्षीत् वर महिमानं अकिषींत् वरमहिमानं नाट्य रंगादि प्रमोः पुरस्तानेत्यर्थः ॥५९॥ ततो हेतोः सा नगरी जने लोके नामसो 'अहिच्छत्रा' जाता तस्या नगर्या अहिच्छत्रे ते नाम लोकै स्तदादि प्रघुष्ट मित्यर्थः तत्र पार्श्व नमामः कि वि० विघ्नविनाशं विघ्नानां विनाशो यस्भात् पुनः कि वि० गुणवासं गुणानां आवासं अहिना सर्वेण छत्रं धृत मित्यर्थः-5तो अहिच्छत्रा नाम जने प्ररूपितः ॥६०॥ पुन प्रकाराः न्तरेग पार्श्व तीर्थ माह प्रतिमायां कायोत्सर्गे स्थितं पार्श्व कमठो हरि करि पिशाच प्रमुखैः उपसर्ग्य सिंह हस्ति वेताल-रूपैः उपसर्गान् कृत्वा ततो अखंड युग मुंसल धारामि र्वर्षति असण्डा अविच्छिन्ना युग मुंसल प्रमाण स्थ्लत्वेन जलधाराः कमठस्तदाववर्गेत्यर्थः ॥६१॥ उदकं पानीयं जिन नाशायः श्री पाइर्व प्रभु नाशिकायं यावत् प्राप्तं तती-ऽवधिना तत् ज्ञात्वा तत्रागतो धरणेनद्रो लघ्जीघ्रं जिनस्यो-परि कगा छत्रं करोति नागेन (भोगेनश्चपरचात्) रारीरेण च देहाद्वहिं परिचि वेष्टनं च प्रभोः करोति यदा किं विशिष्टं फगा छत्रं मोगे न शरीरेण देह परिधि देहे श्री पाइर्वतनौ बहु परिधिःपरीतता यस्य सर्प्य रूपो नागेन्द्रः स्वश्रिरेण प्रभ शरीरं आवेष्ट्य फग मण्डलं प्रभोः छत्रं यस्पदेति कृतवानि-स्यर्थः ॥६२॥ चरणधः पादयोरधस्तात् गुरु नातं (कमलं) च करोति ततः श्री धरणैन्द्रेण प्रयुक्ताःऽवधिना स्वरूपं ज्ञाल्या विजितः कमठः क्षमियत्वा नष्टः धरण नागेन्द्र

स्ववासं निजसदेनं गतः हे जनाः तत्र जिनोपसर्गं निराकृ-तोपसर्गं श्री पाइर्वेशं नमतः ॥६३॥ इति श्री पार्श्वतीर्थं माहाहम्यम् ॥

> मुनिप्रमसूरि कृत अष्टोत्तरी तीर्थमाला मैं— अहिछत्ता छड्डं त्रिभुवंन भाणुं, अंतरीखु श्रीपुरि वरकाणुजं, नागद्रहि नवखंडो ॥१३॥ --जैन सत्य प्रकाश,वर्ष १२ अंक ४-५॥

पाटण के संघवीपाड़ा भण्डार में प्रति न० २१८ में अपभ्रंश भाषा की अहिछत्रा के नवकण मंडित पार्ख नमस्कार गा० ५ की कृति का आदि अन्त—

आदि—जयिंतामणि जयनाहु जय नवफण मंडिय जय वाणारिंत जाय काय जिय नीलिंसिखंडिय जय वामाइ (ए) वि-आससेणकुल नहयल भूषण जय देवासुर-श्रमण संघ संथ्य ध्रय दूषण ता देव देव धरणिंदशुंय कमठ दण्प चूरंतु पदमावइ पणिंमिय चलण मण वंष्ठिय पूरंतु ॥१॥

अंत—चेखय-सयडालघरे नवफगपास जिणिंदु । निम सरवण अहिष्ठत्रपुरे खरतर संतिसमुद्द् ॥५॥

पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में खरतरगच्छ के लोकहिताचार्य आदि पूर्व देश की यात्रा करने गए जिसका
विवरण विद्यप्ति-महालेख में पाया जाता है। इससे
पहले सं० १३५२ में कलिकाल केवली श्रो जिनचंद्रसूरि जी की आज्ञा से वा० राजशेखर गणि, सुबुद्धिराज
गणि आदि संघ सहित पूर्व देश के जेन तीथीं की
यात्रा करने गए व नाजंदा चौमासा कर हस्तिनापुर
संघ निकालने का विवरण 'युगप्रधानाचार्य गुर्वावर्ला' में
मिलता है। १५वीं शती के जलराद्धं में जिनवर्द्धनसूरि
जीनपुर के ५२ संघपतियों के साथ पूरव की यात्रा करने
पधारे थे पर इन तीनों के मार्गवर्ती स्थानादि का पूरा
विवरण नहीं मिलता। संभव है उनके जाने का मार्ग अहिच्छत्रा से दूर व अलग पड़ता हो।

ି ବଃଧ୍

अहिच्छत्रा की यात्रा का वर्णन सतरहवीं शताब्दी से पुनः मिजने लगता है। सं० १६६१ चेत्र सुदि २ को आगरा के मुकीम हीरानंद ने पूरव देश की—समेतशिखरजी की यात्रा का संघ निकाला था जिसमें कविवर बनारसीदास के पिता खड़गसेन भी सम्मिलित हुए थे। वीरविजय (खर-तरमच्छीय मुनि तेजसार शिष्य) ने इस यात्रा वर्णन गमित चेत्यपरिपाटों की रचना की है। इसमें अहिच्छत्रा की यात्रा का इस प्रकार वर्णन है—

अउधह प्रगमुं पंच जिण, रयणपुरी धूमनाथ, सौरोपुर हथणाउरह', अहिछत्ति पारसनाथ ॥१८। इ.न. सोलसइ' इकसठा वरसइ', बहुत तीरथ वंदिया, वरदेव पूरब का अपूरब, भविक जण आणंदिया। सिरि तेजसार सुसीस भावह वीरविजय पर्यप्र, नित पढ़त गुणतां हुवह मंगल, मिलहनवनिध संप्र॥१९॥

दूसरा वर्णन सं० १६७५ में कवि बनारसीदासजी की यात्रा का विवरण है । बनारसीदास जी उस समय श्वेताम्बर-खरतरगच्छ के अनुयायी थे। उन्होंने सं० १६७५ के पौष मास में सं० वरधमान कुंअरजी दलाल के संघ सहित अहिच्छत्रा और हस्तिनापुर की यात्रा की थी। अपनी माता और भार्या के साथ रथ में वैठ कर यात्री संघ के साथ वहाँ पधारे थे। उन्होंने अपने आत्मचरित — अर्द्धकथानक के निम्न चौपाई में लिखा है—

करि विदाह आए घर मीहि। मनसा भई जात को जाहि। वरधमान कुंअरजी दलाल। चल्यो संघ इक तिन्ह के नाल।। ५७९॥ अहिच्छत्ता-हथनापुर जात। चले दनारिस उठि परभात। माता और मारजा संग। रथ वैठे धरि माउ अमंग॥ ५८०॥ पचहत्तरे पोह सुभ घरी। अहिछत्ते की पूजा करी।

पंचहत्तरे पोह सुभ घरी। अहिछत्ते की पूजा करी। फिरि आए हथनापुर जहाँ। सांति कुंथु अर पूजे तहां॥ ५५१॥

उपर्युक्त पद्यों में उल्लिखत संघपति वरधमान

कुंअरजी दलाल श्वेताम्बर श्रावक थे। सं० १६६७ में आगरा के श्वे० जैन संघ की ओर से तपागच्छ के आचार्य विजयसेनसूरि को मेजे गए विज्ञप्तिपत्र में जिन ५५ श्रावकों व संघपतियों के नाम हैं उनमें ये भी हैं। यह विज्ञप्ति पत्र 'एन्सिएन्ट विज्ञप्तिपत्र ज' में छा० हीरानंद शास्त्री ने बड़ीदा सरकार से प्रकाशित किया है।

किव बनारसीदास के अहिच्छत्रा यात्रा करने के धू वर्ज बाद सं० १६५० में किव आनन्दकीर्ति ने मिगसर सुदि १२ रिववार को अहिच्छत्रा की यात्रा कर संघ की आशा पूर्ण करने का अपने १५ गाथा के स्तवन में लिखा है, इस संघ में और कहां-कहां यात्रा की तथा संघपति कौन था इसका उल्लेख नहीं मिलता।

इसके बाद के तीन इवैताम्बर जैन कवियों के अहिच्छत्र। तीर्थयात्रा के उल्लेख प्राचीन तीर्थमाला संग्रह में प्रकाशित हुए हैं जिसका संपादन, प्रकाशन अब से ६५ वर्ज पूर्व सं० १९७५ में जैनाचार्य विजयधर्मसूरि ने किया था। इसमें प्रकाशित तीन उल्लेखों में पहला उल्लेख में शिल-विजय कृत तीर्थमाला का सं० १७११ का है-—

पहिला देस मेवाति कहुं, अहिछत्रापुरि पासजी लहुं।

दूसरा उल्लेख सं० १७१७ का विजयसागर कृत सम्मेतशिखर तीर्थमाला में प्राप्त है—

अहिछत्रह उत्तम नमह, मथुरा गढ ग्वालेर।

तीसरा उल्लेख सं० १७५० का सौमाग्यविजय कृत तीर्थमाला का इस प्रकार है—

जी हो आगर। थी ईसाम में, जीहो श्री अहिछत्रा पास. जी हो कुरू जंगल ना देशमां, जीहो पग्तव पूरे आस ॥१९॥

इसी ग्रंथ के पृ० १४१ में प्रकाशित मेघविजय कृत सं० १७२१ लिखित पार्खेंनाथ १०५ नाममाला में—

अहिछत्तउ भड़कुल चलवेसर चीलोड़इ. सामलउ सुभसामी, सेव करूं मन कोड़इ ।।१२॥ शान्तिकुशल कृत (सं० १६६७ में रचित) स्तवन में— मुहर पास वेइ वली. अहिछत्रों हो आणी धुराय। कल्याणसागर कृत पाश्वं चैल्य परिपाटी में— नवलखो नासे सदा अहिछतें हो दीठे सुख थाय।

उपरोक्त तीनों ते र्थमालाएं आचार्य विजयधर्मसूरिजी ने प्राचीन तीर्थमाला संग्रह में प्रकाशित की है।

सुप्रसिद्ध विद्वान मेघविजय कृत 'परम गुरु पर्व लेख' जो सं० १७४७ में अमरोहा में रचित है. की १६वीं १७वीं गाथा में अहिच्छत्रा तीशेंत्पित्त विषयक उल्लेख इस प्रकार है—

पूर्वयत्कमठः शठश्च कृतवान् वैकृत्य मन्तदिषा.
नीरनधींव्रत नीरवाह विगलत्पानीय वर्षाभरात् ।
तवच्छत्र पवित्र चित्र रचनां चक्रेऽहि चक्रीश्वर.
स्तीर्थं पाश्वं विमोरिहा जनितदाऽहिच्छत्र पुर्याह्वयम् ॥१६॥
लोकाशांवरि मित्तं मर्त्तुं रमला मृत्तिं जंगल्याः सुरै.
रासेव्या चरि किति विदन विवह ध्वंशं तदा सेविनाम् ।
आहिच्छत्रित पार्श्व शाश्वत रवेश्यत् फणानां पदा.
दिचिश्चार सहस्र बेमव भृत स्तीर्थं समर्थे श्रिया ॥१७॥
तीर्थमाला संग्रह के 'संक्षिप्त सार' के फुटनोट में
उन्होंने इस प्रकार लिखा है—

१ अहिच्छत्रा—बरेली जिले में ऐओनला (Aonia) नामनु गाम छे, तेनी उत्तर मां प्रमाइल उत्पर रामनगर (Ramnagar) नामनुं गाम छे, आ रामनगर थी दक्षिण मां ३॥ माइल ना घेराव मां केटलांक खंडीयरो छे, आनेज अहिच्छत्रा कहेवा मां आवे छे, जिनप्रमसूरिए अहिच्छता कल्प मां अहिच्छतानी उत्पत्ति, पादर्वनाथ प्रमु नुं मंदिर एनी पूर्व दिशा माँ आवेला सात कुण्डो. मूल चैत्य नी नजीक सिद्धक्षेत्र माँ धरणेन्द्र पद्मावती युक्त

पार्श्वनाथ प्रभुनुं मंदिर गढ़नी पासे नेमिनाथनी मूर्ति सहित सद्ध अने बुद्ध थी युक्त आंबा नी लुंब हाथ माँ छे, जेने एवि सिंहवाहन वाली अंबादेवी तेमज बीजापण केटलां लौकक तीथों विगेरे नुं वर्णन कर्युं छे अत्यारे तेना स्मृति चिन्हों—खंडीयरोज मात्र छे, प्राचीन शोधखोज ना परिणामें अत्यार सूधी माँ जैनों ना बे प्राचीन माँ प्राचीन स्तूपो जाहेर माँ आव्या छे तेमां अहिंनोषग एक छे, अने बीजो मशुरा नो!

हमारे संग्रह में अहिच्छत्रा पाइवनाथ स्तवन की एक और प्रति है। १९ पद्यों के इस स्तवन में पार्खनाथ भगवान के पंचकल्याणकों का वर्णन करने के साथ-साथ अहेच्छत्रा के उपसर्ग का भी प्रसंग दणिस है। इस स्तदन में अहिच्छत्रा का पूर्वनाम शिवपुरी लिखा है और आदिसागर सरावर के पास प्रभु के मेरुगिरि की मांति अखिंग रहने, कमठ के जपसर्ग करने व धरणेन्द्र के द्वारा र्जं ने करके प्रभु के मस्तक पर अहिन्छता (फण) करने, पद्रमावती के गीत नाटक करने के साथ-साथ प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न होने का वर्णन किया है। चौशी दाल में धरणेन्द्र द्वारा नगरी अहिच्छत्रा यथार्थ नाम देने का उल्लेख है । खरतरगच्छ के कवि दयातिलक वाचक के शिष्य नित्यविजय ने यहां की यात्रा अपने गुरु के साथ सं० १७६३ ज्येष्ठ वदी १ को कर के इस स्तवन की रचना की थी । आनंदकीति और नित्यविजय के दोनों स्तवन अप्रकाशित होने से इस लेख के साथ प्रकाशित किये जा रहे हैं।

सं० १६६२ से १६६९ तक खरतरगच्छीय जयनिधान गणि ने भी पूर्व देश में विचर कर यात्राएँ की, वे लिखते हैं—

सिवनगरी सिरि पासजी, कमठासुर बल ताजइ रे। उपर्युक्त सभी उल्लेखों से यह तीर्थ प्राचीन काल से दवेताम्बर मान्य रहना सिद्ध होता पर इन यात्रा

प्रसंगादि से अवगत होने पर भी छा० ज्योतिष्रसाद जैन.* पं० बलभद्र जेन. * * और विजेन्द्रकृतार जैन * * * आदि ने कैवल दिगम्बर तीर्थ होने और श्वेताम्बर मृतियों. लेखों के प्राप्त न होने का लिख दिया है वह उचित नहीं है। जहाँ तक अहिन्छत्रा तीर्थ सम्बन्धी उल्लेख का प्रश्न है. तीर्थवन्दन संग्रह के पृ० ११८ में डा० विद्याधर जोह-रापुरकर* * * * ने स्पष्ट लिख दिया है कि निर्वाण-कांड के नाम मात्र के उल्लेख के अतिशक्त और कोई विवरण या उल्लेख दिगम्बर साहित्य में प्राप्त नहीं हैं। जब कि इवै० साहित्य के उल्लेख निरन्तर और अनेकों प्राप्त हैं। इसी तथ्य को उजागर करने के लिए प्रस्तुत निबन्ध को काफी खोज करने के बाद लिखा गया है। इन पुष्ट प्रमाणों से फलित होता है कि अहिच्छत्रा पार्श्वनाथ तीर्थ द्वेताम्बर मान्य तीर्थथा और वहाँ की यात्रा करने आचार्य मुनि एवं श्रावक

संघ समय-समय पर जाते रहे हैं। निकटवर्ती स्थानों में विताम्बर समप्रदाय के घर न होने के कारण यह उपेक्षित हो गया और दिगम्बर समाज ने इसके प्रति विशेष रुचि दिखाई और आज उनके अधिकार में हैं पर यहाँ की कई मूर्तियाँ अन्य स्थानों से लाई गई हैं। बून्दी से तीन प्रतिमार् २० वर्ष पूर्व लाने का उल्लेख पं० बलमद जैन ने अपने प्रन्थ में किया ही है। लेख वाली प्रतिमा भी वीर सं० २४५०१ में महावीरजी में प्रतिष्ठित हुई थी। यहाँ की किसी भी प्राचीन प्रतिमा में दिगम्बर सम्प्रदाय का अभिलेख नहीं है, पादुका का शिलालेख भी नया है।

अन्त में यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कायोत्सर्ग स्थित दिगम्बर मुद्रा की प्रतिमाओं को दिगम्बर सम्प्रदाय की बतलाई जाती है, यह भ्रममात्र है। प्राचीन

- * इवेताम्बर परम्परा सम्मतआगमों में आचारांग निर्मुक्तिकोछोङ्कर अन्यत्र अहिच्छत्रा विवयक विशेष वर्गन प्राप्त नहीं होता । —श्री अहिच्छत्रा पादर्बनाध स्मारिका, पृ० ६० ।
- * * ''यहाँ इवेताम्बर परम्परा की एक भी प्रतिमान मिलने का कारण यही प्रतीत होता है कि यहाँ पाइवेंनाथ काल में दिगम्बर परम्परा की ही मान्यता, प्रभाव और प्रचलन रहा है।'' —उत्तर प्रदेश के दिगम्बर जैन तीर्थ, पृ० १०३।
- * * "लगभग एक हजार वर्ष से नगरी उजाड़ पड़ी रही। सुदूर दक्षिण में अधिकांशतः रचे जाने वाले मध्य-कालीन दिगम्बर साहित्य में तथा प्रायः उसी काल में गुजरात सौराष्ट्र में रचे जाने वाले खेताम्बरी साहित्य में यह प्रायः उपेक्षित रही। और आज भी इवेताम्बर मुनि कल्याणविजय जैसे खोजी विद्वानों को यह लिखना पड़ा कि उम्पूर्त अहिच्छत्रा स्थान वर्तनान में कुरु देश की किसी भूमि माग में खण्डहरों के रूप में भो विद्यमान है या नहीं. इसका विद्वानों को पता लगाना चाहिए।" मुनि कल्याणविजयजी राजस्थान गुजरात में ही विचरे इसलिए "अहिच्छत्रा न देखने से वृद्धावस्था के कारण भूल गये हों पर उन्होंने स्वयं 'भगवान महावीर' के पृ० ३५४ में बरेली से २० मील रामनगर अहिच्छत्रा का स्थान निर्गय किया है। यो बहुत वर्ग पहले विजयधर्मसूरि और न्यायविजय जी त्रिपुटी ने इस स्थान का निर्गय कर ही दिया था। न्यायविजयजी ने तो काफी विस्तार से प्रकाश खाला है। जैन सत्य प्रकाश में बहुत वर्ग पूर्व नाथालाल छगनलाल शाह के इस विश्वय में दो लेख प्रकाशित हो चुके थे।
- * * * * "अहिन्छत्रा के पाइर्जनाथ की निर्वाण काण्ड (अतिशय क्षेत्र काण्ड) में वन्दन किया है। इस संग्रह के अन्य किसी लेखक एक (ने भी) इसका उल्लेख नहीं किया । जिनप्रभसूरि ने इस क्षेत्र के विषय मैं कल्प लिखा है।" (विविध तीर्थक्तन पुरु १४)। "महुराए अहिन्यतें वीरपासं तहेव वंदामि" —निर्वाण काण्ड, पुरु ३७।

रवें े लेखों की प्रतिमाएं दिं मुद्रा की मधुरा में प्राप्त हुई हैं अतः ऐसी प्रतिमायें समान रूप में दोनों सम्प्रदाय मान्य थी। प्राचीनकाल की ऐसी प्रतिमाओं को दिगम्बर सम्प्रदाय का ही बतलाना सर्वथा अनुवित है।

पं० वलमद्र जेन ने पाइर्जनाथ कालीन दिगम्बर परम्परा का प्रभाव लिखा है पर प्राचीन जैनों के अनुसार तो पाइर्जनाथ के अनुयायी मुनि वस्त्रधारी थे। अहि-च्छत्रा पर तो इवैताम्बर प्रभाव था ही यह प्राचीन काल से अब तक के इवैताम्बर एल्लेखों से स्पष्ट है। यो प्राचीन काल में जैन तीर्थ दोनों सम्प्रदायों के लिए समान रूप से मान्य रहे हैं।

तीर्थं करों के उपसर्ग-स्थान बहुत से हैं पर तीर्थं रूप में मान्य होने का महत्त्व केंद्रल अहिन्छत्रा को ही मिला है। तीर्थं कर पार्श्वनाथ की प्रायः सभी प्रतिमाएं फण युक्त होती हैं चाहें सात फग. नौ फग या सहस्रफण। जैसी भी हो श्वेताम्बर और दिगम्बर सभी के मान्य है। उस की कला में विविधता और विकास की प्रौढ़ता दिन्दिगोचर होती है पर मस्तक पर फणों का होना यह अहिन्छत्रा तीर्थं की ही देन है। पद्मावती के मस्तक पर पार्श्वनाथ स्वामी की विविध प्रतिभाएं पाई जाती हैं। मन्दिरों में अधिष्ठालु रूप पद्मावती प्रतिमा के मस्तक पर भी पार्श्वनाथ प्रतिमा निर्मित होती है।

तीर्थंकरों के पाँच कल्याणकवाले स्थान तो तीर्थं रूप में प्रसिद्ध है और उनके उपसर्ग स्थल की तीर्थं रूप में प्रसिद्धि अहिन्छत्रा की ही है और इतने लम्बे काल का अर्थात् में महावीर से पहले २५०० वर्ष का दोनों सम्प्रदाय का यह प्राचीन मान्य तीर्थं है।

श्रीजिनप्रभसूरिजी ने अहिन्छत्रा नगरी करूप की प्रारंभिक गाथा में ''तिहुअण भाणुत्ति जए पयर्डं'' वाक्य द्वारा तथा चतुरशीति महातीर्थ नाम संग्रह करूपः में ''अहि-च्छत्रायां त्रिमुवन मानुः'' वाक्य द्वारा संबोधित किया है। मुनिप्रमसूरि ने भी अपनी अष्टोत्तरी तीर्थमाला में अहि-च्छत्रा के पार्श्वनाथ मगदान को त्रिमुदन मानु नाम से संबोधित किया है अतः यह पार्श्वनाथ स्वामी के विविध नामों की माँति श्वेताम्बर परम्परा में प्रसिद्ध प्राचीन नाम है जो परवर्त्ती काल में विस्मृत हो गया प्रतीत हेता है। पाटन मंखार के शांतिसमुद्र कृत अहिच्छत्रा पार्श्वनाथ नमस्कार, गा० ५ में अहिच्छत्रा पार्श्वनाथ को नवफण मंखित लिखा है। युगप्रधान दादा श्रीजिनदत्त-सूरिजी ने नरहड़ आदि स्थानों में नवफणा पार्श्वनाथ प्रतिमाएं प्रतिष्ठित की उसका आधार अहिच्छत्रा तीर्थ हो तो आश्चर्य महीं। निश्चित तो अहिच्छत्रा में वैसी प्राचीन प्रतिमा प्राप्त होने पर ही कहा जा सकता है।

आनन्दकीत्तिकृत अहिच्छत्रा पादर्वनाथ स्तवन (सं० १६८०)

ढाल १-नगदलरी

अहिछत्ता प्रमु मेटीया, मन धरि अधिक उच्छाह हो जिनवर रोम रोम मन ऊल्हरूयउ दूरि गयउ दुःख दाह हो जिनवर ॥१॥अंकणी॥

पासनाह जिंग परगड़िउ. महियल महिमा जास हो जिं० इष किल तो सम को नहीं, दिन दिन अधिक प्रकाश हो जिं० ॥२॥ अं०

समस्य साहिव तूं सदा. सयल जन्तु आधार हो जि० दूर देशथी आविया. कीजइ सैवक सार हो जि०॥३॥ अं० पुण्य जोगि मंइ पामियज, दरसण श्री जिनराज हो जि० नख शिख मुझ आनंद भयज, फलिया वंधित काज हो जि० ॥४॥ अं०

हिव हूं सरणइ ताहरख, दीन हीन प्रतिजाल हो जि० निज सेवक आणंद सु, कूरम नयण निहालि हो जि०॥५॥अं०

ढाल २─सजनी री

मात पिता तूंही सदा, तूं-ही जाण सुजाण ललना। मवि भवि तूं ही वालहुन, प्रभु भावई जाण म जाण ॥६॥ ललना। मा०।

पासनाह जागि सेहरछ, नयन सुधारस मेह ललना । नयन वयन देखत सदा, रोमंचित हुवे देह ललना ॥७॥मा० । हुँ बालक प्रमु ताहरख, तूं साहिब सिरदार ललना । मव सायर बीहामणउ,तिणथी पार उतार ललना ॥५॥ मा० । सेवक जन दुखिया थकां, हुवइ साहिब नइं लाज ललना ॥९॥ मा० ।

देस देस जस ताहरज, गावह बाल गोपाल लखना । कृपा करी नह माहरा, रोग सोग दुख टाल ललना ॥१०॥ चीतह चढियछ माहरह, अंतरयामी एक लखना । प्रेम करछ आणंदर्सु, एहिज उत्तम टेक लखना ॥११॥ मा०। दाल ३—महिदी री

मन मोहबंख तहं माहरखरे, तुम रंग राती देह।

कं कं रंग मेटी रहाख रे. अख कछ अधिक सनेह ॥१२॥
अहिष्ठता प्रभु मेटीया रे. मन धरी अधिक आणंद।
सुँदर कप सुहांमणल, प्रभु दीठा चित लाय॥
पाप ताप दूरइ गयंख रे. पवित्र धई मुझ काय॥१३॥ अ०॥
सरीसइ संखेसरहरे, गल्डी फलवदि पास।
राजनगर संमातह रे. ठाम ठाम पूरइ आस ॥१८॥ अ०॥
तुँ सुरतह सुरमणि समखरे, विध्त पूरणहार।
वाट घाट नित जागतल रे. जाणइ सयल संसार॥१५॥ अंद हरिहर ब्रह्मादिक घणा रे, मुझ दीठा न सुहाई।
तो सरिखल जिंग को नहीं रे, जिंग मेड्यां दुख जाई॥१६॥

संवत सोले अस्सीयहरे. मर्गासर सुदि रविवार। बारस दिन प्रभु मेटीया रे मन धरि हरख अपार ॥१७॥अ०॥ सुख संपत्ति करिजे सदा रे, साहिब सुजस निवास। आणंदकीरति सुं सदा रे, श्री संघ पूरी आस ॥१८॥अ०॥

नित्यविजयकृत अहिच्छत्रा पादर्व स्तवन (सं० १७६३)

दाल १—नींद्रडली बैरणि होइ रही ए जाति

काशी देश पूरव दिशि कहैं, नयरी तिहा हो वाणारसी नाम । निकट बहै गंगा नदी, ऋद्धे भरी हो सोभे अभिराम ॥१॥ परगट अहिछत्ती पासजी, गुण गाउं हो मनधरि उछरंग ॥पर०॥ आंकणी ॥

तिहां अश्वसेन राजा अछेपटराणी हो वामा परधान। तसु उथरइ प्रभु अवतरचा,

चेत्र बदि चर्जाध हो सीहै यामिनी नै ग्यान ॥२॥ प०॥ निरमल चवदह सुपना दीठा, मन हरवी हो बामा दे माता। गरभ कल्याणक गुणनिलौ, बहुउच्छव हो हरि कीयो विख्यात

पोष दसिम प्रभु जनमीयाः सुर नर तिरि हो नारकी पायो सुख तीनेइ त्रिभुवन हरखीया, वहु सुखिया हो किणने नहीं दु:ख ॥॥॥प०॥

डाल २—राधे तेरै नेंन बाण मधु सुंभरे—ए देशी

जोवन में जब परवरचा हो प्रमु परभावती परण्या पासकुमारजी अहो गावुं मन उछरंग परगटपासजी अहो दीप तेज दिणंद. अहिछत्त पासजी ।

संसार ना सुख भोगव्या हो जब कारण इक उपना। पा० अहोगार्व अहि०॥५॥

नैमिनाश जान चीतरी हो, पैस्तो पास जिना ।पा० वैरामी भए राजसुं हो, तिहां भावी बारह भावना ।पा०।।६।। ए संसार असार है रे, जैसे जिम स्युपनां ।पा० दीस्तत कुं दीसे सही रे हो, है न कछ अपना ।पा०। अहो गा० आ०।।।।।।

ग्रीषम भीषम रितु समै हो, तिसीयां मृग तृसनां ।पा०। तैसैई यह जाणीये हो, जोबन चंचल जीवनां ॥ पा०॥प्र॥ पोष इग्यारस तप लीयो तब, मनपर्यंव उपनां ।पा०। चंजसठि इंद्र चिहुँ दिसह हो, करह प्रभु कुं वंदना ॥ पा० ९॥

ढाल ३--राग मारूणी

चौरासी दिन लाग हिव चित्त में हो. काय बोसराय मौन कीध विहरता प्रभु सिवपुरी ने कन्हे रे. बढ़तल काउसग्ग लीध ॥१०॥ प्रगट विराजे हो अहिछत्त पासजी हो.

गुण गावुं मन उछरंग ॥ प्र० ॥ आंकणी ॥ आदि सागर सरवर नै आगले हो. मेरुगिरि जेम अखग्ग । कमठ सठ तापस नो जीव छे तिको हो,

मैघमाली करइ उवसम्ग ॥११॥ प्र०॥ वायु विकुर्व्वी झड़ लागौ वरसवा हो, मूसलधार प्रमाण। प्रमु नासा सीम पाणी ऊंचो चढ्यो हो.

धरणेन्द्र आयो सावधान ॥१२॥ प्र०॥ माथै प्रमु ने अहि छत्र सांखीयो हो. ऊंचा लिया आणी भक्ति । बत्तीस बद्ध नाटक करें पद्मावती हो.

नाचै नवी नवी करी सक्ति ॥ १३ ॥ प्र० ॥ समता दमता रस माहि झीलता हो ध्यावतां शुक्कल ध्यान । चैत्र किसन दिन चल्रिश ने लपनो हो,

निरमल केवलज्ञान ॥१९॥प्र०॥

डाल ४--सूणि बहिनी एहनो

अहिछत्तो पारसमाथ कीधौ, नाम यथारथ दीधोजी अहिछत्ता नयरीय वसाई, धरणेन्द्र शोभ बधाईँजी ॥१५॥ प्रगट अहिछत्तोजी परसै, मन वंछित तसु सरिस्यैजी ॥ प्र आं०॥ प्रतिमा थापी तेणहं ठामें, इंद्रइ भविक हित कामइ जी। हिवश्री पास सुखे विचरता, अबोह जीवां ऊधरतांजी।।१६॥प्रा।।

संउ वरसां सीम पाली काया. समेतिशिखर जिणरायाजी । श्रावण सुदि अष्टमी शिव पहुँता.

तैतीस मुनि साथि हुँताजी ॥१७॥प०॥ इण परि पंच कल्याणक गाया, अहिछत्ता जात आया जी। पुण्ये नर भव सफला पाया,

पातक दूरि पुलायाजी ॥१५॥प०।

॥ कलश् ॥

संवत गुण रस मुनि धराये (१७६३) ज्येष्ठ पहिले मास ए।
कृष्ण पक्षइ प्रथम पंडिवा मनहपूरी आस ए॥
दयात्तिलक वाचक भाव भत्तई आय अहिष्ठत्तई मनगमई।
नित्यविजय जंपई पास जिणवर सेव मुझ मन में गमें ॥१९॥
इति अहिष्ठता पार्श्वनाथ वृद्धस्तवनम् ॥ सं० १७५५॥

आगरा के लोढ़ा कुँअरपाल सोनपाल के संघ वर्णन रास में खरतरगच्छीय कवि विनयसागर ने कम्पिलपुर यात्रा के अनन्तर अहिच्छता यात्रा का उल्लेख इस प्रकार किया है—

अहिन्छत्तइ आदी करी, वधा श्री पास जिणंद रे।

जैन धर्म में मिक्त और संकीर्तान

साधना के अनेक मार्ग हैं। जिसप्रकार एक ही गन्तव्य स्थान के लिए मिन्न-मिन्न मार्गों से गमन किया जा सकता है: दूरी का अन्तर मले ही हो पर वे एक दसरे के विरोधी नहीं. प्रत्युत सहयोगी ही कहलायेंगे. उसी प्रकार साधना मार्ग में ज्ञान-मार्ग और मक्ति-मार्ग का प्राधान्य है। ज्ञान-मार्ग एक इंजन की माँति है, जिसे अनेक प्रकार के कल-पूजों से संचालित किया जाता है। वह श्रम-साध्य और दुरूह है। किन्तु भक्ति-मार्ग उसके पीछे लगने वाले डिब्बों की भाँति है। उससे जुड़ जाने वाले डिब्बे अवश्य ही गन्तव्य स्थान को प्राप्त करेंगे और जो विभक्त रहेंगे वे पड़े रह जाएंगे। भक्ति में केवल एकनिष्ठ श्रद्धा की आवश्यकता है। जहाँ ज्ञान-मार्ग में अभिमान, ईंध्यां आदि दोषों का बड़ा खतरा है. वहाँ मिक्ति-मार्ग में लघता, दीनता, सम्पूर्ण समर्पण भाव और ध्येयप्राप्ति की तमन्त्रा ही प्रधान है।

यदि भगवान के प्रति हृदय में भक्ति नहीं हो, एक-निष्ठा न हो. तो सारे क्रिया-काण्ड छाई पर लीपने के सहस्य हैं। आहार के लिए चावल मौजूद है पर उन्हें कोरे ही आग पर चढ़ा देगें तो वे जल जायेंगे। अतः हुम अपनी बुभुक्षा उनसे न मिटा सकेंगे। यदि चावलों के साथ हुम जल का मिश्रण करके डालेगें तो वे सिद्ध

होंगे और भोजन के योग्य बनेंगे। वैसे ही, कोरे क्रिया-काण्ड भक्ति के बिना केवल काया कब्ट ही सिद्ध होंगे। भगवान कृष्ण की मक्ति का प्रचार गौरांग महाप्रभु ने खूब किया, जिससे प्रभु-दर्शन और आत्म-सिद्धियाँ प्राप्त हुईं। अनेक प्रकार की चमत्कारिक घटनायें प्रत्यक्ष देखकर लोग निष्ठादान बने । जिसने संकीर्तन और धुन आदि को अपनाया, वे अपने आराध्य के प्रति पूर्णतया समर्पित होकर अपनी ध्येय-सिद्धि में सफल हुए। संकीर्तन से. भक्ति से, निष्ठा से विष भी अमृत में परिवर्तित हो जाता है। भक्त शिरोमणि मीरा का उदाहरण जगत् प्रसिद्ध है। अतः आराध्य के प्रति समर्पण भाव ही आत्म-शक्ति को प्रकट करने वाला है । उन्हें लब्बियाँ, सिद्धियाँ आदि प्राप्त हो जाती हैं और साहितक जीवन कर, बर्बर और अत्याचारी मनुष्य को अपने अनुकूल बनावे, उसकी तो बात ही क्या, हिंसक पशु साँप आदि मी सब शान्त हो जाते हैं। प्रेम. मक्ति का अमीच अस्त्र जिसके पास है। उसे संसार में कुछ मो दुर्लम नहीं।

नाम संकोर्तन की स्वर लहरी बाह्य और आम्यन्तर समस्त वातावरण को परिवर्तित कर, शुद्ध सात्विक भावों के परमाणु बिखेर कर, पापियों की पाप-भावना नष्ट कर सन्मार्ग के प्रति गतिशील बना देती है। अतः प्रभु नाम-कीर्तन-भक्ति का जितना अधिकाधिक प्रचार होगा. देश की जन्नति में चमत्कारिक रूप से परिवर्तन लाकर विश्व-मैत्री की स्थापना करेगी।

संकीर्तन के प्रताप से भक्ती को पाँचों इन्द्रियाँ भगवानमय अनुभूति प्राप्त कराती हैं। स्पर्शनेन्द्रिय दिव्य स्पर्श अनुभव कराती हैं। रसनेन्द्रिय दिव्य स्वाद सहस्र-दल कमल द्वारा दिव्य अमृत पान कराती है। प्राणेन्द्रिय दिव्य सुगन्धि की वह अनुभूति करातो है कि बाह्य जगत् उसका आकलन नहीं कर सकता। चक्षुइन्द्रिय दिव्य-दर्शन द्वारा भगवान् के दरबार की मिक्त भरी लीलार्ये प्रदिशत कराती हैं। श्रोजेन्द्रिय तो विविध राग-रागिनियाँ और

बीणा. वेणु. वंशी आदि वांश्वित स्वर तालबद्ध सुनाती हैं।
यह सिद्ध हो जाने पर जब जैसी इच्छा हो संकीर्तन की
ध्विन सुनते हुए आत्मा बाह्य जगत् से हट कर अन्तर में
रमण करने लगती है। जब नाद ध्विन खुल जाती है
तब अगम रेडियो द्वारा यथेच्छ संगीत सुनता है। मक्त
इसका प्रत्यक्ष अनुमव करता है, पर यह साधना की
प्राथमिक मूमि है। वहीं न अटक कर उसे तो आगे
बढ़ना है। आत्म-साक्षात्कार परमात्म साक्षात्कार करना है।
साधक यदि पंचेन्द्रियों के विषयों में अटक जायेगा अर्थात्
राज दरबार में स्वागतार्थ प्रगटित दिव्यों में अटक जाएगा
तो वह राजा के दर्शन कैसे करेगा ? उसे तो आत्मानुभूति मार्ग से आगे बढ़ कर आराध्य प्रभु से एकस्व प्राप्त
करना है, जो वह है, वहीं में हूं। 'सोहम्' की इस
साधनानुभूति में मक्त साधक आनन्द विमोर हो जाता
है। वहीं मक्ति की परम उपलब्धि है।

भक्त लोग भगवान को विविध स्तुति से, निन्दा-स्तृति के उपालम्भ से विरूदाते हैं। वह विद्या-विलास है. पर अन्तर-हृदय के तार, टेलीवीजन या टेलीफोन की माँति जोड़ने के लिए भक्ति करना, धुन करना, संकीर्तन करना उत्तम और निरायद मार्ग है। उससे मक्त को अपने आराध्य के प्रति एकाग्रता आने से उसके साक्षात् दर्शन हो जाते हैं। मक्त जिस रूप में भगवान को आकलित करता है. उसी रूप में भगवान के दर्शन पाता है। वास्तव में वे अपनी आतमा की अचिन्त्य शक्तियां हैं, जो भक्त को भगवान रूप में, वैज्ञानिक को विज्ञान स्फुरणा रूप में साफल्य-लाभ देती है। मक्त अपने आराध्य की अपनी धारणा के अनुसार विवध लीलाओं के दर्शन कर आत्म - तृष्टि और ध्येय - सिद्धि प्राप्त करता है । वास्तव में लगनशीलता, चित्त की एकाग्रता उसके कार्यसिद्धि में सहायक होती है। सिगर सिलाई मशीन के निर्माता को सारी सफलता मिली. पर सुई के साथ धागा जाने पर वापस कैसे आवे यही

प्रश्न था । चिन्तन चल रहा था । रात्रि में स्वप्न में भालों की नोक के छिद्र को देखकर सुईं की नोंक पर छिद्र करने से सारी समस्या हल हो गई। यह बात हमें यह रहस्य बतलाती है कि आत्मा की अचिन्त्य शक्तियाँ भक्त को भगवान के रूप में अपनी धारणा के अनुसार सिद्धि प्राप्त करा देवी हैं।

प्रार्थना और नाम-संकीर्तन को सभी धर्मों में आव-रयक माना गया है! उसके प्रभाव से सभी प्रकार के भय, चिन्ता आदि से मुक्त होकर मक्त निर्भय हो जाता है। जिस प्रकार अपनी मां की गोद में बालक सर्वथा निर्भय रहता है, उसी प्रकार प्रभु नाम संकीर्तन उसे अष्ट महामयों से उदार कर सर्वथा सुरक्षित कर देता है।

भगवान को पूजन विधि में भक्ति ही सार है, भावना प्रधान है. साधना सामग्री तो स्थिरता, एकाग्रता के लिए रूपक है। जिस प्रकार हम जलादि से भगवान का अभि-षेक करते हैं. परन्तु उसमें वास्तविक जल तो भक्ति है। अध्यात्म-तत्त्ववेता श्रीमद्द देवचन्द्रजी के शब्दों में 'कलश पाणी मिसे भक्ति जल सींचता' ही रहस्य है। भक्तामर स्तोत्र के कर्ता श्री मानतुंगसूरि अपने 'नमिक्जण' संज्ञक भयहर स्तोत्र में भगवन्नाम संकीर्त्तन के प्रभाव का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

रोग-जल-जलण-विसहर-चोरारि-मइंद-गय-रण भयाइं। पास जिण-नाम संक्रित्तणेण पसमंति सल्वाइं॥

अर्थात्—भगवान पार्खनाथ के नाम संकीर्तन से रोग जल, अगिन, साँप, चंर, शत्रु, सिंह, हाथी सथा युद्ध के भय नष्ट हो जाते हैं!

श्री जिनवल्लमसूरिजी कृत लघु अजित शान्ति स्तोत्र में कहा है कि—

अरि-करि-हरि-तिण्हुण्हंबु-चोराहि-वाही समर-जमर-मारी - रुद्द - खुद्दोवसग्गा । पलय मजिय संते-कित्तणे झत्ति जंती निविज्ज तर तमोहा मक्खरा लुंखियव्य ॥

—जैसे सूर्य के स्पर्श मात्र से अति निविष् अन्ध-कार समूह शीघ्र नष्ट हो जाता है वैसे श्री अजितनाथ और शान्तिनाथ मगवान का गुण संकीर्त्तन स्तुति से शत्रु. हाथी, सिंह. तृआ, गरमी, पानी और आधि-व्याधि, संग्राम खमर, मारि और व्यन्तरादि के मंयकर उपद्रवों का नाश होता है।

मिक्त-स्तुति-संकीर्त्तन के प्राचीन जेनागमों में अगणित खदाहरण पाये जाते हैं। शरणापन्नता तो वहाँ पद-पद पर प्रधान हैं। चार शरण में समर्पण माव ही तो हैं। तीर्थंकरों के समक्सरण में देव-देवीगण वाद्य नृत्य और गीत लय के साथ संकीर्त्तन करते थे। जिनालय वस्तुतः समवसरण के ही प्रतीक हैं। उनमें नृत्य-वाजित्र और संकीर्त्तन के कक्ष-मण्डप सर्वत्र हैं ही। स्तंभी पर इन गीत नाद वाजित्रस्त किन्तर, गानधवीं और देवियों की कलामय माव-भंगिना युक्त अगणित मृत्तियां वनी रहती है। आबू, आर.सन, देवगढ़, जैसलमेर आदि के मन्दिरों में ये शिल्प मिक्त-संकीर्त्तन के अमर प्रतीक हैं।

मशुरा के कंकाली टीलें की खुदाई में एक विशाल जैन स्तूप निक्ता, जिसकी मूर्तियों मशुरा, लखनफ एवं विदेशों के संग्रहालयों में हैं। उसके इतिहास में—विविध तीर्थंकल्प में श्रीजिनप्रमसूरि महाराज ने लिखा है—यह लाखों वर्ज पूर्व कुबेरा देवी ने स्थापित किया, जो देव-निर्मित बौद्ध स्तूप कहलाता है। एका-एक प्रगट होने पर ये किसके आराध्य देव हैं? इस बात का निर्णय करने के लिए चित्रपट में अपने-अपने देवों को आलेखित कर रात मर

भजन कीर्तान करें । नवमी की रात को यह आयोजन हुआ और अर्द्धरात्रि में तूफान व पत्थर वर्षा से सारे पट टूट कर उड़ गये, केवल सुपार्श्वनाथ मगवान का पट स्थिर रहा । लोग विस्मित होकर कहने लगे—'ये अरिहंत देव हैं।' उस पट को सारे नगर में घुमाया, पट यात्रा प्रवर्तित हुई ।

भगवान महावीर स्वामी के शिष्य नन्दिषेण कृत 'अजित शान्ति स्तीत्र' प्राकृत माषा की एक प्राचीनतम कृति है जो 82 छन्दों में हैं और उसके प्राचीनतम दुर्लम छंद आज भी राग-रागिणी के साथ बोले जाते हैं। इसमें भक्ति-शरणापत्रता और प्रमु-वर्णन के सभी रस फुँड़ेल दिये गये हैं। प्रमु नाम संकीर्त्तन का महत्व निम्नोक्त मागहिआ (मागधिका) छंद में कहा है कि—

अजिय जिण सुह पवत्तगं, तक्ष पुरिसुत्तम नाम कित्तणं। तह य धिइ-मइ-पवत्तणं, तव य जिण्तम संति कित्तणं॥

—हे पुरुषों में उत्तम अजितनाथ! हे जिनोत्तम शान्तिनाथ! तुम दोनों के नाम-संकीर्तन-स्तवन सुख देने वाला तथा धेर्य और बुद्धि प्रकटाने वाला है।

इसी स्तोत्र के रत्ममाला छंद (जं सुरसंघा सा सुरसंघा) में वतलाया है कि देवों और असुरों का संध मगवान की मक्ति में वैर-भाव मुलाकर कैसे वाहमों में और कैसी वेश-मूखा में आते हैं।

ज्ञाता सूत्र और रायपसेणीय सूत्र में द्रोपदी. सूरि-याम देव आदि की मिक्त का विशद्ध वर्णन पाया जाता है। सतरह मेदी पूजा में नृत्य. संकीर्चन और वाद्य आदि प्रधान है। पूजा साहित्य बहुत विशाल है, आये दिन उत्सवों में पूजा-मजन रात्रि-जागरण आदि मिक्त के आयोजन प्रचुरता से जैन समाज में होते ही रहते हैं।

श्री धनदेवी माताजी स्तवन

[भाषा : अपभ्र'श]

संद्वाण सोहद्विय हंपी रयणकूट पुर तुंगभद् तंख पुळा काल किविंकध मनोहरः थप्पिय सहजाणंद सुगुरु सिरि रायचंदास्सम, गुरु जिणयत्त णिव्वाण दीह जह जोत्ति अणोवम-१ माया सिरि धणलच्छि सिरोमणि निय चेयण रय. करुण सहावी लद्धि सिद्धि जह दयण अभिय मय. पएसे संभराई कच्य उवएस सुवंसिय. सिंवजी कुंकुम बप्प माय कुच्छी सर हंसिय***२ सिसुक्य पयाङ्ग्य अलव सत्ति पुग देवाधिद्विय, पुष्वजम्म कय पुष्ण कञ्ज जिनयत्त सुदिङ्गियः सहस सत्त मुणि रुद्द भवे जिण धम्म पहिंद्रग्र. सेट्टि सआ मंतीय अभय माउलहर चिट्टिय'''३ कछ भुज निव खंगार राय बालतंश भत्तह. आमंतिय सम्माण सहिय खलु विम्हिय पत्तहः चोर चरड़ भय दूर करिय वच्छल गुनोअय. पाणिस्सहणे. कन्नदाण खंगार सयं किय""४ दंसिय सुहणे सरल दिणे पयांख्य निय देहई. मद्द गुरु ठिय महालच्छी गेहइ: चाउमास जन पावागिरि तिस्थ पत्त पमुइय अतिबंभर, पत्त बीह गिह बिक्कपुर सरण मुण्सर****ध चत्त फरसिय अय पारसमणि गुरु कंचण परिवत्तिय. निय नाणेण वास वृद्धि किय संसय विरहिय: लिंदि-सिद्धि सुपमाव विश्ल नह गइ नाणाविह. मरण समाहि करण जीवह पड़िबोहिय""६ কজ

श्री महिमाप्रमसागर प्रशस्ति

[माषा : अपभ्रंश]

जय महिमध्यह समग मछड़ जय ललिय चंदघ्पह। आदरिय संजम स्यणत्तय आराहण सुविहिय पहुँ पासनाह कल्लाण तित्थ संठिय दइ वच्छार। सकिय पाइय वागरण साहित कव्व अज्झयण सुहंकर ॥१॥ नाण सरोवर ण्हवण सयय अपमत्त चारित्त रय ! महोवज्झाय पय हेउ समयसंदर मह प्रबंधकय ।। तित्थ जत विहरिय कमेण कलिकता पउधारिय। पवयण प्रभाव बोहिय बहुल बुह सुपसंसह कारिय ॥२॥ हीराउत दफतरिय वंस अकलुस हीरग निम्मल सुदिढ चरित्त वयण पालग गुण अणुवम ॥ अष्यत्तत्त्त्त सज्झाय झुण अण्दिण अज्जोवउ । गुण मणि संगह सील अपमत गुणठाण आरोहउ॥३॥ जीयजसा अज्जा श्यण सुवियक्खण मंडलु । भद्द सहाबी माय कुच्छि-सर जुग मुणि हंसस । तणया अगर जसु कित्तिधर पुरुविय तल सुपत्तिद्धउ । जया सुचिर सहबप्य छत्त 'ममर' हुवछ समिद्धछ ॥४॥

20y

खरतरगच्छ प्रशस्ति

[भाषा : संस्कृत]

जिनदत्तं गुरुं नत्वा सूरेश्च कुशल प्रभोः। स्विहितस्य मार्गस्य लिख्यतेऽयं प्रशस्तिका॥१॥ गच्छे खरतरे स्वच्छे क्षमाकल्याण पाठको। शुद्ध साधु क्रिया धारी विद्वजजनै शिरोमणिः ॥ २ ॥ श्रमणार्या सुसंघोऽभूत् घरम्परा सुविस्तृता। तपस्वी क्रिया पात्राश्च गणाधीश परम्परा ॥ ३ ॥ सरि ਧਵੰ प्राप्तीयेन उजीमगंज प्रेवरे । जैनधर्म श्रीहरिसागराचार्य प्रभावकः ॥ ४॥ पट्टोद्धारक सूरि आणंदसागरः । सदक्ता ख्याति वीरपुत्राभिधानेन माप्त सुभारते ॥ ५ ॥ सुमति सिन्धपाध्याय पट्टे श्रीमणिसागरः । प्राप्तं सूरि पदं येन शास्त्र वादि शिरोमणिः ॥ ६॥ सत्काव्य कला प्रतिमा-धारी कवीन्द्र सूरयः। रिचलानि येश्च सत्पूजा स्तव काव्यान्यनेकशः ॥ ७ ॥ श्री हेमेन्द्र गणाधीश तत्पट्टोदय सागरः। द्वितीयो नुयोगाचार्यः कान्त्यब्धिः सुप्रभावकः ॥ ५ ॥ संघ यात्रा सुसंस्थान मुपधानाद्यपुनेकशः। प्रतिष्ठा जिन विम्बादि कारितानि महोत्सवैः ॥ ९ ॥ समायोजित संघेन जयपुरेहि ्सदुरसवे । आषाद बब्दी दिवसे सूरि पदे दौ सद्गुरौ ॥१०॥ स्वनाम् धन्य प्रतापीश्च सनमुनि मोहनलालजित्। सुरि पट्टे जिनद्धि स्टनसूरयः ॥११॥ जिनयशः लिख केशर बुद्धिश्च पाठक-पन्यासी-गणी। जयानन्द क्रियापात्र प्रवचने वाचस्पति ॥१२॥ आगमज्ञा सद्भिदुषी आर्या श्री सज्जनाभिधा। कवयित्री सल्लेखिका ॥१३॥ प्रवर्त्तिनी पदारुढा भक्तचा 'भवरलालेन' गुंफितोऽयं प्रशस्तिका। शासनोन्नति कुर्वन्तु दीर्घायुषि गुरूतमा ॥१८॥

ढाटी-शान्तिनगर मण्डन जिन-प्रतिष्ठा स्तवन

सैवो सैवो हो धरि भाव शान्ति जिणंदा । मव जल तारण नाव, अचिरा के नंदा ।।से०।। सोलम जिनवर पंचम चंक्री, हस्तिन।पुर महाराज ।।शांति।। गर्म में आते मारि निवारी, सार्या भविक जन काज ।।शांति।।शासे०।। विश्वसेन नृप कंवर पदे में, वरस पत्रीस हजार ।।शांति।। ष्ठः खण्ड साधी राज्य दीपाया. आत्मार्थ दीक्षाधार ।(शांव:२॥सेवा केवल पाकर भवि प्रतिबोधे, लाख वर्ष आयुधार ॥शां०॥ समेतशिखर पर मोक्ष सिधाये. चक्रायुध गणधार ।।ञांा।३॥सेा। आत्म स्वभाव प्रत्यक्ष करण को, पुष्टालंबन हेतु ॥शां०॥ दाढी नगर में भव्य जिनालय, भवसागर का सेत् **ाञां**ाशा सेवा सुमति शीतश जिन उभय पक्ष में,त्रिरत्न प्राप्ति काज ॥शां०।। सारे जगत के शांत परमाण, आय मिले मानो आज शांगामासेगा शासन सुरी निर्वाणी गरुंड यक्ष, दादाजिनदत्तगुरुराज ।।शां०।। माघ सुदि पक्ष दशमी गुरु दिन, करी प्रतिष्ठा सुभ काज शांशाद्वासिका दो हजार सतरे में भट्टारक, जिन विजयेन्द्र महाराज ॥शां०॥ स्वत-देवेन्द्र श्रीउपदेशात्.किया उत्तम काज ।।शां०।।७।।से०।। पारस सुगनचंद लूणकरण पांची. देवी संपत स्रखकार ॥शां०॥ रूप विजय मुनिराज पधारे, संघ चतुर्विध मंगलवार uatios ॥से०॥

क्षायिक दर्शन पाजं प्रमु में, अथवा दो मक्तिकी पाज ।।शां०।। चरण कमल में 'मंदर'रहे निक चाहुं ननर सुर राज ॥शां०।९॥

श्री चम्पापुरी मण्डन वासुपूज्य जिन स्तवन

श्री वासपुज्य जिनेन्द्र भेटो, चंपानगर मझार रे । वसपुज्य नंदन त्रिजगवंदन, जाया सूतसुखकार रे ॥श्री०।११ च्यवम जन्म दीक्षा कल्याणक केवल अतिहि उदार रै। निर्वाण मोक्ष हुए वहाँ से, शिवरमणी भरतार रे ।।श्री०।।२ सत्तर धनुष की काय शोभित, लक्ष बहुत्तर आयुरे। महिष लंछन सेवता पद कुमर वर यक्षराय रे ॥श्री०॥३ रक्त वर्ण शरीर सुन्दर, चण्डा शासन देवि रे । सम्यक्त प्राप्ति वाद तीजे. भवे सिद्धिजेह रे ।।श्री,०।।१ छासठ थे गणधर प्रभू के, सिद्धि हो गए सर्व रे। 'भँवर' चम्पानगर भेटचा ज्ञान पंचमीपर्व रै ॥श्री०॥५

शान्ति जिन स्तवन

शान्ति दरस मन भायो री, सब सुख कन्द । सोलम जिनवर विश्वसेन नृप अंगज आप कहायो री. अचिरानन्द ॥१॥ गर्भ स्थित प्रभु मारि निवारी हस्तिनागपुर रायो री. त्रिभुवन वंध ॥२॥ चक्री पंचम प्रबल पुण्यधर जिन अरिहंत कहायो री, काटे कर्म फंद्र ॥३॥ समेत-शिखर गिरि मोक्ष सिधाये जय जय सब मिल गायोरी. चौसठ इंद्र ॥४॥ करायो रीः चैत्य प्रतिष्ठा देशनीक Ĥ नव्योद्धार मिल सह संघ ॥५॥ सुख हित मोक्ष कार कहो प्रभुजी मव्य मक्ति चित्त चायो री, मिटे सब द्वन्द ।'६॥ दो हजार अठाइस वर्षे, ज्येष्ठ शुक्ल दस दारो री. गुरु अमित आनन्द ॥॥॥ तीर्थ कैलाश सह शिखर प्रतिष्ठा दंड ध्वजा लहरायो री. दत्त कुशल मुणिद ए५॥ 'भँवर' कहे प्रतपो चिर काले संघ श्रेय कल्याणो री. जब लग रवि चंद ॥९॥

मणिधारी दादा श्री जिनचन्द्र सूरि स्तवन

सुगुरु सुनो अरदास, काटो भव पास, दादा मणिधारी, आये हम शरण तुम्हारी॥

देल्हण माता कुक्षी जाये, रासल पितु घर हुलराये। अवतारी ॥आये०॥१॥ मरुधर में लीने बारह सौ में कम तीन बरस, जन्मे. दीक्षा वैराग्य सुरस ! षट्वर्षायु में जिनदत्त पास में धारी ॥आये०॥२॥ आठ वर्ष के आचारज, पद पाये प्रतिमा के धारक ! चौदह वर्षे पद युग प्रधान सुखकारी ॥आयै०॥३॥ श्रीमाल मंत्रिदल ओसवंश, प्रतिबोधा जीते बादि वृद । करि हिम्ब प्रतिष्ता और जिनालय मारी ॥आये०॥४॥ दिल्लीपति मदनपालराजा, वन भक्त सुजस डंका वाजा। कुलचंद्रादिक पर कीनी कृपा अपारी ॥आये०॥५॥ बारह तेवीसे स्वर्ग गलि, पाये दिली में शुद्ध मती। शासन सेवा भारी ॥आये०॥६॥ अल्पाय में कर गुरु सम्यग् दर्शन के दाता. तुम ही हो मात तात भ्राता । आत्मा के उद्धारक तुम जय कारी ॥आये०॥७॥ दादा दूजा महरोली में, पूजे सब जन रंग रोली में। शासन उन्नति करो 'मैंवर' कहे बिलहारी ॥आये०॥८॥

् २०७

क्षणिकाएँ

आत्मा का अस्तित्व

क्या है आत्मा ? वह दश्य नहीं फिर भी बतलाओं कथ्य नहीं अव्यक्त सही अभिव्यक्ति क्या ? अनुभूति करो ! वह तुरंत उठा पत्थर मारा पीड़ा होती है कहाँ है, वह दिखलाओं सही उत्तर पाया अनुभूति यही !

प्रतिक्रमण

जीवन की पाटी पर जो गलत लिखा उसे मिटा दो भविष्य में सतर्क रहो यही तो है

त्याग

देह की अपना मानना देहाध्यास । उसे छोड़ जल-कमलवत् रहना

205]

त्याग ।

नम्रता

बंस सहज ही अकड़ा रहता फल-युक्त आम्र अधिक झुकता वह समूल काटा जाता यह सिंचित हो सेवा पाता,

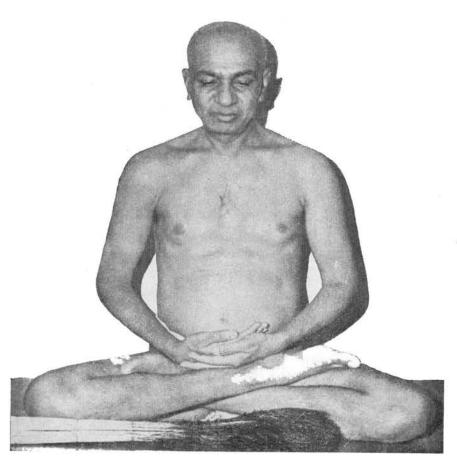
शोभा लेता !!

छाया

देखती हो दर्पण में किन्तु उसमें तुम नहीं स्वदेह में हो स्थित वह छाया मात्र कहीं ।

पर-स्त्री

सूर्य महान है
दर्शनीय-वन्दनीय
पर ताकने योग्य नहीं
परस्त्री पर
दर्शिट पड़ी
तदत्
दर्शिट नीची करने की
शिक्षा
यही है
पवित्रता की रक्षा।



पूज्य गुरुदेव युगप्रधान श्री सहजानन्दघनजी महाराज

योगीन्द्र-युगप्रधान महामहिम श्री सहजानंदघन गुरुदेवाएकम्

भद्रः सद्गुरु वर्य पूज्य सहजानंदः सदा राजत आतमज्ञो निखिलार्थं बोध निपुणः कारुण्यमूर्तिमहान् देवैः पूजित पादपदा विमलञ्चेन्द्रादिभिः सर्वशो वन्देऽहं विनयेन तं गुरुवरं श्री भावि तीर्थंक्रसम् ॥१॥

मान्योयः शुभ कच्छ देश विपये छुन्नाभिधे मण्डल फकेशे परमार वंश सुवरे श्री नागजी श्रेण्डिनः गेहे श्री नयनोदरान्ननु समुत्पन्नो वरेण्यः प्रभुः वन्दे९हं विनयेन तं गुरुवरं श्री भावि तीर्थं इरम् ॥२॥

प्रारजन्माजित साधना स्मृति वशाच्छ्री मोहमय्यांपुरि धोषेणाब्धि विमोहकेन गगनाज्जातेन यः प्रेरितः त्यागेप्सुजिनरत्नसूरि गुरुणा सौम्येन संदीक्षतो वन्देऽहं विनयेन तं गुरुवरं श्री मावि तीर्थङ्करम् ॥३॥

झानालोक युतेन लब्धमुनिना ज्ञानाम्बुधौ स्नापितो वर्ग द्वादशकं च यो गुरुवरः सार्द्ध सदाराजितः नाना क्लेश युतेच घोर तपसा पश्चादिगिरौ संस्थितो वन्देऽहं विनयेन तं गुरुवरं श्री मावि तीर्थाङ्करम्॥॥॥ आमेटेडर पिक्षं मुक्लिलसर्पिकेश पावापुरी गोकाकेषु च कन्दरासु किंदनं मौनं सुतप्तः तपः वर्षाणां त्रितयं च येन मुनिना स्तुत्येन मान्येन वै वन्देऽहं विनयेन तं गुस्वरं श्री मावि तीर्थङ्करम् ॥५॥ फर्ण श्री शिववाटिकोदयसर ग्रामेषु वै बोरडौ धर्मोद्योत करेण येन च मुदा यात्रा कृता पावनी श्री सीमंधर नोदितयुंगवरोपाधिः प्रदत्तः सुरै येस्मैतं प्रणमामि मक्ति मरितः श्री मावि तीर्थङ्करम् ॥६॥

प्राप्ते पावन रलकूट विदिते कर्णाट देशे नगे स्थाने सद्गुरु पूर्व जन्म विदिते दिव्ये शुभे भूपिते श्री मद्राज विराजितेन्दु विमलः संस्थापितो ह्या प्रभो वन्देऽहं विनयेन तं गुरुवरं श्री भावि तीर्थङ्करम् ॥७॥

अब्दे पाण्डव युग्म विश्वति शते श्री पौपमासे शुमे पूर्वार्डे सुखदे त्रयोदश दिने मौमेच वारे वरे अल्पज्ञ 'भ्रमरे'ण हाष्टक मिदं मक्त्या प्रणीतं मुदा भव्येम्यः परितीषदं प्रियकरं पुण्येक सम्वर्द्धनम् ॥५॥

युगप्रधान सद्गुरु स्मृति गीत

हम्पी के योगी कहां तुम गये ही हमें आत्म - दर्शन कराते-कराते॥

> क्रिया जड़ बना जो तीर्थंप का शासन मार्ग से कोशों भटक के विपश्चग उन्हें राह सम्यक् दिखाने के हेतु हुए अवीतर्ण है युग के प्रवर्तक

करी दीर्घ साधना गिरि कन्दर। मैं आहमा की ज्योति जगाते-जगाते ॥१॥

> ज्ञाता द्रष्टा महाव्रत संयुत भव भव में साधन किया संयमरत लब्धि सिद्धचादि अतिशय धारी रहे जिनके चरणों में देवेन्द्रादि भी नत

केवल तपःपूल साधन प्रयोगी शान्त-सुधारस नहाते-नहाते ॥२॥

> इन्द्रिय मनका भावात्म निगृह नहीं साम्प्रदायिक भेदादि आग्रह अध्यात्म ज्ञान की कुंजी के धारक कर्मक्षयार्थ किया था अभिगृह

कठिन तप ध्यानादि में रत अह**िन्श** प्रेम की गंगा वहाते-वहाते॥३॥ सीमंघर प्रमु युगप्रवर पद क्षयोपञ्चम से गहन ज्ञान संपद गुरुराज जिनदत्त आदि से प्रेरित 'तु तेरा संभाल' मंत्रेक सुविशद

आत्मिक प्रसादि लगे बॉंटने जो अतिशय वाणी सुनाते-सुनाते ॥४॥

> न सोचा था इतनी जल्दी करोगे महाविदेह जाने की तैयारी पंचमकाल के हम हैं अभागे पाया न तुमको है आत्म-विहारी

समता से कप्ट सहै आत्मानंदी विदेही गुणों में समाते-समाते॥॥

> वनी हमारे सहायक प्रमु तुम अनैत गुर्णों का अंश पावें हम कृपालु तुम्हारी कृपा जी रही है अनंत आशीर्वच यद्यपि अपात्र हम

निकाली 'भँवर' से नैया हमारी समक्रित पतवार दो ज्यों पार पाते ॥६।।

राजस्थानी माषा सप्तक

धरती माता आंख्या फाड़े उड़ीक रेयी उण पूर्ता नै. मरु मेवाड़ी ढूंढाड़ी हाडोती माध्यम सशक्तां कूंतां नै: रतनां री कीमत आंकणियो कोई झंवरी जद आसी. मायड़ मासा री जग-मग ज्योत विध-विध मांत जगा पासी "?

पिगल डिंगल वेण सगाई छंद कत्थक गद्य पद्य सिगलो. नवसर हार बणा सतरंगी ओपे सुरसति रे कंठ मलौ: वेदाग पाच ने काच गिणैगौ आक दूध री नहिं परिख्या. शब्द ब्रह्म रा असल भाव बीजां में नहीं है इण सरिखा…

हुयां सरण्डर शस्तर पाती नांख्यां जंग लाग जिणी तरियां. भूला पड़ ज्यावे स्वेच्छा सुं बीजी बोली ने अनुसरियां: तगड़ो मंडार मर्यो पड़ियौ जूने साहित रो अणांगणती. विण बरत्याँ, हम तम अंग्रेजी री कुदाल खाडा खणती.....३

फावंस ग्रीयर्सन रिव टैसीटोरी जो कर उजियाली. महत्त बतायो पण बीत्यो सईंकी नइं जाण्यो धोलो कालो; बीजी मापावां सिर उठायने पायी मान्यता धींगाणे. बोले जिणरा बोर बिकै अणबोल्यां रतन पड़या छाने......8 आ तोन क्रोड़ जनता री बोली रख दीनी गिरवें-अड्डाणै. घर रा जाया घष्टी चाटै पेडा देवां पाडोसणां नै: लाजां मर जावो बोलण में आपाणौ गौरव-हीर मस्यौ. घर री खांड कड़कड़ी जाणी चोरी रै गुड़ सुं मूंह भरयौ-"ध्

ललकार रेई मायड़ भासा क्यूं दूध लजावो थे म्हारो।
अमृत नै छोड़ धूल धाणी पीवण दूक्या पाणी खारो।
थे सिगलां स्यूं इधका सूरा मेधावी दानी रुखवाला।
हौ भारत मां री शान सदाचारी कीरत धर
मूंछाला:"६

घणी उन्नती ज्ञान-विज्ञान विविध भाषा अभ्यास करी, पण मत भूलो इण जामण नै सेवा कर उणायत नै हरी; झंडो जंबी मरु भाषा राजस्थान जाण नौ मान करी, रचना नानाविध प्रबंख भाव मय भारती माँ मंडार भरीना%

अजबघर रा क्यूरेटर

कोई अढ़ाई वरसां पैली री बात है। हूं आसाम-गवाटी गयो हो असेसमेंट री नकल वास्ते। इनकम टैक्स रे दफ्तर सूं आंवते रस्ते में अजबघर देखण री मन में आई। इयां तो दस बरसां पैली जद आसाम म्यूजियम री चीज्यां रो संग्रह हुंतो ही जणे छोटे रूप में देख चुक्यों हो पण अब के फेर विकास हुयोड़े रूप ने सरसरी निजर सूं देखण री मनस्या ही. साथे म्हांरा मुनीम गणपतलाल जी हा।

अजवघर में गया । पुरातत्व विभाग देख्यो । शोड़ी सिलालेख जिका भी बिना बांच्योड़ा सा लागा । मूरत्यां रे परिचय में 'एक पुरुष' या 'एक स्त्री' जिसी परिचायक तख्ती लागोड़ी देखी । अणभवी क्यूरेटर री कभी मालूम हुईं। पाछा निकळ'र क्यूरेटर रे दफ्तर में गया । क्यूरेटर सांब विराजिया हा । सिस्टाचार संम्हांने ले जार वैठाया । में केयो—हूं शांसूं थोड़ी बात करणी चाऊं हूं। वां केयो—इंग्रेजी या आसामियां किसी भाषा में बोल सो ? में केयो—हूं तो हिन्दी या बंगला में बात करसूं। दूसरी में बोल नहीं सकूं। जणै आं दोनां में आपरे दाय आवे जिकी में बात करो, मतलब तो भाव समझण सुं है।

मैं वा सं म्युजियम री सूची या चित्रावळी मांगी पण कोई तैयार नहीं हुणे सं निरास हुणो पड़्यो । मैं केयो—थां किताइ परिचय ठीक को लिख्यानी भूल्यां है। जणे वे म्हारे साथै म्युजियम में गया। दो-चार मुश्ल्यां रो परिचय वगैरे री बात हुणे रे बाद एक पुरस मूरती री तख्ती उपर स्त्री मूरती िलख्योड़ी देख'र बां नै म्हें कैयो आप नै दूसरी िसगळी मूरत्यां किसे देवी देवता री है लक्खण देख'र लिखणों चइजसी । पण इण पुरस री मूरती नैं स्त्री मूरती िकस तरें लिखी ? क्यूरेटर सा'ब कैयो—नहीं-नहीं ठीक देवी री मूर्ति तो हैं। मैं कैयो आप मुलायजो फरमावो इण रे स्तन कोयनी । शिलप सास्तर रे नियम मुजब लुगाई पीन पयोधरा हुणी जोईजै तो आ कई कुलखणी लुगाई है ? इते मैं ही म्हांरा मुनीम गणपत-लालजी कैयौ—बाबू सा'ब कंवारी छोरी हुसी। मैं कैयो —आप इण रो मूंद्रो तो देखों। मूंछ्यां वळ खायोड़ी मौजूद है। जणें क्यूरेटर साव कैयो—नहीं नहीं मूंछ्यां तो कोनी। मैं कैयो हाथ लगा'र देखों। उणाँ हाथ फैरयो तो मूंछ्या परतख हाथ रे रड़की। जणें तत्काळ असि-सटेंट नैं कैयो तख्ती फीरन बदळो। मने कैयो—भूल हुयगी, ठीक करवा देसूं।

आग चाल्या। छोटा-मेटा केई सुधारा वताया। आखर एक लकड़ी री देवळी आग जा'र खड़ा हुया। वैरो परिचय लिखोड़ो हैं। इन्द्र की मूर्ति'। मैं कैयी—साव आ मूरती तो मने मुगलकाळीन लागे है। इण रे पाग उण जमाने री है तथा पैरेस भी विसो ही दीसे है। क्यूरेटर साव—कैयो आ हिंदू मिंदर मैं लागोड़ी ही जिके सूं मुगलां री संमव कोनी। मैं कैयो—वै जमाने री हुणे सूं मुगलां री संमव कोनी। मैं कैयो—वै जमाने री हुणे सूं मुगलं हुणों जरूरी कोनी पण हिंदू मूरत्यां जपरलो पैरेस वगैरे मुगल काळीन हो सके हैं। पण ओ हाथ में कंई है ? कंई इंद्र होको भी पींवतो हो ? वां कैयो ओ वाजू है। मने तो होको ही लाग्यो। मैं—कैयो टोवाकू रो प्रचार अमरीका वालां साहद इंद्रपुरी तक कर दिया जिके सूं इंदर री मूरती में हुक्को मौजूद है। सिगला उपस्थित आदमी खिल खिलां र हंसण लागग्या।

इण तरे में म्यूजियम में मनोरंजन करते अणभव करचो के किताई म्यूजियमां रा क्यूरेटर तौ म्यूजियम में ई राखणे लायक है।

राजा सूरसिंघजी रो न्याव

राजा रायसिंघजी बीकानेर में बड़ा परतापी हुया है।
उणां सं पैलास राजा 'राव' बजता। इणां सुं ही राजा
री पदवी चालू हुई। 'राजा तो रायसिंघ और सौ राई,
भोजन तो खोर खांड, और सब पेट भराई' कहावत
प्रिसिद्ध है। रायसिंघजी रा वेटा सूरसिंघजी भी राजा
सा'व रा बड़ा लांडला हा। राजा सूरसिंघजी बड़ा
न्याववान हा। उणां री बुद्धि बड़ी तिव्वर ही तथा न्याव
करणै रो ढंग घणो आछो हो जिकै सूं वां री कीरती नाम-

जोधपुर माराज स्रिसंघ जी सूं घणी अपणायत सखता तथा पूरा वाकफकार हा । एकबार जोधपुर दरक्षार विराजिया राजा रजवाडां री वात नीसरी जद माराजा सायव घणी-घणी सोमा करते राजा स्रिसंहजी रै न्याव री प्रसंसा करी । मुसाहबाँ मांय सूं एक कैयो—राज रो हुकम हुवै तो हूँ वीकानेर जायने वणां रे न्याव री परीख्या करूं? माराजजी कैयो—मले । पण जांवते सनद ले जांज्यो । उण ने दरबार आपरै खास दसकतां रो रूकको कर दियो कै ओ म्हारो आदमी है । राज रो न्याव देखण रे वास्तै वीकानेर जांब है सो इण रे बोवार में कोई चुक हुवै तो माफ करज्यो ।

मुसायवर्जी जोधाणे सुंचाल्या। दर कूचां दर मजळां चालता वीकानेर सीर में आय'र कंदोइयां रै वजार में उत्तरचा । परदेसी रो वैस. खाली दकान देख'र बैठाया । सामनै कंदोई री दुकान । मीठो-मुजिया लेर, चावी मुको करियो फैर ठंडो पाणी पी'र थोड़ो आडो ह्यग्यो । वैरो ध्यान हो कंदोई खानी। जिता पड़सा बहुँ टूक'र राखतौ रैयो । सिंज्या रा रोकड में जिला रूपिया हा बोरैवार नोट कर जोड़ लीया । अठी ने कंदोई तो सोधो आदमी हो, बापड़े रे खाते रोकड़ रो जमा खरच हो कोयनी। कुंज़ड़े रे गल्लै री दाई लाल बूसी री कोथली में रुपिया पर्डसा मेळा कर'र घरां जावण री त्यारी करी। ईनै परदेसी, खनै ई कोटवाळी ही जठै आय'र कोटवाल रै आगै कुक्यो-हजुर हैं गरीव परदेसी मारियो जाऊँला। फलाणै कंदोई म्हारे थेली में इतना रुपिया पहसा हा जिका खोस नै राख लीया । हँ कंई खाऊंला नै कींकर जोधपुर जाऊंला । अँडो घोळॅ-दुपारे रो इन्याव मैं तो कठैई नी देखियो कोत्तवाळ सा । आपणे इन बात रो न्याव कर म्हांरी थेली दराणी जौईजै । कोटवाळ सा'व सिपाई नै भेज'र कंदोई नै वुलायो । कंदोई कैवे-मनै गरीव ने कियां याद करची ? कोटवाळ सा'ब कैयो-तें इये परदेसी री श्रेली क्यों खोसी? इता रुपियां आना पईसा उण में हा। ओ फरियाद करें है, इण री थेली परी सौंप। कंदोई केयो--कोटवाळ सा'वः आतो म्हांरे दिनभर री बिकरी री रोकड़ है, मैं तो कोई री श्रेली खोसी को'नी।

कोटवाळ सा'ब विचारियो आं दोनां में कुण साचो ने कुण कूड़ो ? कंदोई री वात, चेरो-मोरो देखतां तो साचो हुणो चाईजे पण ओ बापड़ो परदेसी भी झूठो मालूम को देवैनी। दूसरें में परदेसी रो न्याव करणो रो म्हारी हक को'नी। कंई करूं ? मने तो ओ मामलो हजूर दरवार रे आगेई राखणो पड़सी। इण तरें रे विचार सूं कोटवाल सा'ब दोनां ने थेली रे साथ दरवार में पेस

कर दिया, दरबार सांव दोनां री बात सुण ने पैली परदेसी ने पूछचो । परदेसी कैयो—हजूर आपरे राम-राज में हूँ लूटीज ग्यो । ओ तो पाणी में लाय लागे जेड़ो बणात हुयो । हूँ गरीव परदेसी कंई खाऊंला ने कींकर महारे देस जाऊंला में तो इण कंदोइड़े री दुकान में आयने कलेंवो करियो ने इण महारो नाणो ई परो खोस्यो । परदेस में बटाऊरो कुण सीरी ? आप जेड़ां मोटा माईतां री मेर हुवैला हजूर मने महारी नाणे री कोथली दरावोला तो हूँ जींऊंला । इण तरे परदेशी रो-रींक'र आपरो विलाय करण लाग्यो ।

दरवार सा'व सूरसिंघजी कंदोई ने पूछची—क्यूं भाई. परदेसी कैवे सो साच है ? कंदोई कैयो—हजूर ! आप मां-वाप हो मैं तो म्हारी सारे दिन री रोकड़ भेली कर'र बिकरी पईसा लायो । ईये परदेसी म्हारे खने मीठो-भुजिया जरूर लिया हा पण मैं इण री थेली को सीसीनी।

दरवार सा'व पूछचो किता रुपिया हा ? इण रे जबाव में कंदोई कैयो हुजूर । म्हारे तो गिणती वीजी की ई कोय थी नी । ज्यों बटचा भेळा कर'र लायो हूँ। परदेसी आना-पाई सूधा बताया जिका गिण्या सुंपूरा ठीक निकळ्या। राजाजी देख्यो कंदोई झ्ठों, चोर तो दीसे कोयनी, ओ भी परदेसी है रोवें है झूठ नहीं बोलणो जोईजें। अच्छया बिचारसां। केयों—कंदोई! तूं धारें घरें जा काल न्याव करसां। परदेसी नै मोदीखाने सूं आटो, घी, मसाला, सीधो दिरा दियों र कैयों—तूं ई खा, पी'र आराम कर, काल आये।

दूजे दिन भोर में दोनूं जणा हजूर खने आया जिके सू पेली उकळते पाणी रें कड़ायलियों में रुपिया री शेली छोड़ दी। रुपियां रो चिकणास सिगळी उत्तर'र पाणी जपर आयग्यो। कंदोई रें दिन भर री विकरी रा रुपिया बता'र परदेसी ने गिरफ्तार करणे रो हुकम हुयो। हजूर फरमायो— परदेसी ने बांध कर जेल ठोक दो। इण तरें भजें आदम्यां ने फंसाणे रा उपाव करें।

ठीक अन मौक परदेशी जोधपुर रो खास रुक्को राजः साव रे चरणां मैं नांख गुनै री माफी मांगी। दरबार उण ने बड़े आदर मान सूं सिरोपाव दे'र खानौ करियो। कंदोई आपरी थेली ले'र आपरे घरें आयो।

मुसायबजी जोधपुर आया । जोधाणनाथ आगै बीकाणनाथ रै न्याव री घणी सोमा करी।

भगवान महावीर की जनमभूमि क्षत्रियकुण्ड

अनादि अनन्तकाल के प्रवर्त्तमान कालचक्र में वर्त्तमान में अवसर्पिणी का पांचवा आरा है। प्रत्येक कालचक्र में उत्सर्पिणी - अवसर्पिणी काल होता है । जम्बुद्वीप के भरतक्षेत्र में निवास करते हैं जिसमें प्रत्येक काल के मध्य में चौबीस तीर्थंकर सर्वोच्च महापुरूष होते हैं जो लोक के अनन्त जीवों के महान उपकारी और मोक्ष मार्ग के प्रकाशक, भवसमुद्र से तारक होते हैं। इस काल की चौवीसी में भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर हुए हैं जिनमें नेमिनाथ, पार्खनाथ और महावीर स्वामी को ऐतिहासिक महापुरुष होना इतिहासज्ञों को भी स्वीकार्य है। शास्त्री में सदकी पंचकल्याणक तिथियां और च्यदन, जन्न, दीक्षा, कैवल्य और निर्वाण स्थान बतलाये हैं जो तीर्थ रूप में मानने की प्राचीनतम परम्परा है। शास्त्रों में विराट वर्णन होते हुए भी मध्यकालीन देश की अव्यवस्था ने उन्हें भुला दिया है। जैन परम्परा में तीर्थयात्रा की परम्परा के कारण उससे सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद नहीं हुआ परन्तु बौद्ध स्थान तो सर्वथा विस्मृत हो गये थे, जिन्हें पाञ्चात्य विद्वानों ने अपनी शोधदृष्टि से प्रकाशित किया। एक नाम के कई नगर गाँव प्राचीनकाल में थे और आज भी पाये जाते हैं। नाम साम्य से वे भी म्रान्त हो गए और अपनी शोध की सत्यता प्रमाणित करते हए ऐतिहासिक शोध दष्टिविहीन भारतीय जनता को भी अपनी स्थापनाएं मान्य कराने में सफल हो गए। भारतीय मान्यता लोकोक्ति. पौराणिक श्रद्धा पर ही अवलम्बित थी जबकि पाश्चात्य विदानों की शोधपद्धति माषा-विज्ञान लिपि-विज्ञान और तलनात्मक अध्ययन पर आधारित होने से निष्ठामूलक थी। इन पारचात्य विद्वानों से प्रभावित होकर कतिपय भारतीय विद्वान और जैनाचार्य तक उनका समर्थन करने लग गये । पाइचात्य शोध के भ्रम ने भगवान महावीर के जन्म-स्थान, कैवल्य स्थान और निर्वाणस्थान को भी सन्दिग्ध वतलाने का साहस किया और उन्हें स्थापनातीर्थ होना बतला दिया। श्री कन्हैयालाल सरावगी ने सिटयाँव को, मगवती प्रसाद जी खेतान आदि ने पडरौना को विना किसी प्रातात्विक प्रमाण के ही मगवान की निर्वाणभूमि पावापुरी होना प्रदिशत किया जो बौद्ध साहित्य की गलत समझ और अपनी हठधिमता ही है। मुझे दस वर्ष पूर्व 'महातीर्थ पावापुरी' पुस्तिका लिखकर यथा-शक्ति भ्रान्ति निवारण की चेप्टा करनी पड़ी थी।

भगवान महावीर का जनमस्थान क्षत्रियकुण्ड ग्राम नगर होना प्राचीन जैनागमों से मली-मांति सिद्ध है। पर यह क्षत्रियकुण्ड कौन सा है. किस स्थान पर है यह प्रश्न गत ६०-७० वर्षों से उठा है। दिगम्बर साहित्य में कुण्डपुर के स्थान में कहीं कुण्डलपुर भी लिखा मिलता है जो कि पांचवी शती के यति वृषम और सतरहवीं शती के मराठी कवि चिमण पंडित के अतिरिक्त कहीं नहीं देखा गया। श्वेताम्बर समाज के पास आगम और ऐतिहासिक प्रमाण थे और क्षत्रियकुण्ड को सहस्रा-व्दियों से मानला आया था पर दिगम्बर समाज के जन्म स्थान का कोई तीर्थ न होने से लगभग सी दर्ण पूर्व

नालन्दा के निकटवर्ती स्थान कुण्डलपुर की जन्मस्थान मानकर मन्दिरादि स्थापित किए । वस्तुतः वह भगवान की जन्ममूमि क्षत्रियकुण्ड होना सर्वथा असंमव था क्योंकि उसके निकटवर्ती ब्राह्मणकुण्ड आदि आगमोक्त स्थान न होने से भौगोलिक स्वीकृति भी अप्राप्त थी । इधर अप्रा-माणिक स्थान की अमान्यता और दूसरी ओर पाइचात्यों व कई भारतीय विद्वानों द्वारा वैशाली के वसुकुण्ड को क्षत्रियकुण्ड मान्यता देने से दिगम्बर समाज ने उसे ही मगवान की जन्म मून्मि होने की मान्यता स्वीकार कर ली।

मगधनरेश कोणिक द्वारा वेशाली को नष्ट करने के बाद उसका नाम शेष हो गया था। दिगम्बर साहित्य में कहीं उउजैन को विशाला-जैशाली बतलाया तो तीर्थमालाओं और ज्ञानसार जी के जिनप्रतिमा स्थापित ग्रामादि में बिहार शरीफ को जैशाली, तुंगिया आदि से अभिधार्य किया है। जहां जैशाली अज्ञात थी, क्षत्रियकुंड और जन्मस्थान नाम से उसको प्रकाश में लाने वालों द्वारा प्रचारित किया गया तब लखुवाड़ के निकटवर्ती क्षत्रियकुण्ड को तत्रस्थ जनता जन्मस्थान नाम से शताब्दियों से पहचानतो आई है। मुनिराज श्री दर्शनविजयजी जब सं० १९५७ में वहां गये तो उन्हें जन्मस्थान की ग्रामीणों में प्रसिद्धि के लोक विश्वास का हठीभूत अनुभव हुआ था।

श्वेताम्बर संप्रदाय सेकड़ों वर्षों से मगवान महावीर का जन्मस्थान क्षत्रियकुण्ड जहां मानता है, वहां के समर्थक अनेक साहित्यिक व पुरातात्विक प्रमाण उप-लब्ध हैं। सात सो वर्षों से तो यहां दूर-दूर से श्वेताम्बर यात्री तीर्थयात्र। करते आ रहे हैं जिन के प्रामाणिक उल्लेख प्रचुर परिमाण में संप्राप्त है। आगे जैन तीर्थों की सम्मिलत यात्रा विमा किसी सांप्रदायिक मेद-माव से की जाती थी। सत्तरहवीं शती के दि० ब्रह्म ज्ञानसागर जो काष्टा संघ नंदीतट गच्छा के महारक श्रीभूवण के शिष्य थे. ने अपनी सर्वतीर्धवन्दना में क्षत्रियकुण्ड यात्रां कर जिनभवन की वन्दमां करने का निम्नोक्त वर्णन किया है—

क्षत्रियकुण्ड पवित्र सिद्धारथ नृप सारह त्रिश्चला उर उत्पन्न वर्धमान भव तारह राज्य भीग भद तज्यो मोह पच्छर सवि छंड्यो अंगीकृत तप निविड् मान मकरध्वज दंड्यो क्षत्रियकुण्ड जिनभुवन ने वंदन पातक परिहरे त्रह्म ज्ञान कर जोड़ि कर त्रिकरण शुद्ध वर्दन करे ॥७५।

इवेताम्बर यात्रा विवरण तो बहुत से प्राप्त हैं जो आगे बतलाये जायेंगे । यहां की जो भगवान महावीर स्वामी की प्राचीन प्रतिमाएं पूज्यमान हैं उनमें जन्म-स्थान मन्दिर की प्रतिमा लगभग १५०० वर्ध प्राचीन है। पचास वर्ष पूर्व जब हमने प्रथम वार क्षत्रियकुण्ड की यात्रा की थी तो वहां की धर्मशाला-लखुवाड़ में भगवान की माता त्रिशला महारानी की मूर्ति जिनकी गोद में बालक भगवान महावीर थे व जिस पर प्राचीन गुप्त लिपि का अभिलेख उत्कीणित था, दृष्टिगोचर हुई थी, शीव्रता में न पढ़ सके न हिए लेने का ही साधन था । कुछ महीनों वाद जब हमारे मित्र श्री ताजमलजी बोथरा यात्रार्थ आये तो उन्हें प्रतिमा कलकत्ता लाने को कहा पर वह मूर्ति सुरक्षित न रही, गायद हो चुकी थी । इस तीर्थमुमि जो जमुइ-नवादा रोड पर स्थित सिकन्दरा से दो मील दूर लघुवाड़ जहां मन्दिर और धर्मशाला है-से तीन मील कुण्ड्याट होकर जाना पड़ता है। नदी के दोनों ओर मन्दिर है जो प्रवचन कल्याणक और दीक्षा कल्याणक के हैं। पहाड उल्लंघन करके जनमस्थान मन्दिर जाना पड़ता है । वहाँ अन्य मार्ग से मोटर मी जाती है ।

कुछ वर्ष पूर्व तक तो उपर्युक्त क्षत्रियकुण्ड की ही भगवान महावीर की च्यवन, जन्म व दीक्षा तील

कल्याणकों की भूमि निर्विवाद रूप में मान्य थी। पर पारचात्य अन्वेषकों ने जब वसाद-प्राचीन वैशाली को खोज निकाला और जेनागमों में भगवान महावीर के लिए प्रयुक्त वैशालिक विदेहदत्त, विदेहजारय शब्द पढ़े तो उन्होंने धारणा बना ली कि भगवान का जनमस्थान वैशाली ही है। इसका समर्थन जैन आचार्य श्री विजयेन्द्र सूरि और मुनि कल्याणविजय जी ने भी कर दिया। इससे अन्य लोगों को भी वैशाली को भगवान महावीर का जन्मस्थान मामने की प्रेरणा मिली। बिहार सरकार ने वैशाली के विकास के लिए काफी प्रयत्न व प्रोत्साहन दिया । वहाँ महावीर जयन्ती विशाल रूप से मनायी जाने लगी । राज्यपाल अणे और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के सान्निध्य में जब जयन्ती मनायी गयी तो पावापुरी से प्रतिमा ले जाकर स्नात्रपूजादि की गई। मैं भी उस उत्सव में सम्मिलित हुआ था। खा योगेन्द्र मिश्र ने वैशाली के उन्नयन में पर्याप्त योगटान दिया । इससे दिगम्बर समाज प्रभावित होकर वहाँ जैन मन्दिर और जैन विद्या शोध संस्थान भवन निर्माणादि में सक्रिय हो गया। दि॰ सवाज मान्य वालन्दा वाला कुण्डलपुर तो अप्रामाणिक था ही अतः उनका वैशाली की ओर झुकाव होना स्वामाविक ही था। पर इवेताम्बर समाज के पास अपने मान्य क्षत्रियकुण्ड (लख्वाड) के सम्बन्ध में काफी प्राचीन परम्परा रही है । इसलिए आचार्य विजयेन्द्रसुरिजी और मुनि कल्यागविजयजी के समर्थन के वावजूद भी उसका झुकाव बैशाली की और नहीं हो सका । मुनिश्री दर्शनविजय जी (त्रिपुटी) ने तो गुजराती में वैशाली जन्मस्थान अमान्य करते हुए रवैताम्बर समाज द्वारा परम्परागत मान्य क्षत्रियकुण्ड की पुष्टि में एक ग्रन्थ भी पैंतीस वर्ष पूर्व लिखकर प्रकाशित कराया। परन्तु खेंद है कि विद्वानों का ध्यान उस ओर नहीं गया और वे पाइबात्य अन्वेजकों के प्रवाह में ही प्रवाहित होते गये।

वर्तमान में कई लोगों द्वारा मगवान महावीर की जन्मभूमि वैश ली किन आधारों पर मानी जाते हैं, उनपर विचार करते हुए वह म० महावीर की जन्मभूमि क्यों नहीं—इस पर प्रकाश डालकर फिर परम्परागत श्वेताम्बर मान्य क्षःत्रियकुण्ड को जन्मस्थान की प्राचीनता और युक्ति पुरस्सर पुष्टि पर विमर्श करना अभीष्ट है।

डा० हर्मन जाकोबी ने भ० महावीर की जन्ममुनि बौद्धों के महावरन सूत्र में बुद्ध के कोटिग्राम पधारने का उल्लेख देख कर कुण्डग्राम को कोटिग्राम बतला दिया। डा० होंनेंस ने कोल्लाम को क्षत्रियकुण्ड वत्तजाय। क्योंकि कोल्लाग का उल्लेख जैन ग्रन्थों में आता है और वैशाली के निकट है। वसुकुण्ड को लोगों ने क्षत्रिय-कुण्ड मानकर उसे भगवान महावीर का जनमस्थान बतला दिया। मुनि कल्याणविजयजी ने वैशाली के एक विभाग को क्षत्रियकुण्ड वतलाया और विजयेन्द्र सुरि जी ने पूर्व मान्यताओं का संज्ञोधन करते हुए वसुकुण्ड को क्षत्रियकुण्ड स्वीकार कर लिया । पर वास्तव में किसी भी बौद्ध या जैन ग्रंथ में वैश ली का उपनगर क्षत्रियकुण्ड या ब्राह्मगकुण्ड था, नहीं बतलाया है । वस्कृण्ड और क्षत्रिय-कुण्ड में भी कोई नाम साम्य नहीं है। अतः ये सभी मान्यताएं मनगढ़न्त, कल्पित और निराधार हैं। कोल्लाग भी कई थे अतः वैशाली के निकटवर्ती कोलुआ को क्षत्रिय-कंड के निकट वाला कोल्लाग ही है यह मान्यता देना भी सही नहीं है।

कलपसूत्रादि प्राचीन प्रामाणिक आगमों से यह भली-मांति सिद्ध है कि क्षत्रियकुण्ड एक स्वतंत्र ग्राम और बड़ा नगर था। वहां के जमालि और प्रियदर्शना (भगवान के बेटी-जंवाई) ने पांच सौ पुरुशों व एक हजार स्त्रियों के साथ दीक्षा ग्रहण की थी। इससे वहां बड़ी मारी जनसंख्या वाली वस्ती होने का प्रबल संकेत मिलता है। कलपसूत्र में भगवान महावीर के पिता और क्षत्रिय-

[२५७

कुण्ड के राजा सिद्धार्थ की राजसमा और समासदों का वर्णन करते हुए लिखा है-अनेक गणनायक, रण्डनायक. राज्येश्वर, तजवर, मांडविक, कोट्रम्बिक मंत्री, महामंत्री, गणक. द्वारपाल. अमाल्य. पीठमर्दक, अंगरक्षक, सेठ, पार्वद, सार्थवाह, दुत, सन्धिपाल आदि, से सिद्धार्थ राजा परिवेष्टित थे। भगवान के नामकरण के प्रसंग में धनधान्य वृद्धि के साथ सामन्त राजा भी वशवतीं हुए लिखा है। इससे क्षत्रियकुण्ड को वैशाली का एक उपविभाग मान लेना किसी भी प्रकार से औचित्य नहीं रखता । वैशाली के समर्थक आचार्य विजयेन्द्रसूरिजी ने भी अपने तीर्थंकर महावीर के पू० ५५ में यह कुण्डपुर वैशाली का उपनगर नहीं था. वरिक एक स्वतंत्र नगर था.' लिखा है। इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ८७ में वैशाली और कुण्डग्राम की दूरी सवा मील थी. लिखा है पर यह सम्भव न्ीं, क्योंकि वैशाली बहुत बढ़ा नगर था उसमें ७७०७ राजाओं का गणतन्त्र परिषद होने के उल्लेख बौद्ध शास्त्रों में स्पष्टतः संप्राप्त हैं। डा० हारनेल ने लिखा है वैशाली के तीन विमाग थे. जिनमें पहले विभाग में सूवर्ण कलश वाले ७०० घर थे. बीच के विभाग में रजत कलश वाले १४००० घर थे और अन्तिम विभाग में ताम्र कलश वाले 2१००० घर थे अतः उसका विस्तार कई मीलों में होगा । इसलिए सवा मील में ही स्वतंत्र क्षत्रियकुण्ड राज्य हो यह सम्भव नहीं । प्र०५५ में उन्होंने ही लिखा है कि 'वैशालिक' नामकरण के कारण भगवान महावीर का जन्म स्थान वैशाली मानना पूर्णतः त्रृटिपूर्ण होगा।

भाषान महावीर के विदेहदत्त. वैशालिक आदि जो विशेषण आगमों में दिये हैं उनके आधार पर विदेह-वर्ती वेशाली भगवान की जन्ममूमि थी यह सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है पर वस्तुतः यह विशेषता भगवान महावीर के निन्हाल के सूत्र हैं क्योंकि भगवान की माता त्रिशला को ही विदेहदिन्ना आदि विशेषण दिये गए हैं पर पिता श्री सिद्धार्थ राजा के लिए नहीं। इसलिए ये विशेषण मातृपक्ष के सूचक हो हैं। ज्ञात-ज्ञातपुत्र, ज्ञातसुत आदि आपके विशेषण पितृपक्ष सूचक हैं। भगवान महावीर की माता वैशाली के उच्चकुलीन लिच्छवी चेटक महाराजा की वहिन थी इसलिए पीहर पक्ष का गौरव माना जाना स्वामाविक ही है। मगधराज श्रेणिक को पटनी चेजना को विदेह-कन्या और उसके पुत्र कोणिक-अजातशत्रु को वैदेही-पुत्र तथा गुप्त वंशी राजा चनद्रगुप्त की पटनी कुमारदेवी को लिच्छवी-जाता, समुद्रगुप्त को लिच्छवी दौहित्र कहा जाता है।

सूत्रकृतांग की टीका में वैशालिक शब्द की टीका करते हुए लिखा है —

विशाला जननी यस्य, विशालं कुलभेव वा। विशालं प्रवचनं चास्य, तेन वैशालिको जिनः॥

अब श्वेताम्बर सम्प्रदाय मान्य वर्त्तमान क्षत्रियकुण्ड के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला जाता है जिसपर विचार कर भगवान महावीर की जन्मभूमि की वास्तविकता का पाठकगण स्वयं निर्णय कर सकेंगे।

क्षत्रियकुण्ड के पास ही ब्राह्मणकुण्ड ग्राम नगर था यह प्राचीन जीनागमों से मली-माँलि सिद्ध है और वर्तमान क्षत्रियकुंड के पास माहणा ग्राम है जो आगमोक्त माहणकुण्ड का ही प्रसिद्ध नाम है। इसी प्रकार भगवान के दीक्षा प्रसंग में लिखा गया है कि इन्होंने मार्गशीर्ष कृष्ण १० को तृतीय प्रहर में ज्ञालखण्डवन में दीक्षा स्वीकार की और कुमारग्राम पधारे। दूसरे दिन प्रातः काल कोल्लाग सन्निवेश में दो दिन के उपवास का पारणा बहुल ब्राह्मण के वहाँ क्षीर से किया। यहाँ से भगवान मोराक सन्निवेश पधारे। आवश्यक निर्युक्ति में कुमारग्राम प्रधारने का उल्लेख इस प्रकार है—

बहिआ य णाय संडे, आपुच्छित्तण नायए सखे। दिवस मुहुत सेसे, कुमार गामं समणुवतो॥मा० १११॥

कुमारग्राम आज भी वर्तमान क्षत्रियकुण्ड के पास लघुवाड़ से तीन मील दूरी पर स्थित है और तीर्थमालाओं से पता चलता है कि वहाँ पर मगवान के प्रथम परिषह स्थान की स्मृति में वृक्ष के नोचे चरणपादुकाएं स्थापित थीं। अभी थोड़े अरसे पूर्व उन चरणों को लाकर लघुवाड़ धर्मशाला में रखा गया सुना है। लघुवाड़ से प्रमील दूर कोनाग ग्रान है जो कोल्लाग का ही अपम्रंश रूप है। कोल्लाग से पूर्व १० मील पर मौरा गांव है। अतः आगमोक्त क्षत्रियमुंड के निकटवर्ती स्थानों की संगति इसी क्षत्रिय-कुण्ड से वरावर देउ जाती है। मुनि दर्शनविजयजी ने लिखा है कि राजधानी के परसण्डा में एक जिन प्रतिमा भी है जिसे लोग अन्य नाम से पूजते हैं।

वर्तमान क्षत्रियकुण्ड के आस-पास कई गांवों में प्राचीन जंन मन्दिर थे जिनका उल्लेख तीर्थमालाओं में पाया जाता है। महादेव-सिमरिया (लघुवाड़ से पूर्व) में पांच जिनालय थे जिनकी प्रतिमाएँ वहाँ के लोगों ने तालाव में डाल दी। यद्यपि आस-पास के गाँवों में काफी जैन अवशेष नष्ट कर दिए गये फिर भी खोज करने पर आज भी मिल सकते हैं।

इस प्रदेश के जैनेतर अधिवासियों में भी भगवान महावीर की जन्मभूमि के प्रति बड़ी श्रद्धा है। सिकन्दरा के डा० भगवानदास कैशरी ने बहुत वर्ग पूर्व वर्तमान क्षत्रियकुण्ड को सिद्ध करते हुए एक लेख प्रकाशित किया था। मैं उनके साथ ३० वर्ण पूर्व कई गाँवों में घूमा था और पुरातत्वावशेष देखे थे। लघुवाड़ में ही जन्मे हुए नरेशचंद्र मिश्र ने 'श्रमण' में 'श्रो महावीर की सच्ची जन्मभूमि' लेख प्रकाशित किया और उसमें वर्तमान क्षत्रियकुण्ड की पुष्टि की। उनका 'वर्द्धमान काव्य' भी 'श्रमण' में सन् १९६ म से ७० तक छपता रहा फिर एक लेख 'क्षत्रियकुण्ड—कल्याणविजय जी का भ्रम' 'श्रमण' में प्रकाशनार्थ लिखा। ता० २३-३-७४ को मननपुर (म्गेर) से उन्होंने मुझे लिखा कि मैं क्षत्रियकुण्ड के संबंध में एक प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थ प्रस्तुत करना चाहता हूँ। कल्पसूत्र में उल्लिखित क्षत्रियकुण्ड के विस्तृत भू-भाग में यत्र-तत्र मिट्टी के बड़े-वड़े स्तूपों का अगर उल्खनन हो तो प्रामाणिक इतिहास लेखन की बहुत सामग्री मिल सकती है। उदाहरणस्वरूप एक स्तूप से अनायास मगवान महावीर की मिट्टी की मूर्ति मिली है जो मेरे पास सुरक्षित है जिस पर अज्ञात लिपि भी है। मेरा यह दावा है कि वैशाली के हिमायतियों ने कोई ऐसा तथ्य अद्यावधि प्रस्तुत नहीं किया है जिसे महत्व दिया जा सके। इतिहास के बड़े-बड़े विद्वानों से मेरी जबर्दस्त टक्कर भी होती रही है और अन्त में उन्होंने मेरे तथ्य को स्वीकार भी किया है।

योगेन्द्र युगप्रधान गुरुदेव श्री सहजानंदघनजी ने क्षत्रियकुण्ड-जन्मस्थान में कई महीनों तक रहकर साधना की। उन्होंने तथा साधक तपस्वी श्री मनमोहनराजजी भणशाली जो वहां काफी समय तक रहे थे ने अपनी अनु-मृतियों से क्षत्रियकुण्ड-जनममृति को सही वतलाया था।

डा० श्यामानंद प्रसाद ने सन् १९७९ में जमुई से एक 'श्रमण भगवान महावीर का जन्म स्थान क्षत्रियकुण्ड ग्राम' पुस्तक प्रकाशित की है इसमें इन्होंने भी क्षत्रियकुण्ड (जमुई) की सप्रमाण पुष्टि की है।

वैशाली भगवान महावीर का निम्हाल और विहार भूमि श्री पर जनमस्थान क्षत्रियकुण्ड वहां नहीं था. क्यों कि किसी भी ग्रन्थ में क्षत्रियकुण्ड और ब्राह्मणकुण्ड को वैशाली का विभाग होना नहीं वतलाया है। अतः केवल वैशालिक-विदेह शब्द और एकाध स्थान के नाम-साम्य के आधार पर उसे जन्मभूमि कह देना सर्वथा अनुचित है। मुनिश्री दर्शन विजयजी महाराज ने अपने 'क्षत्रिय-कुण्ड' ग्रन्थ में विविध प्रकार से सं० २००६ में वैशाली के समर्थक विद्वानों को कई असंगतियां वतलाई हैं जिन्हें विस्तारमय से यहां नहीं लिखा है।

233

वर्तमान क्षत्रियकुण्ड अति प्राचीन स्थान है। कुण्डवाट पर नदी के दोनों ओर दो प्राचीन जिनालय है एवं पहाड़ी पार करने पर जनप्रधान का मन्दिर आता है। जहां सिद्धार्थ राजा का महल था, वर्तमान जन्म-कल्याणक मन्दिर से दो मील लोघापानी में जंगऊ-झाड़ी के बीच उसके खण्डार विद्यमान हैं। यहां के मन्दिरों की ईंटें पनदह सौ वर्ण प्राचीन हैं। प्राचीन काल में क्षत्रियकुण्ड यात्रार्थ जैन यात्री संव समय समय पर विज्ञाल परिमाण में आता रहता था । इस प्रदेश के अधिकारियों के पूर्वज जीन थे एवं भरत चक्रवर्ती के मंत्री श्रीदल के वंशज मंत्रिदलीय-महतियाण जीन जाति इन तीथों की देख-रेख वर बर करतो रहती थी तथा पद्धोसी प्रान्तों में भी प्राचीन जैनजाति सराक (श्रावक) निवास करते थे जो समय-समय पर यात्रार्थ आते थे। यद्यपि प्राचीन साहित्य नष्ट हो जाने से एवं उनकी नकलें करके प्रचारित न रहने से अधिक उल्लेख नहीं पाये जाते फिर भी वहां के ऐतिहा-सिक संघ यात्रा वर्गन जो मिलते हैं वे प्राचीन अविच्छिन परम्परा को ही प्रमाणित करते हैं।

चेत्यवासी परम्परा समाप्त हो जाने से उनका इतिहास भी लुप्त हो गया। सुविहित परम्परा वर्तनान गच्छों का इतिहास भी परवर्ती परम्परा से ही विस्तृत लिखा गया। युगप्रधानाचार्य गुर्वावली एक प्राचीन और अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है जिसमें चौदहवीं शताब्दी तक की घटनाएँ दैनन्दिनी की भाँति सवस्तिए आलेखित मिलती हैं। उसमैं कि सं० १३५२ में लिखा है कलिकाल केवली श्री जिनचन्द्रसूरिजी के उपदेश से वाचक राजशेखर, सुबुद्धिराज, हेमतिलक गणि, पण्यकीति गणि रत्नमंदिर मुनि सहित श्री वखगांव (नालन्दा) में विचरे । वहां के ठक्कुर रत्नप ल सा० चाहुड़ प्रधान श्रावक प्रेषित श्रावक भाई हेमराज बांच सपरिवार सा० वोहित्य पुत्र मूलदेव श्रावक ने श्री कोशाम्बी, वारा-णसी. काकन्दी, राजगृह, पावापुरी, नालन्दा, क्षत्रियकुण्ड ग्राम. अयोध्या, रत्नपुरादि जिन जनम कल्याणकादि पवित्र स्थानों की यात्रा की । उन्हीं श्रावक संघ के साथ समुदाय सहित राजशेखरगणि ने हस्तिनापुर तीर्थादि यात्रा करके राजगृह समीपवर्ती उद्दड़-बिहार (बिहार सरीफ) में चातुर्मास किया, नन्दी महोत्सव, माला-रोपणादि उत्सव सम्पन्न हुए!

सुलतान मुहम्मद बिन तुगलक प्रतिबोधक सुप्रसिद्ध शासन प्रभावक श्री जिनप्रभसूरिजी भी तीर्थमाला स्तव में विधिवत् वन्दना करने का उल्लेख करते हैं । यतः खित्यकुंड गामे पावा नालिंद जंभियग्गामें । एवं उन्होंने चतुराशीति तीर्थ नाम कल्प तथा शत्रुं जय तीर्थकल्प में भी 'कुण्डग्राम' का उल्लेख किया है।

सं० १४३१ में अयोध्या स्थित श्री लोकहिताचार्य के प्रति अणहिलपुर से श्री जिनोदयसूरि प्रेषित विज्ञप्ति-महालेख से विदित होता है कि लोकहिताचार्य जी इसः पूर्व मंत्रिदलीय बंशोद्रमव ठ० चन्द्रांगज सुश्रावक राजदेव आदि के निवेदन से बिहार व राजगृह में विचरे थे। उस समय वहां कई नव्य जिन प्रासादों का निर्माण हुआ था। सूरिजी वहां से ब्राह्मणकुण्ड व क्षत्रियकुण्ड जाकर यात्रा कर आये फिर वापस राजगृह आकर विपुलाचल व वैभारगिरि पर विम्बादि की प्रतिष्ठा कराई।

श्री जिनवर्द्धनसूरि रास (सं० १८८१ रचित) में जनके पांच वर्ष पर्यन्त पूर्व देश में विचरण कर नाना धर्म प्रनावना करने का उल्लेख है. जिसमें पावापुरी, नालन्दा, कुण्डग्राम, काकन्दी तीर्थ की यात्रा का भी वर्णन है। श्री जिनवर्द्धन सूरिजी ने स्वयं सं० १८६७ में पूरवदेश चैत्य परिपाटी की रचना की है जिसमें ब्राह्मणकुंड, क्षत्रिय-कुंड और काकन्दी की यात्रा करने का निम्नोक्त उल्लेख किया है।

पावापुरि नालिंदा गामि, कुंडगामि कायंदीठामि । वीर जिणेसर नयर विहारि, जिणवर वंदइ सवि विस्तारि ॥

२२० ो

श्री जिनवर्द्धन सूरिजी ने पूरब देश चैत्य परिपाटी स्तवन (सं० १४६१-५६) में लिखा है कि—

सिद्ध गुणराय सिद्धतथकुल मंखणं, रुद्दवालिह् दोहरग दृह खंखणं दमणकुंखपुरि थुणस जणरंजणं, सित्तिया कुंख गामंमि वीरंजिणं ॥२२॥

सुप्रसिद्ध विद्वान जयसागरोपाध्याय ने सं० १५२४ में राजगृह में प्रतिष्ठादि कराए जिनके अभिलेख विद्यमान हैं। उन्होंने वहां से जाकर क्षत्रियकुण्ड की भी यात्रा की थी जिसका उल्लेख सं० १५२५ फा० द० ५ जीनपुर में लिखित आवश्यक पृष्पिका व उसी संवत् में लिखित दश्वैकालिक दुन्ते की प्रशस्ति में पाया जाता है।

आचार्य मुनिप्रभसूरि ने अपनी तीर्थमाला में माहण खितय कुंडह गामिहि, राजगृहि पावापुर ठामिह लिखा है। कवि हंससोम ने सं० १५६५ में यात्रा की जिसका वर्णन उन्होंने तीर्थमाला में इस प्रकार किया है—

हक्इ चालिया क्षत्रीकुंड मिन भाव धरीजइ तीस कोस पंथइ गया देवल देखीजइ निरमल कुंड करी सनान घोअति पहिरिजइ दीरनाह वंदी करी महापूज रचीजइ बालपणि क्रीड़ा करी ए. देखी आमली रूंख राय सिद्धारथ तिहाँ घरइ, प्रेषंता गई तिस मुखं 23

दोइ क्रोस पासिइ अछइ. माहणकुंड गाम देवानंदा तणी कृषि अवतरवा ठाम ते पूरइ मुझ मन आस, भावन माबइ गौरड़ी ए। गाइ नितु रास वीरनह निहालतां ए ने प्रतिमा वंदी करी. सारिय सिव काम पांच कोश कार्कद नयर श्री सुविधिह जन्म॥

यहां पर किव ने सिद्धार्थ राजा का महल, आमली क्रोड़ा वृक्ष देखने तथा कुण्ड में स्नान करने का एवं जिन प्रतिमा की महापूजा रचाने का वर्णन किया है। वे राजगृह से ३० कोश चलकर आये थे और यहाँ से पांच कौस सुविधिनाथ मगवान के जन्म कल्याणक तीर्थ काकन्दी जाने का और वहाँ से आते ६० कोश चम्पानगर होने का उल्लेख किया है। इसी तीर्थंमाला में समेत्रशिखर महातीर्थ से २० कोश दूर ऋजुवालुका तट पर जंभीग्राम में भगवान महावीर के केवलज्ञान स्थान में मन्दिर होने का महत्वपूर्ण उल्लेख मी किया है।

श्री विजयदानसूरि के शिष्य श्रीपति के नाम युक्त भयरव कृत तीर्थमाला में अलवर से निकले संघ के वर्णन में पावापुरी से विहार और तुंगिया होकर क्षत्रियकुंड ब्राह्मग्रहुंड बढ़ते जाने का उल्लेख देखिये—

जोइय नगरी तुंगया जिहां थया श्रावक सुविचार श्रीमुख वीर प्रशंसिया. दनेसूर हो समकित धार ॥६१॥ खत्रीकुण्ड सोहामणंउ जिहा जनम्यंउ चरम जिणंद आजंतीरथ नंउ राजियंउ जसु सेवर हो चंउसिठ इन्द ॥६२॥ कोस त्रिणि तिहां थी अछइ, माहणकुंड सुखेत्र सुरसुख भोगवि अवतर्या, तिण वीरह हो कियं ठाम पवित्र ॥६३॥ जिणहर वे निम चालीया, इस नगर जपरी अधकोश जन्ममूमि जिन गुण थुणुं हिंव टलिया बहु मवचा दोष ॥६४॥ काकंदी नगरी कही इक जोअण गांज एक। सुविधिनाथ तिहाँ जनिमया, ते थानक हो थुण्ड धरिय

चउद सहस मुणिवर मला, तिहां माहि प्रशंसह वीर। मदानंदन जोइय धन धन्न हो साहस धीर ॥६६॥

सं० १६०९ में तपागच्छीय पुण्यसागर ने भी इस प्रकार लिखा है—

क्षत्रियकुण्ड सुठाम महावीर जिन जिण रामतिरमइंए । ए चठवीसइ नाम पूरव दिसि जाणी संघ आवइ यात्रा घणाए ॥११४३॥

सं० १६७० में आगरा के लोड़ा कुंअरपाल सोनपाल के यात्री संघ के विवरण में खरतरगच्छीय कवि विनयसागर ने इस प्रकार लिखा है—

खित्रीकुंड सुहामणउ, तिह जनम्या श्री वर्धमान रे। काकंदीपुरि वंदीयइ, श्री सुविधिनाथ जिन माण रे ॥७२॥ संवत १७११-१२ में शीलविजयजी ने पूर्व देश के तीथों की यात्रा की थी जिसका वर्णन उन्होंने बड़ी तोथींमाला में इस प्रकार किया है—

तिहां थी आव्या क्षत्रिकुण्डं. वीरजी वंदु माहण कुण्ड । च्यवन जन्म वीर ना अहिठाण, पावापुरी पाम्या निर्वाण ॥

इसमें क्षत्रियकुण्ड के कल्याणक मंदिरों के अतिरिक्त माहणझुण्ड में भी वोर प्रभु को वन्दन करने का उल्लेख किया है। त्रनागच्छीय विजयदेवसूरि के समय में विजयसागर ने समेतशिखर तीर्श्वमाला में इसप्रकार लिखा है--

खांति खरी खत्रीकुंडनी जाणी जन्म कल्याण हो वीरजी।
चौत्र सुकल तेरसि दिने, यात्रा करी सुप्रमाण हो वीरजी।
मास वसंत विन विस्तरइ, मलयाचल ना वाय हो वीरजी।
वनराजो फूली-फली, पश्मिल पुहवी न माय हो वीरजी।।
मओरिय मचकुंद मीगरा, मरुआ मंजरि वंत हो वीरजी।।
कुसुमकली मिन मोकली. दिमणा दमणा नी जोडि हो वीरजी।।
कुसुमकली मिन मोकली. दिमणा दमणा नी जोडि हो वीरजी।।
तलहटीइं दोय देहरा, पूज्या जिन मिन कोड़ि हो बीरजी।।
सिद्धारथ घर गिरि शिरि तिहां वंदू एक बिंब हो वीरजी।।
विद्वं कौशे बाह्मणकुंड छइ वीरह मूल कुटुंब हो वीरजी।।
पूजिय गिरिथकी जतरचा, गामि कुमारिय जाय हो वीरजी।।
पूथम परीषह चलतरइं, वंद्या वीर ना पाय हो वीरजी।।

इस तीर्श्वभाला में तलहटी में दो मंदिर व जन्म स्थान में एक जिन बिम्ब एवं वहाँ से दो कोश ब्राह्मण-कुण्ड एवं कुनारिय गाँव जाकर जहाँ भगवान का प्रथम उपसर्ग हुआ-चोतरेपर वीर प्रभु के चरणों की वन्दना करने का उल्लेख है। वहाँ से सुविधिनाथ जन्मभूभि काकन्दी ७ कोश तथा विहार से २६ कोश होने का महत्वपूर्ण उल्लेख हैं। सं० १७५० में सौभाग्यविजय रचित तीर्थमाला में इस प्रकार लिखा है—

कोश छबीस विहार थकी चि॰ क्षत्रीकुंड कहेवाय। परवत तलहटियें वसे चि॰ मधुरापुरछे जाय ॥१३॥

कोश दोय परवत गयाँ, चि० माहणकुंख कहे तास । ऋषमदत्त ब्राह्मण तणौं चि० हुतो तिणे ठामे वास ॥१८॥

हिवणां सिह^{ें} तटनी वहैं चि० गाम ठाम नहीं कोय । जीरण श्री जिनराज ना चि० वंदुं देहरा दोय ॥१५॥

तिहां थी परवत ऊपरि चढणा चि० कोश जिसे छे च्यार । गिरि कङ्खें एक देहरीं चि० वीर बिंब सुखकार ।।१६॥

तिहाँ थी क्षत्रियकुंड कहै चि० कौश दोय मूमि होय। देवल पूजीसह वले चि० पिण तिहाँ नवि जाये कोय ॥१७॥

गिरि फरसी ने आवीया चि॰ गाम कोराई नाम। प्रथम परीषह वीर ने चि॰ वड़ तले छे ते ठाम ॥१८॥

तिहाँथी चिहुं कोशे भली चि० काकंदी कहैवाय। धन्नो अणगार ए नगर नो चि० आज काकंदी कहैवाय।।१९॥

सौमाग्यविजयजी ने लिखा है कि विहार से क्षत्रियकुण्ड बीस कोश हैं। वे मथुरापुर-तलहंटी के मार्ग से
दो कोश गये और नदो के दोनों और जो दो प्राचीन
मंदिर हैं. वहां ब्राह्मणकुण्ड और ऋषमदत्त का घर लिखा
है। वहां से पर्वत पर जन्मस्थान के वर्तमान मन्दिर गये
फिर वहां से दो कोश क्षत्रियकुंड (सिद्धार्थराजा का महलजन्मस्थान) लिखा है, वहां कोई नहीं जाता. मन्दिर
के दर्शन करके ही लोग लौट आते हैं। इन्होंने मी
भगवान के प्रथम उपसर्ग स्थान कुमारि गाँव को जिसे
आज कोराई कहते हैं, वड़ के नीचे यात्रा करने का
उल्लेख किया है। यहाँ से काकंदी, जहां का धन्ना
अणगार था, चार कोश बत्तलाया है।

तीर्थमालाओं के उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट है कि गत आठ सो वर्जों की यात्रा के प्रमाण वीरप्रमुं की जन्मभूमि की सहस्राव्दि से चलती आई परम्परा का प्रबल संकेत देती है। वहां का ब्राह्मण कुंड माहणा और कुमारिय कोराई गांव तथा पुरातत्व सामग्री इस बात की साक्षी है। कोलाग आज कोनाग कहलाता है। जिस वैशाली को भगवान महावोर की जन्मभूमि बताया जाता है, वहां न तो पुरातत्व है न परम्परा। बसुकुंड को क्षत्रियकुण्ड बताना किसी प्रकार भी बुद्धिगम्य नहीं है। कोल्लाग सन्निवेश को वैशाली का कोल्हुआ बताते हैं पर कोल्लाग कई थे। अतः सारी बातों पर विचार करने पर मगवान महावीर की जन्मभूमि श्वेताम्वर जैनागम एवं हजारों वर्णों की परम्परा से मान्य क्षत्रियकुण्ड ही प्रनाणित है।

मगवान महावीर की जन्मभूमि वैशाली नहीं थी इसके विषय में एक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रमाण यह कहा जा सकता है कि वैशाली के राजा चेटक का मगध नरेश के णिक के साथ तो महाशिला कण्टक संग्राम हुआ और कुळवालक साधु के माध्यम से मुनिसुद्रत स्तूप मंग कर वैशाली को नष्ट कर वहां गधों से हल चलाने की प्रतिज्ञा पूर्ण की । क्षत्रियकुण्ड को वैशाली का उपनगर मानने वालों की राय में तो वैशाली के साथ क्षत्रियकुण्ड भी नष्ट हो गया क्योंकि यह घटना मगवान के निर्वाण से लगभग दस-पनद्रह वर्ष पूर्व घटित हो चुकी थी और नन्दीवर्द्धन जो भगवान के बड़े श्राता क्षत्रिय-कुण्ड के स्वतन्त्र राजा थे, मगवान के निर्वाणकाल में विद्यमान थे। जब उन्हें भगवान के निर्वाण की सूचना शीष्र ही मिल गई तो उन्होंने प्रतिपदा के दिन उपवास कर लिया और वहिन प्रियदर्शना के द्वारा उन्हें पारणा कराने से माई दूज पर्व प्रसिद्ध हो गया। यदि क्षत्रिय कुण्ड वैशाली का विभाग होता तो न वह वच ही पाता और न इतनी दूर तत्काल खबर ही मिलती जिससे वह उपवास कर लेता। यह बात तो इस परम्परागत क्षत्रियकुण्ड, जो पावापुरी से अधिक दूर नहीं है, की ही समर्थंक है।

एक बात और महत्वपूर्ण है कि भगवान की भाषा अर्द्धमागधी थी जो भगवान की मातुमाषा निश्चित रूप से थी-के आगमादि प्रमाण भरे पड़े हैं। आगम भी उसी भाषा में है। कहीं भी बज्जी भाषा जो विदेह देश की थी उल्लेख नहीं है । अतः यह स्थान आगे कभी मगध में रहा हो किन्तु भाषा तो मगध की ही थी। यदि क्षत्रियकुण्ड कभी विदेह देश की सीमा में भी रहा हो तो भी जनमस्थान वैशाली का उपनगर कभी नहीं हो सकता। वह तो भगवान का ननिहाल था। चेटक महाराजा की सभी पुत्रियां भारत के बड़े-बड़े देशाधिपतियों के यहाँ विवा-हित थीं और भगवान का वंश बहुत जँचा था और इस क्षत्रियकुण्ड के स्वतन्त्र नरेश्वर थे और चेटक की पूत्री भी भगवान के बड़े भ्राता नन्दिवर्द्धन को ब्याही शी। अतः शास्त्रप्रमाण और इतिहास प्रमाण व परम्परा से यही क्षत्रियकुण्ड है । पाश्चात्य विद्वानों के भ्रान्त अन्धा-नुकरण में न जाकर सत्यान्वेषी-सत्यानुगामी बनें।

[२२३

बीकानेर का एक प्राचीन सचित्र विज्ञप्ति-लेख

राजस्थान - भारती के जनवरी १२४७ (वर्ष १ अंक ४) में बीकानेर के एक विशिष्ट सचित्र विज्ञप्तिपत्र का परिचय दिया गया था । वह विज्ञप्तिपत्र सं० १८९८ में अजीमगंज में स्थित खरतरगच्छ आचार्य जिन सौभाग्यसूरिजी को बीकानेर के जैन संघ की ओर से भेजा गया था । अद्यावधि प्राप्त समस्त सचित्र विज्ञप्ति-लेखों में वह सबसे बड़ा है एवं उसमें चित्र भी बड़े सुन्दर एवं कलापूर्ण हैं।

बीकानेर के बड़े उपाश्रय के जिस वृहत् ज्ञान-मंडार में उपरोक्त विज्ञप्तिपत्र था, उस समय तक उसके अति-रिक्त उससे प्राचीन दो और सचित्र विज्ञप्तिपत्र मी इस मंडार में सुरक्षित हैं, यह विदित न हो सका था। क्योंकि ये पत्र विना सूची के बंडलों में बंधे पड़े थे। इधर कुछ वर्षों में उन बंडलों का निरीक्षण करते हुये वे अवलोकन में आये। अतः प्रस्तुत लेख में उनमें से बीकानेर के सचित्र विज्ञप्ति-पत्र का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

प्रस्तुत सचित्र विद्यप्ति-लेख पूर्वप्रकाशित विद्यप्ति-पत्र से बहुत छोटा है अतः स्वामाविकतया चित्रों की संख्या उससे कम है। पर प्राचीनता को दृष्टि से इस लेख का

विशेष महत्व है। यह लेख उसकी अपेक्षा अधिक विद्वत।पूर्ण होने से इसका महत्व और भी बढ़ जाता है। पूर्व प्रकाशित लेख से यह पत्र ९७ वर्ष पूर्व लिखित है अर्थात् वह पत्र १८२८ का था. और यह १८०१ का है। उस पत्र के चित्रकार का नाम नहीं मिला था: इस चित्र में चित्रकार का नाम भी मिल जाता है। यह पत्र खरतरगच्छा के आचार्य जिनभक्तिभूरिजी की सेवा में वीकानेर से राधनपुर मेजा गया था। पूर्व पत्र श्रावक संघ की ओर से मेज! गया था. तब यह यति नन्दलाल के विशेष प्रयत्न से भेजा गया है। श्रावकों के वंदन की तो सूचना मात्र इसमें हैं। यह विज्ञाप्ति-लेख ९ फीट ७।। इंच लंबा और ९ इंच चौड़ा है। जपर का ७।। इंच का भाग विश्कुल खाली है, जिसमें मञ्जलसूचक '॥ श्री ॥' लिखा हुआ है । अवशिष्ट ९ फुट में ५ फुट में चित्र है और 8 फुट में विज्ञ[प्र-लेख लिखा हुआ है। प्रथम चित्रों का विवरण टेकर फिर लेख का विवरण दिया जा रहा है—

सर्व प्रथम नवफन मंखित पार्श्वनाथ जिनालय का चित्र है। जिसके तीन शिखर हैं। ये उत्तुंग शिखर लंब-गोलाकृति हैं। मध्यवर्ती शिखर ध्वज दंड मंखित है। परवर्ती चित्र में सुख-शय्या में सुषुप्त ते शंकर माला और तद्दशित चतुर्दश महास्वप्न तथा अपिर भाग में अप्टमांग लेक चित्र वने हुए हैं। तत्पश्चात् महाराजा का चित्र है जो संभवतः बीकानेर नरेश जोरावरसिंहजी होंगे, जिनका वर्णन विञ्चसिपत्र में नीचे आता है। उनके पृष्ठ माग में अनुचर चंवर बीज रहा है और सन्मुख जाजम पर दो मुसाहिब ढाल लिये वेठे हैं। इसके बाद नगर के चौहटे का संक्षिप्त दश्य दिखाया गया है। चौरास्ते के चारों ओर चार दुकाने हैं जिनमें से तोन रिक्त हैं। अवशेष में पुरानी बीकानेरी पगड़ीधारी व्यापारी बैठे हैं। जिन सबके लम्बी अंगरसी पहनी हुई है। दुकानदारों में लेखधारो, तराजुदारी, व गांधी आदि धन्धे-

वाले दिखाये गये हैं। इसके बाद का चित्र जिन्हें यह विद्यप्ति लेख मेजा गया है उन श्री पूज्य जी 'जिनमिक्त पूरिजी' का है, जो सिंहासन पर विराजमान हैं, पीछे चंवरधारी खड़ा है, श्रीपूज्यजी स्थूल काय हैं। उनके सामने स्थापनाचार्य तथा हाथ में लिखित पत्र है। वे जरी की बूटियोंवाली चहर ओढ़े हुये व्याख्यान देते हुए दिखाये गये हैं। सामने तीन श्रावक, दो साध्वियां व दो श्राविकाएं स्थित हैं। पूठिये पर चित्रकार ने श्रीपूज्यजी का नाम व इस लेख को चित्रित कराने वाले नन्दलाल जी का उल्लेख करते हुये अपना नामोल्लेख इन शब्दों में किया है:

'सबी भट्टारकजी री पूज्य श्री श्री जिनमक्तिजी री है। करावतं व गारकजी श्री श्री नन्दलालजी पठनार्थ ॥दंशा मथेन अखरान जोगीदासीत श्री बीकानेर मध्ये चित्र संजुक्ते ॥ श्री श्री ॥'

उपर्युक्त लेख से चित्रकार जोगीदास का पुत्र अखैराम मथेन था और वीकानेर में ही विद्रद्वर्यं नन्दलालजी की प्रेरणा से ये चित्र वनाये गये सिद्ध हैं। तदनंतर लेख प्रारम्म होता है:

प्रारम्भं के संस्कृत श्लोकों में मंगलाचरण के रूप में आदिनाथ. शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ. नेमिनाथ और महावीर भगवान् की स्तृति एवं वंदना करके १४ श्लोकों में राधनपुर नगर का वर्णन है। फिर प श्लोकों में जिनमिक सूरिजी का वर्णन करके गद्य में उनके साथ पाठक नयमूर्ति, पाठक राजसोम, वाचक पूर्णमिक्ति, माणिक्यसागर, प्रीतसागर, लक्ष्मीविलास, मितविलास, ज्ञानविलास और खेतसी आदि १५ मुनियों के होने का उल्लेख किया गया है, फिर बीकानेर का वर्णन कर महाराजा जोरावर-सिंह का वर्णन के दो श्लोक देकर बीकानेर में स्थित नेमिरंगगणि, दानविशाल, हर्षकलश्च, हेमचन्द्र आदि की

वंदना सूचित करते हुए उभय और के प्रविधिराज के समाराधन पूर्व प्रदत्त व प्राप्त समाचार पत्रों का उल्लेख किया है। तदनन्तर विक्रमपुर के समस्त श्रावकों की वंदना निवेदित करते हुए वहां के प्रधान व्याख्यान में पंचनांग मगवती सूत्र वृत्ति सहित के लघु व्याख्यान में शत्रुंजय महात्म्य के बांचे जाने का निर्देश है। स० १५०१ के मागंशीर्प शुक्ल सप्तभी को लेख तैयार हुआ व मेजा गया है। उपर्युक्त पूरा लेख संस्कृत माणा में है। इसके बाद दो सवैये और दो दोहे हिन्दी में हैं। जिनमें जिनमक्तिसूरिजी का गृण वर्णन करते हुए उनके प्रताप वढ़ाने का आशीर्वाद दिया गया है। दूसरे सवैये में उनके नन्दलाल द्वारा कहे जाने का उल्लेख है।

विज्ञप्ति-लेख टिप्पणाकार है। उसके मुख्य पृष्ठ पर 'वीनती श्री जिनभक्तिसूरिजी महाराज ने चित्रां समेत' लिखा है।

लेख परिचय यहां समाप्त होता है। अब इसमें आये हुए सूरिजी व विदान् मुनियों के नामों से जिनका कुछ विशेष परिचय प्राप्त है उनका विवरण दिया जा रहा है—

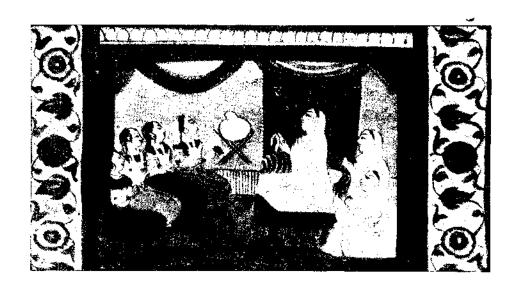
१. जिनमक्तिस्रिजो : ये श्रेष्ठीय गोत्रीय शाह हरचंद की पत्नी हरसुषदे की कुक्षि से इंद्रपालसर में सं० १७७० के ज्येष्ठ सुदी ३ को जरपन्न हुए थे। मूल नाम मीमराज था। सं० १७७९ की माघ सुदी ७ को जिनसुखस्रिजी से आपने दीक्षा ली। दीक्षा नाम मिक्तिक्षेम था। सं० १७५० में रिणी में जिनसुखस्रिजी ने व्याधि जरपन्न होने पर अपना अन्तकाल निकट जान जेठ वदी ३ को इन्हें आचार्य पद दिया। सं० १५०५ जेठ सुदी ४ का कच्छ स्थित मांडवी में आपका स्वर्गवास हुआ। मूझ नगर के अजित जिनालय की आपने प्रतिष्ठा की। प्रीतिसागर आदि आपके कई शिष्य थे, जिनकी परम्परा में अमृतधर्म, क्षमाकल्याण

্ ববর্

अंदि अच्छे विद्वान् हुए हैं। इस परम्परा की विस्तृत नामावली वृहत् ज्ञान-मंखार में प्राप्त है। आ० जिनमिक्ति सूरिजी के स्तवनादि उपलब्ध हैं। ये वहत स्थूलकाय थे। हमारे ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह में आपके परिचयात्मक गीत व चित्र पृ० २५२ पर धपे हैं। अन्य दो चित्र वृहद्ग ज्ञान-भंखार व ऋग्मदेव मन्दिर में लगे हैं। इनके पष्ट्यर जिन ज्ञामसूरिजी अच्छे विद्वान् थे। इनका अध्ययन उ० धर्मवर्द्धन के पास हुआ था।

2, उपाध्याय राजनोम: आप तत्कालीन यत्त्वी में अच्छे विद्वान् थे। आपके रचित 'श्रुतज्ञानपूजा' संस्कृत में और 'जंदररासीं' और कई स्तवन 'आदि राजस्थानी माषा में प्राप्त हैं। उपाध्याय क्षमाकल्यागजी के आप विद्यागुरु थे। इनकी परम्परा की नामावली हमारे ऐति-हासिक जैने काव्य संग्रह के पू० ६३ में दी हुई है।

3. नन्दलाल : ये अच्छे विद्वान् थे। इनके रचितः 'शृंगार-वैराग्य-सरंगिणी वृत्ति', 'अष्टान्हिका व्याख्यान', 'सिद्धान्त रत्नावली व्याख्या', 'गजसिंह चौपाई' आदि प्राप्त हैं। दानविशाल आपके शिष्य थे। 'शृंगार-वेराग्य-तरंगिणी वृत्ति' उन्हीं के आग्रह से दनाई गई थी। आगरा और वंगाल की ओर भी आपने विहार किया था। नन्दलाल आपका दीक्षा से पूर्ववर्ती नाम प्रतीत होता है। दीक्षा नाम नैमिरंग है। इनकी दीक्षा सं० १७५६ फागुन सुदी ७ सोजत में हुई थी। जिनचन्द्रसूरिजी के पास आपने दीक्षा ली थी। इनके गुरु का नाम रत्न-सुन्दर था।



जैन मुनियों के नामान्त पद या निन्दयाँ

अनन्त चतुष्टय विराजित आत्मा अपने विशुद्ध रूप में अरूपी और अनामी है. परन्तु देहधारी होने से उसकी पहचान के लिए नाम स्थापन अनिवार्य है। चार प्रकार के निक्षेपों में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव हैं। ये सत्य माने गये हैं। आदिकाल से नाम रखने की परिपाटी चली आ रही है। भगवान ऋषभदेव की माता के उनके गर्भ में आनेपर देखे वृष्भ स्वप्न के अनुसार उनका नाम ऋषभ रखा गया। चतुर्दश महास्वपनों में प्रथम स्वपन वृषम ही शा। अन्य नाम भी घटनाओं के परिवेश में रखे गये। जैसे महामारी ज्ञान्त होने से ज्ञान्तिनाथ, ऋदि सम्पदा में वृद्धि होने से वर्द्धमान इत्यादि। कुछ नाम प्रकृति से. कुछ संस्कृति से. कछ घटना विशेष से एवं कुछ परम्परागत देश प्रथा आदि से सम्बन्धित होते थे। जन्म समय के ग्रह-नक्षत्रों की अवस्थिति भी इसमें प्राधान्य रखती थी। पाणिनी ने अष्टाध्यायी में नाम व पद आदि का विशद विवेचन किया है। अपने-अपने देश की मापा, धर्म और जातिगत प्रथा कालानुरूप संघ प्रणाली देखते आर्य, मुनि, स्थविर, गणि आदि उपाधि सम्बोधन होता था। पहले जो प्राकृत रूप धेवे उनके संस्कृत रूपों में प्रयुक्त होने लगे। फिर

जब अपभ्रंशकाल आया तो शब्दों का तदनुरूप परिवर्तन हो गया। बोलचाल की भाषा में नागमष्ट-नाहड़, देवभट्ट-देहड़, ताग्भट्ट-बाहड़, त्याग्भट्ट-चाहड़, क्षेमंधर-सीवड़, पृथ्वीधर पेथड़ आदि में उत्तराद्धं का लोप होकर 'इ' प्रत्यय लग गए। 'ण' प्रत्यय भी लगे। जैसे—जसहड़-जाल्हण, आल्हादन-आल्हण, प्रल्हादन-पाल्हण आदि संख्याबद्ध उदाहरण दिये जा सकते हैं। आचार्यों के कक्कसूरि, नन्नसूरि, जिज्जिगसूरि आदि नाम भी अपभ्रंशकाल की देन है।

आज के परिवेश में नाम के आदि पद उपर्युक्त प्रथा के साथ-साथ नामान्त में जैसे राजस्थान में लाल. चंद. राज, मल, दान, सिंह, करण, कुमार आदि प्रचलित हैं वैसे ही गूर्जर देश का ही समझना चाहिए क्योंकि प्राचीन काल में दोनों माषाएं एक ही थी। अब तो अनेक नाम सीमाओं का उल्लंधन कर सार्वत्रिक प्रचलित ही गए हैं। पूर्वकाल में देश-मूषा और नामों से देश क जाति की पहचान हो जाती थी किन्तु आज वह मेद गौण होता जा रहा है, अस्तु।

तीर्थंकर महावीर के समय प्रवर्जित होने पर नाम परिवर्तन की अनिवार्यता नहीं थी। इतिहास साक्षी है कि सभी अपने गृहस्थ नाम से ही पहचाने जाते थे। तब प्रश्न होता है कि गृहस्थावस्था त्यागकर मुनि होने पर नाम परिवर्तन कर नवीन नामकरण कब से और क्यों किया जाने लगा ? इसपर विचार करने से लगता है कि चैत्यवास के गुग से ती यह प्रथा प्रारंभ हुई होगी पर इसका कारण यही मालूम देता है कि गृहत्याग के पश्चात् मुनि जीवन एक तरह से नया जन्म हो जाता है। गृहसम्बन्ध-विच्छेद के लिए वेशपरिवर्तन की मौलि गृहस्थ सम्बन्धी रिश्ते, स्मृतिजन्य भावनाओं को त्याग, मोहपरिहार और वैराग्य-वृद्धि के लिए इस प्रथा की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। श्री आत्मारामजी महाराज ने सम्यक्टव शलयो-

ि२२७

द्धार के पृ० १३ में बतलाया है कि 'पंचवस्तु' नामक ग्रंथ में इस प्रथा का जल्लेख पाया जाता है।

नाम परिवर्त्तन की प्रथा इवैताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित है जो स्थानकवासी तेरापंथी. लौंका कड्आमती के अतिरिक्त मूर्तिपूजक समप्रदाय में तो है ही परन्तु वे लोग स्वामी, ऋषि, मुनि आदि विशेषण मात्र लगा देते हैं। आजकल तो तेरापंथी सनाज में भी नाम परिवर्तन करने की प्रथा कथंचित् प्रचलित हो गई है। दिगम्बर सम्प्रदाय में सागर, मुत्रण, कीत्ति आदि नामान्त पद प्रचलित हैं। यतः शांतिसागर, देशमुषण, महावीर कीत्ति । आनंद नंदी भी विद्यमान है । यतः विद्यानंद. सहजानंद आदि। इनके साथ-साथ चंद और सेन भी गग/ संघ की परिपाटी में प्रचलित है। वर्त्तमान काल में खेताम्बर मृतिपुजक सम्प्रदाय के तपागच्छ में सागर, विजय, विमल और मुनि एवं खरतरगच्छ में सागर व मुनि नाम प्रचलित हैं । पायचंदगच्छ में चन्द्र और अंचल गच्छ में सागर नामान्त पद ही पाये जाते हैं जब कि प्राचीन इतिहास में इनके अतिरिक्त बहु संख्यक नामान्त पद व्यवहत देखने में आते हैं। हमें इस निवन्ध में इन नामान्त पद जिन्हें 'नन्दी' कहा जाता है पर विस्तार से विचार करना है।

इस प्रकार के नाम परिवर्तन की प्रथा भारत और यूरोप आदि देशों के राज्य तन्त्र में तो पायी जाती ही है पर दीक्षान्तर नाम परिवर्तन की प्रथा वेदिक सम्प्रदाय में भी प्राप्त हैं। 'दर्शन प्रकाश' नामक ग्रंथ में संन्यासियों के दस प्रकार के नामों का उल्लेख संप्राप्त है। यत:—

१. गिरी-सदाशिव, २. पर्वत-पुरुष, ३. सागर-शक्ति, ४. वन-रुद्र, ५. अरिण-ऊँकार, ६. तीर्थ-ब्रह्म, ७. आगम-विष्णु, ५. मठ-शिव, ९. पुरी-अक्षर, १०, भारती-परब्रह्म।

'भारत का धार्मिक इतिहास' ग्रन्थ के पृष्ठ १८० में दस नामान्तपद इस प्रकार बतलाये हैं— १. गिरी, २. पुरी, ३. मारती, ४. सागर, ५. आश्रम. ६. पर्वस. ७. तीर्थ, ५. सरस्वती, ९. वन, १०. आचार्य ।

रवेताम्बर जैन ग्रन्थों में नामकरण विधि का सबसे प्राचीन, विशद और स्पष्ट उल्लेख खरतरगच्छ की रुद्र-पक्षीय शाखा के आचार्य श्री वर्द्धमानसूरिजी रचित 'आचार दिनकर' नामक ग्रन्थ में विस्तार के साथ भिलता है जो वि० सं० १४६८ का० सु० १५ जालन्धर देश पंजाब के नन्दवनपुर (नांदौन) में विरचित है। इसमें नाम परिवर्तन का कारण बतलाते हु। लिखा है कि—

पूर्वंहि जैन साधुत्वे सूरिस्वेपि समागते।
न नाम्नां परिवर्तोभूनमुनीनां मोक्ष गामितां।। ६॥
साम्प्रतं गच्छ संयोगः क्रियते वृद्धि हेतवे।
महा स्नेहायायुषे च लामाय गुरु शिष्ययोः॥ ७॥
ततस्तेन कारणेन नाम राश्यनुसारतः।
गुरु प्रयानतां नीत्वा विनयेनानुकीर्त्येत्॥ ५॥

नंदी, नाम के पूर्वपद के सम्बन्ध में पृ०३८६ में लिखा है कि—नाम तथा योनि १ वर्ग २ लाभालाभ ३ गण ४ राशि भेद ५ रुद्धं नामं द्रधात्—

नाम स्यात्पूर्वतः साधोः शुभो देव गुणागमैः।
जिन कीत्ति रमा चन्द्र शीलोदय धनैरिप ॥२०॥
विद्या विमल कल्याणे जींव मेघ दिवाकरैंः।
मुनि त्रिभुवनामोजेः सुधा तेजो महानृपैः॥२१॥
दया भाव क्षमा सूरैः सुवर्ण मणि कर्मभिः।
आनन्दानन्त धर्मेश्च जय देवेन्द्र सागरैः॥२२॥
सिद्धि शान्ति लिब्ध बुद्धि सहज ज्ञान दर्शनैः।
चारित्र वीर विजय चारु राम मृगाधिपैः॥२३॥
मही विशाल विबुध विनयै नय संयुतैः।
सर्व प्रबोध रूपैश्च गण मेरु वरे रिप ॥२४॥

जयन्त योग ताराभिः कला पृथ्वी हरि प्रियैः । एतत् प्रमृतिभिःपूर्व पदै स्यादिभिधापुनः ॥२५॥ मृनि नामान्त पदे—

श्राष्ट्र कुम्म शैलाब्धि कुमार प्रमा वस्रमैः। सिंह कुझर देवेश्च दत्त कीत्ति प्रिये रिप ॥२६॥ प्रवरानन्द निधि श्री राज सुन्दर शेखरेः। वर्धना कर हंसैंडच रत्नमेरु समूर्तिभिः॥२७॥ सार मूपण धर्मेश्व केतु पुष्टव पुण्डकैः। ज्ञान दर्शन वीरैश्व पदैरेभि स्तशोत्तरः ॥२८॥ जायन्ते साधु नामानि स्थितैः पूर्वं पदात्परैः । अन्यानि यानि सहज नामानि विदित्तानि च । २९॥ नृणा तान्युत्तम पदै भूषा यदुव्रत दानतः। एवं विदध्यातसुगुरुः साधुनां नाम कीर्त्तनम् ॥३०॥ एतेष्वे व परं स्रिरपदं स्यात्तत्पदागमे । गच्छ स्वभाव संज्ञासु नविभेदोऽभिधानतः ॥३१॥ उपाध्याय वाचनार्यं नामानि खलु साधुवत्। व्रतिनीनां तु नामानि यतिवत्पूर्वगैः पदैः ॥३२॥ सध्वी नाम ।

स्युरुत्तर पदैरेमि रनन्तर सभी रितः।
मितिश्चुलाप्रभा देवी लिब्ध सिद्धिवती मुसैः॥३३॥
प्रवित्तिनो नाम प्येवं नामानि परिकीर्त्तयेत्।
महत्तराणां तेः पूर्वैः सर्वे पूर्व पदै रिप ॥३४॥
श्री रुत्तर पदे कार्या नान्यासु व्रतिनीषु च।
मुनि नामानि सर्वाणि स्त्रिया मादादि योजनात् ॥३५॥
जायन्ते व्रतिनी संज्ञाः श्रान्तेः केश्चिन्महत्तराः।
विशेषान्नदि सेनान्ताः संज्ञास्युजिन कीर्तनम् ॥३६॥
श्रेपा नामानि तुल्यान्युभयो रिप सर्वदा।
विप्राणामिष नामानि बुद्धाईद्विष्णु वेधता ॥३७॥

गणेश कार्तिकेयार्क श्वंद्र शंकर धीमताम्। विद्याधर समुद्रादि कलपद्र जय योगिनाम् ॥३८॥ सामानयुत्तमानां च नामानि परि कलपयेत्। ब्रह्मचारि क्ष्मक्रयो र्न नाम्नां परिवर्त्तनम्॥३९॥

(इसके बाद क्षत्रिय वैश्यादि के नामकरण का उल्लेख सर्व गाथा ४९ तक है।)

मावार्थ सार — प्राचीन काल में साधु एवं सूरिपद कें समय नाम परिवर्तन नहीं होते थे, पर वर्तमान में गच्छ संयोग वृद्धि के हेतु ऐसा किया जाता है। १ योनि २ वर्ग ३ लम्यालम्य ४ गग और ५ राशिमेंद को ध्यान में रखते हुए शुद्ध नाम देना चाहिए। नाम में पूर्व पद एवं उत्तर पद इस प्रकार दो पद होते हैं। उनमें मुनियों के नामों में पूर्व पद निम्नोक्त रखे जा सकते हैं—

१ शुम, २ देव. ३ गुम, ४ अगम, ५ जिन. ६ कीति. ७ रमा (लक्ष्मी), प्र चन्द्र. ९ शील. १० उदय, ११ धन, १२ विद्या. १३ विमल. १४ कल्याण. १५ जित. १६ मेघ. १७ दिवाकर. १८ मुनि. १९ त्रिमुवन, २० अंमीज (कमल). २१ सुधा. २२ तेज. २३ महा. २४ तृप. २५ दया, २६ माव. २७ क्षमा. २८ सूर. २९ सुवर्ण. ३० मणि. ३१ कर्म. ३२ आनंद. ३३ अनन्त. ३४ धर्म. ३५ जय, ३६ देवेन्द्र. ३७ सगर, ३८ सिद्धि. ३९ शान्ति. ४० लब्धि. ४१ बुद्धि. ४२ सहज. ४३ ज्ञान. ४४ दर्शन. ४५ चारित्र. ४६ वीर. ४७ विजय. ४८ चार्र. ४६ राम. ५० सिंह (मृगाधिप), ५१ मही, ५२ विशाल. ५३ विबुध. ५४ विनय. ५५ तय, ५६ सर्व. ५७ प्रवोध. ५८ त्वारा. ६५ कला. ६६ पृथ्वी. ६७ हिर. ६८ प्रया. ६८ तारा. ६५ कला. ६६ पृथ्वी. ६७ हिर. ६८ प्रया.

मुनियों के नाम के अन्त्य पद ये हैं-

१ शशांक (चन्द्र), २ कुंम, ३ शैल, ४ अब्धि, ५ कुमार. ६ प्रम, ७ वल्लम, ५ सिंह, ९ कुंजर, १० देव, ११ दत्त.

[२२९

१२ कीति. १३ प्रिय. १४ प्रवर, १५ आनंद. १६ निधि. १७ राज. १५ सुन्दर, १९ शेखर, २० वर्द्धन. २१ आकर. २२ हंस, २३ रतन, २४ मेरु. २५ मूर्ति, २६ सार. २७ मूपण, २८ धर्म. २९ केतु (ध्वज), ३० पुण्ड्रक (कमल), ३१ पुञ्चव. ३२ ज्ञान, ३३ दर्शन. ३४ वीर इत्यादि।

सूरि, उप,ध्याय, दाचनाचार्यों के नाम भी साधुवत् समझें । साध्वियों के नामों में पूर्व पद तो मुनियों के समान ही समझें । उत्तर पद इस प्रकार है---

१ मति, २ चूला, ३ प्रमा, ४ देवी, ५ लब्धि, ६ सिद्धिः ७ वती।

प्रवर्तिनी के नाम भी इसी प्रकार हैं। महत्तरा के नामों मैं उत्तर पद 'श्री' रखना चाहिए।

जिनकल्पी का नामान्त पद 'सेन' इतना विशेष

		•
१ अमृत	१५ चंद्र	२९ निवास
२ आकर	१६ चारित्र	३० नंदन
३ आनंद	१७ चित्त	३१ नंदि
४ इंद्र	१५ जय	३२ एदा
५ उदय	१९ थाग	३३ पति
६ कमल	२० तिलक	३४ पाल
७ कल्याण	২१ दर्शन	३५ प्रिय
ণ্ড কলহা	२२ दत्त	३६ प्रबोध
९ कस्रोल	२३ देव	३७ प्रमोद
१० कीति	२४ धर्म	३८ प्रधान
११ कुमार	२५ ध्वज	३९ प्रम
१२ कुशल	२६ धीर	४० भद्र
१३ कुंजर	२७ निधि	४१ भक्त
१४ गणि	२५ निधान	४२ मक्ति

निम्नोक्त नामान्त पदों का भी उल्लेख मात्र मिलता है, पर व्यवहल होते नहीं देखें गये—

कनक, पर्वत, चरित्र, ललित, प्राञ्च, ज्ञान, मुक्ति,

समझना चाहिए। आगे ब्राह्मण क्षत्रियों के नामों के पद भी बताये हैं। विशेष जानने के लिए मूल ग्रन्थ का ४० वाँ उदय (पृ० ३८६-८९) देखना चाहिए।

खरतरगच्छ में इन नामान्त पदों को वर्तमान में नांदि 'या' 'नंदी' कहते हैं और इनकी संख्या चौरासी (५८) बतलायी जाती है जब कि उत्पर नाम ६५ ही दिये हैं। विशेष खोज करने पर हमें बीकानेर में खरतरगच्छीय श्री पूज्य श्री जिनचारित्रसूरिजी के दफ्तर एवं अनेक फुटकर पत्रों में ऐसी ५८ नामान्त पद सूची उपलब्ध हुई पर उन सब में पुनरुक्ति रूप से पाये नामों को बाद देने पर जब ७५ रह गये तो खरतरगच्छा गुर्वावली आदि में प्रयुक्त नामों को अन्वेषण करने पर जो नये नामान्त उपलब्ध हुए जन सब को अक्षरानुक्रम सूची यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं—

४३ भूषग	५७ रंग	७१ सागर
८८ मंडार	५८ लिंध	७२ सार
४५ माणिक्य	५९ लाम	७३ सिधुर
४६ मुनि	६० वर्द्धन	७४ सिंह
४७ मृत्ति	६१ वलम	७५ सुख
८८ मेरू	६२ विजय	७६ सुन्दर
४९ मंडण	६३ विनय	७७ सैन
५० मन्दिर	६४ विमल	७८ सोम
५१ युक्ति	६५ विलास	७९ सीभाग्य
ध्र रथ	६६ विशाल	५० सं ग्रम
५३ रत्न	६७ হীল	८१ ध्रह्म
. ४४ रक्षित	६५ शेखर	५२ हित
५५ राज	६९ समुद्र	फ ३ हेम
५६ रुचि	७० सत्य	58 हंस

दास. गिरि. नंद. मान, प्रीति, छत्र, फण, प्रभद्र. तिथ, हिंस. गज. लक्ष्य. वर धर. सूर, सुकाल, मोह, क्षेम. वीर (खरतरगच्छ में नहीं). तुंग (अंचल गच्छ में)। इनमें

से कई पदनाम के पूर्वपद रूप में अवश्य व्यवहत हैं।

इसी प्रकार साध्वियों की निन्दियें (नामान्त पद) भी ५४ ही कही जाती हैं पर उनकी सूची अद्यावधि कहीं भी हमारे अवलोकन में नहीं आई। हमने प्राचीन ग्रंथों, पत्रों, टिप्पणकों आदि से इतने नामान्त पद प्राप्त किये हैं—

१ श्री, २ माला. ३ चूला. ४ वती, ५ मित, ६ प्रमा. ७ लक्ष्मी, ५ सुन्दरी, ९ सिद्धि, १० निद्धि, ११ वृद्धि, १२ समृद्धि, १३ वृष्टि, १४ दर्शना, १५ धर्मा, १६ मंजरी, १७ देवी, १५ श्रिया, १९ शोभा, २० वल्ली, २१ ऋदि, २२ सेना, २३ शिक्षा, २५ रु.चि, २५ शीला, २६ विजया, २७ महिमा, २५ चिन्द्रका।

अव दिगम्बर सम्प्रदाय एवं खरतरगच्छ के अति-रिक्त श्वेताम्बरीय गच्छों में कितने ही मुनि नामान्त-पदों का उल्लेख देखने में आया है. उनका विवरण भी यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

दिगम्बर—

नंदि, चन्द्र, कीर्त्ति, मूषण—ये प्रायः नन्दि संघ के मुनियों के नामान्त पद हैं। सेन, भद्र, राज, वीर्य—ये प्रायः सेन संघ के मुनि नामान्त पद हैं। (विद्वह्रस्तमाला, पृ०१८)

उपकेश गच्छ की २२ शाखाएँ—

१ सुन्दर, २ प्रम, ३ कनक. ४ मेरू. ५ सार. ६ चंद्र. ७ सागर, फ हंस. ९ तिलक, १० कलझ, ११ रत्न, १२ समुद्र, १३ कल्लोल. १४ रंग, १५ शिखर, १६ विशाल. १७ राज. १८ कुमार, १९ देव, २० आनंद, २१ आदित्य, २२ कुंम। (उपकेश गच्छ पट्टावली, जेन साहित्य संशोधक)

उपर्युक्त नन्दी सूचियों से स्पष्ट है कि कहीं-कहीं दिगम्बर विद्वान यह समझने की भूल कर बैठते हैं कि भूषण, सेन, कीति आदि नामान्त पद दिगम्बर मुनियों के ही हैं. वह ठीक नहीं है। इन सभी नामान्त पदों का व्यवहार स्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी हुआ है।

नाम परिवर्त्तन में प्रायः यह ध्यान रखा जाता है कि मुनि की राशि उसके पूर्व नाम की ही रहे। बहुत से स्थानों में प्रथमाक्षर भी वहीं रखा जाता है। जैसे— सुखलाल का दीक्षित नाम सुखलाम, राजमल का नाम राजसुन्दर, रत्नसुन्दर आदि।

तपागच्छ-

श्री लक्ष्मीसागर सूरि (सं० १५०५-१७) के मुनियों के नामान्त पद—तिलक. विवेक. रुचि. राज. सहज. मूषण. कल्याण. श्रुत. शीति, श्रीति, मूर्ति, प्रमोद. आनन्द, नंदि, साधु. रत्न. मंख्य. नंदन, वर्द्धन. ज्ञान. दर्शन, प्रम, लाम. धर्म. सोम, संयम, हेन. क्षेम. प्रिय. उदय, माणिक्य. सत्य. जय. विजय, सुन्दर. सार, धीर. वीर. चारित्र. चंद्र. मद्र. समुद्र. शेखर. सागर. सूर. मंगल, शील. कुशल. विमल, कमल, विशाल. देव. शिव. यश, कलश. हर्ष, हंस, ५७ इत्यादि पदान्ताः सहस्रशः । (सोमचारित्र कृत गुरुगुव-रत्नाकर काव्य. द्वितीय सर्ग)

श्री हीरविजयसूरिजी के समुदाय की १८ शाखायें— १ विजय, २ विमल, ३ सागर, ४ चन्द्र, ५ हर्ष. ६ सौभाग्य, ७ सुन्दर, ८ रहन, ९ धर्म, १० हंस, ११ आनंद, १२ वर्द्धन, १३ सोम, १४ रुचि, १५ सार, १६ राज. १७ कुशल, १८ उदय। (ऐतिहासिक सङ्गायमाला, पृ० १०)

खरतरगच्छ की विशेष परिपाटियाँ—

नंदियों के सम्बन्ध की खरतरगच्छ में कतिपय विशेष परिपाटियाँ देखने-जानने में आई हैं जिनसे अनेक महत्त्वपूर्ण वातों का पता चलता है, अतः जनका विवरण यहाँ दिया जाता है।

१ खरतरगच्छ के आदि पुरुष श्री वर्द्धमानसूरि के शिष्य श्री जिनेश्वर सूरिजी पष्टधर आचार्यों के नाम का पूर्व पद "जिन" रुद्ध हो गया है। इसी प्रकार इनके शिष्य संवेगरंगशाला निर्मात। श्री जिनचन्द्र सूरिजी से

ी २३३

चतुर्थं पट्ट पर यही नाम रखे जाने की प्रणाली रुद्ध हो।

२ युगप्रधानाचार्य गुर्वावली से स्पष्ट है कि उस समय सामान्य आचार्य पद के समय, इसी प्रकार 'उपा-ध्याय', 'वाचनाचार्य' पदों के एवं साध्वियों के 'महत्तरा' पद प्रदान के समय भी कभी कभी नाम परिवर्तन अर्थात् नवीन नामकरण होता था!

३ तपागच्छादि में गुरु-शिष्य का नामान्त पद एक ही देखा जाता है. पर खरतरगच्छ में यह परिपाटी नहीं है। गुरु का जो नामान्त पद होगा. वही पद शिष्य के लिये नहीं रखे जाने की एक विशेष परिपाटी है। इसमें शान्तिहर्प के शिष्य जिनहर्ष गणि का नाम अपवाद रूप में कहा जा सकता है। भिन्न नन्दी प्रथा अर्थात् गुरु के नामान्त पद भिन्न होने वाले मुनि ने अपने ग्रन्थादि में यदि गच्छा का उल्लेख नहीं किया हो तो उसके खरतर गच्छीय होने की विशेष संभावना की जा सकती है।

४ साध्वयों के नामान्त पद के लिए नं० ३ वाली बात न होकर गुरुणी-शिष्या का नामान्त पद एक ही देखा गया है!

ध्र सब मुनियों की दीक्षा पट्टधर गच्छनायक आचार्य के हाथ से ही होती थी । क्वचित् दूर देश आदि में विरा-जने आदि विशेष कारण से अन्य आचार्य महाराज, उपा-ध्यायों आदि विशिष्ट पद स्थित गीताथौँ को आज्ञा देते या वासक्षेप प्रेषण करते तब अन्य भी दीक्षा दे सकते थे। नवदीक्षित मुनियों का नामकरण गच्छनायक आचार्य द्वारा स्थापित नंदी (नामान्तपद) के अनुसार ही होता था।

जपरिवर्गित चौरासी नन्दियों में सर्वाधिक नन्दियों की स्थापना अकवर प्रतिवोधक युगप्रधान श्री जिनचंद्रसूरि जी ने की थी। उनके द्वारा स्थापित 88 नन्दियों की सूची हमने अपने 'युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि' ग्रन्थ के पूर्व २५९ से २६१ में प्रकाशित की है। यह सूची हमें उनके दो विहारपत्रों में संवतानुक्रम से चातुर्मास और विशिष्ट घटनाओं के उल्लेख सहित उपलब्ध हुई थी । दीक्षा समय एक साथ जितने भी मुनियों की दीक्षा हो एन सबका नामान्त पद एक ही रखा जाय यह परिपाटी बहुत ही महत्वपूर्ण है ! इस:पूर्व यह अनि-वार्य नहीं रहा होगा । इस महत्त्वपूर्ण प्रथा से उस समय के अधिकांश मुनियों की दीक्षा का अनुक्रम नन्दी अनुक्रम सै प्राप्त हो जाने से हमें तत्काकीन विद्वानों व शिष्टी का इस वैज्ञानिक पद्धति से सम्बादन करने में वही सुविधा हो गई थी जैसे-गुणविनय और समयसुन्दर दोनों समकाल न मूर्धन्य विद्वान थे पर दीक्षा पर्याय में कौन छोटा-बड़ा था यह जानने के लिए नन्दी अनुक्रम का सहारा परम उपयोगी सिद्ध हुआ । इसके अनुसार हम कह सकते हैं कि गुणविनय की दीक्षा प्रथम हुई थी क्योंकि उनकी 'विनय' नन्दी का क्रमाष्ट्र ५ वां है और 'सुन्दर' नन्दी का क्रमाञ्च २० वां है।

उपर्युक्त नन्दी प्रथा से आकृष्ट हो कर हमने विकीण पत्रों में, पृष्ठे ट्टिप्पणिका, हर्ष टिप्पणिका आदि में इसकी विशेष शोध की । श्री पूज्यों के दफ्तर तो इसके विशेष आकर हैं । पीछे के दफ्तरों को देखने से पता चलता है कि एक नंदी (नामान्त पर) एक साथ दीक्षित मुनियों के लिए एक ही बार टयवहृत न हो कर कई वार दीक्षाएँ दिये जाने पर चलती रहती थी । अर्थात् 'चन्द्र' नन्दी चल्लू की और उसमें अधिक दीक्षाएं नहीं हुई तो एक दो वर्ष चल सकती हैं अथवा निधन जैसी दुर्घटना या दीक्षा नाम स्थापन में गुरु-शिष्य के नाम, मुहुर्त्त-राशि आदि प्रतिकृत्व बैठ जाने से नन्दी बदली जाती थी अन्यथा गच्छ नायक की इच्छा और लामा-लाम के हिसाव से लम्बे समय भी चल सकती थी।

६—युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि जी से अब तक तो खरतरगच्छ में एक और विशेष प्रणाली देखी जाती है कि

पट्टधर आचार्य नामान्त पद जो होगाः सर्वप्रथम वही नंदी स्थापित की जायगी। जैसे जिनचंद्र सूरि जी जब पहले मुनियों को दीक्षा देंगे तो उनका नामान्त पद मो अपने नामान्त पदानुसार 'चन्द्र 'ही रखेंगे। उनके प्रथम शिष्य सकलचंद्र गणि थे। इसी प्रकार जिनसुखसूरि पहले 'सुखं नंदी, जिनलाभसूरि 'ठाम' नंदिः जिनमक्तिसूरि 'मिक्त' नंदी ही सर्वप्रथम रखेंगे। अर्थात् नवदीक्षित मुनियों का नामान्त पद सर्वप्रथम वही रखा जायगा। यह प्रथा श्री जिनहर्षसूरिजी से लुप्त हो गई क्योंकि उन्होंने प्रथम 'आनंद' नंदी स्थापित की थी।

७---खरतरगच्छ में समाचारी-मर्यादा प्रवर्तक श्री जिनपतिसूरि जी ने दफ्तर-इतिहास या डायरी रखने की वहूत ही संदर और उपयोगी परिपाटी चलाई थी। ऐसी दफ्तर वही में जिस संवत् मिती को जिन्हें दीक्षित किया एवं सरि पद, उपाध्यायादि पद दिए उनकी पुरी नामावली लिख लेते थे । जहाँ-जहाँ विचरते वहाँ की प्रतिष्ठा, संध-यात्रादि महस्वपूर्ण कार्यो एवं घटनाओं का एटलेख उसमें अवश्य किया जाता एवं विशिष्ट श्रावकों के नाम, परिचय, भक्ति, कार्यादि का विवरण लिखा जाता रहा । जैसलमेर भंडार की प्राचीन सूची में ऐसी auc पत्रों की प्रति होने का उल्लेख देखा था पर वह अनपलब्ध है। खरतरगच्छ अनेक शाखाओं में विभक्त हो गया और वे शाखाएं नाम शेप हो गईं और सामग्री भी नष्ट हो गईं। यदि वे उपलब्ध होतीं तो खरतरगच्छ का ऐसा सर्वांगपूर्ण व्यवस्थित इतिहास तैयार होता जैसा शायद ही किसी गच्छ का हो। भारतीय इतिहास में ये दफ्तर / इतिहास गुर्वावली आदि अत्यन्त मूल्यवान सामग्री हैं। हमें सर्वप्रथम दफ्तर जिसका नाम युगप्रधानाचार्य गुर्वावली है. सं० १३९३ तक का उपलब्ध हुआ । उसके बाद सं० १७०० से वर्त्तमान तक का परवर्ती दफ्तर उपलब्ध है । मध्यकालीन जिनभद्रसूरिजी और यु० प्र० जिनचंद्रसूरि जी के सभय के दफ्तर मिल जाते तो

सर्वांग पूर्ण इतिहास तेयार हो जाता । यदि किसी मंडार में विना सूची के अटाले में सौमाग्यवश मिल जाए तो उसकी पूरी शोध होना आवश्यक है।

सं० १७०० से वर्तमान तक का एक दफ्तर जयपुर गदी के वर्तमान श्रीपूज्य श्री जिनधरणेन्द्रसूरिजी तक का उपलब्ध है जिसमें पुराने दफ्तर का अनेकशः जिक्र है। इसी प्रकार खरतरगच्छ की अन्यान्य शाखाओं के दफ्तर मिल जाएँ तो कितना ।उत्तम हो। बीकानेर श्रीपूज्यों की गद्दी का दफ्तर हमने देखा है एवं आचार्य शाखा की कुछ दीक्षा नंदी सूचियां मिली हैं। अन्य सभी शाखाओं की खो गई-नष्ट हो गई है परन्तु इनमें जो दीक्षित यति-मुनियों की नामावली दी है वह इस प्रकार है—

श्रीमन्न्पति विक्रमादित्य राज्यात् संवत् १७०७ वर्ण शाके १५७२ प्रमिते मासोत्तमे वैशाख मासे शुमे शुक्त पक्षे तृतीयायां तिथौ श्री मज्जेशलमेर मध्ये महारक। श्री जिनस्त्नसुरिमिलीम नंदी कृता ॥

पूर्वनास	दीक्षा नाम	गुरु नाम
मोहण	महिमालाभ	उ० राजविजय गणेः
केशव	कनकलाभ	पदारंग री

श्रीजिताम्

मिती मिगसर सुदि १२ जेसलमेरु मध्ये

डाहा

खेतसी	क्षमालाम	,,	
हैमराज	हर्षलाम	**	
वीदौ	विजयलाभ	٠,	
वस्तौ	विद्यालाम	••	
अमीचंद	उदयलाभ	सुमतिधर्म रौ	
मिती फागुण वदी १ मेंड्तानगरे			
मूपति	मक्तिलाभ	कुशलधीर री	
खेतसी	कुशललाभ	,,	
ठाकुरसी	शांतिलाम	शान्तिहर्ष रो	

टयालाभ

[२३३

सांवल	सुखलाभ	सुमतिरंग रौ
संतोषो	सुमतिलाम	साधुहर्ध रौ
लद्धौ	ਨ¢ ਸੀਲ।ਮ	सहजहर्ष रौ
मिली फागुण सुदि ध	श्री जयतारण मध्ये	
कचरौ	कर्पूरलाभ	उदयहर्ष रौ
उदय चंद	आणंदलाभ	ज्ञानमूर्ति रौ
तोखर	ज्ञानलाम	**
रायसिंह	राजलाभ	राजहर्ध रौ
भावसिंह	भु वनलाम	मतिहर्ध रौ
खेतो	नयनलाम	ज्ञानहर्ष रो
(पूंवालिया ग्रामे)		
मिती वैशास सुदि ३	आगरामध्ये	
जेसिंघ	यशोलाभ	गुणसेन रौ

कान्तिलाभ

जयलाभ

विनयलाभ

कल्याणविजय रौ

महिमाकुमार रौ

विनयप्रमोद रौ

यह दीक्षाएं केवल १ वर्ष में एक ही नन्दी में हुई है। श्री जिनस्त्नसुरिजी श्रीपृज्य आचार्य थे जो पंचमहाव्रतधारी थे । उस जमाने मैं उन्हें 'ਧੁਰਿ' कहते थे । साधु यति, ऋषि, मुनि, श्रमण, निग्रन्थ आदि दस पर्यायवाची शब्द हैं । सं० १७०७ से पूर्व इन्होंने या पूर्ववर्त्ती आचायों ने दीक्षाएं दीं उनकी सुचियां प्राप्त हैं। इससे वे कहाँ-कहाँ विचरे, कहाँ, किसे. किस सम्वत्, मिती, स्थान में दीक्षा दी, गुरु का नाम. गृहस्थावस्था का नाम, दीक्षित नाम आदि अनेक बातों का पता चल जाता है। एक एक नन्दी में दस, बीस, पचास, सत्तर तक दीक्षाएं हुई जिनका प्रामाणिक विवरण ऐसे दफ्तरों में मिलता है। यदि इतिहासकारों के पास ये बहुमूल्य दस्तावेज हों तो उनकी अनेक समस्याएं हरू हो सकती हैं, प्रामाणिक विवरण प्राप्त करने का परिश्रम और समय की बचत हो सकती है और बहुमुख्य प्रामाणिक इतिहास लिखा जा सकता है।

नन्दी या नामान्त पद सम्दन्धी जिन-जिन मर्यादाओं. विधाओं का ऊपर उल्लेख किया है वह सब खरतरगच्छ की श्री जिनमद्रसूरि परम्परा वृहत्-शाखा के दृष्टिकोण से लिखी गई हैं। संभव है इस विशास गच्छ की अनेक शाखाओं में परिपाटी की भिन्नता भी हो। यह शोध विषय-सामग्री की उपलब्धि पर निर्भर है।

वर्तमान में उपयंक्त परिपाटी केवल यति समाज में ही है। जहाँ परम्परा में हजारों यतिजन थे क्रमशः आचारहीन होते गये, क्रियोद्धार करने वाले मुनियों से उनका सम्बन्ध विच्छेद हो गया। यतिजन भी गृहस्थवत् हो गये। मर्यादाएं मरणोन्मुख होती जाने से अब दफ्तर लेखन की प्रणाली नाम शेष हो रही है। खरतरमच्छीय मुनियों में अभी एक शताब्दी से उन प्राचीन परिपाटियों प्रणालियों का व्यवहार बंद हो गया है। अब उनमें केवल 'सागर' नन्दी और श्री मोहनलालजी महाराज के समुदाय में 'मुनि' एवं साध्वयों में 'श्री' नामान्त पद ही छद हो गया है। गुरु-शिष्यों का एक 'नामान्त पद ही जाने से उत्तमा सोष्ठव नहीं रहा। साध्वयों के नाम और दीक्षा आदि का विवरण जयपुर श्री पूज्यजी के दफ्तर में सं० १७५२३ से उपलब्ध है। आधुनिक परिवेश में इतिहास-लेखन परिपाटी परिवर्तन से विश्व खलता आ सकती है।

हमारे ऐतिहासिक परिशीलन में गत पन्नास वर्षों में सरतरगन्छीय इष्टिकोण से जो देखा, अनुभव किया वही ऊपर लिखा गया है। इसी प्रकार अन्य विद्वानों को अन्य गन्छों के नामान्त पद सम्बन्धी विशेष परिपाटियों का अनुसन्धान कर उनपर प्रकाश डालना अपेक्षित है। आशा है इस ओर विद्वद्गण ध्यान देकर इतिहास के बन्द पृथ्वों को खोलने का प्रयास करेंगे।

यह निबन्ध एक संमादित विशद् इतिहास की मूमिका मात्र है जिसके गर्म में सैकड़ों पृष्ठों की महत्वपूर्ण सामग्री छिपी पड़ी है जिसका अनुशीलन-प्रकाशन समयोचित व अपरिहार्य है।

२३४]

कर्मचंद

योधौ

बालचंद

नाहटा-वंदा-प्रशस्तिः

सरस्वतीं नमस्कृत्य गुरुदेवप्रसादतः । वर्गयामि समासेन स्वीयां वंशप्रशस्तिकाम् ॥१॥ अस्त्युवकेशवंशेऽस्मिन् नाहटा-नाम-गोत्रकः । विद्या-वैभव-सम्पन्नो राजते वैक्रमे पुरे ॥२॥ पूरे सरतरे गच्छे क्षत्रियान् परमारजान् । जिनादिबीधयानास दत्तान्तो मुनिसत्तमः ॥३॥ नाहटा-जालसो'-वंशे अर्हद्धर्मानुवर्तकः । तस्मिन्ग्मानमरुलस्य ताराचन्द्रः सुतेऽभवत् ॥४॥ तत्सुतो जेतरूपाख्यो ग्राम-खांदूसर-स्थितः । राज्ञा सम्मानितश्चापि ग्रामलोकेन पूजितः ॥४॥ चत्वारस्तत्सुता आसन् धर्म-कर्म-परायणाः । जदी-नाम्नी सुता जाता नालग्रामे विवाहिता ॥६॥ सुश्रेष्ट्य-दयचन्द्राख्यो राजरूपो द्वितीयकः । देवचन्द्रस्तृतीयश्च बुधमरुलश्चतुर्थकः ॥७॥ ग्वालपाङ्ग-नगर्यां च. गत्वा ह्यदयसंज्ञकः । व्यापारं स्थापयामास तत्र वाणिज्यवृत्तिकः ॥५॥ प्रवासं च विधायेष वर्ष-द्वाविशतिपूर्वकम् । अर्थलामं यशोलामं कृतवान् निजन्नातृयुक् ॥९॥ परयाभवन् त्रयः पुत्राः राजरूपस्य धीनिधेः । लक्ष्मीचनद्रस्तथा दान-मञ्चः शंकरदानकः ॥१९॥ प्रथमोऽस्थान्निजे गेहे दितीयोदयचन्द्रकः । तृतीयो देवचन्द्रस्य गृहेऽभूच्च सुदत्तकः ॥१९॥ स्(११)दाङ्ग(२)न्द्(१)शुमे वर्षे लक्ष्मीचन्द्रो ह्यजायत् । दिष्ठिव्वेक्रमे स्वर्गं चतस्रश्च गताः सुताः ॥१२॥ पन्नाधाः वरावरजी कालीवाईति चामिधा । गोग्रासदिगलान या वै वितत्तार सहस्रशः ॥१३॥ पन्नाधाः वरावरजी कालीवाईति चामिधा । गोग्रासदिगलान या वै वितत्तार सहस्रशः ॥१३॥

शृङ्गाराङ्केन्दु (१९१६) सद्वर्धे जातो वै दानमल्लकः। उदारो धानिकश्चैव स्यातनामा सुकीत्तिसः॥१८॥ स्वनिधिद्रयचन्द्रे (१९९०) च श्रावणे प्रतिपत्तिशौ। क्षमाध्य सकलान भूतान् दिवं यातः समाधिना॥१५॥

भोमसी-मोतीलालाख्यौ देवचन्द्रस्य पुत्रकौ । स्वार्यातौ, गृहीतो वे शंकरदानो दत्तकः ॥१६॥ श्रे ६ठत्रंकरदानस्य गुणानां बृहतीं तितम् । वर्णयित्ं न शक्तिऽहं धीर-वीर-मनस्वनः ॥१७॥ शून्यनेत्राङ्कचन्द्राब्दे (१९३०) ज!तः शंकरदानकः । आजानुवाहु-पुण्यातमा, अङ्गष्ठरसविलकः ॥१८॥ पुनीता चुन्नीवाई च गृहश्री रत्नकुक्षिका । वोश्वरा-सेतसी-पुत्री सौख्यसम्पत्प्रविधिनी ॥१९॥ श्रद्धालुधीमिकः श्रेष्ठी सौम्यो दीर्घविचारकः । परे,पकारलीनात्मा ह्यप्रमादी विशेषतः ॥२०॥ दक्षो व्यापारवाणिज्ये नाष्टीज्ञानविशारदः । ज्योतिर्मेषज्यशास्त्रज्ञः साधुमक्तिपरायणः ॥२१॥ श्रीकृपाचनद्रसुरेर्वे खरतरनमोरवेः । अभयजैनग्रन्थानां माला सन्धिश्चया कृता ॥२२॥ दानमल्लस्य गेहे च चातुर्मास्ये निधापिता । सद्धर्मज्ञानवृद्धयै वे स्वापत्येषु विशेषतः ॥२३॥ एकोनद्विसहस्राब्दे माधशुक्ले चतुर्दशे । त्यक्त्या चतुर्विधाहारं स्वर्यातः शुमभावतः ॥२॥ श्रिष्ठशंकरदानस्य पञ्च पुत्राः सदाशयाः । पुत्रिके च प्रजाते द्वे स्वर्णा-मग्नामिधानिके ॥२५॥ जयेष्ठी मैरवदानोऽमूत् प्रशान्तो नरसत्तमः । देवनिध्नो गुरोर्मकः सर्वलोकस्य सेवकः ॥२६॥

युग्सवाणिकते (१९५२) वर्षे जन्म यस्या महामतेः । मण्डलादि-समाध्यक्ष-भारो व्युदश्च तेन वे ॥२७॥

[२३५

मार्ग (शीर्ष) कृष्णतृतीयायां बाणेन्द्विशतौ तथा । प्रस्थानं कृतवान् स्वर्ग मेरुदानः श्रेप्टिवरः ॥२८॥ शान्तः स्वमयराजश्च विद्याशीलो गुणाप्रणीः । शिक्षा समाज-सेवायां व्यापृतश्च दिवानिशम् ॥२९॥ वाणवाणाञ्चनदाब्दे (१९५५) जन्म यस्य शुमे क्षणे । मधुकृष्णस्य पष्टचां वे मार्या गञ्चा वभूव च ॥३०॥ सप्तसप्तिवेशाखे (१९७७) स्वस्तिथः कृष्णसप्तमो । जाता स्वमयराजस्य चम्पा नाम्नी सुपुत्रिका ॥३१॥

वृत्तीयः शुभराजश्च साहसिक-शिरोमणिः । व्यापारदक्षो वर्चस्वी प्रमादमुक्तः कर्मठः ॥३२॥ वसुवाणनिधौ चन्द्रे (१९५८) मासे मार्गसुशीर्णके । शुक्जपष्ठयां सुवेलायां जनम यस्य महामतेः॥३३॥

युगप्रधान-योगीन्द्र-सहजानन्दगुरोः कृषा । आत्मज्ञानरसास्वादी मक्तिशीलो विशेषतः ॥३८॥ पञ्चपष्टितमेऽब्द आर्रिवनकृष्णे त्रयोदशे । जातो मघासुनक्षत्रे ,चतुर्थो मेघराजकः ॥३६॥ चौरेरपहता यस्य शेशवे स्वर्ण-शृंखला । साहसेनोद्धशृता येन संस्तुतः कोट्टपालकैः ॥३६॥ ऋषि-वसु-निधौ चन्द्रे दानमञ्जस्य दत्तकः । परोपकार-प्रेनी च नानागुणगणान्वितः ॥३७॥ पञ्चमोऽगरचन्द्रो वे धर्मिष्टो ज्ञानवान् महान् । अध्यात्मरससिक्तो यः क्रियाशीलः सतांवरः ॥३५॥

ऋषि-ऋत्वङ्कनदाब्दे (१९६७) चतुथ्यां चैत्रकृष्णके। अग्रचनद्रस्य संजातो बीकानेरे शुभोद्भवः॥३९॥

बहुज्ञी ज्ञानपूतरच लेखने निश्चि वासरे । पुरातत्त्वेतिवृत्तस्य व्यापृतः शोधने तथा ॥४०॥ हिन्द्या च राजस्थान्या च नाना ग्रन्था गवेषिताः।

निवन्धा लिखिता नैकाः सूचीपत्रं विशेषतः ॥४१॥

जिनदत्तप्रमोरण्ट-शताब्द्युत्सव-संगमे । जेनेतिहासरत्नाख्यं विरुद प्राप्नवान् महत् ॥४२॥ अल्यादिगंजेऽखिलविश्वजैनसस्थागत्विज्ञजनैः प्रदत्तः।

यस्ता उपाधिवरणीय एव विद्यादिशोमी किल वारिध्यन्तः ॥४३॥ आरानगर्यां गुणिवर्यमध्ये सम्मानितो यः किल राज्यपातिः । सिद्धान्यक्ते भवने पुराणे सिद्धान्तःप्राचार्यं-पदेन मान्यः ॥४४॥

ग्रन्थाः सम्पादिता येन भूमिकालोचनायुताः । अप्रमत्तः सदा विज्ञो ह्यायान्तः शास्त्रशीलने ॥४५॥ श्रीविक्रनपुराधीशःशाद्र्लिसिह-भूमिपैः । स्थापितं शोधसंस्थानं राजस्थान्यां यशस्करम् ॥४६॥ निदेशकपदं तत्र प्राप्य मान्य प्रशस्तकम् । व्याख्याता लिखिताश्चेव ग्रन्थास्तेन महद्धिकाः ॥४७॥ श्रीवित्रनो मेख्यानस्य रस्तत्रयीव सुतत्रयी । मंवर हर्पचन्द्रश्च विमलचन्द्रकस्तथा ॥४५॥ सत्र सुपुत्रिका जाता पेपा-इचर्ज-संपदः । छोटा वाधू पुन पांची कमलाबाईति सप्तमी ॥४९॥ वसु-दर्शनांके चन्द्रे शुभे आहिवनभासके । अश्लेषायुतद्वादश्यां जनम मंगलवासरे ॥५०॥

श्रेष्ठिनो लक्षिमचन्द्रस्य दत्तको भंवरलालकः । भाषा-लिपि-पुरातत्त्व-कथा-साहित्य-लेखकः ॥५१॥ अग्रचन्दस्य सहायः कार्ये अन्त्रिगतिः पुनः । सम्पादिताः कृता ग्रन्था बहुला वे अनूदिताः ॥५२॥ पुत्रः पार्श्वकुपारोऽमूत् एम० काप० उपाधिकः । द्वितीयः पदाचन्द्रश्च पौत्रः पौत्री तथैव च ॥५३॥

श्रीकान्ता-चन्द्रकान्तेति जाता च पुत्रिकाद्वरी।

सुशील-सुनीलवरौ समीरच राजेशकः ॥५८।

सुतास्तुर्यो हर्षचन्द्रो रुलिताशोकदिलीपाः । प्रदीपाख्यश्चित्रश्चीवी विद्याध्ययनतस्परः॥५५॥ श्रेष्ठिश्रीशुभराजस्य तनसुर्वोऽतिप्रियः । तनयः प्रकाशाभिधः पुत्रिके प्रतिभाष्रभे ॥५६॥

आत्मजौ मेधराजस्य केसरि वंशिलालकौ।
तनसुखः कनिष्ठश्च जाताः पश्च सुताः शुमाः ॥५७॥
मँवरी-सूरज-पृथ्पा-माणकदेवी च निर्मला।
नीलम-प्रेमा-ताराश्च, पौत्र्यः, पौत्रो देवेन्द्रकः ॥५५॥
अग्रचन्द्रमनस्विनः दौ सुतौ पश्च पृत्रिकाः।
धर्मचन्द्रो विजयश्च जयेष्ठी शान्तिश्च कन्यके॥५२॥
किरणसन्तोषकान्ताश्च पौत्रो राजेन्द्रनामकः।

चिरं नन्दतु सद्भंशः नाहटा वटवृक्षवत् ॥६०॥ पुनश्च

बुधमरुरास्य त्रिलोक-तेजकर्णाभिधौ सुतौ । रेखचन्द्रस्तुलारामस्तेजकर्णस्य द्वौ सुतौ ॥६१॥ बालचन्द्रो द्वितीयस्य छगनीनाथीति सूते । सत्पुत्रो बालचन्द्रस्य मनोहरः स्वग्गंतः ॥६२॥ मोहिनी विदुपी पुत्री सद्वैराग्ये च दीक्षिता । पार्खे विचक्षणश्रियश्चनद्रप्रमेति विश्रुता ॥६३॥ शब्दशास्त्र-कोश काव्यजैनागमानां पारगा । शतध्यात्री बोधदात्री शीलालङ्कारमूषिता ॥६८॥

कीर्त्तिजुषो ग्रन्थालयः स्थापितो विश्वविश्रुतः ।

लिखित-मुद्रित-ग्रन्थाः सन्ति यत्रार्धलक्षकाः ॥६५॥

मुद्रा-चित्र-पुरातत्त्व-मुर्तिप्तत्कः 💎 सुसंग्रहः । श्रे.६ठशंकरदानस्य कलामवने प्रदिशालः ॥६६॥ तयोरेव शुभनाम्ना कृतः सुकृतकोपकः । सप्तक्षेत्रे सुपुण्यस्य वृद्धचर्थं सुमहाञ्चयैः ॥६७॥ जलालसरसुग्रामे ग्रामे डाँड्सरे तथा । कारिती सजलौ कूपौ परोपकृतिहेतवे ॥६८॥ ग्रामे जामसरे शुभे धर्मशालापि कारिता । शिक्षालयेम्यरच दत्तो. द्रव्यराशिर्मुहुर्मुहुः ॥६९॥ श्रीजिनकृपाचनदारूय-सूरीनद्रसदुपाश्रये । जीर्णोद्धाराद्विस्तीर्ण व्यारूयानगृहं कारितम् ॥७०॥ ञात्रुखये जिनदत्त-ब्रह्मचर्याह्न आश्रमे । कारितो हॉलः पुण्यार्थं, राजगृहपावापुरे ॥७१॥ नाहटागापाटके । गर्भगृहे आदिनाथप्रभोश्चैत्ये. सुमनोज्ञ संगमर्मरः कारितः ॥७२॥ रजतमयी सदक्षी पुनर्भक्त्यर्थं दौकिता । नान।पुण्यकार्येषु च दत्तमना अहनिशम् ॥७३॥ अमृतसर 'दा' वाटचा रूप्यकाणि सहस्रशः । अन्येष्वपि स्थानेषु च सत्कार्येषु वै दत्तवान् ॥७८॥ मणिसागरोपाध्यायान् सुगुरुनाकार्य पुनः । वर्षा-सुवासद्वयं च कारयामास भक्तितः ॥७५॥ विमलाद्रे रुपत्यकायां श्रद्धया । कारापिता धर्मशाला जैनमवनं विश्रुतम् ॥७६॥ तीर्थराजी

[410:

श्रीजगजीवनाश्रमे कोलायते गृहद्वारं । निर्मितं भूरिदानेन भूरिकीत्तिंशचोपाजिता ॥७७॥ आसामे ग्वालपाटके । कारिता श्रीमहासिंहकोष्टागारिकादि सह ॥७८॥ पार्श्वनाथप्रभोरुचैत्ये कृतमुद्धारप्रतिष्ठाञ्च ध्वस्तालयभूकम्पया । जयचन्द्रोपाध्यायेन दानमल्ले ठाकुरवाडीसम्पत्तिवृत्तिर्मर्यादा च शुभा । कारिता शंकरदानेन स्वयं महत्परिश्रमेः ॥८०॥ खाण्ड्सर-जोधासर-महाजनादिपुराणां । कृत्वा हि राजपुत्राणां साहार्य्य संचित यशः ॥**५**१॥ कालिकातापुर्यो जेन भवने प्रचुरं धनं । इतं गवालपाङ् च औषधालयहेतवे ॥५२॥ अमयग्रन्थमालायां नानाग्रन्थाः प्रकाशिताः । अल्पमूल्याः अमूल्यारच सर्वोपकृति हेतवै ॥५३॥ पुजासंग्रहनामकः । सतीमृगावतीसंज्ञी अभयरतनसारइच विधवाकृत्यतुर्यकः ॥५४। जिनराजभक्त्यादर्शः स्नात्रपूजेति पुस्तिका । मक्तिकर्त्तव्यातमसिद्धि-दर्शनीयमन्दिराह्वाः ॥५५॥ व्धरहाध्यं सत्शोधकं । ऐतिह्यकाव्यसंग्रहो वृतं सोमसंघपतेः ॥८६॥ जिनचन्द्रसूरिवृत्तं श्रीजिनकुराल पुरेर्मणिधारिणश्च पुनः । गुरोजिनत्तसूरेश्चरितं वेदुषीयुतम् ॥५७॥ कुसुनमाला तथेव ग्रन्थाविकः ज्ञानसारः । रत्नपरीक्षा रामाय(णं) काव्यत्रयी जीवदया ॥५५॥ बीकानेर-जेन-लेख-संग्रह-नामको । । त्रिसहस्रलेखात्मको विस्तृतभूमिकायुतः ॥५९॥ ग्रन्थः गुरोः सहजानन्दस्य संकीर्तनं सदुत्तमं । एते स्वकीयसंस्थया ग्रन्थाः सर्वे प्रकाशिताः ॥५०॥ पुनरपि श्रीमद्देव-चन्द्रग्रन्थमाला शुभा । स्थापिता दिशताब्द्यन्ते श्रीजिनमक्तिमावतः ॥९१॥ चौबीसी-वीसी-स्तवारच सार्थाः पंच सुमावनाः । अष्टक-प्रवचनाली सार्थः स्वाध्यायसंग्रहः ॥९२॥ चस्वारश्चरितग्रन्थाः कृतः। बुद्धिमुनिना । बुधेन लब्धि मुनिना काव्यानि च निर्मितानि ॥९३॥ अगरचन्द्रोण कृता बद्धा भँवरलालेन। शार्दूलसंस्थया ग्रन्थाः काले काले प्रकाशिताः ॥९५॥ समाशृङ्गारखद्योतो जसवन्तादिर्मक्तमां(लकः) । राजगृह-कायमरास्रो फेरूप्रन्थावली च ॥९५॥ राजस्थाने हस्तलेखा खण्डद्रये प्रकाशिताः । निर्मिता च प्राचीना काव्यरूपपरम्परा ॥९६॥ जिनराजेण कुसुमाञ्जलिविश्रुता । धर्मवर्द्धन-जिनहर्षः, प्रणीता सीतारामचतुष्पदी ॥९७॥ कविसमयसुन्दर-कृताः रासाञ्च पंचकाः । हम्मीरायण पद्मिनी-पीरदान ग्रन्थावली ॥९८॥ कालिकाता शान्तिचैत्यसार्धं शताब्दिकायां च । स्मारिकेतिवृत्तसरका सम्पादिता ज्ञानप्रदा ॥५९॥ चन्द्रांकनिधिवसुचन्द्रे (१८९१) ग्वालपाडास्थानके।

ब्रह्मपुत्रनदीतीरे सद्द्यापारश्च स्थापितः ॥१००॥

उदय-राजरूपको सुप्रसिद्धो महीतले । पश्चाञ्चापढ़े स्थाने च राजरूपल्झनीचन्द्रौ ॥१०१॥ वसुवाणांकचन्द्राव्दे (१९५८) विपिण स्थापितवन्तौ । पश्चादमयकरणागरचन्द्रनाम्ना पुनः ॥१०२॥ इन्द्रियदर्शनिधिचन्द्रे बोलपुरे वरे । शान्तिनिकेतने शुमे व्यापारालयः स्थापितः ॥१०३॥ एकोनसप्रतिवर्धो कालिकातापुरे वरे । राजरूप मेरूदाननाम्ना व्यापारः स्थापितः ॥१०४॥ शून्यसिद्धचांके चन्द्रे च श्रीहट्टे स्थापना कृता । मेवागरचन्द्रनाम्न शुभफलदायिनः ॥१०४॥ चन्द्रांके बावरहाटे अगरचन्द्र नाहटे । तिनाम्नादतदारी च कृता कर्पटहट्टिका ॥१०६॥ द्विसहस्राब्दे द्वयुत्तरे हाथरसामृतसरश्रीचरकरीमोगंजादिषु व्यापारः स्थापितः ॥१०७॥ मोहमय्यां कलकत्तायां हट्टिकादि व्यापारकः । त्रिपुरे आउट् एजेन्सी संचालिता बृहत्तरा ॥१०५॥ प्रशस्त मालिका एषा सुधीजनसदाग्रहात् । कृता मंवरलालेन गीविणमाषया मुदा ॥१०५॥ त्रयपक्षस्रयुग्माव्दे उयेष्ठ शुक्ल सुवासरे । एकादश्यां विक्रमाख्ये सत्पुरे निमित्ते वरे ॥११०॥

आमन्त्रित शोध निबन्ध

भारतीय संस्कृति ऋौर जैन धर्म-साधना

— डॉ० दामोदर शास्त्री

श्री लालवहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिसी

आर्य सभ्यता के इतिहास पर दिष्टिपात करें तो एक तथ्य प्रकट होता है कि वैचारिक प्रतिद्वंदिता की स्थिति प्राचीन काल से हैं। भारत भूमि दो प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी विचार-धाराओं या संस्कृतियों की संगम-स्थली रही है। ये संस्कृतियां हैं—वैदिक संस्कृति और श्रमण (जैन) संस्कृति!

हड़प्पा व मोहन-जो-दड़ों की सभ्यता के अवशेषों से यह सिद्ध हो गया है कि इस सभ्यता के निर्माता लोग जैन धर्म के आदि तीर्थं कर ऋषभदेव के अनुयायी तथा यौगिक ध्यानादि कियाओं द्वारा आत्म-साधना के उपासक थे। इस संस्कृति के समानान्तर दूसरी संस्कृति थी—वैदिक संस्कृति। वेद में स्थान-स्थान पर वैदिक देवताओं के प्रति की गई प्रार्थनाओं से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि

इस संस्कृति के लोग भौतिक कामनाओं की पृत्ति के लिए देव-शक्तियों पर आश्रित रहने वाले थे, इनके द्वारा यज्ञ में पश्चविल दी जाती थी, इनका जीवन संघर्षमय व अ-सुरक्षा भावना से ग्रस्त था। देनिक जीवन में और शत्रुओं के प्रति व्यवहार में वे पूर्णतः अहिंसक नहीं कहे जा सकते। कहीं कहीं तो इनकी क्रूरता के उदाहरण भी हिंगीचर होते हैं।

ठीक इसके विपरीत, देश में पर्यटनशील बास्य लोगों की परम्परा विद्यमान थी, जो वतनिष्ठ एवं अहिसा धर्म के आराधक थे, जिनका विश्वास आत्म-कल्याण व आत्म-शुद्धि में था। यह परम्परा भी, वहुत सम्भवतः सिन्धु घाटी की सभ्यता के निर्माताओं की तरह, श्रमण संस्कृति की अनुयायी थी।

देवों और असुरों के मध्य हुआ संघर्ष भी एक प्रकार से दो संस्कृतियों या जातियों के मध्य था। विद्वानों का अनुमान है कि असुर राजा प्रायः अहिंसक जैन संस्कृति से सम्बद्ध थे। यह बात और है कि विद्वेष के कारण 'असुर' शब्द को 'हिंसक' का पर्यायवाची बना दिया गया। विष्णुपुराण के अनुसार असुर लोग आहेत धर्म के अनुयायी थे। र उनका अहिंसा में पूर्ण विश्वास था। यह व पशुवलि में उनकी अनास्था थी। अ आद्ध व कर्मकाण्ड के वे विरोधी थे। महाभारत में असुर राजा विल अपने मुख से आत्म-साधना का जो वर्णन करता है वह जैन धर्म के सर्वथा अनुकृत है। ध

जैन संस्कृति के तीर्थंकरों की परम्परा ने भारतीय समाज को समय-समय पर जो सद्ज्ञान दिया, उसका प्रभाव यह हुआ है कि वैदिक संस्कृति में भी अहिंसा धर्म को बहुमान मिलता गया। वीतराग धर्म के प्रति वैदिक

[ै] द्र० अथर्व वेद, २/५/३।

[े] द्र० विष्णु पुराण, ३/१७-१८ ; देवी भागवत ४/१३/५४-५७ ; मत्स्य पुराण, २४/४३-४६ ; पट्म पुराण (सुष्टि खण्ड), १३/१७०-४१३ ।

³ विष्णु पु०, ३/१८/२६ ।

विष्ण पु०, ३/१८/२७-२८।

प विष्णु पुरु, ३/१८/२६-३०।

६ महाभारत (शान्ति पर्व), २२७ अ० (गीता प्रेस)।

संस्कृति के अनुयायी भी आकृष्ट हुए । सम्भवतः प्रारम्भ में उन अनुयायियों के प्रति वैदिक संस्कृति के लोगों के मन में अनादर का भाव रहा है, किन्तु कालान्तर में समन्दय का रास्ता अपना कर उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया गया। दोनों ही संस्कृतियों में परस्पर वैचारिक आदान-प्रदान बढता रहा। फलस्वरूप व्याव-हारिक जीवन के आचार-विचारों की टब्टिसे दोनों संस्कृतियों में मौलिक फर्क कर पाना प्रायः सुश्किल हो जाता है। अहिंसा परम धर्म है, राग-द्वेषादि सांसारिक दुःख के हेतु हैं, मनोविकारों पर विजय तथा शुद्ध आत्म-तत्व की उपलब्धि से सक्ति प्राप्त हो सकती है-इत्यादि बातें दोनों संस्कृतियों में लगभग समान आदर व दढ़ता के साथ स्वीकारी गईं, और यही कारण है कि उपनिषद, रामायण, महाभारत, गीता, पुराण आदि वैदिक संस्कृति के परवर्ती आदरणीय ग्रन्थों में जैन संस्कृति के स्वर स्थल-स्थल पर दृद्धे जा सकते हैं।

अपने उच आदशों के कारण जैन (श्रमण) संस्कृति भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग वन गई। यही कारण है कि वैदिक धर्म की अपेक्षा पुरुषार्थ-कर्त्त व्यता के रूप में जैन धर्म को अधिक आदरणीय स्थान मिला, जिसका प्रमाण निम्नलिखित पद्य है—

श्रोतव्यः सौगतो धर्मः, कर्त्तव्यः पुनरार्हतः। वैदिको व्यवहर्तव्यः, ध्यातव्यः परमः शिवः ॥

यहाँ तक कि भगवान राम को भी एक वैदिक संस्कृति के मन्थ में शांति प्राप्ति हेतु जिनेन्द्र की आत्म-साधना का अनुकरण करने की भावना प्रकट करते हुए वर्णित किया गया है— नाह रामो न मे बांछा, भावेषु च न मे मनः। शांतिमासित्तुमिच्छामि, स्वात्मनीव जिनो यथा॥

वैदिक संस्कृति का प्रारम्भ में लक्ष्य जिस स्वर्ग की प्राप्ति था, उस स्वर्ग का वातावरण भौतिक समृद्धि, कामसुख, भोगलिप्या का प्रतीक होते हुए भी, वासना-अनृष्ठि, अशांति तथा विन्त्वरता से मुक्त नहीं समझा गया और परवर्ती काल में वैदिक संस्कृति का लक्ष्य स्वर्ग के स्थान पर पुण्य-पाप से परे की मुक्त स्थिति हो गया। १० इसी तरह यज्ञ का स्वरूप क्रमशः अहिंसक होता गया और द्वय-यज्ञ' की अपेक्षा 'ज्ञान-यज्ञ' को प्रमुखता मिल गई। ११ यह सब जैन संस्कृति का वैदिक संस्कृति पर प्रभाव ही था।

किन्तु दोनों संस्कृतियों में मुलभूत अन्तर समाप्त हो गया हो ऐसी वात नहीं। संक्षेप में वह अन्तर मूलतः दो बातों में है। जहाँ वैदिक संस्कृति ईश्वर या कियी अलौकिक शक्तिधारी व्यक्ति को इस जगत का कत्तां, हर्ता व नियन्ता मानती है, वहीं जैन संस्कृति, ईश्वर का अस्तित्व मानती हुई भी, ईश्वर के सुष्टिकर्ता-यन का निर्देध करती है और जगत के मुलभूत दो तत्वों--जीव व अजीव में अन्तर्निहित स्वभाव-भूत शक्ति से ही जगत् का नियमन स्वीकारती है। दूसरी बात यह कि जहाँ वैदिक संस्कृति में जिन-देवताओं को पुज्य माना जाता रहा है, उनकी पुज्यता उनकी चमत्कारिक शक्ति, विविध सुख-साधन, ऐश्वर्य तथा व्यावहारिक सामाजिक गुणों आदि पर आधारित है, किन्तु जैन संस्कृति में पूज्यता की कसौटी व्यक्ति की 'वीतरागता' है। वेदों में जिस देव-शक्ति को अलंध्य, दुर्जेय, जगत-विधाता,^{१२} तथा पृथ्वी-रक्षक १३ वता कर स्थल-स्थल पर प्रार्थना आदि

```
    षड्दर्शनसमुच्चय पर मणिभद्रकृत टीका ( पद्य = पर ) ।
```

₹]

[ं] योगवाशिष्ठ (वैराग्य प्रकरण), १५/८।

[ै] ऋग्वेद, १०/१४, ४/५३/२, १०/१२/१।

^१° सुण्डकोपनिषद्, ३/१/३, १/२/७३।

^{११} महाभारत (शान्ति पर्व), १२/२७२; भागवत पुराण, ११/५/११-१३; गीता०, ४/३३।

१२ ऋग्वेद, १०/इ३/६, १०/८२/७, १०/८२/३।

१३ ऋग्वेद, १२/१/१-७ (पृथ्वी सूक्त)।

की गई है, जिस देव समाज का अनुकरण करने की १४ तथा उससे सख्य-भाव 'मैत्री' स्थापित करने की १५ कामना की गई है, उस देव-रामाज का परवर्ती रूप जो व्याख्यात हुआ है वह रागद्धेषयुक्त समाज से भिन्न नहीं। किन्दु जैन संस्कृति में जिन पंच-परमेष्ठियों को पूजनीय देव रूप में आदर प्राप्त है, वे बीतरागता की मृतिं हैं।

भगवान महावीर के समय की परिस्थिति :

भगवान महावीर के समय में वैदिक संस्कृति में जो बुराइयाँ व्याप्त थीं, उनमें जातिप्रया, अस्पृश्यता, उचच-नीच की भावना, आडम्बरपूर्ण धार्मिक क्रिया-काण्ड, अन्ध श्रद्धा आदि प्रमुख थीं। इसके अतिरिक्त बुद्धिजीवी समाज की स्थिति भी सन्तोषप्रद नहीं थी। यद्यपि वैचा-रिक उर्वरता अधिक मात्रा में थी, पर विभिन्न दार्शनिक मतवाद परस्पर-विरोध से स्वयं अप्रतिष्ठित हो रहे थे। १६ भगवान महावीर ने जगत को 'अनेकान्तरिष्ट' दी और अहिंसा को व्यावहारिक जगत के साथ-साथ वैचारिक जगत् में भी प्रतिष्ठित कर दिया। इस प्रकार एक ओर साम्यवाद व परस्पर-मैत्री पर आधारित समाज की रचना तो प्रस्तुत हुई ही, साथ ही दूसरी ओर विविध वैचारिक दिष्टिकोणों को परस्पर अविरोधपूर्वक फलने-फूलने का वातावरण भी तैयार हुआ। फलस्वरूप, भारतवर्ष बौद्धिक व वैचारिक उत्कर्ष को लिए बंजर भूमि न बनकर सर्वदा उर्वर भूमि बना चला आ रहा है।

जैन धर्म व्यवहार्य :

जैन ध[े] ऐसा नहीं है कि जिसका व्यवहार या आचरण सम्भव न हो, बल्कि वह तो आत्मा का स्वाभाविक रूप है। वह 'धर्म' धार्मिक बाह्य क्रियाकाण्डों की अपेक्षा आत्मा की स्वाभाविक स्थिति में निहित है। और वह स्वाभाविक स्थिति उपकी वीतरागता, समता-भाव है। वीतराग स्थिति में पहुँच कर आत्मा स्वयं 'धर्म' का रूप बन जाता है। 'अ संक्षेप में धर्म करने की वस्तु नहीं, विक्त 'जीने की' वस्तु है। धर्म किया नहीं जाता है, वह साधक की स्वाभाविक क्रिया बन जाए, इसी के लिए साधक प्रयवशील रहता है। दूसरे शब्दों में धर्म ऊपर से या बाहर से थोपी जाने वाली चीज नहीं, वह तो स्वयं से उद्भृत होने वाली स्थिति है। चारित्र को आत्मा से जोड़ने से तात्पर्य यह भी है कि धर्म बाहर-भीतर एक है, चिन्तन, और आचार में एकरूपता आवश्यक है। '

जैन धर्म या साधना का आचरण स्वाभाविक रूप से ही किया जाना चाहिए। अर्थात क्षेत्र और काल को तथा साधक की शक्ति को ध्यान में रखकर धर्म-अधर्म के व्यवहार-पक्ष का मान-दण्ड नियत किया जाना उचित है। अन्यथा धर्म किसी व्यक्ति के लिए अस्वाभाविक भी हो सकता है। बालक, वृद्ध, स्वस्थ, रोगी—इन विविध अवस्थाओं में धर्म का एक स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता। १९ किन्दु सभी प्रकार के साधकों को अंत में पहुंचना एक ही स्थिति में है, ऐसी स्थिति जहां धर्म और साधक दोनों एकरूपता प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए अंतिम लक्ष्य तक पहुंचने से पूर्व सारी स्थितियां साधन-मात्र हैं, साध्य नहीं।

अहिंसा-धर्म का स्वरूप:

हिंसा का हेतु हिंसा करने वाले व्यक्ति के मन में बैठा द्वेष और अज्ञान 'मोह' है। रे॰ हिंसा की क्रिया द्विविध

[:

१४ ऋरवेद, १०/१६१/२ ; अथर्व वेद, ५/१६/७ (पेप्पलाद शाखा) ।

१५ ऋखेद, श/८९/२।

^{१६} अन्ययोगव्यबच्छेदिका (हेमचन्द्र), २६।

^{१७} प्रवचनसार, १/६२।

[ं]ट प्रवचनसार, ३/३७; तुलनीय उत्तराध्ययन, २६/५१।

^{१९} प्रवचनसार, ३/३०-३१।

^२॰ प्रवचनसार, २/५७, ८३, ८८, ६६ ।

रूप से होती है। स्व-हिंसा और पर-हिंगा। हिंमा का विचार उठते ही हिंमक व्यक्ति की आत्मा स्वरूपच्युत हो जाती है और वह स्वयं का वध कर जेता है। इसके अनन्तर 'पर-जीव' के प्राणों का घात होता है। कभी-कभी हिंसा का विचार मन में उठकर रह जाता है या पर-जीव का हिंसा का प्रयास सफल नहीं हो पाता— ऐसी स्थिति में भले ही व्यावहारिक रूप से हिंसा न दिखाई पड़े, वैचारिक दृष्टि से हिंसक व्यक्ति की आत्मा की हिंसा तो हो ही गई और हिंसा का फल उस व्यक्ति को मिन्नेगा ही। रें

इस प्रकार हिंसा के दो भेद हैं—अन्तरंग हिंसा, और बहिरंग हिंसा। अधुद्धोपयोग अन्तरंग हिंसा और पर-जीव का आणोच्छेद बहिरंग हिंसा है। किन्तु बहिरंग हिंसा के कम का यन्ध कारक होना या न होना अन्तरंग हिंसा के कम का यन्ध कारक होना या न होना अन्तरंग हिंसा पर निर्भर है। १२ अन्तरंग हिंसा के अभाव में बहिरंग हिंसा का कुफल व्यक्ति को नहीं भोगना पड़ेगा। इसीलिए कहा गया कि यतनापूर्वक (सिमिति) आचरण करने वाले साधक को व्यावहारिक हिंसा के होने पर भी वन्ध नहीं होता, जबिक यतनापूर्वक आचरण न करने वाले को बाह्य हिंसा न होने पर भी, स्वात्म-घात का दोष लगेगा ही। अंतरंग हिंसा के अभाव में विहरंग हिंसा स्वतः अप्रतिष्ठित हो जाएगी।

व्यवहार धर्म और वीतरागता की साधन :

यद्यपि वीतरागता की स्थिति ही साधक का लक्ष्य है, किन्तु वहाँ तक पहुंचने में कई सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती है, मोह, राग और द्वेष के स्तर को क्रमशः भेद कर ही वढना सम्भव है। हिंसा, द्वेष, अपकार आदि कार्य

असुभोपयोग हैं, जिन्हें किसी भी प्रकार उपादेय नहीं समझना चाहिए। इस स्थिति से ही तो ऊपर उठना जैन साधनाकी प्रारम्भिक अवस्था है। वीतरागताकी स्थिति शुद्धोपयोग है जो मोक्ष का साक्षात कारण है और साधना की सीमा है। साधना में विषयराग को छोड़कर स्वधर्म तथा धर्मौपयोगी खाधनों के प्रति अपने को अनुरक्त करना पड़ता है। इस स्थिति में साधक में स्वभावतः पंच-परमेष्ठी आदि में भक्ति का भाव रहता है। जीवों पर दया, अनुकम्पा, करुणा आदि के भाव भी यथासामग्री साधक में उत्पन्न होते हैं। यह सारी स्थिति शुभीपयोग रूप कही 'जाती है। यह शुभोपयोगी स्थिति अशुभो-पयोगी स्थिति की अपेक्षा उपादेय या प्रशस्त कही जा सकती है, किन्तु साधक का कर्त्तंव्य है कि वह इस स्थिति को संसार-वन्ध का कारण समझते हुए शुद्धोपयोग की स्थिति पर पहुंचने के लिए प्रयत्नशील रहे। र शभी-पयोग से भने ही प्रण्य मिलता हो, किन्द्र प्रण्य प्राप्त स्वर्गादि का सुख भी एक दृष्टि से वन्धन ही है। रे४ यदि शभोपयोग की स्थिति भी सम्यक्त्व से आलोकित हो तो परम्परा से मीक्ष प्राप्त होना कहा गया है। २५ शुभोषयोग की स्थिति में यदि मोहग्रस्तता हो तो शुद्धात्म-प्राप्ति असम्भव है।^{२६} इसके विपरीत, शुद्धोपयोग की लक्ष्य कर आगे वढ़ने वाला साधक, शुभोषयोग की प्रवृत्ति करता हुआ भी दोषग्रस्त नहीं होता।

मुनि अवस्था में साधक शुभीपयोग करता हुआ भी अपने संयम का घात न हो—इसका विशेष ख्याल रखता है। १७ साथ ही वह शुभीपयोग को कभी मुख्यता प्रदान नहीं करता, शुद्धोपयोग की तुलना में गौण ही रखता

¥]

^{२१} द्र० प्रवचनसार, २/५७ पर जयसेनाचार्य कृत टीका ; कार्तिकेयानुप्रेक्षा, २/३१ ।

^{२२} प्रयचन सार, ३/१७ पर अमृतचन्द्र कृत टीका ।

^{२३} प्रयचन सार, १/६, १/५, १/१८, ३/५४ पर अमृतचन्द्र कृत टीका।

^{२४} समयसार, ३/१४६ ; प्रवचनसार १/७७)

^{२५} रयणसार, १० ; प्रयचनसार, ३/५५ पर जयसेन कृत टीका ।

^{२६} प्रवचनसार, १/७६।

^{२७} प्रवचनसार, ३/५०।

है। २० प्रशस्त राग की पात्रता-अपात्रता भी फल की अनुकूलता-प्रतिकूलता की 'अलपता-अधिकता' करती है। २० गृहस्थ (सागार) साधक की हिष्ट में शुभोपयोग की दिखति 'अगुभोपयोग की दुलना में' सुख्य रूप से खाह्य है। शुभोपयोग में स्थिरता के अनन्तर ही वह शुद्धोपयोग के प्रति अग्रसर हो सकता है, इसीलिए कुछ विचारक 'सराग चारित्र' को वीतराग चारित्र में साधन मानते हैं। ३० किन्दु सम्यग्दिष्ट जीव अपने पद के अनुरूप पुण्याचरण करता हुआ वीतराग चारित्र में रहता हुआ, असका दिन्य वैभव फल भोगता हुआ भी पुण्याचरण को मोक्ष का साक्षात कारण नहीं मानता, उस प्राप्त वैभव को स्वपद नहीं स्वीकारता।

व्यवहार-धर्म करते हुए भी व्यवहार से ऊपर उठना कैसे सम्भव:

करुणा, अनुकम्पा, दया आदि कार्य प्रशस्त होते हुए भी शुभोपयोग बीतरायता की तुलना में कुछ नीची स्थिति के बोतक हैं। है इसका कारण यह है कि इन कार्यों में 'राग' भाव है जो बन्ध का कारण कहा गया है। है जब कोई व्यक्ति किसी पर दया, करुणा आदि प्रदर्शित करता है तो उसके मन में किसी को दयनीय समझने की, तथा पर-उपकार करने के स्वसामर्थ्य को प्रदर्शित करने की भावना होती है, यह भावना अज्ञानमूलक होती है। इसीलिए, सम्भवतः करुण को मोह का चिह्न बताया गया है। ३३ जब कि सभी जीवों में आत्मा एक जैसी है तो जनमें छोटे-वहे, ऊँच-नीच की भावना लाना— 'अज्ञान' ही कहा जाएगा। ३४ परमार्थतः तो सांसारिक पदार्थ, यहाँ तक कि अपना शरीर भी स्थायी नहीं, अतः उनके आधार पर स्वयं को उच्च तथा दूसरे को नीच समझना असंगत ही है। ३५ इसके अतिरिक्त, दानादि कार्यों में कर्नु त्व-भावना भी त्याज्य है, क्यों कि पारमार्थिक दिंद से कोई द्रव्य किसी 'पर द्रव्य' का कर्त्ता ही नहीं होता। ३६ कोई भी देव या मनुष्य हो, किसी का न तो उपकार कर सकता है और न अपकार ही। ३७ अपने शुभाशुभ कर्म ही अपना शुभ या अशुभ करते हैं। मैं किसी को मारता हूँ या जिलाता हूँ—यह भावनाएँ 'मृहता' हैं। ३८

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अनु-कम्पा, दया, करणा आदि कार्य किए तो जाएँ, ३९ किन्तु ममत्व, कर्तृत्व तथा अहंभावनाओं को निकाल कर ।४९ इसीलिए व्यवहार-धर्म के आचरण के विषय में आचार्यों का निर्देश है कि ये पुण्य-प्राप्ति हेतु न किये जाएँ ।४९ इस निर्देश को ध्यान में रख कर साधक व्यावहारिक धरातल से ऊपर उठता हुआ क्रमशः शुद्धात्म-प्राप्ति के लक्ष्य तक पहुँच जाएगा। निज शुद्धात्मा ही उपादेय है,

```
<sup>२८</sup> प्रवचनसार, ३/५४ पर अमृतचन्द्र कृत टीका ।
```

[4

^{२९} प्रवचनकार, ३/५४ पर जयसेन कृत टीका ।

^{३०} प्रवचनसार, ३/७५ पर जयसेन कृत टीका ; आरमानुशासन, १२२।

^{३१} प्रवचनसार, ३/४५ पर अमृतचन्द्र कृत टीका ।

^{३२} प्रवचनसार, २/८७, ३/४३ ।

^{३३} प्रवचनसार, १/**८५** ।

^{३४} प्रवचनसार, २/२२ ।

^{३५} प्रवचनसार, २/१०१।

[🦥] समयसार, ३/३१ (६६) ; प्रवचनसार, २/६८ ।

³° कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३१६ (१२/३१६)।

^{३८} समयसार, ७/२५०, २५६ ; प्रवचनसार, १/७६ ।

^{३९} उत्तराध्ययन, ६/२ ; पुरुषार्धसिद्धयुपाय, ३० ; सूत्रकृतांग, १/११-१२ ।

४॰ पंचास्तिकाय, १६६; दशवैकालिक, ६/६।

४१ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १२/४०६ ; भावसंग्रह, ४०४ ।

ऐसी श्रद्धा के साथ शुद्धातम-प्राप्ति के अतुकूल चारित्र-पालन करने वाले साधक को मुक्ति मिलती है, अन्यथा प्रशस्त बाह्याचरण तो पुण्यवन्ध का कारण है। जो शुद्धातमा को प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखते, और सर्विविध पुण्यकार्य करते हैं, वे मोक्ष को तो पाते ही नहीं, विक संसार में ही भूमण करते रहते हैं। ४२

स्वरूप में पूर्ण स्थिरता न आने से शुभ राग की रिथित हो भी, तो साधक को चाहिए कि वह निजारम-स्वरूप में विशेष लीनता बनाए रखे। यदि इसमें कमजोरी रही तो उपशम श्रेणी से आरोहण करना होगा, क्षापक श्रेणी से नहीं। ऐसी स्थित में राग का सम्पूर्ण अभाव सम्भव नहीं होगा। अतः पुण्याचरण को भी साधक 'स्व' भाव न समझे, विभाव रूप से ही माने।

साधना करने वाले की अवस्था पर शुभोपयोग की मुख्यता व गौणता समझनी चाहिए। सम्यग्टिक्ट ग्रहत्थ के लिए अशुभोपयोग के त्याग की टिक्ट से शुभोपयोग की सुख्यता है, किन्तु वही शुभोपयोग उच्च स्तर के साधक के लिए, शुद्धारमपरिणति के लक्ष्य की टिक्ट से गौण कहा जाएगा। १४ चहने साधक विषयों से अनुराग छोड़ दे, फिर गुणस्थान-क्रम से बढ़ते-बढ़ते रागादि से रहित शुद्धात्मा में स्थित होता हुआ, अहत् आदि में भक्ति-विषयक राग भी छोड़ दे। ४४

भक्ति-विषयक राग भी छोड़ दे।** ^{४२} भावपाहुड़, ८४ ; समयसार, ३/१**५**३ ।

४३ प्रवचनसार, ३/५४ पर जयसेन कृत टीका ।

^{४४} पंचास्तिकाय, १६७ गाथा पर तात्पर्यवृत्ति टीका ।

४५ प्रवचनलार, २/३७ ; २/४४ पर अमृतचन्द्र कृत टीका ; उत्तराध्ययन, ३६/२।

^{४६} प्रवचनसार, २/३,११; २/६ पर अमृतचन्द्र कृत टीका ।

४७ प्रवचनसार, २/७४-७५।

४८ प्रवचनसार, २/७७-७८ ; पंचास्तिकाय, **६५** ।

४९ प्रवचनसार, २/६५ पर अमृतचन्द्र **कृत टी**का ।

^५° प्रवचनसार, १/१६, १/१५; पंचास्तिकाय, २६,१७२।

भै १ प्रवचनसार, १/३२ ।

🤫 प्रवचनसार, १/३१ पर आधारित जयसेन कृत टीका।

५३ प्रवचनसार, १/८९।

५४ समाधिशतक, ६८; प्रवचनसार, १/१५।

ईश्वर सुष्टिकर्ता नहीं:

यह लोक जीव तथा अजीव का क्रीडा-स्थल है। " दोनों ही तत्व अनादि व अनन्त है। " संतार की प्रक्रिया स्वभावतः होती रहती है। भौतिक जगत छोटे- बड़े पिण्डों का निर्माण व भंग उनमें निहित रूक्ष व स्निग्ध शक्ति पर निर्भर है। " आत्मा के कर्म 'बन्ध' का निर्माण भी पौद्गलिक शक्ति के कारण स्वतः सम्भव होता है। " संसार में जीवों के सुख-दुःख का तारतम्य भी कर्मछत है। " इस प्रकार विश्व की व्यवस्था तत्वों में समाविष्ट नियमों के द्वारा होती है किसी ईश्वरीय शक्ति को नियामक आदि के रूप में मानने की कोई जरूरत नहीं।

जैन हिंदि से स्वयंभु तथा ईश्वर की स्थिति प्रत्येक आत्मा को बीतरागता से प्राप्त हो सकती है। " किन्तु इस स्थिति में आत्मा 'पर-पदार्थी' को न ग्रहण करता है, न छोड़ता है और न उनके रूप में परिणमन करता है, अपित स्वस्वरूपस्थित रहता है। " यद्यपि जैसे दर्पण में घटपटादि-पदार्थ प्रतिविवित होते हैं, वैसे ही व्यावहास्कि हिंदि से केवली के ज्ञान में ज्ञेय पदार्थों की सत्ता है। " ?

इस प्रकार जैन हिंद से ईश्वर संसार का नियासक नहीं। प्रत्येक जीव बीतरागता प्राप्त कर ईश्वरीय महनीय पद प्राप्त कर सकता है। भे संसार के कार्यों में वीतराग की आसक्ति कभी हो ही नहीं सकती। उक्त ईश्वरत्व की शक्ति प्रत्येक आत्मा में निहित है। भे

ξ]

जैन अध्यात्मवादः आधुनिक सन्दर्भ में

— ढॉ० सागरमल जैन श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, वाराणसी

मानव जाति को दुःखों से मुक्त करना ही भगवान महाबीर का प्रमुख लक्ष्य था। उन्होंने इस तथ्य को गहराई से समझने का प्रयत्न किया कि दुःख का मृल किसमें है। इसे स्पष्ट करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि समस्त भौतिक और मानसिक दुःखों का मूल व्यक्ति की कामासक्ति या भोगासक्ति है। वद्यपि भौतिकवाद मनुष्य की कामनाओं की पूर्ति के द्वारा दुःखों के निवारण का प्रयत्न करता है किन्तु वह उस कारण का उच्छेद नहीं कर सकता, जिससे दुःख का यह स्रोत प्रस्फुटित होता है। भौतिकवाद के पास मनुष्य की कामासक्ति या तृष्णा को समाप्त करने का कोई उपाय नहीं है। वह हुच्छाओं की पृति के द्वारा मानवीय आकांक्षाओं को परितृष्ठ करना चाहता है किन्तु यह अग्नि में डाले गये घृत के समान उसे परिशान्त करने की अपेक्षा बढ़ाता ही है। उत्तरा-ध्ययन सूत्र में बहुत ही स्पष्टरूप से कहा गया है कि चाहे स्वर्ण और रजत के कैलास के समान असंख्य पर्वत भी खड़े हो जायें किन्तु वे मनुष्य की तृष्णा की पूरा करने में

असमर्थ हैं। र न केवल जैन धर्म अपितु सभी आध्यात्मिक धर्मों ने एकमत से इस तथ्य को स्वीकार किया है कि समस्त दुःखों का मूल कारण आसक्ति, तृष्णा या ममत्व बुद्धि है किन्तु तृष्णा की समाग्नि का उपाय इच्छाओं और आकां-क्षाओं की पूर्ति नहीं है। भौतिकवाद हमें सुख और सुविधा के साधन तो दे सकता है किन्तु वह मनुष्य की आसक्ति या तृष्णा का निराकरण नहीं कर सकता। इस दिशा में उसका प्रयत्न तो टहनियों को काटकर जड़ को सींचने के समान है। जैन आगमों में स्पष्टरूप से कहा गया है कि तृष्णा आकाश के समान अनन्त है, उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है। र यदि हम मानव जाति को स्वार्थ, हिंसा, शोषण, भृष्टाचार एवं तज्जनित दुःखों से मुक्त करना चाहते हैं तो हमें भौतिकवादी दृष्टि का त्थाग करके आध्यात्मिक दृष्टि का विकास करना होगा।

अध्यात्मवाद क्या है १

किन्तु यहाँ हमें यह समझ लेना होगा कि अध्यात्मवाद से हम।रा क्या तात्पर्य है १ अध्यात्म शब्द की व्युत्पत्ति अधि + जात्म से है अर्थात् वह आत्मा की श्रेष्ठता या उच्चता का सूचक है। आचारांग में इसके लिए 'अज्यतं' ४ शब्द का प्रयोग है जो आन्तरिक पवित्रता या अन्तरिक विशुद्धि का सूचक है। जैन धर्म के अनुसार अध्यात्मवाद वह दृष्टि है जो यह बताती है कि भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। दैहिक एवं आर्थिक मुल्यों के परे उच्च मृल्य भी है और इन उच्च मुल्यों की उपलब्धि ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। जैन विचारकों की दृष्टि में अध्यात्मवाद का अर्थ है पदार्थ को परममुल्य न मान कर आत्मा को परम-मुल्य मानना । भौतिकवादी दृष्टि मानवीय दुःख और सुख का आधार वस्तु को मानकर चलती है। उसके अनुसार सुख और दुःख वस्तुगत तथ्य है। भौतिकवादी सखों की लालसा में वस्तुओं के पीछे दौड़ता है और

[e

[ं] उत्तराध्ययन , ३२/६ ।

रे वही, ६/४⊏।

३ वही।

^४ आचारांग, ५/३६, ५/२७।

उनकी उपलब्धि हेतु चोरी, शोषण एवं संग्रह जैसी सामाजिक बुराईयों को जन्म देता है। इसके विपरीत जैन अध्यात्मवाद हमें यह शिखाता है कि सुख और दुःख का केन्द्र वस्तु में न होकर आत्मा में है। जैन दर्शन के अनुसार सुख-दुःख आत्मकृत हैं। " अतः वास्तविक आनन्द की उपलब्धि पदार्थों से न होकर आत्मा से होती है। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्टरूप से कहा गया है कि 'आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कत्ता और भोक्ता है। यही अपना मित्र है और वही अपना शत्रु है, सुप्रतिष्ठित अर्थात सदगुणों में स्थित आत्मा मित्र है और दुष्प्रतिष्ठित अर्थात दुर्गुणों में स्थित आत्मा शत्रु है।' आतुरप्रकरण नामक जैन ग्रन्थ में अध्यात्म का हार्द स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'ज्ञान और दर्शन से युक्त शास्वत आत्म-तत्व ही मेरा है, शेष सभी वाह्य पदार्थ संयोग से उपलब्ध हुए हैं। इसलिए वे मेरे अपने नहीं हैं। इन संयोगजन्य उपलब्धियों को अपना मान लेने या उन पर ममस्व रखने के कारण ही जीव दुःख-परम्परा को प्राप्त होता है अतः उन सायोगिक पदार्थी के प्रति ममत्व भाव का सर्वथा विसर्जन कर देना चाहिए ।' संक्षेप में जैन अध्यात्मवाद के अनुसार देह आदि सभी आत्मेतर पदार्थों के प्रति ममस्य बुद्धि का त्याग ही साधना का मृल उत्स है। वस्तुतः जहाँ अध्यात्मवाद पदार्थ के स्थान पर आत्मा को अपना साध्य मानता है, वहाँ भौतिकवाद में पदार्थ ही परम मुल्य वन जाता है। अध्यात्मवाद में आत्मा ही परम मुल्य होता है। जैन अध्यात्मवाद आत्मोपलब्धि के लिए पदार्थी के प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग आवश्यक मानता है। उसके अनुसार ममता के विसर्जन से ही समता (equanimity) का सर्जन होता है।

जैन अध्यात्मवाद का लक्ष्य आत्मोपलब्धिः

जैनधर्म में ममत्व के विसर्जन को ही आत्मोपलब्धिका एकमात्र उपाय इसलिए माना गया है कि जब तक व्यक्ति में ममत्व बुद्धिया आसक्ति भाव रहता है तब तक

- ^५ उत्तराध्ययन, २०/३७।
- ६ वही।
- ^७ आतुर प्रकरण, **२**६, २७ ।
- ° आचारांग, ५/१०४ ।

क्यक्ति की दृष्टि 'स्व' में नहीं अपितु 'पर' अथांत पदार्थ में केन्द्रित रहती है। वह 'पर' में स्थित होता है। यह पदार्थ केन्द्रित दृष्टि ही या 'पर' में स्थित होना ही भौतिक-वाद का मूल आधार है। जैन दार्शनिकों के अनुसार 'पर' अर्थात आत्मेतर वस्तुओं में अपनत्य का भाव और पदार्थ को परम मूल्य मानना यही भौतिकवाद या मिथ्या दृष्टि का लक्षण है। आत्मवादी या अध्यात्मवादी व्यक्ति की दृष्टि पदार्थ-केन्द्रित न होकर आत्म-केन्द्रित होती है। वह आत्मा को ही परम मूल्य मानता है और स्वस्वरूप या स्वभावदशा की उपलब्धि को ही अपनी माधना का लक्ष्य वनाता है। इसे ही जैन पारिभाषिक शब्दावली में सम्यक् दृष्टि कहा गया है। भौतिकवाद मिथ्यादृष्टि है और अध्यात्मवाद सम्यक्दृष्टि है।

आत्मा का स्वरूप एवं साध्य:

यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठ सकता है कि जैनधर्म में आत्माका स्वरूप क्या है १ आचारांग सूत्र में आत्मा के स्वरूप लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'जो आत्मा है वह विज्ञाता है और जो विसाता है वही आरमा है।' इस प्रकार ज्ञाताभाव में स्थित होना ही स्व-स्वभाव में स्थित होना है। आधुनिक मनोविज्ञान में चेतना के तीन पक्ष माने गये हैं - ज्ञानात्मक, भावात्मक और संकल्पात्मक। उसमें भावात्मक और संकल्पात्मक पक्ष वस्तुतः भोक्ताभाव और कर्त्ताभाव के सूचक हैं। जब तक आत्मा कर्ता (doer) या भोक्ता (enjoyer) होता है तय तक वह स्व-स्वरूप की उपलब्ध नहीं करता है बयोंकि यहां चित्त विकल्प या आकांक्षा वनी रहती है। अतः उनके द्वारा चित्त-समाधिया आत्मो-पलब्धि संभव नहीं है। विशुद्ध ज्ञाताभाव या साक्षी भाव भी ऐसा तथ्य है जो आत्मा को निराकुल समाधि की अवस्था में स्थित कर दुःखों से मुक्त कर सकता है।

एक अन्य दृष्टि से जैनधर्म में आत्मा का स्वरूप लक्षण समत्व (equanimity) भी बताया गया है।

भगवतीसूत्र में गौतम ने महावीर के सम्मुख दो प्रश्न उप-स्थित किये-आत्मा क्या है और उसका साध्य क्या है । महावीर ने इन प्रश्नों के जो उत्तर दिये थे वे जैन धर्म के हार्द को स्पष्ट कर देते हैं। उन्होंने कहा था कि 'आत्मा समत्व स्वरूप है और समत्व की उपलब्धि कर लेना यही आत्मा का साध्य है।' आचारांगसत्र में भी समताको धर्म कहा गया है। ' वहां समता को धर्म इसलिए कहा गया है कि वह हमारा स्व-स्वभाव है और वस्तु स्वभाव ही धर्म है-वत्यु सहावो धम्मो। जैन दार्शनिकों के अनुसार स्वभाव से भिन्न आदर्श की कल्पना अयथार्थ है। जो हमारा मुल स्वभाव और स्वलक्षण है वही हमारा साध्य हो सकता है। जैन परिभाषा में नित्य और निरपनाद वस्त धर्म ही स्वभाव है। आत्मा का स्व-स्वरूप और आत्मा का साध्य दोनों ही समता है। यह बात जीव-विज्ञान की दृष्टि से भी सत्य सिद्ध होती है। आधुनिक जीव-विज्ञान में भी समत्व के संस्थापन को जीवन का लक्षण वताया गया है। यद्यपि द्वनद्वारमक भौतिकवाद 'समत्व' के स्थान पर 'संघर्ष' को जीवन का स्वभाव बताता है और कहता है कि 'संघर्ष ही जीवन का नियम है, मानवीय इतिहास वर्ग संघर्ष की कहानी है।' किन्त यह एक मिथ्या धारणा है। संघर्ष सदैव ही निराकरण का विषय रहा है। कोई भी चेतन सत्ता संघर्षशील दशा में नहीं रहना चाहती। वह संघर्ष का निराकरण करना ही चाहती है। यदि संघर्ष निराकरण की वस्तु है तो उसे स्वभाव नहीं कहा जा सकता है। संघर्ष मानव इतिहास का एक तथ्य हो सकता है किन्तु वह मनुष्य के विभाव का इतिहास है स्वभाव का नहीं। चैतसिक जीवन में तनाव या विचलन पाये जाते हैं किन्तु वे जीवन के स्वभाव नहीं हैं, क्यों कि जीवन की प्रक्रिया सदैव ही उन्हें समाप्त करने की दिशा में प्रयासशील है। चैतिसक जीवन का मृल स्वभाव यही है कि वह बाह्य और आन्तरिक उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से उत्पन्न विक्षोभों को समाप्त कर समस्य को बनाये रखने का प्रयास करता

है। अतः जैनधर्म में समताको आत्माया चैतनाका स्वभाव कहा गया है और उसे ही धर्म के रूप में परिभा-षित किया गया है। यह सत्य है कि जैनधर्म में धर्म-साधना का मृलभृत लक्ष्य कामना, आसक्ति, राग-द्वेष और वितर्क आदि मानसिक असन्द्रलनों और तनावों को समाप्त कर अनामक और निराकुल बीतराग चेतना की उपलब्धि माना गया है। आसक्तिया ममत्व बुद्धिका लक्ष्य राग और द्वेष के भाव उत्पन्त कर व्यक्ति को पदार्थांपेक्षी बनाना है। आगक्त व्यक्ति अपने को 'पर' में खोजता है। जबकि अनासक्ति या वीतरागता व्यक्ति को 'स्व' में केन्द्रित करती है। दूसरे शब्दों में जैनधर्म में बीतरागता की उपलब्धि को भी जीवन का परम लक्ष्य घोषित किया गया है। क्यों कि वीतराग ही सच्चे अर्थ में समभाव में अथवा साक्षी भाव में स्थित रह सकता है। जो चेतना समभाव या साक्षी भाव में स्थित रह सकती है वही निराकुल दशा को प्राप्त होती है और जो निराक्तल दशा को प्राप्त होती है वही शाश्वत सुखों का आस्वाद करती है। जैनधर्म में आत्मोपलब्धि या स्वरूप उपलब्धि को जो जीवन का लक्ष्य माना गया है वह वस्त्रतः बीतराग दशा में ही सम्भव है और इसीलिए प्रकारान्तर से वीतरागता को ही जीवन का लक्ष्य कहा गया है। वीतरागता का ही दूसरा नाम समभाव या साक्षीभाव है। यही समभाव हमारा वास्त-विक स्वरूप है। इसे प्राप्त कर लेना ही हमारे जीवन का परम लक्ष्य है।

साध्य और साधना मार्ग का आत्मा से अभेद:

जैनधर्म में साधक, साध्य और साधनामार्ग तीनों ही आत्मा से अभिन्न माने गये हैं। आत्मा ही साधक है, आत्मा ही साधक है, आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधना मार्ग है। अध्यात्मतत्वालोक में कहा गया है कि आत्मा ही संसार है और आत्मा ही मोक्ष है। जब तक आत्मा कथाय और इन्द्रियों के वशीभृत है वह संसार है किन्तु, जब वह इन्हें अपने वशीभृत कर लेता है तो मुक्त कहा जाता

[ε

९ भगवती।

^१• आचारांग, ८/३१ ।

है। 👯 आचार्य अगृतचन्द्रसूरि समयसार की टीका में लिखते हैं कि पर द्रव्य का परिहार और शुद्ध आत्मतत्व की उपलब्धि ही सिद्धि है। ११२ आचार्य हेमचन्द्र ने भी साध्य और साधक में भेद बताते हुए योगशास्त्र में कहा है कि 'कषाय और इन्द्रियों से पराजित आत्मा बद्ध और उनको विजित करनेवाली आत्मा ही प्रबुद्ध पुरुषों द्वारा मुक्त कहा जाता है।'^{१३} वस्तुतः आत्मा की वासनाओं से युक्त अवस्था ही बन्धन है और वासनाओं और विकल्पों से रहित शुद्ध आत्मदशा ही मोक्ष है। जैन अध्यात्मवाद का कथन है कि साधक का आदर्श उसके वाहर नहीं वरन उसके अन्दर है। धर्म साधना के द्वारा जो कुछ पाया जाता है वह बाह्य उपलब्धि नहीं अपितु निज गुणों का पूर्ण प्रकटन है। हमारी मूलभूत क्षमतायें साधक अवस्था और सिद्ध अवस्था में समान ही है। साधक और सिद्ध अवस्थाओं में अन्तर क्षमताओं का नहीं, वरन क्षमताओं को योग्यताओं में बदल देने का है। जिस प्रकार बीज बक्ष के रूप में विकसित होने की क्षमता रखता है और वह वृक्ष रूप में विकसित होकर अपनी पूर्णता की प्राप्त कर लेता है वैसे ही आत्मा भी परमात्म दशा प्राप्त करने की क्षमता रखता है और उसे उपलब्ध कर पूर्ण हो जाता है। जैनधर्म के अनुसार अपनी ही बीजरूप क्षमताओं को पूर्ण रूप से प्रकट करना ही सुक्ति है। जैन साधना 'स्व' के द्वारा 'स्व' को उपलब्ध करना है। निज में प्रसुप्त जिनत्व को अभिव्यक्त करना है। आत्मा को ही परमात्मा के रूप में पूर्ण बनाना है। इस प्रकार आत्मा का साध्य आत्मा ही है।

जैनधर्म का साधना मार्ग भी आत्मा से भिन्न नहीं है। हमारी चेतना के ही ज्ञान, भाव और संकल्प के एक्ष सम्यक् दिशा में नियोजित होकर साधनामार्ग बन जाते हैं। जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र को, जो मोक्ष मार्ग कहा गया है, उसका मूल हार्द इतना ही है कि चेतना के ज्ञानात्मक, भावात्मक और संकल्पात्मक पक्ष क्रमशः सम्यक् ज्ञान, राम्यक् दर्शन : और सम्यक् चारित्र के रूप में साधनामार्ग बन जाते हैं।

इस प्रकार साधनाम। में भी आत्मा ही है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि 'मोक्षकामी को आत्मा को जानना चाहिए, आत्मा पर ही श्रद्धा करनी चाहिए और आत्मा की ही अनुभृति (अनुचरितव्यश्च) करना चाहिए। सम्यग्हान, सम्यग्दर्शन, प्रत्याख्यान (त्याग), संवर (संयम) और योग सब अपने आपको पाने के साधन हैं। क्योंकि यहाँ आत्मा ज्ञान में है, दर्शन में है, त्याग में है, संवर में है और योग में है। '१४ व्यवहार नय से जिन्हें ज्ञान, दर्शन और चारित्र कहा गया है, वे निश्चय नय से तो आत्मा ही हैं।

त्रिविध साधनामार्गः

जैनदर्शन में मोक्ष की प्राप्ति के लिए त्रिविध साधना-मार्ग बताया गया है। तरवार्थ सूत्र में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र को मोक्षमार्ग कहा गया है। है। उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप ऐसे चतुर्विध मोक्षमार्ग का भी विधान है, है किन्तु जैन अचार्यों ने तप का अन्तर्भाव चारित्र में करके इस त्रिविध साधना मार्ग को ही मान्य किया है।

सम्भवतः यह प्रश्न हो सकता है कि त्रिविध साधना-मार्ग का ही विधान क्यों किया गया है १ वस्तुतः त्रिविध

^{११} अध्यात्मतत्त्रालोक ।

^{१२} समयसार टीका ।

^{१३} योगशास्त्र।

^{१४} समयसार।

१५ तत्त्वार्थं सूत्र, १/१।

^{१६} उत्तराध्ययन, २८/२।

⁸⁰

साधनामार्ग के विधान में जैनाचायों की एक गहन मनो-वैज्ञानिक सुझ रही है। मनोवैज्ञानिक दिष्ट से मानवीय चेतना के तीन पहलू माने गए हैं—१ ज्ञान, २ भाव और ३ संकल्प! चेतना के इन तीनों पक्षों के सम्यक् विकास के लिए ही त्रिविध साधनामार्ग का विधान किया गया है। चेतना के भावात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजित करने के लिए सम्यक् दर्शन, ज्ञानात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजन के लिए ज्ञान और संकल्पात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजित करने के लिए सम्यक् चारित्र का प्रावधान किया गया है।

जैन-दर्शन के समान ही बौद्ध-दर्शन में भी त्रिविध साधनामार्ग का विधान है। बौद्ध-दर्शन के इस त्रिविध साधनामार्ग के तीन अंग हैं—१ शील, २ समाधि और ३ प्रज्ञा १९७

हिन्दू धर्म के ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग भी

त्रिविध साधनामार्ग का ही एक रूप है। गीता में प्रसंगान्तर से त्रिविध साधना मार्ग के रूप में प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा का भी उल्लेख है। दें इनमें प्रणिपात श्रद्धा का, परिप्रश्न ज्ञान का और सेवा कर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपनिषदों में श्रवण, मनन और निदिध्यासन के रूप में भी त्रिविध साधनामार्ग का प्रस्तुतीकरण हुआ है। यदि हम गहराई से देखें तो इनमें श्रवण श्रद्धा के, मनन ज्ञान के और निदिध्यासन कर्म के अन्तर्भूत हो सकते हैं।

पाश्चात्य परम्परा में भी तीन आदेश उपलब्ध होते हैं—१ स्वयं को जानो (know thyself), २ स्वयं को स्वीकार करो (accept thyself) और ३ स्वयं ही बन जाओ (be thyself)। १९ पाश्चात्य चिन्तन के तीन आदेश ज्ञान, दर्शन और चारित्र के ही समकक्ष हैं। आत्मक्षान में ज्ञान का तत्व, आत्मस्त्रीकृति में श्रद्धा का तत्व और आत्मनिर्माण में चारित्र का तत्व उपस्थित हैं।

जैन दर्शन	बौद्ध दर्शन	हिन्दू धर्म	गीता	उपनिषद्	पाश्चात्यदर्शं न
सम्यक् ज्ञान	प्रज्ञा	ह्यान	परिप्रज्ञ	मनन	know thyself
सम्यक् दश [े] न	समाधि	भक्ति	प्रणिपात	श्रवण	accept thyself
सम्यक् चारित्र	शील	कर्म	सेवा	निदिध्यासन	be thyself

त्रिविध साधनामार्ग तथा मुक्तिः

कुछ भारतीय विचारकों ने इस त्रिविध साधनामार्ग के किसी एक ही पक्ष को मोक्ष प्राप्ति का साधन मान लिया है। आचार्य शंकर मात्र ज्ञान से और रामानुज मात्र भक्ति से सुक्ति की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। लेकिन जैन दार्शिनक ऐसे किसी एकान्तवादिता में नहीं गिरते हैं। उनके अनुसार तो ज्ञान, कर्म और भक्ति की समवेत साधना ही मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग है। इनमें से किसी एक के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

- ^{१७} सुत्तनिपात, २८/८ ।
- ^{१८} गीता, ४/३४।
- Psychology and Morals, p. 32.
- ^२॰ उत्तराध्ययन सूत्र, २८/३० ।

उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के अभाव में आचरण सम्यक् नहीं होता है और सम्यक् आचरण के अभाव में मुक्ति भी नहीं होती है। रि॰ इस प्रकार मुक्ति की प्राप्ति के लिए तीनों ही अंगों का होना आवश्यक है।

सम्यक् दर्शन का अर्थः

जैन आगमों में दर्शन शब्द अनेक अर्थी में प्रयुक्त हुआ है और इसके अर्थ के सम्बन्ध में जैन परम्परा में काफी विवाद रहा है। दर्शन शब्द को ज्ञान से अलग करते हुए विचारकों ने दर्शन को अन्तर्बोध, प्रज्ञा और ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान कहा है। दर्शन शब्द का दिन्दिकोण-परक अर्थ भी लिया गया है। प्राचीन जैनागमों में दर्शन शब्द के स्थान पर दिन्द शब्द का प्रयोग उसके दिन्दिकोणपरक अर्थ का द्योतक है। उत्तराध्ययन सूत्र तथा तत्त्वार्थसूत्र में दर्शन शब्द का अर्थ तत्वश्रद्धा भी माना गया है। रेर परवर्ती जैन साहित्य में दर्शन शब्द को देव गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा या भक्ति के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार जैन परम्परा में सम्यक् दर्शन आत्म-साक्षात्कार, तत्व श्रद्धा, अन्तर्वोध, दिन्दकोण, श्रद्धा और भक्ति आदि अनेक अर्थों को अपने में समेटे हुए है।

सम्यक् दर्शन को चाहे यथार्थ दृष्टि कहें या तत्वार्थ श्रद्धा उसमें वास्तिविकता की दृष्टि से अधिक अन्तर नहीं होता है। अन्तर होता है उनकी उपलब्धि की विधि में! एक वैद्यानिक स्वतः प्रयोग के आधार पर किसी सत्य का उद्घाटन कर वस्तुतत्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है किन्तु दूसरा व्यक्ति ऐसे वैज्ञानिक के कथनों पर विश्वास करके भी वस्तुतत्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है। यंविप यहाँ दोनों का ही दृष्टिकोण यथार्थ होगा, फिर भी एक ने उसे स्वानुभृति में पाया है तो दूसरे ने उसे श्रद्धा के माध्यम से। श्रद्धा ही सम्यक् दृष्टि हो तो भी वह अर्थ अन्तिम नहीं है, अन्तिम अर्थ स्वानुभृति ही है और यही सम्यक् दर्शन का वास्तिवक अर्थ है। ऐसा सम्यग्दर्शन होता है निर्विकार निराकुल चित्तवृत्ति से, अतः प्रकारान्तर से उसे भी सम्यग्दिष्ट कहा जाता है।

सम्यक् दर्शन के पाँच लक्षणः

जैन धर्म में सम्यक् दर्शन के निम्न पाँच लक्षण बताये गये हैं—(१) सम अर्थात् समभाव, (२) संवेग अर्थात् आत्मा के आनन्दमय स्वरूप की अनुभृति अथवा सत्या-भीष्मा, (३) निर्वेद अर्थात् अनासक्ति या वैराग्य,

^{२ १} उत्तराध्ययन, २८/३५ ; तत्त्वार्थ सूत्र, १/२ ।

१२]

(४) अनुकम्पा अर्थात् दूसरे न्यक्ति की पीड़ा को आत्मवत् पीड़ा समझना और उसके प्रति करणा का भाव रखना और (५) आस्तिक्य अर्थात् पुण्य-पाप, पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना।

सम्यक् दर्शन के छः स्थानः

जिस प्रकार बौद्ध-साधना के अनुसार दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख से निवृत्ति हो सकती है और दुःखनिवृत्ति का मार्ग है इन चार आर्य-सत्यों की स्वीकृति सम्यक् दिष्ट है, उसी प्रकार जैन-साधना के अनुसार षट् स्थानकों (छः बातों) की स्वीकृति सम्यक् दर्शन है—(१) आत्मा है, (२) आत्मा नित्य है, (३) आत्मा अपने कमों का कर्ता है, (४) आत्मा कृत-कर्मों के फल का भोका है, (५) आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है और (६) मुक्ति का उपाय (मार्ग) है। १२ है

जैन तत्व-विचारणा के अनुसार इन षट्स्थानकों पर दढ़ प्रतीति सम्यभ्दर्शन की साधना का आवश्यक अंग है। दिष्टकोण की विशुद्धता एवं सदाचार दोनों ही इन पर निर्भर है; ये षट्स्थानक जैन-साधना के केन्द्र बिन्दु हैं।

सम्यक् ज्ञान का अर्थः

दिष्टिकोण की विशुद्धि पर ही ज्ञान की सम्यक्तवता निर्भर करती है। अतः जैन साधना का दूसरा चरण है सम्यक्तान । सम्यक्-ज्ञान को मुक्ति का साधन स्वीकार किया गया है, लेकिन कौन सा ज्ञान मुक्ति के लिए आवश्यक है, यह विचारणीय है। जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान के दो रूप पाये जाते हैं। सामान्य दिन्द से सम्यक् ज्ञान वस्तु तत्व का उसके अनन्त पहलुओं से युक्त ज्ञान है और इस रूप में वह विचार शुद्धि का माध्यम है। जैन-दर्शन के अनुसार एकांगी ज्ञान मिथ्यात्व है क्योंकि वह सत्य के अनन्त पक्षों का अपलाप करता है। जब तक आग्रह बुद्धि है तब तक वीतरागता सम्भव ही नहीं है और जब तक वीतराग दिन्द नहीं है तब तक यथार्थ ज्ञान भी

^{२२} आत्मसिद्धि, पृ०४३।

असम्भव है। जैन-दर्शन के अनुसार सत्य के अनन्त पहलुओं को जानने के लिए अनेकान्त दिष्ट सम्यक्-ज्ञान की अनिवार्य शर्त है। एकान्त दिष्ट या वैचारिक आग्रह अपने में निहित छुद्र राग के कारण सत्य को रंगीन कर देता है। अतः एकान्त और आग्रह सत्य के साक्षात्कार में बाधक है। जैन साधना की दिष्ट से वीतरागता को उपलब्ध करने के लिए वैचारिक आग्रह का परित्याग और अनाग्रही दिष्ट का निर्माण आवश्यक है और इसके माध्यम से प्राप्त ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। सम्यक्ज्ञान का अर्थ है वस्तु को उसके अनन्त पहलुओं से जानना।

जैनधर्म में एक अन्य दृष्टि से सम्यक् ज्ञान आत्म-अनारम का विवेक है। यह सही है कि आत्मतत्व को ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता है, उसे ज्ञाता जेय ' के द्वीत के आधार पर नहीं जाना जा सकता है, क्योंकि वह स्वयं ज्ञान-स्वरूप है, ज्ञाता है और ज्ञाता कभी शेय नहीं बन सकता अतः आत्मज्ञान दुरूह है। लेकिन अनात्म तत्वतो ऐसा है जिसे हम ज्ञाता और ज्ञेय के द्वेत के आधार पर जान सकते हैं। सामान्य व्यक्तिभी अपने साधारण ज्ञान के द्वारा इतना तो जान ही सकता है कि उसके ज्ञान के विषय क्या हैं १ और दूसरे वह यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि जो उसके ज्ञान के विषय हैं वे उसके स्वस्वरूप नहीं हैं, वे अनात्म हैं । सम्यक्-ज्ञान आत्मज्ञान है, किन्तु आत्मा को अनात्म के माध्यन से ही पहचाना जा सकता है। अनात्म के स्वरूप को जानकर अनात्म से आत्म का भेद करना यही भेद-विज्ञान है और यही जैन-दर्शन में सम्यक् ज्ञान का मुल अर्थ है।

इस प्रकार जैन-दर्शन में सम्यक् ज्ञान आत्म-अनात्म का विवेक है। जैनों की पारिभाषिक शब्दावली में इसे भेद-विज्ञान कहा जाता है। आचार्य अपृतचन्द्र सूरि के अनुसार जो कोई सिद्ध हुए हैं वे इस आत्म-अनात्म के विवेक या भेद-विज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो बन्धन में हैं, वे इसके अभाव के कारण ही हैं। रेड आचार्य कुन्दकुन्द ने समय- सार में इस भेद-विज्ञान का अखनत गहन विवेचन किया है किन्तु विस्तारपूर्वक यह विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है। २४

सम्यक् चारित्र का अर्थः

जैन परम्परा में साधना का तीयरा चरण सम्यक् चारित्र है। इसके दो रूप माने गए हैं—(१) व्यवहार चारित्र और (२) निश्चय चारित्र। आचरण का बाह्य पक्ष या आचरण के विधि-विधान व्यवहार चारित्र कहे जाते हैं। जबिक आचरण की अन्तरात्मा निश्चय चारित्र कही जाती है। जहाँ तक नैतिकता के वैयक्तिक दिष्टकोण का प्रश्न है अथवा व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का प्रश्न है, निश्चयात्मक चारित्र ही उसका मृलभूत आधार है। लेकिन जहाँ तक सामाजिक जीवन का प्रश्न है, चारित्र का बाह्य पक्ष ही प्रमुख है।

निश्चय दृष्टि (real view point) से चारित्र का सच्चा अर्थ रामभाव या समत्व की उपलब्धि है। मानिशक या चैतिसक जीवन में समस्व की उपलब्धि ही चारित्रका पारमार्थिक या नैश्चियक पक्ष है। बस्तुतः चारित्र का यह पक्ष आत्म-रमण की स्थिति है। नैश्चियिक चारित्र का प्रादुर्भाव केवल अप्रमत्त अवस्था में ही होता है। अप्रमत्त चेतना की अवस्था में होने वाले सभी कार्य शद्ध ही माने गए हैं। चेतना में जब राग, द्वेष, कषाय और वामनाओं की अग्नि पूरी तरह शांत हो जाती है तभी सच्चे नैतिक एवं धार्मिक जीवन का उद्भव होता है और ऐसा ही सदाचार मोक्ष का कारण होता है। साधक जब जीवन की प्रत्येक किया के सम्पादन में आत्म-जागत होता है, उसका आचरण बाह्य आवेगों और वासनाओं से चालित नहीं होता है तभी वह सच्चे अथीं में नैश्चियक चारित्र का पालनकर्ती माना जाता है। यही नैश्चियक चारित्र मुक्ति का सोपान कहा गया है।

व्यवहार चारित्र —व्यवहार चारित्र का सम्बन्ध आचार के नियमों के परिपालन से है। व्यवहार चारित्र को देश-

- ₹₹

^{२३} समयसार टीका, १३२।

^{२४} देखें ० जैन बोद्ध और गीता का साधनामार्ग, अध्याय ५।

वती चारित्र और सर्ववती चारित्र ऐसे दो वर्गों में विभाजित किया गया है। देशवती चारित्र का सम्बन्ध गृहस्थ उपासकों से और सर्ववती चारित्र का सम्बन्ध श्रमण वर्ग से है। जैन-परम्परा में गृहस्थाचार के अन्तर्गत अष्टमृलगुण, पट्कर्म, वारह वत और स्यारह प्रतिमाओं का पालन आता है। श्रमणाचार के अन्तर्गत पंचमहावत, रात्रिभोजन निषेध, पंचसमिति, तीन गृष्टि, दस यतिधर्म, बारह अनुप्रेक्षाएं, वाईस परीषह, अहाइस मृलगुण, वावन अनाचार आदि का विवेचन उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त भीजन, वस्त्र, आवास सम्बन्धी विधि-निषेध है।

साधनत्रय का पूर्वीपर सम्बन्धः

दर्शन, ज्ञान और चारित्र की पूर्वापरता को लेकर जैन विचारणा में कोई विवाद नहीं है। जैन आगमों में दर्शन की प्राथमिकता बताते हुए कहा गया है कि सम्यक् दर्शन के अभाव में सम्यक् चारित्र नहीं होता। परिज्ञा में कहा गया है कि दर्शन से भृष्ट (पितत) ही वास्तविक रूप में भुष्ट हैं, चारित्र से भुष्ट भुष्ट नहीं हैं क्यों कि जो दर्शन से युक्त है वह संसार में अधिक परिभूमण नहीं करता जबकि दर्शन से भृष्ट व्यक्ति संसार से मुक्त नहीं होता है।^{२५} कदाचित् चारित्र से रहित सिद्ध भी हो जावे लेकिन दर्शन से रहित कभी भी मुक्त नहीं होता। वस्तुतः दृष्टिकोण या श्रद्धा ही एक ऐसा तस्व है जो व्यक्ति के ज्ञान और आचरण को सही दिशा निर्देश कर सकता है। आचार्य भद्रवाहु आचारांग निर्युक्ति में कहते हैं कि सम्यक् दृष्टि से ही तप, ज्ञान और सदाचरण सफल होते हैं। २६

जहाँ तक ज्ञान और चारित्र का सम्बन्ध है जैन विचारकों ने चारित्र को ज्ञान के बाद ही स्थान दिया है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी यही बताया गया है कि सम्यक् ज्ञान के अभाव में सदाचरण नहीं होता। इस प्रकार जैन

दर्शन में आचरण के पूर्व सम्यक् ज्ञान का होना आवश्यक है फिर भी वे यह स्वीकार नहीं करते हैं कि अकेला शान ही सुक्ति का साधन हो सकता है। महावीर ने ज्ञान और आचरण दोनों से रामन्वित साधना-पथ का उपदेश दिया है। सूत्रकृतांग में महावीर कहते हैं कि 'मनुष्य चाहे वह ब्राह्मण हो, भिक्क्षक हो अथवा अनेक शास्त्रों का जानकार हो यदि उसका आचरण अच्छा नहीं है तो वह अपने कृत्य कर्मी के कारण दुःखी ही होगा ।'रे॰ उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि 'अनेक भाषाओं एवं शास्त्रों का ज्ञान आत्मा को शरणभूत नहीं होता। दुराचरण में अनुरक्त अपने आपको पंडित मानने वाले लोग वस्तुतः मुर्ख ही हैं। वे केवल बचनों से ही अपनी आत्मा को आश्वासन देते हैं।' र आवश्यक निर्यक्ति में ज्ञान और आचरण के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन अत्यन्त विस्तृत रूप से किया गया है। आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि आचरण-विहीन अनेक शास्त्रों के ज्ञाता भी संसार-समुद्र से पार ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध को लोक प्रसिद्ध अंध पंगु न्याय के आधार पर स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जिस प्रकार एक चक्र से रथ नहीं चलता है या अकेला अंधा अथवा अकेला पंग इच्छित साध्य को नहीं पहुंचता वैसे ही मात्र ज्ञान अथवा मात्र किया से सुक्ति नहीं होती, अपितु दोनों के सहयोग से ही मुक्ति होती है। १९

जैन पर्वे की आध्यात्मिक प्रकृतिः

न केवल जैन साधना पद्धति की प्रकृति ही अध्यातम-वादी है अपित जैन पर्व भी मृलतः आध्यात्मवादी ही है। जैन पर्व आमोद-प्रमोद के लिए न होकर आत्म-साधना और तप-साधना के लिए होते हैं। उनमें मुख्यतः तप, त्याग, वत एवं उपवासों की प्रधानता होती है। जैनों के प्रसिद्ध पर्वों में श्वेताम्बर परम्परा में पर्युषण पर्व और दिगम्बर

^{२५} भक्तपरिज्ञा, ६५-६६।

^{२६} आचारांगनिर्मुक्ति, २२१।

^{२७} सूत्रकृतांग, २/१/३ ।

^{२८} उत्तराध्ययन, ६/६-११।

[🔧] आवश्यकनिर्युक्ति, ६५-६७।

परम्परा में दश लक्षण पर्व है जो भाद्रपद में मनाये जाते हैं। इन दिनों में जिन-प्रतिमाओं की पूजा, उपवास आदि बत तथा धर्म-प्रनथों का स्वाध्याय यही साधकों की दिनचर्या के प्रमुख अंग होते हैं। इन पर्वो के दिनों में जहाँ दिगम्बर परम्परा में प्रतिदिन क्षमा, विनम्नता, सरलता, पवित्रता, सत्य, संयम, ब्रह्मचर्य आदि दस धर्मी (सदग्रणी) की विशिष्ट साधना की जाती है वहाँ प्रवेताम्बर परम्परा में इन दिनों में प्रतिक्रमण के रूप में आत्म-पर्यावलोचन किया जाता है। इवंताम्बर परम्परा का अन्तिम दिन संवत्सरी पर्व के नाम से मनाया जाता है और इस दिन समय वर्ष के चारित्रिक स्खलन या असदाचरण और वैर-विरोध के लिए आत्म-पर्यावलीचन (प्रतिक्रमण) किया जाता है एवं प्रायश्चित्त ग्रहण किया जाता है। इस दिन शतु-मित्र आदि सभी से क्षमा-याचना की जाती है। इस दिन जैन साधक का मुख्य उद्घोष होता है--'मैं सब जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ सभी जीव सुने क्षमा प्रदान करें। सभी प्राणी वर्ग से मेरी मित्रता है और किसी से कोई वैर-विरोध नहीं है।' इन पर्व दिनों में अहिंसा का पालन करना और करवाना भी एक प्रमुख कार्य होता है। प्राचीन काल में अनेक जैनाचार्यों ने अपने प्रभाव से शासकों द्वारा इन दिनों को अहिंसक दिनों के रूप में घोषित करवाया था। इस प्रमुख पर्व के अतिरिक्त अध्यान्हिका पर्क, श्रुत पंचमी तथा विभिन्न तीर्थंकरों के गर्भ-प्रवेश, जन्म, दीक्षा, कैवल्य-प्राप्ति एवं निर्वाण दिवसीं को भी पर्व के रूप में मनाया जाता है। इन दिनों में भी सामान्यतया व्रत रखा जाता है और जिन-प्रतिमाओं की विशेष समारोह के साथ पूजा की जाती है। दीपावली का पर्वभी भगवान महाबीर के निर्वाण दिवस के रूप में जैन समुदाय के द्वारा वड़े उत्साह के साथ मनाया जाता है।

जैन अध्यात्मवाद और लोक कल्याण के प्रश्न :

यह सत्य है कि जैनधर्म संन्यास मार्गी धर्म है। उसकी साधना में आत्म शुद्धि और आत्मोपलब्धि पर अधिक जोर दिया गया है किन्दु इसका अर्थ यह नहीं है कि जैन धर्म

में लीक मंगल या लीक कल्याण का कोई स्थान ही नहीं है। जैनधर्म यह तो अवश्य मानता है कि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकाकी जीवन अधिक उपयुक्त है। किन्तु इसके साथ ही वह यह भी मानता है कि उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में होना चाहिए। महाबीर का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है। १२ वर्षों तक एकाकी साधना करने के पश्चात वे पुनः सामाजिक जीवन में लौट आये। उन्होंने चतुर्विध संघ की स्थापना की तथा जीवन भर उसका मार्गदर्शन करते रहे। जैनधर्म सामाजिक कल्याण और सामाजिक सेवा को आवश्यक तो मानता है, किन्तु वह व्यक्ति के सुधार से समाज के सुधार की दिशा में आगे बढ़ता है। व्यक्ति समाज की प्रथम इकाई है। जब तक व्यक्ति नहीं सुधरेगा तव तक समाज नहीं सुधर सकता। जब तक व्यक्ति के जीवन में नैतिक और आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं होता तब तक सामाजिक जीवन में सुव्यवस्था और शान्तिकी स्थापना नहीं हो सकती। जो व्यक्ति अपने स्वार्थी और वासनाओं पर नियन्त्रण नहीं कर सकता वह कभी सामाजिक हो ही नहीं सकता। लोक-सेवक और जन-सेवक अपने व्यक्तिगत स्वाधीं और द्वन्द्वों से दूर रहें यह जैन आचार-संहिता का आधारभूत सिद्धान्त है। चरित्रहीन व्यक्ति सामाजिक जीवन के लिए घातक ही सिद्ध होंगे। व्यक्तिगत स्वार्थी की पूर्ति के निमित्त जो संगठन या समुदाय बनते हैं वे सामाजिक जीवन के सच्चे प्रतिनिधि नहीं है। क्या चीर, डाकू और शोषकों का समाज, समाज कहलाने का अधिकारी है ? महाबीर की शिक्षा का सार यही है कि वैयक्तिक जीवन में निवृत्ति ही सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में प्रवृत्ति का आधार बन सकती है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा गया है कि भगवान का यह सुकथित प्रवचन संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं करणा के लिए है। * ° जैन साधना में अहिंसा, सला, स्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के जो पांच बत माने गये हैं वे केवल वैयक्तिक साधना के लिए नहीं हैं, वे सामा-जिक मंगल के लिए भी हैं। वे आत्म-शृद्धि के साथ ही हमारे सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि का प्रयास भी हैं।

³° प्रश्नव्याकरण, २/१/२।

िश्ध

जैन दार्शिनकों ने आरमहित की अपेक्षा लोकहित को सदेव ही महत्त्व दिया है। जैनधर्म में तीर्थंकर, गणधर और सामान्य केवली के जो आदर्श स्थापित किये गये हैं और उनमें जो तारतम्यता निश्चित की गई है उसका आधार विश्व-कल्याण, वर्ग-कल्याण और व्यक्ति-कल्याण की भावना ही है। इस त्रिपुटी में विश्व-कल्याण के लिए प्रवृत्ति करने के कारण ही तीर्थंकर को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। स्थानांगसूत्र में ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि की उपस्थिति इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जैन साधना केवल आत्महित या वैयक्तिक विकास तक ही सीमित नहीं है वरन उसमें लोकहित या लोक कल्याण की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। कें

क्या जैनधर्म जीवन का निषेध सिखाता है ?

जैनधर्म में तप-त्याग की जो महिमा गायी गई है उसके आधार पर भानित फैलाई जाती है कि जैनधर्म जीवन का निषेध सिखाता है अतः यहाँ इस भान्ति का निराकरण कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जैनधर्म के तप-ल्याग का अर्थ शारीरिक एवं भौतिकी जीवन की अस्त्रीकृति नहीं है। आध्यात्यिक मृल्यों की स्वीकृति का यह तात्पर्य नहीं है कि शारीरिक एवं भौतिक मुल्यों की पूर्णतया उपेक्षा की जात्रे। जैनधर्म के अनुसार शारी-रिक मुल्य अध्यात्म के बाधक नहीं, साधक हैं। निशीथ भाष्य में कहा गया है कि मोक्ष का साधन ज्ञान है, ज्ञान का साधन शरीर है, शरीर का आधार आहार है। ३२ शरीर शाश्वत आनन्द के कुल पर ले जाने वाली नौका है। इस दृष्टि से उसका मृल्य भी है, महत्व भी है और उसकी सार-सम्भाल भी करनी है। किन्तु ध्यान रहे दृष्टि नौका पर नहीं कुल पर होना है, नौका साधन है साध्य नहीं। भौतिक एवं शारीरिक आवश्यकताओं की एक साधन के रूप में स्वीकृति जैनधर्म और सम्पूर्ण अध्यात्म विद्या का हार्द है। यह वह विभाजन रेखा है जो अध्यात्म और भौतिकवाद में अन्तर स्पष्ट करती है। भौतिकवाद में भौतिक उपलब्धियां या जैविक मुख्य स्वयमेव साध्य है, अन्तिम है, जबिक अध्यात्म में वे किन्हीं उच्च मुल्यों का साधन है। जैनधर्म की भाषा में कहें तो साधना के द्वारा वस्तुओं का ग्रहण, दोनों ही संयम (रामत्व) की साधना के लिए है। जैनधर्म की राम्पूर्ण साधना का मूल लक्ष्य तो एक ऐसे निराकुल, निर्विकार, निष्काम और वीतराग मानस की अभिव्यक्ति है जो कि वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के समस्त तनावों एवं संघर्षी को समाध कर सके। उसके सामने मूल प्रश्न दैहिक एवं भौतिक मृल्यों की स्वीकृति या अस्वीकृति का नहीं है अपितु वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में शान्ति की संस्थापना है। अतः जहां तक और जिस रूप में देहिक और भौतिक उपलब्धियां उसमें साधक हो सकती हैं, वहां तक वे स्वीकार्य हैं, और जहां तक वे उसमें बाधक हैं, वहीं तक त्याज्य हैं। भगवान महावीर ने आचारांग एवं उत्तराध्ययन सूत्र में इस बात को बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि 'जब इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क होता है, तब उस सम्पर्क के परिणामस्वरूप सुखद-दुःखद अनुभृति भी होती है और जीवन में यह शक्य नहीं है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क न हो और उसके कारण सुखद या दुःखद अनुभृति न हो, अतः त्याग इन्द्रियानुभृति का नहीं अपित उसके प्रति चित्त में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष का करना है, ३३ क्यों कि इन्द्रियों के मनोज या अमनोज्ञ विषय आसक्तचित्त के लिए ही राग-द्वेष (मानसिक विक्षोभों) का कारण बनते हैं अनासकत या बीतराग के लिए नहीं। ३४ अतः जैनधर्म की मृल शिक्षा ममत्व के विसर्जन की है, जीवन के निषेध की नहीं।

जैन अध्यात्मवाद की विशेषताएँ :

(क) ईश्वर वाद से मुक्ति—जैन अध्यात्मवाद ने मनुष्य को ईश्वरीय दासता से मुक्त कर मानवीय स्वतन्त्रता की

१६]

^{३१} स्थानांग, १०।

^{३२} निशीथभाष्य, ४७/६१।

^{३३} आचारांग, २/१५।

^{३४} उत्तराध्ययन, ३२/१०१।

प्रतिष्ठा की है। उसने यह उद्घोष किया कि न तो ईश्वर और न कोई अन्य शक्ति ही मानव की निर्धारक है। मनुष्य स्वयं ही अपना निर्माता है। जैनधर्म ने किसी विश्वनियन्ता ईश्वर को स्त्रीकार करने के स्थान पर मनुष्य में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की और यह बताया कि व्यक्ति ही अपनी साधना के द्वारा परमात्म-दशा को प्राप्त कर सकता है। उसने कहा 'अप्पा सो परमप्पा' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। मनुष्य को किसी की कृपाकांक्षी न बनकर स्वयं ही पुरुषार्थ के द्वारा परमात्म-पर को प्राप्त करना है।

(ख) मानव मात्र की समानता का उद्घोष—
जैनधर्म की दूसरी विशेषता यह है कि उपने वर्णवाद,
जातिवाद आदि उन सभी अवधारणाओं की जो मनुष्यमनुष्य में ऊँच-नीच का भेद उत्पन्न करती है अस्त्रीकार
किया। उसके अनुसार सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्यों
में श्रेष्ठता और कनिष्ठता का आधार न तो जाति
विशेष या कुल विशेष में जन्म लेना है और न सत्ता और
सम्पत्ति ही। वह वर्ण, रंग, जाति, सम्पत्ति और सत्ता
के स्थान पर आचरण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता
है। उत्तराध्ययन सूत्र के १२ वें एवं २५ वें अध्याय में
वर्ण-व्यवस्था और बाह्मण की श्रेष्ठता की अवधारणा पर
करारी चोट करते हुए यह कहा गया है कि जो सर्वथा
अनासक्त, मेधावी और सदाचारी है वही सञ्चा ब्राह्मण है
और वही श्रेष्ठ है न कि किसी कुल विशेष में जन्म
लेनेवाला व्यक्ति।

(म) यज्ञ आदि बाह्य किया-काण्डों का आध्यातिमकं अर्थ — जैन परम्परा ने यज्ञ, तीर्थ-स्नान आदि धर्म के नाम पर किये जानेवाले बाह्य क्रियाकाण्डों की न केवल आलोचना की अपित्व उन्हें एक आध्यातिमक अर्थ भी प्रदान किया। उत्तराध्ययनसूत्र में यज्ञ के आध्यातिमक स्वरूप का सविस्तार विवेचन है। उसमें कहा गया है कि जीवात्मा अभ्निकुण्ड है। मन, वचन, काया की प्रवृत्तियां ही कलछी (चम्मच) है और कर्मी (पाणों) का नष्ट करना ही आहुति है। यही यज्ञ शान्तिदायक है और ऋषियों ने ऐसे ही यज्ञ की प्रशंसा की है। विश्व-स्नान को भी आध्यात्मक-अर्थ प्रदान करते हुए कहा गया है कि धर्म जलाशय है। बहाचर्य घाट (तीर्थ) है; उसमें स्नान करने से ही आत्मा निर्मल और शुद्ध हो जाती है। इहाचर्य घाट

(घ) दान, दक्षिणा आदि के स्थान पर संयम की श्रेण्ठता—यद्यपि जैन परम्परा ने धर्म के चार अंगों में दान को स्थान दिया है किन्तु वह यह मानती है कि दान की अपेक्षा भी संयम ही श्रेण्ठ है। उत्तराध्ययन में कहा गया है कि प्रति मास सहस्रों गायों का दान करने की अपेक्षा संयम का पालन अधिक श्रेष्ठ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा ने धर्म को रूढ़िवादिता और कर्मकाण्डों से मुक्त करके आध्या-स्मिकता से सम्पन्न बनाया है!

^{३५} उत्तराध्ययन, १२/४४।

^{३६} वही, १२/४६।

श्रमण-संस्कृति का उदात्त दृष्टिकोण

— डॉ श्रीरंजन सूरिदेव भु० प्० संपादक, परिषद् पत्रिका विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

मानव-समाज में जब वैचारिक हास आ जाता है, तब उसमें संकीर्णता का प्रवेश होता है और उसकी चिन्तनधारा का उदात्त दिष्टकोण संशय के धुँधलके में दिग्भानत हो जाता है। ऐसी स्थिति में विशेष रूप से जाति और धर्म ही संकीर्णता के प्रवेश-द्वार हुआ करते हैं। जाति और धर्म के प्रति दुराग्रह या हठाग्रह ही वैचा-रिक संकीर्णता को जन्म देता है। इस सन्दर्भ में श्रमण-संस्कृति का दिष्टकोण इसलिए उदात्त है कि वह वैचारिक संकीर्णता का सर्वथा प्रत्याख्यान करती है।

श्रमण-संस्कृति और वैदिक-संस्कृति के बीच, ऐति-हासिक दृष्टिकोण से कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नही खोंची जा सकती। ये दोनों संस्कृतियाँ चक्रगति के अनु-कम से समय-समय पर अपनी सत्ता स्थापित करती रही हैं। जिस संस्कृति में जितनी अधिक वैचारिक उदारता रहेगी, उसकी सत्ता उतनी ही अविचल और लोकाटत होगी। अधुना श्रमण-संस्कृति के प्रति अत्यधिक लोकाग्रह का कारण उसकी वैचारिक उदारता ही है।

कोई भी संस्कृति मानव-जिजीविषा की पूर्ति के साधनों की प्राप्ति के उपायों का समर्थ निर्देश तभी कर सकती है, जब कि वह वैचारिक दृष्टि से अपने को कभी अमुदार नहीं होने देती। इसीलिए जन-कल्याण के निमित्त वैचारिक उदारता की शर्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य मानी गई है। लोकमार्ग का नेतृत्व वही कर सकता है, जो विचार से उदार होता है और आचार की दृष्टि से आत्मनेपदी'। आचार की दृष्टि से जो केवल 'परस्मैपदी' होता है, उसका विचार या आचार कभी लोकग्राह्म नहीं होता। इसलिए, सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति में आत्मचिन्तन को सर्वोपरि महत्व दिया गया है।

उदारवादी दृष्टि से यह स्पष्ट है कि आत्मिचन्तन का सम्बन्ध आत्म-संयम या आत्मिनयन्त्रण या आत्मदमन से जुड़ा हुआ है। श्रमण तीर्थं कर भगवान् महावीर ने आत्मदमन को बड़ा कठिन वताया है। उन्होंने कहा है:

अप्पा चेव दमेयव्यो अप्पा हु खलु हुद्दमो। अप्पा दन्तो सही होइ अस्ति लोए परस्थ य॥ —उत्तरा॰ १/१५

निश्चय ही, दुर्दम आत्मा का दमन करनेवाला व्यक्ति ही इस लोक और परलोक में सुखी होता है। आत्मदमन आत्मपीइन का पर्याय है। आत्मा के अनुकूल वेदनीय सुख है और प्रतिकूल वेदनीय दुःख। तीर्थ कर पुरुष चूँ कि सर्वभ्यहित के आकांक्षी होते हैं, इसलिए वे प्रतिकूल वेदनीयता पर विजय पाने के निमित्त आत्मदमन या आत्मपीइन करते हैं। अर्थात, परताण के लिए प्रतिकूल को अनुकूल बनाकर आत्मसुख अनुभव करते हैं। और, सही माने में उदार व्यक्ति बही होता है, जो परदुःख के विनाश के लिए आत्मदुःख को वरण करने में ही सुख का अनुभव करता है। इसलिए, 'वसुदेवहिण्डी' के 'धम्मिक्च-चित्त'में धर्म की परिभाषा करते हुए संघदासगणि वाचक ने कहा है: 'परस्स अदुक्खकरणं धम्मोत्ति'। इस प्रकार सम्पूर्ण आमण्य संस्कृति परदुःख के विनाशमृत्तक उदारता की उदात्त भावना से ओतप्रोत है।

भगवान् महावीर के पंचयाम धर्म में श्रमण-संस्कृति के उदात्त दृष्टिकोण का ही भव्यतम विनियोग हुआ है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँचों साधारण जन-जीवन को उदात्त दृष्टिकोण से संवित्तित करनेवाले ऐसे विचार-विन्दु हैं, जिनसे सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की उपलब्धि सम्भव होती है और मोक्ष का मार्ग उद्घाटित होता है।

लोकैषणा या लोकहित अमण संस्कृति के उदात्त हिंग्टिकोण का महनीय पक्ष है। आधुनिक लोकहिष्ट इसलिए अनुदार हो गई है कि वह हिंसा, असस्य, चौर्य-वृत्ति, काम-लिप्सा और संचय-वृत्ति से आकान्त है। अनुदारता ही संकीर्ण विचार की जननी है। आज के वकज़ लोग दुर्व्याख्या के विष से मृष्टिंकृत हैं। आत्महित के लिए परहित का प्रत्याख्यान उनका धर्म हो गया है। आसप्रहित का प्रमाद ही उनका आत्मसंस्कार बन गया है। परदुःख के विनाश में आत्मसुख को सही न मानकर वे आत्मसुख को परदुःख का कारण बनाना उचित समझते हैं। अमण-संस्कृति इसी अनुदार दृष्टि के निर्मूलन के प्रयास के प्रति सतत् आस्थाशील है।

अमण-संस्कृति अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के उदात्त दिन्दिकोण की त्रिपुटी पर आधृत है। अनेकान्त की उदार विचारधारा अमण-संस्कृति का महार्घ अवदान है। अनेकान्त यदि वैचारिक उदात्त दिन्दिकोण का प्रतीक है, तो अहिंसा और अपरिग्रह आचारगत उदारता का परिचायक। अमण-संस्कृति का अहिंसाबाद भी सीमित परिधि की वस्तु नहीं है। प्राणीवध जैसी द्रव्यहिंसा से भी अधिक व्यापक भाविंसा पर अमण-संस्कृति बल देती है। उसका मन्तव्य है कि मृत्तदः भाविंसा ही द्रव्यहिंसा का कारण है। यदि भाविंसा पर नियन्त्रण हो जाय, तो फिर द्रव्य-हिंसा का प्रश्न ही नहीं उठे। आज सामाजिक जीवन में भाविंसा की प्रधानता से ही द्रव्यहिंसा होती है और यही फिर भयंकर युद्ध और भीषण रक्तपात में परिणत हो जाती है।

जाति और धर्म की भावना में संकीर्णता आने पर हिंसा का उदय स्वाभाविक है। इस स्थिति में पुण्य की पिरभाषा परीपकार न होकर सामान्य वैयक्तिक पूजा-पाठ में निःशेष हो जाती है। जात्याभिमान हमें अधःपतन की ओर ले जाता है और इससे हम मानवता का निरादर कर बैठते हैं। इसीलिए, भगवान महावीर ने कर्मणा जाति की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा:

अहिंसावाद पर अनास्था के कारण ही आज समाज में जातिगत हीनभावना का विस्तार हो रहा है। जाति के सम्बन्ध में हमारा दिख्कोण उदात्त नहीं रह गया है। हम इसीलिए, ऊँच-नीच, छुआछूत आदि के घेरे में बन्दी बनते जा रहे हैं। अमण-संस्कृति दुरिभमान को चुनौती देती है और सघोष उद्घोषणा करती है: मेत्ती मे सन्वभ्रष्सु।

सामाजिक अवधारणा के सन्दर्भ में अपरिग्रहवाद भी श्रमण-संस्कृति के उदात्त दृष्टिकोण का परिचय प्रस्तुत करता है। अपरिग्रह का तात्पर्य धन के प्रति स्वामित्व की भावना का परित्याग है। अनावश्यक संचय से सामान्य लोकजीवन को कष्ट पहुँचता है। घूसखोरी, जमाखोरी, मिलावट,तस्करी आदि का व्यापार परिग्रहका ही जधन्यतम रूप है। हम धन से दूसरे की सहायता करते भी हैं, तो स्वामित्व की भावना रखकर ही। स्वामित्व की भावना का त्याग हम नहीं कर पाते। इससे अपरिग्रह का सही रूप तिरोहित ही रह जाता है। और फिर, हम संकीर्ण भावना से ऊपर नहीं उठ पाते. हमारा वैचारिक दश्टिकोण उदात्त नहीं हो पाता । श्रमण-संस्कृति अपरिग्रह के माध्यम से हमें उदात्त दिष्टकीण प्रदान करती है, जिससे हमारे अन्तर्मन में सर्वोदय की भावना का संचार होता है और जनमानस ग्रहण की संकीर्ण भावना से त्याग की उदा**त्त** भूमि की ओर अभिसुख होता है।

श्रमण-संस्कृति का अनेकान्तवाद उसकी उदात्त दृष्टि का एक ऐसा प्रकाश-स्तम्भ है, जिससे सम्पूर्ण विश्व का जीवन-दर्शन आलोकित है। अनेकान्त, जनसमुदाय को दुराग्रहवादिता की संकीर्ण मनोवृत्ति से मुक्त होने की प्रेरणा देता है। दर्शन के क्षेत्र में या फिर जीवन के ज्यावहारिक जगत में ज्याप्त श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ की भावना के ज्यामोह का विलोप अनेकान्त से ही सम्भव है। नीर-क्षीर

[१६

विवेक की सम्प्राप्ति एकमात्र अनेकान्त से ही हो सकती है। सत् के प्रति आसक्ति और असत् के प्रति वैराग्य अनेकान्त की भावना से ही आता है।

भाषिक शुद्धि की दृष्टि से स्याद्वाद और वैचारिक शुद्धि की टब्टि से अनेकान्तवाद की स्थापना श्रमण-संस्कृति की उदात्तता का ही पार्यन्तिक रूप है। आज हम किसी वस्तु को एकान्त दृष्टि से सत्य मानने का भूम पालते हैं। किन्तु, अनेकान्तवाद इस भूम को दूर करता है। किन्तु वस्तु को हम एकान्त दृष्टि से सत्य मानकर अपनी अनुदात्त दृष्टि का ही परिचय देते हैं। कोई भी मानव एकानत भाव से पूर्ण नहीं होता। यदि हम किसी दर्शन के तत्त्वज्ञ को ही पण्डित मान लेते हैं, तो यह एकान्त रिंग्ट हुई। सम्भव है, उस पण्डित को सांख्यिकी में तत्त्वज्ञता प्राप्त नहीं, तो फिर उसे एकान्त भाव से पण्डित कहना उचित भी नहीं। अनेकान्त दृष्टि से दर्शन की अपेक्षा यदि वह पण्डित है, तो सांख्यिकी की अपेक्षा पृण्डित नहीं भी है। इसी विचारधारा के आधार पर अनेकान्त में 'सप्तभंगी नय' की प्रतिष्ठा हुई है। इस नय के द्वारा हम एकान्त से अनेकान्त की ओर प्रस्थान करते हैं, जहाँ हमें सम्पूर्ण जागतिक स्थिति का सही अभिज्ञान प्राप्त होता है और उदात्त दिन्देकोण से संविलत होने का अवसर मिलता है। सर्वधर्मसमन्वय की समस्या का समा-धान भी अनेकानत ही दे सकता है।

त्तान और दया अनण-संस्कृति के मेरदण्ड हैं। ये दोनों ऐसे दिव्य तत्त्व हैं, जिनमें उदात्त दिश्वकोण का अपार सागर तरंगित होता रहता है। कोई भी झानी पुरुष अनुदार नहीं हो सकता और किसी भी दयालु की विचारधारा संकीण नहीं होती। किन्तु, दया की भावना का उदय बिना झान के सम्भव नहीं। इसीलिए, जिनवाणी की मान्त्रिक भाषा है: पढमं णाणं तओ दया।' अमण-संस्कृति में झान को ही प्रमाण माना गया है। झान भी ऐसा, जो स्व और पर को समान रूप से आभासित करे और उसमें किसी प्रकार का वाधा-ज्यवधान न हो। इसीलिए आचार्य सिद्धसेन ने कहा है: 'प्रमाणं स्वपराभासि झानं वाधविविज्ञितम्।' उदात्त दिश्वकोण के लिए झान का होना अनिवार्य है और ज्ञान का क्रियान्वयन

दया-भावना से ही सम्भव है। ज्ञान की ही सिक्रय अवस्था दया है। ज्ञान की सिक्रयता के लिए दया अनिवार्य है। कहना चाहिए कि ज्ञान और दया दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसीलिए, अनन्त ज्ञान से सम्पन्न तीर्थंकर 'दयालु' या 'कल्याणिमत्र' की संज्ञा से सम्बोधित् हुए।

ब्रह्मचर्य की व्याख्या में भी श्रमण-संस्कृति ने उदार दिष्टिकोण से काम लिया है। अन्यत्र जहाँ 'मरणं विन्दु-पतेन जीवनं विन्दुधारणात' का कठोर निर्देश मिलता है, वहीं श्रमण-संस्कृति ने 'स्वदारसन्तोप-त्रत' को ब्रह्मचर्य का दरजा दिया है। आज ब्रह्मचर्य के नाम पर उन्मुक्त यौनमेध का जो नम्न ताण्डव दिष्टिगत होता है, उसका संयमन 'स्वदारसन्तोष-त्रत' से सहज ही सम्भव है। एकमात्र अपनी पत्नी में ही सन्तोष के बत का पालन किया जाय, तो कामोध्मा से प्रतप्त आधुनिक समाज में संयम के स्वर्गीय सुख की अवतारणा हो जाय।

श्रमण-संस्कृति अपने उदात्त दिष्टकोण के कारण ही व्यध्यात धारणा की अपेक्षा समध्यात धारणा के प्रति आग्रहशील है। वह 'भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्ति' के सिद्धान्त का समर्थन करती है। वह प्रमा (तद्धत तत्प्रकारकं द्यानं) पर आस्था रखती है, बाहरी चाकचिका को नकार देती है। वह सिद्धान्तों के भटकाव की स्थिति नहीं उत्पन्न करती। वह तो जीवन को सन्त्रास, कुण्डा, अनास्था, विसंगति आदि दुर्भोवनाओं के घात-प्रतिघातों से बचने को प्रेरित करती है, ताकि मानव अपनी मानवना की चरम परिणति के सुमेर पर विराजमान हो सके, सिद्धशिला पर आसीन होकर पल्योपम भूमि को आयत्त कर गके।

आज का मानय नितान्त परियही हो गया है। उसने अपने हर्द-गिर्द अनेक आडम्बर चिपका रखे हैं। अज्ञानता और दयाहीनताके कारण वह अनपेक्षित आभिजात्य भावना में पड़कर मानवता की गरिमा से परिच्युत हो गया है। वह बाह्य जगत में अकर्म को कर्म और कर्म को अकर्म मान बैठा है। भौतिकता से अतिपरिचय के कारण वह आध्यात्मिकता की अवज्ञा कर रहा है। उसका कोई भी कथन नतो सुचिनितत होता है, न ही वह कोई सुविचारित

कार्य कर पाता है। कुल मिलाकर, आधुनिक मानव समाज में आत्मप्रदर्शन की मिथ्या गतानुगतिकता की ऐसी लहर छा गई है कि वह जिवाय दूसरे का छीनने के अलावा और कुछ सोच ही नहीं सकता। श्रमण-संस्कृति ने इसीलिए, अस्तेयभावना को सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठा दी है।

ईशोपनिषद् की 'तेन त्यवतेन भुक्कजीथा मा एधः कस्य विवद्धनम्' जैसी सामाजिक भावना को उद्वृद्ध करने वाली चेवावनी को आज के मानव ने नजरअन्दाज कर दिया है, इसीलिए उसमें चौर्यवृत्ति आ गई है। आत्मधन की अपेक्षा परधन के प्रति तृष्णा से वह निरन्तर आकुल-व्याकुल हो रहा है। फलतः, उपके संयम का चाबुक बेकार हो गया है और इन्द्रियों के घोड़े वे-लगाम हो गये हैं। उसके जैसा कामग्रभू व्यक्ति काम से ही काम को शान्त करना चाहता है। घी से आग को ठण्डा करना चाहता है। और इसके लिए वह चौर्यवृत्ति से ही अपने सुख-सन्तोष की सामग्री जुटाने में प्रवल पुरुषार्थ मान रहा है और हिंसा तथा मिथ्यात्व के प्रति एकान्त आग्रह-शील हो उठा है।

गारस्वत में भी आज अजीव छीना-झपटी चल रही है। गीता की 'स्वधमें निधनं श्रेयः परधमें भयावहः' की चेतावनी भी उसे याद नहीं रह गई है। फलतः, उसकी जिन्दगी की गाड़ी समतल सड़क को छोड़कर उबड़- खावड़ रास्ते में दौड़ पड़ी है। कृत्रिम पाश्चात्य संस्कृति की चकाचांध में पड़ उसने अपनी सहज प्राच्य संस्कृति की उपेक्षा कर दी है। यहाँ तक कि अपनी भाषा और माहित्य को भी वह मृत्यहीन मानने लगा है। उसके मृत्यांकन की हुला ही अभारतीय हो गई है।

यही कारण है कि आधुनिक मानव विभिन्न मतवादों और साम्प्रदायिक रूढ़ियों की वात्या में विलुण्डित हो रहा है। उसका अपना ज्ञानवोध अहंकार के खँधेरे में डूब गया है। ऐसी स्थिति में श्रमण-संस्कृति के पंचयाम धर्म की प्रोज्ज्वल प्रभा उसके तिमिरावृत्त हृदय को भास्वर वना सकती है। उसके दिग्भृष्ट जीवन-पोत के लिए अनेकान्त जयपताका दिशासूचक यन्त्र का काम कर

सकती है। क्यों कि, श्रमण-संस्कृति के पंचयाम धर्म में मानव की चेतना को अनावश्यक आग्रह से अलग कर अपेक्षित अनाग्रह के ज्योतिष्ण्य की ओर ले चलने की अपितित शक्ति है। कहना न होगा कि श्रमण-संस्कृति में जीवन के विधायक अनेक महत्त्वपूर्ण पक्ष—जैसे अवर्णवाद, धार्मिक आचरण के नाम पर हिंना एवं परियहम् लक आडम्बरों का प्रतिक्षेप, सैद्धांतिक मतों का समन्वय, सामाजिक जीवन में समताबाद की स्थापना के द्वारा स्त्री-पुरुषों के लिए समान प्रगति की योजना, अधिक धन का प्रत्याख्यान और प्राप्त धन का स्वामित्व-हीन समान वितरण, पूँजीवाद का विरोध, ऊँच-नीच और स्पृश्यास्पृश्य जैसी समाजोत्थान-विरोधी भावना का निराकरण आदि—प्रतिनिहित हैं, जिनसे उसके उदात्त हिरकोण का प्रत्यक्ष परिज्ञान प्राप्त होता है।

श्रमण-संस्कृति में श्रमण, ब्राह्मण, सुनि और तापस के लिए किसी निधौरित वेश-विशेष की आवश्यकता नहीं। भगवान् महावीर ने इनकी परिभाषा उपस्थित करते हुए निर्देश किया है:

न वि सुण्डिएण समणो न ओंकारेण वस्भणो। न सुणी रण्णवासेण कुसन्वीरेण न तावसो॥ समयाए समणो होड् वस्भचेरेण वस्भणो। णाणेण य सुणी होड् तवेणं होड् तावसो॥

निस्सन्देह, केवल सिर सुझा लेने से कोई श्रमण नहीं होता, न ही ओंकार के जप से बाह्मण। जंगल में रहने से ही सुनि नहीं होता और न कुश तथा चीवर धारण करने से तपस्वी। वस्तुतः, जो समता से सम्पन्न है, वही श्रमण है, ब्रह्मचर्य का उपासक ही बाह्मण है, ज्ञानी ही सुनि है और तप करनेवाला ही तपस्वी।

इस प्रकार, श्रमण-संस्कृति ने प्रत्येक व्यक्ति को उत्थान के मार्ग का अधिकारी घोषित किया है। अपनी साधना से सर्वसामान्य व्यक्ति भी पारमेश्वर्य की सिद्धि सुलभ कर सकता है। श्रमण-संस्कृति ने ईश्वर के कतृ त्व को नकारते हुए मानय के अजेय पुरुषार्थ के प्रति अडिंग आस्था अभिव्यक्त की है। आत्मशक्ति के प्रति अविश्वाम

२१

हो जाने के कारण ही वह किसी पारभेशवरी शक्ति की कल्पना कर उसके प्रति समर्पित हो जाता है। परवर्ती-कालीन भक्त किव चण्डीदास की प्रसिद्ध काव्य-पंक्ति—'सबार ऊपरे मानुस सत्य' में अमण-संस्कृति का ही उदाच दिष्टकोण समाहित है।

श्रमण-संस्कृति के उदात्त विचारप्रधान दार्शनिक चिन्तन ने राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी को भी अनुकृत्तित किया था और गाँधीजी के प्रसिद्ध ग्यारह बतों में प्रारम्भ के पाँच बत भगवान महावीर के ही पंचयाम धर्म से आकृत्तित हैं। कहना यह चाहिए कि महात्मा गाँधी का जीवन-दर्शन श्रमण-संस्कृति के जीवन-दर्शन का ही परवर्ती व्यापक विस्तार है, जिसकी उदात्त विचारधारा परम्परानुक्रम से विकसित होकर आज की सामाजिक एवं आर्थिक अभ्युत्थानमृत्वक राष्ट्रीय योजना विशस्त्री कार्य-क्रम से आ जुड़ी है। इसलिए यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि राष्ट्रीय अभियान के प्रत्येक पड़ाव पर या सामाजिक जीवन के हर मोड़ पर प्रगति और उत्कर्ष का मन्त्र फूँकनेवाली श्रमण-संस्कृति को किसी विशिष्ट देश, काल, आयु, नाम, गोत्र आदि की सीमा में रखकर देखने की अपेक्षा सम्पूर्ण विश्व के सन्दर्भ में मंगलकारी उदात्त हिंदकोण का ही पर्याय समझना समीचीन है।

कैसे किया जाय १ इसी विषय पर दिगम्बर-आम्नाय के उज्ज्वल नक्षत्र पूज्यपाद स्वामी समाधिशतक'में लिखते हैं—

सर्वे न्द्रियाणि संयम्य, स्तिमितेनान्तरारमना। यत्क्षणं पश्यतो भाति, तत् तत्त्वं परमात्मनः॥ —सं० श०३०

सभी इन्द्रियों का संयम करके स्तिमित—शान्त, निर्विकलप अन्तरात्मा के द्वारा क्षणभर देखने वाले को जो भासित होता है वही परमात्मा-तत्त्व है। यानि वह परमात्मा तत्त्व की ही झलक है।

तात्पर्य यह है कि जब कर्णादि इन्द्रियों को संयमित करके, शब्द-रूप-गन्ध-रस-स्पर्शादि से ध्यान हटाकर अन्तर्मुखी बनते हैं तब किसकी झलक भासित होती है १ वह क्या है १ इंद्रियां, मन शान्त है, पूर्ण निर्विकल्प स्थिति है वह आत्मतत्त्व है। उस शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार ही पर-मात्मतत्त्व का साक्षात्कार है। जब तक हम शब्द-रूप आदि इन्द्रियों के विषयों पर ही अटके रहते हैं उनका ही ध्यान है, उनका ही चिन्तन है, उनकी ही अभिलाषा है, उनका ही आकर्षण है फिर आत्मदर्शन की कैसे आशा की जा सकती है १ इस तत्त्व को तो बड़ी गहराई से पकड़ा जा सकता है, दूसरे व्यापारों को रोककर हो इसे देखा जा सकता है। आवश्चकराचार्य ने 'विवेक चूड़ामणि' में आत्मदर्शन का उपाय बतलाते हुए कहा है:

नष्टे पूर्व विकल्वे हु, याबदन्यस्य नोदयः। निर्विकल्पिक चैतन्यं, ताबत्स्पष्टं विभासते॥

पूर्व विकल्प के नष्ट हो जाने पर जब तक दूसरा विकल्प उदित नहीं होता, इसके बीच जो एक स्क्ष्म समय है उसमें निर्विकल्पिक चैतन्य का स्पष्ट आभास मिलता है।

अर्थात एक विकल्प आया और चला गया, दूसरा विकल्प अभी पैदा नहीं हुआ, उसके बीच की जो स्थिति है वह किसकी है ? केयल साक्षीभाव से देखनेवाला ही उसे पकड़ सकता है। वे आरम-दर्शन के क्षण होते हैं। एक माला का एक मनका जैसे आगे खिसका, दूसरा मनका जब तक उस मनके से संलग्न नहीं हुआ, उन दो मणकों के

आत्मतत्त्व का साक्षात्कार

—संघ प्रभुख श्री चन्दन मुनि

जहाँ अध्यात्म की बात उठती है वहीं एरमात्मा के साक्षारकार का प्रश्न उठ खड़ा होता है। परमारमा क्या है ? उसका साक्षात्कार कैसे किया जाय ? बिना साक्षात्कार के केवल सुनी हुई बात पर विश्वास कैसे किया जा सकता है ? आज का वैज्ञानिक युग प्रयोगात्मक ज्ञान का युग है। विज्ञान केवल सिद्धान्त नहीं देता उनका प्रैक्टिक कर प्रस्तुत करता है। इस लिए आज के मनुष्य को आत्मा-परमात्मा के दर्शन को समझाने में शास्त्रों की दुहाई काम नहीं देती । विना अनुभव की श्रद्धा स्थिति नहीं पा सकती। भगवान महाबीर की दिष्ट भी प्रयोगात्मक रूप को पुष्टि देती है। वे नहीं कहते कि भैं कहता हूँ इसलिए तुम मान लो'। वे कहते हैं 'अप्यणा सच्च मेसेजा' तुम अपनी आत्मा से सत्य की खोज शुरू करो, स्वयं सख का दर्शन करो। कैवल दर्शन नहीं सम्यग्-दर्शन करो, फिर सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र को विकसित करो। सम्यक्-दर्शन ही शब्दान्तर से साक्षात्कार का द्योतक है।

आमतौर पर जैन लोग सम्यादर्शन को श्रद्धा से जोड़ते हैं पर वास्तव में थोड़ा-सा फर्क है। श्रद्धा पैदा की नहीं जा सकती, सम्यादर्शन सम्यक्-अवलोकन के कारण स्वयं उत्पन्न हो जाती है। उसे थोपा नहीं जा सकता वह स्वतः उद्भृत हो जाती है। वह सम्यादर्शन की परिणति है। हाँ, तो प्रश्न यह है कि आत्म-साक्षात्कार वीच जो थोड़ा-सा धागे का दर्शन हो जाता है उसी भांति उठते हुए विकल्पों के बीच आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। आप पूछ सकते हैं कि क्या दिखाई देगा ? आत्मा का क्या स्वरूप होगा ! लेकिन जो स्थिति चक्षुगोचर नहीं है उसे शब्दों में कैसे बांधा जायेगा ! परन्तु 'कुछ है अवश्य' इतना तो बोध होगा ही ! वही चिदानन्द रूप आत्मा है उसका संपूर्ण निर्लिप्त स्वरूप परमात्मा नाम से अभिहत होता है।

उपनिषदों में एक कहानी आती है। दक्ष प्रजापति के पास विरोचन इन्द्र जिज्ञासा लेकर आता है, पूछता है कि मैं कौन हूँ ? आत्मा बया है ? प्रजापति ने कहा-यहां पाम ही एक सरोवर है। जब सारी लहरें सो जाएं, पानी विल्कुल शान्त हो तब उसमें अनिमेष पलकों से झंककर देखो, फिर मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूंगा। विरोचन सरोवर के किनारे पहुँचता है, शान्त सरोवर में अपलक इष्टिसे झांक कर देखता है तो अपना प्रतिविम्य स्पष्ट नजर आता है। झांकते-झांकते एक प्रश्न और उपस्थित हो गया । प्रजापति से जाकर पृक्तने लगा -- दिखने वाला मैं हूँ या देखने वाला मैं हूँ १ मैं तो दुविधा में पड़ गया हूँ। प्रजापति ने कहा - वस, यही मौलिक प्रश्न है। दश्य को तो हम पकड़ते हैं घर द्रष्टा को नहीं पकड़ पाते। शब्द को हम पकड़ते हैं पर सुनने वाजे को हम नहीं पकड़ पाते वैसे ही गन्ध को हम पकड़ते हैं पर घाता को हम नहीं पकड़ पाते। यही बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी दृष्टिका भेद है। दृष्टिको अन्तमंखी बनाना होगा। तभी आत्मा

का भान हो सकता है। एक जन्म नहीं अनन्तानंत जन्म व्यतीत हो चुके हैं पर जिसे पकड़ना था उसे नहीं पकड़ पाए। उद्धार कैसे हो सकता है १

रूपक की भाषा में ऋषि कहते हैं — एक महल के पांच झांकियो हैं, पांच रोशनदान हैं, उस महल में एक व्यक्ति बैठा है। वह कभी इस रोशनदान से झाँकता है कभी उस रोशनदान से झाँकता है कभी उस रोशनदान से झाँकते वाला वह एक ही है। उसी भांति इस शरीर रूपी मंदिर में एक ही चेतनतत्त्व है। वह कभी कानों से सुनता है, कभी आंखों से देखता है, कभी गन्ध-रस-स्पर्शादि का अनुभव करता है, पर खेद है कि उस एक को हम जान नहीं पाते, पहचान नहीं पाते, पकड़ नहीं पाते। उस एक के जाते ही वोलना, चलना, चस्वना, सूंघना—आदि सारी कियाएं बन्द हो जाती हैं। इससे अधिक आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण और क्या हो सकता है! आत्म-दर्शन के लिए राग-द्वेषादि कल्लोंकों को शान्त करना आवश्यक है। आचार्य कहते हैं—

रागद्वेषादिकल्जोक्षेऽलोलं यन्मनोजलम्। स पश्यत्यात्मनस्तत्त्रतं यत्तत्वं नेतरो जनः॥
—समाधिशतक श्लो० ३५

राग-द्वेषादि रूप कल्लोलों से जिसका मन अलोल है—चंचल नहीं है वह आत्मतत्त्व का दर्शन कर सकता है इतर-जन उसका दर्शन नहीं कर पाता।

जैन वाङ्मय और उसका क्रमिक विकास

—श्री मदन कुमार मेहता, कलकत्ता

जैन वाङ्मय अतल जलिध के सदश गहन, विशाल व गंभीर है। विरल अध्यवसायी मनी षियों ने ही उसमें अवगाहन करने का प्रयत्न किया है और प्राप्त मुक्ताकण च्लियों और टीकाओं के रूप में प्रस्तुत कर भावी संतित को गहन श्रुत-वारिधि में आलोड़न के लिये प्रेरित किया है।

वाङ् का वाचिक अर्थ वाक् है। अर्थात् जिस साहित्य का स्वजन वाचना या वाणी के द्वारा हो, जिसे प्रबुद्ध व्यक्ति ग्रहण कर अपने स्मृति-कोष में संग्रह कर ले। अतः वाङ्मय को श्रुत भी कहा गया है। जो ज्ञान सुनकर अधीत किया जाय वह श्रुत है। श्रुत का यह क्रम भगवान महावीर के पश्चात् परवर्ती अनेक आचायों तक अवि-चिक्षन्न रूप में चला। ज्ञान की यह मंदाकिनी एक के कंठ से निःस्त होकर दूसरे के श्रुवण कुंड में गिरकर आगे प्रवहमान हुई और पुनः दूसरे के कण्ठ को रसाम्लावित करती हुई अन्य के कर्ण कुहर में विनिम्जित हो गई। यह क्रम प्रायः सहस्र वर्ष पर्यन्त चला।

तीर्थंकर महाबीर जैन धर्म के अन्तिम तीर्थपित थे। एक तीर्थंकर अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की देशना को प्ररूपित नहीं करता। अतः सृजन के रूप में हमें भगवान महाबीर के पूर्वकालीन तीर्थं द्वरों की वाणी उपलब्ध नहीं है! वर्तमान में अर्द्ध-मागधी वाङ्मय महावीर की देशना पर ही आधारित है जिसे उनके गणधरों ने यथित किया। उसी यथित वाणी को हमने आगम नाम से संज्ञित किया है।

आगम के दो प्रकार हैं : अर्थांगम और स्त्रागम।

तीर्थङ्कर अर्थ का जो व्याख्यान करते हैं उसे अर्थागम कहते हैं और गणधर उस व्याख्यात अर्थ का जो सूत्ररूप में ग्रन्थन करते हैं उसे सूत्रागम कहा गया है।

दिगम्बर मान्यता में तीर्थं क्रर की बाणी अनक्षरा है। वे उपदेश की भाषा में कुछ नहीं बोलते। उनके रोम-रोम से दिव्य ध्वनि निःस्त होती है और समवसरण में वही ध्वनि उपस्थित श्रोतागण की अपनी-अपनी भाषाओं में परिणत हो जाती है।

श्वेतास्वर परम्परा में तीर्थङ्कर अर्ड्ड-मागधी भाषा में प्रवचन करते हैं। वह अर्ज्ज-मागधी भाषा समवसरण में उपस्थित सभी अधीं-अनार्थों की भाषा में परिणत हो जाती है। जैनागमों में इसे तीर्थ करों का वचन-वैशिष्ट्य कहा गया है।

भगवान महावीर के स्थारह गणधर थे। तीर्थ कर महावीर अर्थ रूप में जो उपदेश देते थे उन्हें गणधर शब्द-बद्ध कर लेते थे। गणधरों द्वारा ग्रथित सूत्रागम द्वादशांगी के रूप में विद्यमान है। इन वारह अंग शास्त्रों में बारहवां दिख्याद अंग विलुप्त है। ये सभी गणधर चौदह पूर्वधर, द्वादशांगी वाणी तथा समस्त गणिपटक के धारक थे।

भगवान महाबीर की उपस्थिति में ही उनके नौ गणधर कालगत होकर निर्वाण प्राप्त हो गये थे। महास्थिवर इन्द्रभृति गौतम व महास्थिवर आर्य सुधर्मा महाबीर के निर्वाण के पश्चात विसुक्त हुए। अतः महाबीर के निर्वाण के पश्चात आर्य सुधर्मा उनके उत्तराधिकारी हुए। यद्यि महाश्रमण इन्द्रभृति गौतम ज्येष्ठ थे परन्तु महाबीर के निर्वाण के साथ ही उन्हें केवल-ज्ञान व केवल-दर्शन की प्राप्ति हो गई थी। उन्होंने राग और द्रेष को जीत लिया था। वे बीतरागी हो गये थे। वीतरागी श्रमण संघ-शासक नहीं वनते अतः संघ-शासन के संचालन का भार आर्य सुधर्मा पर पड़ा। वर्तमान में जितनी भी श्रमण परम्परायें विद्यमान हैं वे सभी सौधर्म परम्परा से ही संबंधित हैं। अतः भगवान महावीर के पश्चात् द्वादशवाणी के संदेश-वाहक आर्य सुधर्मा बने। उन्होंने महावीर-वाणी का द्वादश आंगों के रूप में पुनराकलन किया। वर्तमान आगम साहित्य सुधर्मा की ही देन है। द्वादश अंग निम्न हैं:

(१) आचारांग (२) स्त्रकृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) व्याख्याप्रकृष्ठि (भगवती) (६) ज्ञाता-धर्मकथांग (७) अपासकदशांग (८) अन्तगडदशांग (६) अनुत्तरोपपातिक (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाक एवं (१२) दृष्टिवाद । अंगों के साथ उपांगों का भी स्रुजन किया गया । अंग और उपांग की यह पद्धित मान्न जैन श्रुत साहित्य में ही नहीं वरन् वैदिक साहित्य में भी विद्यमान है। वेदों के सम्यग् अध्ययन के लिये वेदोंगों की रचना की गई थी। विना वेदोंगों के अध्ययन के वेदों का समुचित रूप नहीं समझा जा सकता।

जैन श्रुत साहित्य में भी अंगों के साथ उपांगों की रचना की गई है। ये उपांग भी अंग सूत्रों की तरह संख्या में १२ ही हैं, अन्तर इतना ही है कि अंग गणधरों द्वारा गुंफित है तथा उपांग स्थिवर अ।च।यों द्वारा रचित है। १२ उपांग निम्न हैं:

(१) उववाइय (२)रायपसेणइय (३)जीवाजीवाभिगम (४) पण्णवणा (५) स्रपण्णत्ति (६) चन्द०णत्ति (७) जंबूदीप पण्णत्ति (८) णिरथाविलया (६) कप्पवदंसिया (१०) पृष्पिया (११) पृष्पःचृलिया (१२)वण्हिदशा।

१२ अंगों की विषय दृष्टि के अनुसार ये १२ उपांग परस्पर सम्बद्ध होने चाहिये परन्तु इस प्रकार का पारस्परिक सामंजस्य इनमें नहीं मिलता। यह एक आश्चर्यका विषय है।

जैन वाङ्मय में छेदसूत्रों का अपना स्थान है। श्रमणों के आचार विषयक नियम जो भगवान महावीर ने निर्धा-रित किये थे उनको उत्तरवर्ती आचार्यों ने छेद सूत्रों में विविध परिवर्त्तन के साथ अन्धित कर लिये। साधु जीवन के लिये छेद सूत्रों का अध्ययन आवश्यक माना गया है। विना छेद स्त्रों के गम्भीर अध्ययन कोई साधु, आचार्य या उपाध्याय जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण पदीं पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

छेद सूत्र छः है :

- (१) निशीथ (२) महानिशीथ (३) व्यवहार (४) दशाश्रुतस्कन्ध (५) वृहत्कलप (६) पंचकलप। मुल सूत्र चार हैं:
- (१) उत्तराध्ययन (२) दशकैकालिक (३) आवश्यक (४) पिण्डनियुक्ति तथा औषनियुक्ति ।

इन स्त्रों का मृल नाम क्यों पड़ा यह भी विचारणीय प्रश्न है। प्राचीन ग्रन्थों में मृल शब्द कहीं भी व्यवहृत नहीं हुआ है। इन स्त्रों का अपने में अत्यन्त महत्त्व है। वस्तुतः भगवान महावीर के मृल भावों का इनमें चयन किया गया था, अतः इनका नाम मृल पड़ा हो—ऐसा सापेक्ष अर्थ परिकल्पित किया जा सकता है। अथवा उनमें धर्म, आचार, दर्शन एवं आदशों का अद्भुत संकलन उपलब्ध है, अतः ये मृल आदशों से परिपूर्ण मृल स्त्र है।

नन्दीसूत्र एवं अनुयोग द्वारः

नन्दीसूत्र के रचियता आचार्य देविद्धिगणि हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इनमें अनेक विषयों का तलस्पर्शी प्रतिपादन है। जैन वाङ्मय के विकास में इसका बहुम्ल्य योगदान रहा है।

अनुयोग द्वार के रचियता आचार्य आर्थरक्षित हैं। यह यन्थ प्रश्नोत्तर शैली से रचित है। विभिन्न विषयों पर प्रश्नोत्तरों द्वारा प्रकाश डाला गया है। इसमें बहुत ही गंभीर विषयों का सरलता से प्रतिपादन किया गया है।

दस पर्णाग (दश प्रकीर्णक)

प्रकीर्णक सम्य उन प्रन्थों को कहा जाता है जो तीर्थं द्वरों के शिष्यों द्वारा निनिध निषयों पर रचे जाते हैं। प्रकीर्णक ग्रन्थों की परम्परा आदि काल से चली आ रही है। वर्तमान में दस प्रकीर्णक ग्रन्थ माने गये हैं—

(१)चउसरण (२)आउर पचक्खाण (३)महापचक्खाण (४) भत्तपरिण्णा (५) तंडुलवेयालिय (६) संथारग (७) गच्छायार (८) गणिविजा (६) देविंदथव (१०) मरणसमाही ।

उपर्युक्त आगमों में श्वेताम्बर मृतिपूजक समुदाय मुख्यतया ४५ आगम स्वीकृत करता है जो इस प्रकार है:

११ अंग

१२ उपांग

६ छेद

४ मूल

२ नन्दी सूत्र व अनुयोगद्वार

१० प्रकीर्णक

ጻፈ

स्थानकवासी व तेरापंथी सम्प्रदाय द्वारा ३२ आगम ही प्रामाणिक रूप में स्वीकार किये गये हैं। वे इस प्रकार हैं:

११ अंग सूत्र

१२ उपांग सूत्र

४ छेद सूत्र

४ मृल सूत्र

१ आवश्यक सूत्र

३२

दिगम्बर परम्परा में वर्तमान में अंग-उपांग साहित्य विद्यमान नहीं है। उनकी मान्यता है कि वीर-निर्वाण के पांच सौ वर्ष परचात न अंग साहित्य ही रहा और न पूर्व ज्ञान के धारक ही रहे। मात्र पूर्वज्ञान व ग्यारह अंगों का आंशिक ज्ञान ही रहा जिसे परवर्ती आचार्यों ने विभिन्न ग्रन्थों में ग्रथित किया है।

आर्य सुधर्मा के निर्वाण के पश्चात आर्य जम्बू उनके स्थान पर पर्द्धर हुए। जम्बू अन्तिम केवली थे। आर्य जम्बू के उत्तराधिकारी आर्य प्रभव हुए। आर्य प्रभव के उत्तराधिकारी आर्य शप्यम्भव हुए। ये श्रुत केवली थे तथा दशवैकालिक जेसे महान सूत्र के रचनाकार थे। शप्यम्भव की दशवैकालिक के रूप में जैन वाङ्मय को अनुषम देन है। आर्य यशोभद्र आचार्य शप्यम्भव के

अन्तेवासी थे। उनके अवसान के पश्चात आर्थ यशोभद्र के उत्पर संघ-संचालन के साथ समस्त श्रुत साहित्य अधीत करने-कराने का भार आया। वे चौदह पूर्वधर थे।

आचार्य यशोभद्र ने ही नन्द राजाओं को प्रतिबोधित कर अर्हत् धर्म में दीक्षित किया था।

आचार्य यशोभद्र ने एक नवीन परम्परा का स्त्रपात किया। उन्होंने एक के स्थान पर दो उत्तराधिकारी मनो-नीत किये। एक थे आचार्य सम्भृतिविजय और दूसरे थे आचार्य भद्रवाहु। संध-संचालन का भार ज्येष्ठ उत्तरा-धिकारी सम्भृतिविजय पर था। आचार्य भद्रवाहु का उनके जीवन काल तक संघ-व्यवस्था से सीधा कोई संबंध न था।

भद्रबाहु महाप्रभावक आचार्य थे। ये छेद स्त्रों के प्रणेता तथा चतुर्दश पूर्वधर थे। इनके निधन के साथ ही चतुर्दश पूर्वधर परम्परा समाप्त हो गई। जम्बू स्वामी के अनन्तर महावीर धर्म संघ के ये पंचम आचार्य थे।

प्रथम वाचना — आचार्य भद्रबाहु के काल में १२ वर्षीय दुष्कर अकाल पड़ा। इससे सारी संघ-व्यवस्था अस्तव्यस्त हो गई। साधु समाज पर भी इसका भयंकर प्रभाव पड़ा। अनेक मेधावी व ज्ञानी अमण कालकवितत हो गये, अनेक दूरस्थ प्रदेशों में चले गये। सुनने-सुनाने और अधीत करने की परम्परा में विक्षेप पड़ गया। ज्ञान का बहुम्ल्य भण्डार लेखन के अभाव में विस्मृति के गर्भ में समा गया। दुष्काल के उपरान्त अवशिष्ट साधु समाज पुनः पाटलीपुत्र में एकत्रित हुआ। सबसे पहली आव-श्यकता यह महसूस की गई कि श्रुत-सम्पदा का कैसे संरक्षण किया जाय। आचार्य स्थुलिभद्र, जो आचार्य भद्रबाहु के मनोनीत उत्तराधिकारी थे, के नेतृत्व में समागत श्रुतज्ञ अमणी द्वारा ११ अंगी का पुनर्स कलन हुआ। इसे हम प्रथम वाचना कहते हैं।

आचार्य भद्रवाहु पर्यन्त श्वेताम्वर व दिगम्बर मान्यता सदश ही हैं। यहीं से दिगम्बर-श्वेताम्बर श्रुतधारा का प्रवाह दो विभिन्न धाराओं के रूप में प्रवाहित होता है। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार जो श्रुत साहित्य ११ अंग उपलब्ध है—वह तीर्थ कर महावीर द्वारा उपदिष्ट तथा गणधरों द्वारा ग्रन्थित है। दिगम्बर यह वात स्वीकृत नहीं करते।

द्वितीय वाचना-पाटलीपुत्र की प्रथम वाचना के पश्चात स्यारह अंगों का ज्ञान उसी प्रकार श्रुत परम्परा से प्रवाहित रहा । शिष्य ने गुरु से मुखाय अधीत किया और स्मृति कोष में संरक्षित कर लिया। पुनः शिष्य ने अपने प्रशिष्य की उसी प्रकार अधीत करवाया । पर स्मृति की भी एक सीमा होती है। शनैः शनैः विशाल शान राशि को धारण करने वाले शिष्यों-प्रशिष्यों की कभी होती गई! बीर-निर्वाण के सात सौ वर्षी के पश्चात पुनः १२ वर्षी का दुष्काल पड़ा । नन्दी चुणीं में उल्लेख है कि अकाल में अनेक मेधावी श्रुतज्ञों का अवसान हो गया । श्रुत परम्परा अस्तव्यस्त हो गई। दुर्भिक्ष के पश्चात् युग प्रधान आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मधुरा में श्रुत संरक्षण के लिये आगम-वाचना का आयोजन किया गया । सुविज्ञ आगम-वेता सुनिगणों को बुलाया गया। जिन्हें जिस रूप में स्मरण था उसी रूप में संकलित किया गया। मधुरा में होने से इसे माथुरी वाचना कहते हैं।

माधुरी वाचना के समानान्तर ही आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में वल्लभी (गुजरात) में एक साधु-सभा समवेत हुई। उसमें भी उपस्थित मुनियों ने अपनी-अपनी स्मृति के आधार पर समस्त अंगीं-उपांगीं का संकलन व सम्पादन किया। स्मृति आधार होने से इतिवृत्तात्म-कता में पिष्ट-पेषण होता है। ग्रन्थ-विस्तार कम करने के लिये अन्य सूत्र का निर्देश देकर सूत्रकार आगे बढ़ गये।

तीयरी वाचना—दो दो वाचनायें सम्पन्न होने पर भी लेखन द्वारा श्रुत साहित्य सुरक्षित रखने की चेष्टा नहीं हुई। वही सुखाग्र रखने की परिपाटी ही रही। अतः श्रुत गाहित्य कुछ ही मेधावी श्रमणों तक ही सीमित रह गया। अतः तत्कालिक समाज ने चिन्तित होकर स्मृति आधार के स्थान पर लेखन द्वारा श्रुत साहित्य को संरक्षित करने का संकल्प विया। वीर-निर्वाण के एक सहस्र वर्ष पश्चात् आचार्य देवधिं गणि क्षमाश्रमण के आचार्यत्व में बलभी में तीसरी वाचना समायोजित की गई। इसमें समस्त आगम साहित्य लिपिबद्ध किया गया। सम्प्रति जो भी जैन वाङ्मय विद्यमान है उसके लिये हम युगप्रधान आचार्य देवधिंगणि क्षमा-श्रमण के चिरमृणी हैं। यदि ऐसा न होता तो समस्त श्रुत-साहित्य विश्वंखलित होकर नष्ट हो जाता अथवा श्रुतः विद्वानों के अवसान के साथ ही विस्मृति के महासागर में विलीन हो जाता।

आगमों के लिखित रूप में उपलब्ध हो जाने के परचात् आचारों को अक्षय निधि प्राप्त हो गई। फिर तो सहस्र लोहिये लिपिक स्त्रों की प्रतिलिपियाँ करने में लग गये। नगर-नगर में ज्ञान के भण्डार स्थापित हो गये। मनीषियों को अत सागर में अवगाहन करने का अवसर प्राप्त होने लगा। प्राकृत के साथ संस्कृत शिक्षा की ओर ध्यान गया। फिर तो उनको समझने स्पण्टीकरण करने के लिये चूणियों, टीकाओं की रचनायें हुईं। मूल प्राकृत के साथ संस्कृत में टीकायें की गईं। आचार्य हरिभद्र, शीलंकाचार्य, शान्त्याचार्य, मललधारी हेमचन्द्र, मलयगिर, क्षेमकीर्तं, अभयरेवस्रि आदि अनेक महाप्रभावक आचार्यों ने विशेष टीकायें लिखकर श्रुत साहित्य को करामलकवत स्पष्ट कर दिया।

यदि चूर्णियाँ या टीकार्येन होतीं तो हम श्रुत ज्ञान में कोरे ही रह जाते।

खंभात, पाटन व जैसलमेर के ज्ञान भण्डार अपने में बहुमूल्य निधियाँ समेटे हुए आज भी अृत सुरक्षा की अमर गाथा सुना रहे हैं।

वर्तमान में भी हिन्दी, अंग्रेजी व इतर भाषाओं में जैनागमों का प्रकाशन किया गया है जो स्तुत्य प्रयत्न है। इस सम्बन्ध में हम यदि सम्प्रदायगत कार्य न कर एक मंच से समवेत कार्य करें तो श्रुत साहित्य अधिक महिमा-मण्डित हो सकता है।

जैन दर्शन के आलोक में नयवाद श्रौर द्रव्यवाद

—श्री रमेश मुनि शास्त्री

नयवाद जैन दर्शन का एक अतीव मौलिक और अति विशिष्ट वाद है। चैतन एवं अचेतन के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिये प्रस्तुत वाद एक सर्वींग पूर्ण दिष्टकीण व्यक्त करता है और भिनन-भिन्न एकान्तिक दिष्टवीं में आधारभृत समन्वय स्थापित करता है। स्याद्वाद सिद्धान्त का यही मूल आधार है।

नयवाद को समझने के लिये यह नितान्त अनिवार्य है कि उनके मूल को जानने का प्रयास किया जाए। सामान्य रूपेण वैचारिक जगत में तीन धाराएँ प्रवाहित हैं। वे ये हैं—जानाश्रयी, अर्थाश्रयी और शब्दाश्रयी। जो विचार संकल्प मूलक होता है, उसे ज्ञानाश्रयी कहते हैं। नैगमनय ज्ञानाश्रयी विचार धारा है। जो अर्थ की मीमांसा करता है वह अर्थाश्रयी विचार है। संग्रह, व्यवहार और ऋजुस्त्र ये तीनों नय अर्थाश्रयी विचार धारा को लिये हुए हैं। ये नय अर्थ के भेद और अभेद की मीमांसा करते हैं। अर्थाश्रत अभेद व्यवहार को संग्रह नय में लिया गया है। शब्द अ्रथी विचार धारा वह है जो शब्द को प्रधान मानकर चलती है। शब्द, समिभड़ और एवंभृत ये तीनों नय शब्दाश्रयी विचार हैं।

अभेद संग्रह रिष्ट का प्रमुख आधार है और भेद व्यवहार रिष्ट का प्रधान आधार है। संग्रहनय भेद को

स्त्रीकार नहीं करता है और व्यवहार नय अभेद को नहीं मानता है। नैगम नय का आधार है भेद और अभेद, ये दीनों एक पदार्थ में विद्यमान हैं। ये सर्वधा रूप से एक हैं, दो नहीं।परन्तु मुख्य एवं गीण भाव से दो हैं। इस दिष्टकोण में प्रमुखता एक की ही रहती है। द्वितीय सन्मुख रहता है पर गौण रूप से। कभी धर्म मुख्य बनता है और कभी धर्मी मुख्य वन जाता है। प्रयोजन और अपेक्षा के अनुसार क्रम में परिवर्तन होता रहता है। अज़ुसूत्र नय का आधार है चरम भेद। यह केवल वर्तमान पर्याय को ही यथार्थ मानता है, उसे ही बास्तविक मानता है। पूर्व एवं पश्चात की पर्यायों को नहीं। शब्द भेद के अनुसार अर्थ का भेद होता है। यही शब्द नय का मुल आधार है। प्रत्येक शब्द का अर्थ अलग-अलग है। एक अर्थ के दो वाचक नहीं होते हैं। यही समिभइड नय की मुल भित्ति है। एवंभूत नय के अनुवार अर्थ के लिये शब्द प्रयोग उसकी प्रस्तुत किया के अनुसार होना चाहिये। समभिरूढ नय अर्थ की किया में अप्रवृत्त शब्द को उसका वाचक मानता है। वह बाचक और बाच्य के प्रयोग को त्रैकालिक मानता है। किन्तु एवंभूत नय वाच्य-वाचक के प्रयोग को केवल वर्तमान काल में ही स्वीकार करता है। इस दिष्टकोण के अनुसार सात नयीं के विषय इस रूप में बनते हैं :

- (१) नैगम-अर्थ का भेद, अभेद और दोनों
- (२) संग्रह—अभेद
 - (क) पर संग्रह—चरम अभेद
 - (ख) अपर संग्रह—अवान्तर अभेद
- (३) व्यवहार-भेद, अन्नान्तर भेद
- (४) ऋजुसूत्र—चरम भेद
- (५) शब्द-भेद
- (६) समभिरूढ़ भेद
- (७) एवंभूत-भेद

इन सात नयों में संग्रह नय की हिष्ट अभेद है। भेद हिष्टियाँ पाँच हैं और नैगम नय की हिष्ट भेद और अभेद—दोनों से संयुक्त है। वह संयुक्त हिष्ट इस तथ्य का संस्चक है कि अभेद में ही भेद है और भेद में ही अभेद है। जैन दर्शन ने भेद के साथ ही अभेद को स्वीकार

किया है। चेतन और अचेतन ये दोनों पदार्थ ही सत् हैं। अतएव सत्व की अपेक्षा से अभिन्न हैं। पर इन दोनों में स्वभाव भेद अवस्य है, इसलिये भिन्न है। में अभेद और भेद दोनों तात्त्रिक हैं। क्यों कि भेद-शुन्य अभेद में अर्थ किया नहीं होती है, विशेष में ही अर्थ किया होती है। परन्तु अभेद शुन्य भेद में भी अर्थ किया नहीं होती है, कारण और कार्य का सम्बन्ध नहीं मिलता है। पूर्व क्षण उत्तर क्षण का कारण तभी बनता है जबकि दोनोंमें एक धूब, अर्थात् अभेदांश, अन्वयी माना जाए। एतदर्थ ही जैन दर्शन अभेदाश्रित भेद, और भेदा-श्रित अभेद को मानता है। नय के मुख्य भेद दो हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। नैगम, संग्रह, व्यवहार व ऋजुसूत्र च।र नय द्रव्यार्थिक हैं और शब्द, समभिष्द और एवंभूत तीन नय पर्यायार्थिक हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से नय कावर्गीकरण दो प्रकारसे हुआ है-निश्चय नय और व्यव-हार नय । जो नय पदार्थ के मृल और पर-निरपेक्ष स्वरूप को बतलाता है वह निश्चय नय कहलाता है और जो नय पराश्रित दूसरे पदार्थी के निमित्त से समुत्पनन पदार्थ-स्वरूप को बतलाता है उसे व्यवहार नय कहते हैं। निश्चय नय भूतार्थ है और व्यत्रहार नय अभूतार्थ है। तात्पर्यकी भाषामें यो भी कहाजा सकता है कि पदार्थ के पारमार्थिक तात्त्रिक शुद्ध स्वरूप का ग्रहण निश्चय नय से होता है और अगुद्ध अपारमार्थिक स्वरूप का ग्रहण व्यवहार नय से होता है। व्यवहार नय के मुख्य प्रकार दो हैं: सद्भृत व्यवहार नय और असद्भृत व्यवहार नय । एक पदार्थ में गुण-गुणी के भेद से, भेद को विषय करने वाला सद्भूत व्यवहार नय है। इसके भी दो प्रकार हैं: उपचरित सद्भृत व्यवहार नय, एवं अनुषचरित राद्भृत व्यवहार नय । सोपाधिक गुण और गुणी में भेद ग्रहण करने वाला उरचरित सद्भूत व्यवहार नय है। निस्पाधिक गुण और गुणी में भेद ग्रहण करने वाला अनुपचरित सद्भृत व्यवहार नय है। जिस प्रकार जीव का मतिज्ञान, अतुज्ञान आदि लोक में व्यवहार होता है व्यवहारमें उपाधि रूप ज्ञानावरण कर्म के आवरण से कलुषित आत्मा का मल सहित ज्ञान होने से जीव के मतिज्ञान, अतज्ञान, अवधि ज्ञान और मनःपर्यव ये चारों क्षयोपशमिक

ज्ञान सोपाधिक हैं। अतएव इसे उपचरित सद्भृत व्यवहार नय कहते हैं। निरुपाधिक गुण-गुणी के भेद की ग्रहण करने वाला अनुपचरित सद्भुत व्यवहार नय है। उपाधि से मुक्त गुण के साथ जब उपाधि जीव का सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है निक्पाधिक गुण-गुणी के भेद से अनुपचरित सद्भृत व्यवहार नय सिद्ध हो जाता है। जैसे केवल ज्ञान आत्मा का सर्वथा निरावरण शायिक ज्ञान है। अतएव वह निरुपाधिक है। असद्भृत व्यवहार नय के दो प्रकार हैं : उपचरित असद्भृत व्यवहार नय एवं अनुपचरित असद्भृत व्यवहार नय । संश्लेष युक्त पदार्थ के सम्बन्ध विषय करने वाला जो नय है वह अनुपचरित असद्भृत व्यवहार नय है। जैसे जीव का शरीर। यहाँ पर जीव और देह का सम्बन्ध परिक्रल्पित नहीं है। किन्तु जीवन पर्यन्त स्थायी होने से अनुपचरित है। जीव एवं देह के भिन्न होने से वह असद्भृत ब्यवहार भी है। संश्लेष रहित पदार्थ के सम्बन्ध को विषय करने वाला उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे रामप्रसाद का धन ! यहाँ पर रामप्रसाद का धन के साथ सम्बन्ध माना गया है। किन्त्र वास्तव में वह परिकल्पित होने से उपचरित है। रामप्रसाद और धन ये दोनों वस्तुत: भिनन-भिन्न द्रव्य हैं। एक नहीं हैं। रामप्रसाद और धन का यथार्थ सम्बन्ध नहीं है।

निश्चय नय पर-निरपेक्ष स्वभाव का प्रतिपादन करता है। जिन-जिन पर्यायों में पर-निमित्त पड़ जाता है उन्हें वह शुद्ध नहीं कहता है। पर-जन्य पर्यायों को वह पर मानता है। जैसे जीव के राग-द्वेष, काम-क्षोध, मोह-लोभ प्रभृति भावों में यद्याप जीव स्वयं उपादान होता है, वही राग-रूप से परिणति करता है परन्तु यह जो भाव है वह कर्म निमित्तक है। अत्य जीवों और संसार के समस्त अन्य अजीवों को वह अपना मान ही नहीं सकता। परन्तु जिन आत्म-विकास के स्थानों में पर का किञ्चित् मात्र भी निमित्त होता है उन्हें वह 'स्व' नहीं, 'पर' मानता है। निश्चय नय की दृष्टि से जीव बद्ध नहीं प्रतीत होता। कर्म बद्ध अवस्था जीव का त्रैकालिक स्वभाव नहीं है।

क्यों कि कर्म का क्षय होने पर उसकी सत्ता नहीं रहती है। निश्चय नय मैं जीव के विशुद्ध और निर्विकार स्वरूप का संदर्शन होता है, किन्तु जीव का वैभाविक-भाव परि-लक्षित नहीं होता है। निश्चय नय में मन, तन और इन्द्रियाँ भी नहीं झलकती है। क्यों कि वे आज हैं, कल नहीं भी हैं। आरमा का कर्म बद्ध रूप, स्पृश्य रूप, भेद रूप तथा अनियत रूप जो साधारण दृष्टि में झलकता है, पर है। अहमा बद्ध नहीं है, अल्पूरूप है, नियत है और अभिन्न है। जब तक यह परिबोध नहीं होगा, तब तक जीव भव-बन्धनों से विसक्त नहीं हो सकता। जहाँ पर विकल्प है, भेद है वहाँ निश्चय नहीं है। निश्चय नय वस्तुतः विकल्प और भेद से रहित होता है। उसमें देह, इन्द्रिय, मन, कर्म आदि से परे एकमात्र शुद्धतम आत्म-तत्व पर दिष्ट रहती है। कर्म पुदुमल का जो उदय भाव है वह यथार्थ में निश्चय दृष्टिका लक्ष्य नहीं है। उसका प्रमुख लक्ष्य है---व्यवहार नय को लांघकर परम विश्वद्ध निर्विकार स्थिति पर पहुँचना, जहाँ पर किसी भी प्रकार का मोह नहीं है, क्षोभ नहीं है, पर्यायों की प्रतिपत्त-प्रतिक्षण परिवर्तित हो रही दशा, जो भेद रूप दिष्टगोचर होती है, उससे भी परे जो अभेद-द्रव्यमय भाव है, जो अनादि काल से अशुद्ध नहीं हुआ है। और जब वह अशुद्ध नहीं हुआ तब शुद्ध भी कहाँ रहा १ इस प्रकार अशुद्ध एवं शुद्ध इन दोनों से परे निर्विकल्प, त्रिकाली, एकमेवा-द्वितीय निज स्वरूप है। वही शुद्ध निश्चय नय का स्वरूप है। शुद्ध निश्चय नय द्रव्य प्रधान है, वह नारक, तिर्यञ्च आदि पर्यायों को ग्रहण नहीं करता है। किन्तु आत्मा के विशुद्ध ज्योतिर्भय स्वरूप को ही ग्रहण करता है। अन्य कोई भी उसके लिये ज्ञातव्य नहीं रहता है और उपादेय भी नहीं रहता है।

आत्मा के असंख्यात और अनन्त विकल्पों का परिलाग कर स्व-स्वरूप की प्रतिति करना ही निश्चय नय है। निश्चय नय निमित्त को न पकड़ कर उपादान को ही पकड़ता है जब कि व्यवहार नय की दृष्टि निमित्त पर ही होती है। निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों में यह भी अन्दर है कि निश्चय नय अभेद प्रधान है और व्यवहार नय भेद प्रधान है। भेद में अभेद देखना यह निश्चय नय है और अभेद में भेद देखना यह व्यवहार नय है और अभेद में भेद देखना यह व्यवहार नय है और अभेद में भेद देखना यह

का कार्य है। जब हम कहते हैं कि ज्ञान स्वयं आरमा है तो यह निश्चय नय की भाषा है और ज्ञान आत्मा का एक मोलिक गुण है तो यह व्यवहार नय की भाषा हुई। यहाँ पर आत्मा सुणी है और उसका सुण 'ज्ञान' है। गुण कभी भी गुणी से विलग नहीं हो सकता। गुणी और गुण में अखण्डता और अभेदता होती है। व्यवहार नय की दिष्ट से आत्मा को गुणी माना जाता है और ज्ञान की उसका गुण माना गया है। यह भेद दृष्टि का प्रतिपादन है। जैन दर्शन के मन्तव्य के अनुसार गुणी और गुण का तादातम्य सम्बन्ध है। किन्तु आधार-आधेय भाव का सम्बन्ध नहीं है जिस प्रकार घृत और पात्र में होता है। घृत आधेय है और उसका आधार पात्र है। घी संयोग सम्बन्ध से रहता है। परन्तु घृत और पात्र की स्वतन्त्र सत्ता है। उनमें तादारम्य सम्बन्ध नहीं है जबिक जीव और उसके ज्ञान गुण का सम्बन्ध तादात्म्य है। जैन दर्शन के अभिमतानुसार गुणी और गुण में न एकान्त भेद होता है और न एकान्त अभेद। कथंचित भेद है, और कथंचित अभेद है। ज्ञानगुण जीव द्रव्य के अतिरिक्त कहीं नहीं रहता है। यह सद्भृत व्यवहार नय है।

निश्चय नय और व्यवहार नय इन दोनों को समझने के लिये कुछ तथ्य और भी ज्ञातन्य हैं। जीव और बद्ध होने वाले कर्म-पुद्गल को एक क्षेत्रावगाही बताया गया है। आकाश रूपक्षेत्र में जीव एवं कर्मदीनों रहते हैं। इन दोनों का एक ही क्षेत्र है। प्रस्तुत कथन व्यवहार इिट से है। निश्चय नय की अपेक्षा से प्रत्येक द्रव्य अपने में ही रहता है। किसी दूसरे में नहीं। जीव जीव में रहता है, कर्म कर्म में रहता है। व्यवहार नय की दृष्टि से जीव और कर्म एक क्षेत्रावगाही और संयोगी होने से दोनों का क्षेत्र एक कहा गया है। जैसे दूध और पानी मिलने पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह दूध का जल है। बिल्क कहा जाता है कि यह दूध है क्यों कि ये दोनों एकमेल हो गये हैं। किन्तु निस्चय नय की दिण्ट से दूध दूध है, पानी पानी है। एक क्षेत्रावगाही होने मात्र से दोनों एक नहीं हो सकते। वैसे ही जीव और कर्म एक क्षेत्रावगाही होने से एक नहीं हो सकते। जीव और कर्म इन दोनों

की सत्ता पृथक्-पृथक् है। दोनों का स्वभाव एक दूसरे से भिन्न है।

ज्ञाता का वह अभिप्राय विशेष 'नय' है प्रमाण के द्वारा जानी हुई वस्तु के एक अंश-विशेष की ग्रहण करता है। प्रमाण में अंश का विभाजन नहीं हो सकता। वह तो पदार्थ को समग्र भाव से ही ग्रहण करता है। जैसे—यह घड़ाहै। घट अनन्त धर्मात्मक है। वह रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि अनेक गुण-धर्मी से संयुक्त है। उन गुणों का वर्गीकरण न करके सम्पूर्ण रूप से जानना प्रमाण'है और उन गुणों का विभाजन करके जानना 'नय' है। प्रभाण और नय ये दोनों ज्ञान की ही प्रबू-त्तियाँ हैं। जब ज्ञाता की टब्टि पूर्ण रूप से ग्रहण करने की होती है तब उसका ज्ञान 'प्रमाण' होता है। जब उसका उसी प्रमाण से ग्रहण की हुई पदार्थ को खण्ड-७,ण्ड रूप से यहण करने का अभिप्राय होता है तब उस अंश-ग्राही अभिप्राय को 'नय' कहा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रमाण और नय ये दोनों ज्ञान के ही षर्याय हैं।

प्रमाण को सकलादेश कहा है और नय को विकला-देश कहा गया है। सकलादेश में पदार्थ के समस्त धर्मी की विवक्षा होती है। किन्तु विकलादेश में एक धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मी की विवेचना नहीं होती है।

सारपूर्ण शब्दों में यह कथन भी यथार्थता को लिये हुए है कि नयवाद जैन दर्शन का एक प्राणभूत तस्त्र है और दार्शनिक-विचारणाओं के समन्वय का आधार-स्तम्भ है।

जैन दर्शन में द्रव्य, सत्, पदार्थ, तत्त्व, तत्त्वार्थं आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में हुआ है। तत्त्व सामान्य के लिए इन सभी शब्दों का प्रयोग हुआ है। जैन दर्शन तत्त्वऔर सत् इन दोनों को एकार्थक मानता है। द्रव्य और सत् में भी एकान्ततः कोई भेद नहीं है। सत्ता सामान्य की अपेक्षा से सभी सत् हैं। जो सत् है वही अन्य रूप से असत् है। इसी मौलिक दिष्ट को संलक्ष्य में रख कर कहा गया है कि सब एक हैं, क्योंकि सभी सत् हैं।

सत् का स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि सत् उत्पाद, व्यय और धूंब्यात्मक है।

गुण और पर्याय वाला द्रव्य है। उत्पाद एवं व्यय के स्थान पर 'पर्याय' शब्द प्रयुक्त है और धृोव्य के स्थान पर 'गुण' शब्द का प्रयोग हुआ है। उत्पाद तथा व्यय परिवर्तन के मूचक हैं, ध्रौव्य निखता की संस्चना देता है। गुण निल्यता का सुचक है और पर्याय परिवर्तन का वाचक है। प्रत्येक पदार्थ के दो रूप होते हैं—एकता और अनेकता। सदशता और विसदशता, नित्यता और अनि-त्यता, स्थायित्व और परिवर्तन, इन दोनों में से प्रथम पक्ष धूर्विय का बाचक है, गुण का सचक है। द्वितीय पक्ष उत्पाद और व्यय का प्रतीक है, पर्याय सुचक है। पदार्थ के स्थायित्व में स्थिरता रहती है, एकरूपता होती है। परिवर्तन में पूर्व रूप का क्षय होता है और उत्तर रूप की उत्पत्ति होती है। पदार्थ के उत्पाद एवं विनाश में व्यय और उत्पत्ति के रहते हुए पदार्थ सर्वथा रूप से विनष्ट नहीं होता, न सर्वथा नवीन ही उत्पन्न होता है। उत्पाद एवं विनाश के मध्य एक प्रकार की स्थिरता रहती है, जो न विनष्ट होता है और न उसकी उत्पत्ति ही होती है।

जैन साहित्य का परिशीलन-अनुशीलन करने से विदित होता है कि 'द्रुव' शब्द का प्रयोग सामान्य के लिये भी हुआ है। सामान्य एवं जाति को प्रगट करने के लिये द्रुव्य और व्यक्ति या विशेष को प्रगट करने के लिये 'पर्याय' शब्द का प्रयोग किया जाता है। सामान्य या द्रुव्य दो प्रकार का है। तिर्यक् सामान्य और उध्वेता सामान्य। एक ही काल में अवस्थित अनेक देश में रहने वाले, अनेक पदार्थों में जो सहशता की अनुभृति होती है उसे 'तिर्यक् सामान्य' कहते हैं। जब कालकृत भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में किसी द्रुव्य का अन्वय अथवा एकल्व विवक्षित हो, एक विशेष वस्तु की अनेक अवस्थाओं की एक-एकता अथवा धूरिय अनेक्षित हो, तय उस धूरिय सूचक अंश को ऊध्वता-सामान्य कहा जाता है।

जिस प्रकार सामान्य का वर्गीकरण दो प्रकार से हुआ है उसी प्रकार विशेष के दो प्रकार हैं—तिर्थक् सामान्य के साथ रहने वाले जो विशेष विश्वक्षित हों, वह तिर्यक् विशेष कहलाता है और ऊर्ध्वता सामान्याश्रित जो पर्याय हो, उसे ऊर्ध्वता विशेष कहते हैं। द्रव्य के ऊर्ध्वता

सामान्याश्रित पर्यायों की परिणाम भी कहा गया है। विशेष तथा परिणाम ये दोनों द्रव्य के परिणाम हैं, क्यों कि ये दोनों परिवर्तनशील हैं। परिणाम में काल-भेद की प्रमुखता अवस्य रहती है जब कि विशेष में देश-भेद की प्रधानता होती है। जो काल की दृष्टि से परिणाम है वे ही देश-इंडिट से विशेष हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पर्याय, परिणाम, तिशेष, उत्पाद और ब्यय ये सभी शब्द एकार्थक है। द्रव्य-विशेष की विविध अवस्थाओं में इन समस्त शब्दों का अन्तर्भाव हो जाता है। द्रव्य और पर्याय का यथार्थ स्वरूप समझ लेने के पश्चात यह जान लेना अति आवश्यक है कि द्रव्य और पर्याय इन दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध है। द्रव्य और पर्याय ये दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं या अभिन्न हैं ? इस विचारणीय प्रश्न का समाधान यह है कि आत्मा एक द्रव्य है और सामायिक आत्मा की एक अवस्था-विशेष है अर्थान् उसकी एक पर्याय है। सामायिक आत्मा से भिन्न नहीं है। तथ्य यह है कि पर्याय द्रव्य से भिन्त नहीं है। यह द्रव्य और पर्याय की अभेद दृष्टि है। इस दृष्टिकोण का जो समर्थन हुआ है वह आपेक्षिक है। किसी दिष्टि से आत्मा और सामायिक ये दोनों एक हैं। क्यों कि सामायिक आत्मा की एक अवस्था है--आत्म-पर्याय है। अतएव सामायिक आत्मा से अभिन्न है, अभेद है। अन्यत्र द्रव्य और पर्याय के भेद का समर्थन किया गया है। पर्याय अस्थिर है, तथापि द्रव्य स्थिर है। इस कथन से स्पष्टतः भेद-इष्टि झलकती है। यदि द्रव्य और पर्याय इन दोनों का परस्पर में एकान्ततः अभेद होता तो पर्याय के विनष्ट होते ही द्रव्य का भी क्षय हो जाता। इसका अर्थ यह है कि पर्याय द्रव्य नहीं है । द्रव्य और पर्याय ये दोनों कथंचित भिन्न हैं। पर्याय बदलती रहती है किन्तु द्रव्य अपने आप में अपरिवर्तनशील पर्याय-दृष्टि की प्रमुखता की दृष्टि से द्रव्य एवं पर्याय इन दोनों के कथंचित भेद का समर्थन किया जा सकता है। दब्य-इष्टिकी प्रधानता से द्रव्य और पर्याय के कथंचित अभेद की परिपृष्टि की जा सकती है। दृष्टि-भेद से द्रव्य और पर्याय के अभेद एवं भेद की विवेचना की जाती है।

इसी प्रकार आत्मा और ज्ञान के सम्बन्ध में भी चिन्तन किया गया है। ज्ञान आत्मा का एक मौलिक और अतीव विशिष्ट गुण है। ज्ञान की अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है। किन्तु 'आत्मा' द्रव्य वही रहता है। ऐसी अवस्था में ज्ञान और आत्मा कथंचित भिन्न है। ज्ञान गुण की आत्मा से भिनन सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह आत्मा की ही एक अवस्था विशेष है। इस दिंग्टिकोण से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा और ज्ञान इन दोनों में कथंचित अभिन्नता है। यदि ज्ञान और आत्मा में एकान्ततः अभेद होता तो ज्ञान गुण के विनाश के साथ ही साथ 'आत्म द्रव्य' का भी क्षय हो जाता । ऐसी अवस्था में एक शास्वत-अक्षय 'आत्मा' द्रव्यकी सिद्धि नहीं होती। यदि आत्मा और ज्ञान इन दोनों में कथंचित भेद नहीं होता तो एक व्यक्ति के ज्ञान और दूसरे व्यक्ति के ज्ञान में कोई अन्तर नहीं होता। एक व्यक्ति के ज्ञान की स्मृति अन्य व्यक्ति को भी हो जाती! अथवा इस व्यक्ति के ज्ञान का स्मरण उसे स्वयं को भी नहीं हो पाता। ऐसी अवस्था में ज्ञान के क्षेत्र में अव्यवस्था हो जाती। अतएव आत्मा और ज्ञान का कथंचित भेद और कथंचित अभेद मानना ही सर्वथा उचित है। तथ्य यह है कि द्रव्य-दृष्टि से आत्मा और ज्ञान का अभेद सम्बन्ध है। और पर्याय की अपेक्षा से दोनों का भेद मानना चाहिये।

द्रव्य के कितने भेद हैं ? प्रस्तुत प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि जहाँ तक द्रव्य सामान्य का प्रश्न है सव एक हैं। वहाँ किसी भी प्रकार की भेद-कल्पना समु-त्पन्न ही नहीं है। जो द्रव्य है, वह तत्त्व है और सत् है। सत्ता सामान्य की हिंद से चिन्तन किया जाय तो एक और अनेक, सामान्य और विशेष, चेतन एवं अचेतन गुण और पर्याय सभी एक है। अनेक नहीं है। उक्त हिंदकोण संग्रह नय की अपेक्षा से सत्य है। संग्रह नय सर्वत्र अभेद देखता है। भेद की उपेक्षा करके अभेद का जो ग्रहण है वह संग्रह नय का प्रमुख कार्य है। इसी सन्दर्भ में यह तथ्य भी जातव्य है कि अभेदगाही संग्रह नय भेद का निपेध नहीं करता है। अपित भेद को अपने क्षेत्र से बाहर अवश्य समझता है। प्रस्तुत नय का अन्तिम विषय सत्ता सामान्य है। हर द्रव्य सत् है। सत्ता

[३३

सामान्य का जो ग्रहण है वह एकता का अन्तिन सीपान है। जहाँ समूचे भेद भेद-रूप से सत् होते हुवे भी अभेद रूप से प्रतिभासित होते हैं। सत्ता भेदों को विनष्ट नहीं करती है अपिद्ध उनमें सद्भाव और एकत्व संस्थापित करती है, भेद के रहते हुए भी अभेद का संदर्शन होता है अनेकता में भी एकता टब्टि-गोचर होती है। इस टब्टि से द्रव्य अथवा तस्व एक है।

यदि हम द्वैत-दिष्ट से चिन्तन करते हैं तो द्रव्य को दो रूपों में देख सकते हैं। ये दो रूप इस प्रकार है—जीव और अजीव। चैतन्य धर्म वाला 'जीव' है और उससे सर्वधा विपरीत 'अजीव' है। इस प्रकार समृचा लोक दो विभागों में विभक्त हो जाता है। जीव और अजीव के अन्य भेद करने पर द्रव्य के छुः भेद हो जाते हैं। जीव द्रव्य अरूपी है, अमृर्त्त है। अजीव द्रव्य के दो भेद हैं—रूपी और अरूपी। पुद्गल रूपी द्रव्य है। अरूपी अजीव द्रव्य के चार भेद हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मा-स्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल। इन छुः द्रव्यों में प्रथम के पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। और काल द्रव्य अन्स्तिकाय है।

अस्तिकाय का अभिप्राय है-प्रदेश-बहुत्व। अस्ति और काय इन दो शब्दों से अस्तिकाय शब्द निर्मित हुआ है। 'अस्ति' का शब्दार्थ है-विद्यमान होना और काय का अर्थ है--प्रदेशों का समृह। जहाँ अनेक प्रदेशों का समृह होता है जसे 'अस्तिकाय' कहते हैं। छहों द्रव्यों के समुच्चय की लीक कहा गया है। का ऐसा कोई विभाग नहीं है जहाँ पर यह द्रव्य न हो। सभी द्रव्यों के लिये लोक आधारभूत है। इसी सन्दर्भ में एक चिन्तनीय प्रश्न खड़ा होता है कि लोक का स्वरूप षड्द्रव्यात्मक क्यों है १ क्या इनके अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य नहीं है १ इसका समाधान यह है कि इस चराचर विश्व में प्रमुख द्रव्य दो हैं —जीव और अजीव। वे स्थिर भी हैं और गतिशील भी हैं। यह स्थिति और गति बिना आधार के नहीं हो सकती। जीव एवं प्रदेगल की गति और स्थिति आदि के कारण क्या है। इन कारणों की विवेचना ही समूचा लोक है और उन सभी कारणों को संलक्ष्य में रखकर ही छः द्रव्य माने गये हैं। इन छहीं

द्रव्यों में धर्मास्तिकाय द्रव्य गित का सहायक कारण है और अधर्मास्तिकाय द्रव्य स्थिति का है। इस गित और स्थिति का आधार आकाशास्तिकाय द्रव्य है और उस में लगने वाले समय का वोधक काल द्रव्य है। यह गित और स्थिति रूप किया करने वाले दो द्रव्य हैं—एक है जीवास्तिकाय और दूसरा है पुद्गलास्तिकाय। हम जो कुछ भी विविधताएं और विचित्रताएँ देखते हैं, वे सभी जीव एवं पुद्गल द्रव्य पर आधारित हैं। इनके द्रारा लोक-व्यवस्था का चक चलता रहता है। ये सभी द्रव्य अनादि-अनन्त हैं।

छहीं द्रव्यों में आकाश द्रव्य सर्वत्र व्यापक है और अन्य द्रव्य उसके व्याप्य हैं। आकाश धर्म-अधर्म आदि शेष पाँच द्रव्यों के साथ भी रहता है और उनके अतिरिक्त उनसे बाहर भी रहता है। वह अनन्त है। अतः आकाश के जितने विभाग में छहीं द्रव्य रहते हैं, उसको लोक कहा जाता है। लोक के अतिरिक्त शेष अनन्त आकाश अलोक हैं।

यह समुचा लोक शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है। इस लोक को किसी ने बनाया नहीं है और न कोई इसका रक्षक है, न नाशक है। किन्तु यह अनादि है, जीव और अजीव से व्याप्त है। यद्यपि लोकाकाश और अलोकाकाश की सीमा-विभाजन करने के लिये दोनों के मध्य कोई रेखा-विशेष खींची हुई नहीं है तथापि एक प्राकृतिक भेद अवश्य है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्य जितने आकाश के क्षेत्र में विद्यमान हैं उतने क्षेत्र को लोकाकाश कहा गया है और उसके अतिरिक्त शेष अनन्त आकाश को अलोकाकाश कहा जाता है। आकाश द्रव्य में धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों को अवकाश देने के गुण को एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया गया है। जैसे घड़ा है, उसमें जल भरा है। उस जलपूर्ण घट में इतनी भी जगह नहीं है कि अन्य कोई वस्तु डालने पर उसमें समा जाए। लैकिन यदि उसमें मुट्टी भर शक्कर डाल दी जाए तो वह भी उसमें समा जाती है और जल का स्तर भी उतना ही बना रहता है। प्रश्न उदबुद्ध होता है यड़ा जब जल से भरा है तो शक्कर की समाने के लिये घट में स्थान कहाँ से आया ? इसका समाधान यह है कि

घड़े में पानी भरा है, पर उस जल में भी आकाश है। वह आकाश ही अनय वस्तुओं को अवकाश देता है। अत-एव शक्कर के उदाहरण के अनुसार धर्म-अधर्म पुद्गल आदि द्रव्य भी आकाश में अवकाश देने के कारण अव-स्थित है।

इस घड्द्रव्यात्मक लोक का आकार 'सुप्रतिष्ठक संस्थान' वाला है। जमीन पर एक सकोरा उलटा, उस पर दूसरा सकोरा सीधा और उस पर तीसरा सकोरा उलटा रखने से जो आकार बन जाता है वही लोक का आकार होता है। लोक के इस आकार का कथन अन्य रूपक के द्वारा भी समझाया गया है। जैसे कि इस लोक का आकार कटि-प्रदेश पर हाथ रखकर तथा पैरों को पसार कर नत्य करने वाले व्यक्ति के समान है। अतः लोक को पुरुषाकार की उपमा से उपमित किया गया है। प्रथम रूपक में आंधे सकोरे पर दूसरे सीधे और तीसरे आंधे सकोरे के रखने से बनने वाली आकृति सुगमता से समझ में आ जाती है और यह आँधे और फिर सीधे और फिर उलटे सकोरे के रखने से बनने वाले आकार से लीक के अधोलोक, मध्यलोक एवं ऊर्ध्वलोक के आकार का परि-बोध भी सरलता से हो जाता है। प्रथम उलटे रखे हुये सकोरे के समान अधोलोक है, ऊपर सकरा और नीचे चौड़ा दुसरे सीधे रखे हुये सकोरे के तल भाग के सदश मध्यलोक और उससे लेकर पाँचवें देवलोक तक का भाग नीचे सकरा और ऊपर चौड़ा है तथा द्वितीय के ऊपर रखे गये ततीय उलटे सकोरे के समान पाँचवें देवलोक से लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान तक का आकार है।

इस सम्चे लोक के अधः, मध्य और ऊर्ध्व यह तीन विभाग होने का मध्य बिन्दु मेर पर्वत के मूल में है। इस मध्यलोक के बीचोबीच जम्बूद्धीप है और जम्बूद्धीप के भी मध्य में मेर पर्वत है जिसका पाया जमीन में एक हजार योजन और ऊपर जमीन पर ६६००० योजन ऊँचा है। जमीन के समतल भाग पर इसकी लम्बाई-चोड़ाई चारों दिशाओं में दस हजार योजन की है।

मेर पर्वत के पाये के एक हजार योजन में नौ सौ योजन के नीचे अधोलोक प्रारम्भ हो जाता है और सातवें नरक तक का लोक 'अधोलोक' है। अधोलोक के ऊपर १८०० योजन तक 'मध्यलोक' है। मध्यलोक के ऊपर का सभी क्षेत्र सुक्ति स्थान पर्यन्त 'ऊर्ध्व लोक' है। इन तीनों लोकों में अधोलोक एवं ऊर्ध्वलोक इन दोनों की ऊँचाई, चौड़ाई से अधिक है तथा मध्यलोक में ऊँचाई की अपेक्षा लम्बाई-चौड़ाई अधिक है। क्योंकि मध्यलोक की ऊँचाई तो केवल १८०० योजन-प्रमाण और लम्बाई-चौड़ाई एक रज्न प्रमाण है।

सारपूर्ण शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जहाँ हम रहते हैं वह लोक है। लोक का सद्भाव अलोक के अभाव में नहीं हो सकता। अतः अलोक भी है। लोक और अलोक का विभाजन नवीन नहीं है, शाश्वत है, नित्य है, ध्रुव है और उनके विभाजन के जो तत्त्व हैं वे शाश्वत हैं। यह एक ज्ञातन्य तथ्य है कि छुत्रिम पदार्थ से शाश्वतिक वस्तु का विभाजन नहीं हो सकता। छुहों द्रव्य शाश्वितिक है, अनादि निधान है।

लेश्याः एक विश्लेषण

-- साहित्य वाचस्पति श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

लेश्या जैन-दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। जैन-दर्शन के कर्म सिद्धान्त की समझने में लेश्या का महत्वपूर्ण स्थान है। इस विराट विश्व में प्रत्येक संसारी आत्मा में प्रतिपल प्रतिक्षण होने वाली प्रवृत्ति से स्क्ष्म कर्म पुद्गलोंका आकर्षण होता है। जब वे पुद्गल स्निग्धता व रक्षता के कारण आत्मा के साथ एकमेव हो जाते हैं तब उन्हें जैन दर्शन में 'कर्म' कहा जाता है।

लेश्या एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण है। जीव से पुद्गल और पुद्गल से जीव प्रभावित होते हैं। जीव को प्रभावित करने वाले पुर्गलों के अनेक समृह हैं। उननें से एक समृह का नाम लेऱ्या है। उत्तराध्ययन की बृहत् वृत्ति में लेश्या का अर्थ आणविक आभा, कान्ति, प्रभा और छाया किया है। मुलाराधना में शिवार्य ने लिखा है 'लेश्या छाया पुद्गलों से प्रभावित होने वाले जीव

परिणाम है।' रे प्राचीन साहित्य में शरीर के वर्ण, आण-विक आभा और उससे प्रभावित होने वाले विचार इन तीनों अर्थी में लेश्या पर विश्लेषण किया गया है। शरीर का वर्ष और आणविक आभा की द्रव्य लेश्या कहा जाता है^३ और विचार को भाव लेश्या । ^४ द्रव्य लेश्या पुदगल है। पुरुगल होने से वैज्ञानिक साधनों के द्वारा भी उन्हें जाना जा सकता है और प्राणी में योग प्रवृत्ति से होने वाले भावों को भी समझ सकते हैं। द्रव्य लेश्या के पुरु-गलों पर वर्ण का प्रभाव अधिक होता है। वे पुद्गल कर्म, द्रव्य-कषाय, द्रव्य-मन, द्रव्य-भाषा के पुद्गलों से स्थूल हैं किन्तु औदारिक-शरीर, वैक्रिय-शरीर, शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि से सूक्ष्म हैं। ये पुद्गल आरमा के प्रयोग में आने वाले पुरुगल हैं अतः इन्हें प्रायोगिक पुरुगल कहते हैं। यह सत्य है कि ये पुद्गल आत्मा से नहीं बँधते हैं, किन्तु इनके अभाव में कर्मवन्धन की प्रक्रिया भी नहीं होती।

आत्मा जिसके सहयोग से कर्म में लिप्त होती है, वह लेश्या है। लेश्या का व्यापक दिष्ट से अर्थ करना चाहें तो इस प्रकार कर सकते हैं कि पुरुगल द्रव्यके संयोग से होने वाले जीवके परिणाम और जीवकी विचार शक्ति को प्रभा-वित करने वाले पुद्गल द्रव्य और संस्थान के हेतुभूत वर्ण और कान्ति । भगवती सुत्र में जीव और अजीव दोनों की आत्म-एरिणति के लिए लेश्या शब्द ब्यबहृत हुआ है। जैसे चुना और गोवर से दीवार का लेपन किया जाता है वैसे ही आत्मा पुण्य-पाषया शुभ और अशुभ कर्मी से लीपी जाती है अर्थात जिसके द्वारा कर्म आत्मा में लिप्त हो जाते है वह लेश्या है।"

- ै बृहद् वृत्ति, पत्र ६५०। लेशयति श्लेषयतीवात्मनि जननयननिति लेशया—अतीव चक्षराक्षेपिकास्निग्धदीप्त रुपा छाया ।
- ^२ मुलाराधना, ७/१९०७ । जब बाहिरलेस्साओ, किण्हादीओ ध्वंति पुरिसस्स । अब्भन्तरलेस्साओ, तहकिण्हादीय पुरिसस्स ॥
- 🔭 (क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४६४ । वण्णोदयेण जिलदो सरीरवण्णो दु दब्बदो लेस्सा। सा सोटा किल्हादी अणेयभेया सभेयेण !!
 - (ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५३६।
- ४ उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५४०।
- ^अ गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४⊏६, प० स० (प्रा०) १/१४२-३।

३६

दिगम्बर आचार्य वीरसेन के शब्दों में 'आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कराने वाली प्रवृत्ति लेश्या है।' मिध्यात्व अवत, कषाय, प्रमाद और योग के द्वारा कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से होता है। क्या वे ही लेश्या हैं १ पृष्यपाद ने सर्वार्थिमिद्धि में कषायों के उदय से अनुरं जित मन, बचन और काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहा है। करवार्थ-राजवार्तिक में अकलंक ने भी उसी का अनुसरण किया है। '

सार यह है कि केवल कषाय और योग लेश्या नहीं है, किन्तु कषाय और योग दोनों ही उसके कारण हैं! इसलिए लेश्या का अन्तर्भाव न तो योग में किया जा सकता है और न कषाय में! क्योंकि इन दोनों के संयोग से एक तीसरी अवस्था समुख्यन होती है जैसे शरबत! कितने ही आचार्य मानते हैं कि लेश्या में कषाय की प्रधान नता नहीं अपितु योग की प्रधानता होती है क्योंकि केवली में कषाय का अभाव होता है, किन्तु योग की सत्ता रहती है, इसलिए उसमें शुक्ल लेश्या है।

षद्खण्डागम की धवला टीका में लेश्या के सम्यन्ध में निर्देश, वर्ण, परिणाम, संक्रम, कर्म, लक्षण, गति, स्वामी, साधन, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्प-वहुत्व प्रभृति अधिकारों के द्वारा चिन्तन किया है। आगम साहित्र में अष्टाइस लब्धियों का वर्णन है। उनमें एक तेजस् लब्धि है। तेजोलेश्या अजीव है। तेजो-लेश्या के पुद्गलों में जिस प्रकार लाल प्रभा और कान्ति होती है वैसी ही कान्ति तेजस् लब्धि के प्रयोग करने वाले पुद्गलों में भी होती है। इसी दिष्ट से तेजस्-लब्धि के साथ लेश्या शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से जिज्ञासा की-भगवन् । बाण के जीवों को मार्ग में जाते समय कितनी कियाएँ लगती हैं १ उसके हर एक अवयव की कितनी कियाएँ होती हैं । उत्तर में भगवान ने कहा - गौतम, चार-पाँच कियाएँ होती हैं। क्यों कि मार्ग में जाते समय मार्गवर्ती जीवों को वह संत्रस्त करता है। वाण के प्रहार से वे जीव अत्यन्त सिकुड़ जाते हैं। प्रस्तुत सन्तापकारक स्थिति में जीव को चार कियाएँ लगती हैं, यदि प्राणाति-पात हो जाय तो पाँच क्रियाएँ लगती हैं। " यही स्थिति तेजो-लेश्या की भी है। उसमें भी चार-पाँच कियाएँ लगती हैं। अष्टस्पर्शी पुदुगल-द्रव्य मार्गवर्ती जीवों को उद्देग न करे, यह अस्वाभाविक है। भगवती में स्कन्दक मुनि का 'अविहिलेंश्य' यह विशेषण है जिसका अर्थ है उनकी लेश्या यानि मनोवृत्ति संयम से बाहर नहीं है। 👯 आचारांग के प्रथम श्रतस्थनध में श्रद्धा का उत्कर्ष प्रति-पादित करते हुए मनोयोग के अर्थ में लेश्या का प्रयोग हुआ है। शिष्य गुरु की इष्टि का अनुगमन करे। उनकी लेश्या में विचरे अर्थात उनके विचारों का अनु-गमन करे। १२ प्रज्ञापना, जीवाभिगम, उत्तराध्ययन, जम्बुद्वीप प्रश्निप्ति आदि आगम साहित्य में लेश्या शब्द का प्रयोग वर्ण प्रभा और रंग के अर्थ में भी हुआ है। प्रज्ञा-पना में देवों के दिव्य प्रभाव का वर्णन करते हुए युति, प्रभा, ज्योति, छाया, अचि और लेख्या शब्द का प्रयोग हुआ है। १३ इसी प्रकार नारकीय जीवों के अशुभ कर्म विपाकों के सम्बन्ध में गीतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की---क्या सभी नारकीय जीव एक सदश लेख्या और एक सदश वर्ण वाले होते हैं या असमान १ समाधान करते हुए

[३७

^६ धवला, ७, २, १, सू० ३, पृ० ७ ।

सर्वार्थसिद्धि, २/६, तत्वार्थ राजवार्तिक २/६/८ ।

[ं] तत्त्वार्थ राजवार्तिक, २, ६, ८, ५० १०६।

[🕈] धवला, १, १, १, ४, पृ० १४६।

[°] तत्तेणं से उसु उड्ढं बेहासं उिवहिए समाणे जाइं तत्थ पाणाइं अभिहणई वत्तेति लेस्सेत्ति -भग० २/५, उ० ६।

^{११} अविहिल्लेसे, भगवती, २-२, उ० १।

^{१२} आचारांग, अ०५।

^{१३} प्रज्ञापना, पद २।

भगवान महावीर ने कहा—सभी जीव समान लेश्या और समान वर्ण वाले नहीं होते। जो जीव पह ते नरक में उत्पन्न हुए हैं वे पश्चात उत्पन्न होने वाले जीवों की अपेक्षा विशुद्ध वर्ण वाले और लेश्या वाले होते हैं। इसका कारण नारकीय जीवों के अप्रशस्त वर्ण नाम कर्म की प्रकृति तीव अनुभाग वाली होती है जिसका विपाक भव जापेक्ष्य है। जो जीव पह ते उत्पन्न हुए हैं इन्होंने बहुत सारे विपाक को पा लिया है, स्वल्प अवरोध है। जो वाद में उत्पन्न हुए हैं उन्हें अधिक भोगना है। एतदर्थ पूर्वोत्पन्न विशुद्ध हैं और पश्चाहुत्पन्न अविशुद्ध हैं। इसी तरह जिन्होंने अप्रशस्त लेश्या-द्रव्यों को अधिक मात्रा में भोगा है वे विशुद्ध हैं और जिनके अधिक शेष हैं वे अविशुद्ध लेश्या वाले हैं।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि लेश्या के दो भेद हैं— द्रव्य और भाव। द्रव्यलेश्या पुद्गल विशेषात्मक है। इसके स्वरूप के सम्बन्धमें मुख्य रूप से तीन मान्यताएँ प्राप्त हैं— कर्मवर्गणानिष्पन्न, कर्म निस्यन्द और योगपरिणाम। १४

खत्तराध्ययन सत्र के टीकाकार शांतिस्रि का अभिमत है कि द्रव्य लेख्या का निर्माण कर्मवर्गणा से होता है। यह द्रव्य लेख्या कर्मरूप है तथापि वह आठ कर्मों से पृथक् है, जैसे कि कार्मण शरीर। यदि लेख्या को कर्मवर्गणा निष्मन न माना जाय तो वह कर्म स्थिति विधायक नहीं वन सकती। कर्म लेख्या का सम्बन्ध नामकर्म के साथ है। उसका सम्बन्ध शरीर रचना सम्बन्धी पुद्गलों से है। उसकी एक प्रकृति शरीर नामकर्म है। शरीर नामकर्म के पुद्गलों का एक समृह कर्म लेख्या है। १५

दूसरी मान्यता की दिष्ट से लेश्या द्रव्य कर्म निस्यन्द रूप है। यहां पर निस्यन्द रूप का तात्पर्य बहते हुए कर्म-प्रवाह से है। चौदहवें गुण स्थान में कर्म की सत्ता है, प्रवाह है। किन्तु वहाँ पर लेश्या नहीं है। वहाँ पर नये कर्मी का आगमन नहीं होता।

कषाय और योग ये कर्मबन्धन के दो मुख्य कारण

हैं। अकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध का सम्बन्ध योग से है और स्थिति बन्ध और प्रदेश बन्ध का सम्बन्ध योग से है और स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध का सम्बन्ध कथाय से है। जब कथाय जन्य बन्ध होता है तब लेश्याएं कर्म स्थिति वाली होती है। केवल योग में स्थिति और अनुभाग नहीं होता, जैसे तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरिहन्तों के ईयांपथिक क्रिया होती है, किन्तु स्थिति, काल और अनुभाग नहीं होता। जो दो समय का काल बताया गया है वह काल वस्तुतः यहण करने का और उत्सर्ग का काल है। वह स्थिति और अनुभाग का काल नहीं है।

तृतीय अभिनत।नुसार लेश्या द्रव्य योगवर्गणा के अन्तर्गत स्वतन्त्र द्रव्य है। बिना थोग के लेश्या नहीं होती। लेश्या और योग में परस्पर अन्वय और व्यतिरेक सम्बन्ध है। लेश्या के योग निमित्त में दो विकल्प समुत्पन्त होते हैं। क्या लेश्या को योगान्तर्गत द्रव्य रूप मानना चाहिए १ अथवा योग निमित्त कर्म द्रव्य रूप १ यदि वह लेश्या द्रव्य रूप है तो घातीकर्म द्रव्य रूप है या अघाती कर्म द्रव्य रूप है १ लेश्या घातीकर्म द्रव्य रूप नहीं है। क्योंकि घाती कर्म नध्य हो जाने पर भी लेश्या होती है। यदि लेश्या को अघाती कर्म द्रव्य स्वरूप माने तो अघाती कर्मों वालों में भी सर्वत्र लेश्या नहीं है। चौदहवें गुणस्थान में अघाती कर्म है, किन्तु वहां लेश्या का अभाव है। इसलिए योग-द्रव्य के अन्तर्गत ही द्रव्य स्वरूप लेश्या मानना चाहिए।

लेश्या से कणायों की वृद्धि होती है; क्यों कि योग द्रव्यों में कणाय बढ़ाने का सामर्थ्य है। प्रज्ञापना की टीका में आचार्य ने लिखा है—कर्मों के द्रव्य विपाक होने वाले और उदय में आने वाले दोनों प्रयत्नों से प्रभावित होते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अपना कर्नु त्व दिखाते हैं। जिसे पित्त-विकार हो उसका क्रोध बढ़ जाता है। बाह्यों का सेवन ज्ञानावरण को कम करने में सहायक है। मिद्दापान से ज्ञानावरण का उदय होता है। दही के सेवन से निद्रा की अभिवृद्धि होती है। निद्रा जो दर्शना-

^{१४} प्रज्ञा० पद १७ टीका, पृ० ३३३ ।

रेष कर्म द्रव्यलेश्या इति सामान्याऽभिधानेऽपि शरीर नामकर्म द्रव्यष्येव कर्म द्रव्य लेश्या। कार्मण शरीरवत् पृथ्योव कर्माष्टकात् कर्म वर्गणा निष्पन्नानि कर्म लेश्या द्रव्यानीति तत्त्वं पुनः। उत्तरा०, अ० ३४ टी०, पृ० ६५०।

वरण का औदियक फल है। अतः स्पष्ट है कषायोदय में अनुरंजित योग प्रवृत्ति है। (लेश्या) स्थितिपाक में सहायक होती है।

गोम्मटसार में आचार्य नेमिचन्द्र ने योग-परिणाम स्वरूप लेश्या का वर्णन किया है। १७ आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थ सिद्धि में १८ और गोम्मटसार के जीव काण्ड खण्ड में १९ कथायोदय अनुरंजित योग प्रवृति को लेश्या कहा है। प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार दसवें गुण स्थान तक ही लेश्या हो सकती है। प्रस्तुत परिभाषा अपेक्षाकृत होने से पूर्व की परिभाषा से विरुद्ध नहीं है। अब हम संक्षेप में तीनों परिभाषाओं के सम्बन्ध में चिन्तन करेंगे।

प्रथम कर्भवर्गणानिष्यन्न लेश्या को मानने वाली एक परम्परा थी, किन्तु इस पर विस्तार के साथ लिखा हुआ साहित्य उपलब्ध नहीं है।

द्वितीय कर्म निस्यन्द लेश्या मानने वाले आचार्यों ने योग-परिणाम लेश्या को स्वीकार नहीं किया है। इनका मन्तव्य है कि लेश्या योग-परिणाम नहीं को सकती क्योंकि कर्मबन्ध के दो कारणों में से योग के द्वारा प्रवृत्ति और प्रदेश का ही बन्ध ही सकता है, स्थिति और अनुभाग का बन्ध नहीं हो सकता। जबिक आगम साहित्य में स्थिति का लेश्या काल प्रतिपादित किया गया है, वह इस परिभाषा को मानने से घट नहीं सकेगा। अतः कर्म निस्यन्द लेश्या मानना ही तर्क संगत है। २० जहाँ पर लेश्या की स्थिति काल का बन्धन होता है वहाँ पर चारों का बन्ध होगा। जहाँ पर काय का अभाव है वहाँ पर योग के द्वारा दो का ही बन्धन होगा। जपशान्त मोह और क्षीण मोह आत्माओं में कर्म-प्रवाह प्रारम्भ है, वहां और

पर लेश्या भी है, तथापि स्थिति का बन्धन नहीं होता है। प्रश्न है—समुच्छिन शुक्ल ध्यान को ध्याते हुए चौदहवें गुण स्थान में चार कर्म विद्यमान हैं तथापि वहां पर लेश्या नहीं है। उत्तर है—जो आत्माएँ कर्म युक्त हैं उन सभी के कर्म-प्रवाह चाल ही रहें, ऐसा नियम नहीं है। यदि इस प्रकार माना जायेगा तो योग परिणाम लेश्या का अर्थ होगा योग ही लेश्या है; किन्तु इस प्रकार नहीं है। उदाहरण के रूप में सूर्य के बिना किरणें नहीं होती; किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि किरणें ही सूर्य हैं। तात्पर्य यह है बहता हुआ जो कर्म प्रवाह है वही लेश्या का उपादान कारण है। रह

तृतीय योग-परिणाम लेश्या कर्म निस्यन्द स्वभाव युक्त नहीं है। यदि इस प्रकार माना जायेगा तो ई्यांपिथिक मार्ग स्थिति बन्ध बिना कारण का होगा। आगम साहित्य में ही समय स्थिति वाले अन्तर्मृहूर्त काल को भी निर्धारित काल माना है। अतः स्थिति बन्ध का कारण कषाय नहीं अपितु लेश्या है। जहाँ पर कषाय रहता है वहाँ पर तीव बन्धन होता है। स्थिति बन्ध की परिपक्यता कषाय से होती है। अतः कर्म प्रवाह को लेश्या मानना तक संगत नहीं है।

कर्मों के कर्मसार और कर्म-असार ये दो रूप हैं।
प्रश्न हैं — कर्मों के असार भाव को निस्यन्द मानते हैं तो
असार कर्म प्रकृति से लेश्या के उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध का
कारण किस प्रकार होगा ? और यदि कर्मों के सार भाव
को निस्यन्द हैं कहेंगे तो आठ कर्मों में से किस कर्म के सार
भाव को कहें ? यदि आठो ही कर्मों का माना जाय
तो जहां पर कर्मों के विपाक का वर्णन है वहां पर किसी

38

^{१६} प्रज्ञापना, १७ टीका, पृ० ३३०।

अथदोत्तिञ्च लेस्साओ, सहतियलेस्साहु देस विरद्विये।
तत्तो सुवका लेस्सा, अजोगिठाणं अलेस्सं तु ॥
—गोम्मटसार, जीव काण्ड, ५३२

१८ भाव तेश्या कषायोदयर जितायोगप्रवृत्तिरितिकृत्या औदयिकीत्युच्यते । — सर्वार्थं सिद्धि, अ०२, स्०२।

[ং] जोगवजती लेस्सा कषायज्ञदयाणुरंजिया होइ। तत्ती दोण्णं कर्ज्जं बन्धचलकं समुद्दिन्छं॥ — गोम्मटसार, जीव काण्ड, ४६०

२० (क) उत्तराध्ययन, अ० ३४ टी०, पृ० ६५०।

⁽ख) प्रजापना, १७, पृ०, ३३१।

^{२१} उत्तराध्ययन, अ० ३४, पृ० ६५०।

भी कर्म का लेश्या के रूप में विपाक का प्रतिपादन नहीं हुआ है। एतदर्थ योग परिणाम को ही लेश्या मानना चाहिए। २२ उपाध्याय विनय विजयजी ने लोक-प्रकाश में इस तथ्य को स्वीकार किया है। २३

भावतेश्या आत्मा का परिणाम विशेष है, जो संबन्नेश और योग के अनुगत है। संक्लेश के जघन्य, मध्यम. उरकृष्ट ; तीत्र, तीत्रतर, तीत्रतम ; मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि विविध भेद होने से भाव लेश्या के अनेक प्रकार हैं : तथापि संक्षेप में उसे ६ भागों में विभक्त किया है। अर्थात मन के परिणाम शुद्ध और अशुद्ध दोनों ही प्रकार के होते हैं और उनके निमित्त भी शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के होते हैं। निमित्त अपनाप्रभाव दिखाता है जिससे मन के परिणाम उससे प्रभावित होते हैं। दोनों का पार-स्परिक सम्बन्ध है। निमित्त को द्रव्यलेश्या और मन के परिणाम को भाव लेश्या कहा है। जो पुर्गल निमित्त वनते हैं, उनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श सभी होते हैं तथापि उनका नामकरण वर्ष के आधार पर किया गया है। सम्भव है गन्ध, रस और स्पर्श की अपेक्षा वर्ण मानव को अधिक प्रभावित करता है। कृष्ण, नील और कपोत ये तीन रंग अशुभ हैं और इन रंगों से प्रभावित होने वाली लेश्याएँ भी अशुभ मानी गयी हैं और उन्हें अधर्म-लेश्याएँ कहा गया है। रेंड तेजस्, पद्म और शुक्ल ये तीन वर्ण शुभ हैं और उनसे प्रभावित होने वाली लेश्याएँ भी शुभ हैं। इसलिए तीन लेश्याओं को धर्म लेश्या कहा है।^{२५}

अशुद्धि और शुद्धि की दृष्टि से ६ लेश्याओं का वर्गी-करण इस प्रकार किया है—

(१) कृष्णतेश्या

अशुद्धतम

क्लिष्टतम

(२) नीललेश्या

अशुद्धतर

क्लिष्टतर

(३) कापोतलेश्या अशुद्ध विलष्ट (४) तेजस्लेश्या शुद्ध अक्लिष्ट (५) पद्म लेश्या शुद्धतर अक्लिष्टतर (६) शुक्ललेश्या शुद्धतम अक्लिष्टतम

प्रस्तुत अशुद्धि और शुद्धि का आधार केवल निमित्त ही नहीं अपित्त निमित्त और उपादान दोनों हैं। अशुद्धि का उपादान कषाय की तीवता है और उसके निमित्त कृष्ण, नील, कापोत रंगवाले पुद्गल हैं और शुद्धि का उपादान कषाय की मन्दता है और उसके निमित्त रक्त, पीत और श्वेत रंग वाले पुद्गल हैं। उत्तराध्ययन में लेश्या का नाम, वर्ष, रस, गंध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयु इन स्थारह प्रकार से लेश्या पर चिन्तन किया है। रहे

आचार्य अकलंक ने तत्त्वार्थराजवार्तिक १० में लेश्या पर (१) निर्देश (२) वर्ण (३) परिणाम (४) संक्रम (५) कर्म (६) लक्षण (७) गति (८) स्वामित्व (६) साधना (१०) संख्या (११) क्षेत्र (१२) स्पर्शन (१३) काल (१४) अन्तर (१५) भाव (१६) अल्प बहुत्व इन सोलह प्रकारों से चिन्तन किया है।

जितने भी स्थूल परमाणु स्कन्ध हैं वे सभी प्रकार के रंगों और उपरंगों वाले होते हैं। मानव का शरीर स्थूल स्कन्ध वाला है। अतः उसमें सभी रंग है। रंग होने से वह बाह्य रंगों से प्रभावित होता है और उसका प्रभाव मानव के मानस पर भी पड़ता है। एतदर्थ ही भगवान महावीर ने सभी प्राणियों के प्रभाव व शक्ति की हिष्ट से शरीर और विचारों को छः भागों में विभक्त किया है और वही लेश्या है।

(ख) प्रज्ञापत्ता, १७, पृ० ३३१।

¥0]

२२ (क) न लेश्या स्थिति हेतवः किन्तु कपायाः लेश्यास्तु कषायोदयान्तर्गताः अनुभाग हेतवः अतएव च स्थिति-पाक विशेषतस्य भवति लेश्या विशेषण । — उत्तराध्ययन, ३४, पृ० ६५०।

^{२३} लेसाणां निक्खेंको च उक्क बो दुविहो उहोई नायव्यो । -- लोक प्रकाश, ५३४

^{२४} उत्तराध्ययन, ३४/५६।

२५ उत्तराध्ययन, ३४/५७।

^{२६} उत्तराध्ययन, ३४/३।

^{२७} सत्त्वार्थराजवार्तिक, १६, पृ० २३८ा

डॉ॰ हमेंन जेकोबी ने लिखा है जैनों के लेश्याओं के सिद्धान्त में तथा गोशालक के मानवों को छः विभागों में विभक्त करने वाले सिद्धान्त में समानता है। इस बात को सर्वप्रथम प्रोफेसर ल्युमेन ने एकड़ा; पर इस सम्बन्ध में मेरा विश्वास है जैनों ने यह सिद्धान्त आजीविकों से लिया और उसे परिवर्तित कर अपने सिद्धान्तों के साथ समन्वित कर दिया। १८

प्रो० ल्युमैन तथा डॉ॰ हर्मन जेकोबी ने मानवों का छः प्रकार का विभाजन गोशालक द्वारा माना है, पर अंगुत्तरनिकाय से स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत विभाजन गोशालक द्वारा नहीं अपितु प्रणकश्यपके द्वारा किया गया था। २९ दीघनिकाय में छः तीर्थंकरों का उल्लेख है, उनमें प्रणकश्यप भी एक हैं ३० जिन्होंने रंगों के आधार पर छः अभिजातियां निश्चित की थीं। वे इस प्रकार हैं—

- १ कृष्णाभिजाति—क्रूर कर्म करने वाले सौकरिक, शाकुनिक प्रभृति जीवों का समृह ।
- २ नीलाभिजाति—वोद्ध श्रमण और कुछ अन्य कर्म-वादी, क्रियावादी भिक्कुओं का समृह।
- ३ लोहिताभिजाति--एक शाटक निर्यन्थों का समूह।
- ४ हिन्दाभिजाति—श्वेत वस्त्रधारी या निर्वस्त्र ।
- ५ शुक्लाभिजाति—आजीवक अमण-श्रमणियों का समृह ।
- ६ परम शुक्लाभिजाति आजीवक आचार्य, नन्द, वत्स, कृष, सांस्कृत्य मस्करी गोशालक प्रभृति का समृह। वि

आनन्द की जिज्ञासा पर तथागत बुद्ध ने कहा—ये छः अभिजातियाँ अव्यक्त व्यक्ति द्वारा किया हुआ प्रति-पादन है। प्रस्तुत वर्गीकरण का मुल आधार अचेलता है। वस्त्र कम करना और वस्त्रों का पूर्ण त्याग कर देना अभिजातियों की श्रेष्ठता व ज्येष्ठता का कारण है।

अपने प्रधान शिष्य आनन्द से तथागत बुद्ध ने कहा— में भी छः अभिजातियों का प्रतिपादन करता हूँ।

- १ कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक (नीच कुल में पैदा हुआ) हो और कृष्ण धर्म (पापकृत्य) करता है।
- २ कोई व्यक्ति ऋष्णाभिजातिक हो और शुक्ल धर्म करता है।

३ कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक हो और अकृष्ण-अशुक्ल निर्वाण को ससुरपनन करता है।

४ कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक (उच्च कुल में समुत्पन्न हुआ) हो तथा शुक्ल धर्म (पुण्य) करता है।

भू कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक हो और कृष्ण धर्म करता है।

६ कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक हो और अशुक्ल-अङ्घण निर्वाण को समुत्यन्न करता है।^{३२}

प्रस्तुत वर्गीकरण जन्म और कर्म के आधार पर किया गया है। इस वर्गीकरण में चाण्डाल, निषाद आदि जातियों को शुक्ल कहा है। कायिक, वाचिक और मानसिक जो दुश्चरण हैं वे कृष्ण धर्म हैं और उनका जो श्रेष्ठ आचरण है वह शुक्ल धर्म है पर निर्वाण न कृष्ण है, न शुक्ल है।

इस वर्गीकरण का उद्देश्य है नीच जाति में समुत्पन्न व्यक्ति भी शुक्ल धर्म कर सकता है और उच्च कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी कृष्णधर्म करता है। धर्म और निर्वाण का सम्बन्ध जाति से नहीं है।

प्रस्तुत विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि पूरणकश्यप और तथागत बुद्ध ने छः अभिजातियों का जो वर्गीकरण

Real Sacred Books of the East, Vol. XLV, Introduction p. XXX.

^{२९} अंगुत्तरनिकाय, ६-६-३, भाग ३, पृ० ६३ ।

^३° दीघनिकाय, १/२, पृ० १६, २०।

[🧚] अंगुत्तरनिकाय, ६/६/३, भाग ३, पृ० ३५, ६३-६४।

के श्री अंगुत्तरनिकाय, ६/६/३, भाग ३, पृ० ६३-६४।
 (ख) दीघनिकाय, ३/१०, पृ० २२५।

किया है उसका सम्बन्ध लेश्या के साथ नहीं है। लेश्याओं का जो सम्बन्ध है वह एक-एक व्यक्ति से है। विचारों को प्रभावित करने वाली लेश्याएँ एक व्यक्ति के जीवन में समय के अनुसार छः भी हो सकती है।

छः अभिजातियों की अपेक्षा लेश्या का जो वर्गीकरण है वह वर्गीकरण महाभारत से अधिक मिलता-जुलता है। एकबार सनःकुमार ने दानवों के अधिपति वृत्रासुर से कहा —प्राणियों के छः प्रकार के वर्ण हैं: (१) कृष्ण (२) धूम्र (३) नील (४) रक्त (५) हारिद्र और (६) शुक्ल। कृष्ण और नील वर्ण का सुख मध्यम होता है। रक्त वर्ण अधिक सहन करने योग्य होता है। हारिद्र वर्ण सुखकर होता है।

महाभारत में कहा है— कृष्ण वर्ण वाले की गति नीच होती है। जिन निकृष्ट कमों से जीव नरक में जाता है वह उन कमों में सतत् आसक्त रहता है। जो जीव नरक से निकलते हैं उनका वर्ण धूम्र होता है जो रंग पशु-पक्षी जाति का है। मानव जाति का रंग नीला है। देवों का रंग रक्त है— वे दूसरों पर अनुग्रह करते हैं। जो विशिष्ट देव होते हैं उनका रंग हारिद्र है। जो महान साधक हैं उनका वर्ण शुक्ल है। के अन्यत्र महाभारत में यह भी लिखा है कि दुष्कर्म करने वाला मानव वर्ण से परिभृष्ट हो जाता है और पुष्य कर्म करने वाला मानव वर्ण के उस्कर्ष की प्राप्त करता है। के

तुलनात्मक दृष्टि से हम चिन्तन करें तो सहज ही परिज्ञात होता है कि जैन दृष्टि का लेश्या-निरूपण और महाभारत का वर्ण-विश्लेषण—ये दोनों वहुत कुछ समा-नता को लिये हुए हैं। तथापि यह नहीं कहा जा सकता है कि जैन दर्शन ने यह वर्णन महाभारत से लिया है। क्योंकि अन्य दर्शनों ने भी रंग के प्रभाव की चर्चा की है। पर जैनाचार्यों ने इस सम्बन्ध में जितना गहरा चिन्तन किया है इतना अन्य दर्शनों ने नहीं किया। उन्होंने तो केवल इसका वर्णन प्रासंगिक रूप से ही किया है। अतः डॉ॰ हर्मन जेकोबी का यह मानना कि लेश्या का वर्णन जैनियों ने अन्य परम्पराओं से लिया है, तर्कसंगत नहीं है।

कुरक्षेत्र के मैदान में श्रीकृष्ण ने गति के कृष्ण और शुक्ल में दो विभाग किये। कृष्ण गति वाला पुनः-पुनः जन्म-मरण ग्रहण करता है, शुक्ल गति वाला जन्म और मरण से मुक्त हो जाता है। ३ ६

धम्मपद रे॰ में धर्म के दो विभाग किये हैं — कृष्ण और शुक्ल। पण्डित मानव को कृष्ण धर्म का परित्याग कर शुक्ल धर्म का पालन करना चाहिए।

महर्षि पतंजलि ने कर्म की दृष्टि से चार जातियां प्रति-पादित की हैं—(१) कृष्ण (२) शुक्ल-कृष्ण (३) शुक्ल(४) अशुक्ल-अकृष्ण, जो क्रमशः अशुद्धतर, अशुद्ध, शुद्ध और शुद्धतर है। तीन कर्मजातियां सभी जीवों में होती हैं, किन्तु चौथी अशुक्ल-अकृष्ण जाति योगी में होती हैं। ३८ प्रस्तुत सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा है कि उनका कर्म कृष्ण होता है जिनका चित्त दोष कलुषित या क्रूर है। पीड़ा और अनुग्रह दोनों निधाओं से मिश्रित कर्ग शुक्ल-कृष्ण कहलाता है। यह बाह्य साधनों से साध्य होता है। तप, स्वाध्याय और ध्यान में निरत व्यक्तियों के कर्म केवल मन के अधीन होते हैं। उनमें बाह्य साधनों की किसी भी प्रकार की अपेक्षा नहीं होती और न किसी को पीड़ा दी जाती है, एतदर्थ यह कर्म शुक्ल कहा जाता है। जो

¥٦]

वड जीवनणी परमं प्रमाणं, कृष्णो धुम्रो नीलमथास्य मध्यम् ।
 रक्तं पुनः सह्यतर सुखं तु, हारिद्रवर्णं सुसुखं च शुक्लम् ॥ —महाभारत, शांति पर्वे, २८०/३३ ।

^{३४} महाभारत, शांति पर्व, २८०/३४-४७।

३५ महाभारत, शांति पर्व, २६१/४-५ ।

२९ शुक्लऋष्णे गती होते, जगतः शाश्वते मते। एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्तते पुनः ॥ —गीता म्य/२६।

३७ धम्मपद, पंडितवश्ग, श्लोक १६।

[🧚] पातञ्जल योगसूत्र, ४/७।

पृष्य के फल की भी आकांक्षा नहीं करते उन क्षीण-क्जेश चरमदेह योगियों के अशक्ल-अकृष्ण कर्म होता है।

प्रकृति का विश्लेषण करते हुए उसे श्वेताश्वतर उपनिषद् में लोहिन, शुक्ल और कृष्ण रंग का बताया गया है। ^{३९} सांख्य कौसुदी में कहा गया है जब रजोगुण के द्वारा मन मोह से रंग जाता है तब वह लोहित है,

नाम	वेग	रंग	आकार	रस या स्वाद	
(१) पृथ्वी	अल्पतर	पीला	चतुरकोण	मधुर	
(২) জল	अल्प	सफेद या बैंगनी	अर्द्ध चन्द्राकार	कसैला	
(३) तेजस्	বীৰ	लाल	त्रिकोण	चरपरा	
(४) वायु	तीव्रतर	नीला या आसमानी	गोल	खट्टा	
(५) आकाश	तीत्रतम	काला या नीलाभ	अनेक बिन्दु गोल	कड़वा	
(सर्वे वर्णक मिश्रित रंग) या आकार शून्य					

जैनाचार्यों ने लेश्या पर गहरा चिन्तन किया है। उन्होंने वर्ण के साथ आत्मा के भावों का भी समन्वय किया है। इब्यलेश्या पौद्गलिक है। अतः आधुनिक वैज्ञानिक दिष्ट से भी लेश्या पर चिन्तन किया जा सकता है।

लेश्या : मनोविज्ञान और पदार्थ विज्ञान

मानव का शरीर, इन्द्रियों और मन ये सभी पुद्गल से निर्मित हैं। पुद्गल में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होने से वह रूपी है। जैन साहित्य में वर्ण के पाँच प्रकार बताये हैं—काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से सफेद रंग मौलिक नहीं है। वह सात रंगों के मिलने पर बनता है। उन्होंने रंगों के सात प्रकार बताये हैं। यह सत्य है कि रंगों का प्राणी के जीवन के साथ बहुत ही गहरा सम्बन्ध है। वैज्ञानिकों ने भी परीक्षण कर यह सिद्ध किया है कि रंगों का प्रकृति पर, शरीर पर और मन पर प्रभाव पड़ता है। जैसे लाल, नारंगी, गुलायी, बादामी रंगों से मानव की प्रकृति में उष्मा बढ़ती है। पीले रंग से भी उष्मा बढ़ती है किन्छ

सस्त्रगुण से मन का मैल मिट जाता है, अतः वह श्रुक्ल है। है शिन स्वरोदय में लिखा है—विभिन्न प्रकार के तस्वों के विभिन्न वर्ण होते हैं, जिन वर्णों से प्राणी प्रभावित होता है। है वे मानते हैं कि मूल में प्राणतस्व एक है। अणुओं की कभी-बेशी, कम्पन वा वेग से उसके पांच विभाग किये गये हैं। जैसे:

पूर्वापेक्षया कम । नीले, आसमानी रंग से प्रकृति में शीतलता का संचार होता है। हरे रंग से न अधिक उष्मा बढ़ती है और न अधिक शीतलता का ही संचार होता है, अपित सम-शीतोष्ण रहता है। सफेद रंग से प्रकृति सदा सम रहती है।

रंगों का शरीर पर भी अद्भुत प्रभाव पड़ता है। लाल रंग से स्नाय मण्डल में स्कूर्ति का संचार होता है। नीले रंग से स्नायिक दुर्वेलता नष्ट होती है, धातुक्षय सम्बन्धी रोग मिट जाते हैं तथा हृदय और मस्तिष्क में शिक्त की अभिवृद्धि होती है। पीले रंग से मस्तिष्क की दुर्वेलता नष्ट होकर उसमें शिक्त संचार होता है, कब्ज, यकृत, प्लीहा के रोग मिट जाते हैं। हरे रंग से शान-तन्तु व स्नायु-भण्डल सुदृढ़ होते हैं तथा धातुक्षय सम्बन्धी रोग नष्ट हो जाते हैं। गहरे नीले रंग से आमाशय संबंधी रोग मिटते हैं। सफेद रंग से नींद गहरी आती है। नारंगी रंग से वायु सम्बन्धी व्याधियाँ नष्ट हो जाती है। बोगनी रंग से शरीर का तापमान कम हो जाती है।

[४₹

अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बहवीः प्रजा सृजमानां सक्याः ।
 अजो ह्ये को जुषमाणोऽमुशेते, जहात्थेनां मुक्त भोगाम जोऽन्यः ॥ —श्वेताश्वतर उपनिषद् ४/५ ।

^४* सांख्य कौमुदी, पृ० २००।

र आपः श्वेता क्षितिः पीता, रक्तवर्णी हुताशनः। मारुतो नीलजीभृतः, आकाशः सर्ववर्णका। —शिव स्वरोदय, भाषा टीका, श्लो० १५६, पृ०४२।

प्रकृति और शरीर पर ही नहीं, किन्तु मन पर भी रंगों का प्रभाव पड़ता है जैसे, के ले रंग से मन में असंयम, हिंसा एवं क्र्रता के विचार लहराने लगेंगे। नीले रंग से मन में ईंध्यां, असहिष्णुता, रस-लोलुपता एवं विषयों के प्रति आसिक्त व आकर्षण उत्पन्न होता है। कापोत रंग से मन में वकता, कुटिलता अंगड़ाइयाँ लेने लगती हैं। अरुण रंग से मन में ऋजुता, विनम्रता एवं धर्म प्रेम की पवित्र भावनाएं पैदा होती हैं। पीले रंग से मन में क्रोध-मान माया-लोभ आदि कषाय नष्ट होते हैं और साधक के मन में इन्द्रिय विजय के भाव तरंगित होते हैं। सफेद रंग से मन में अपूर्व शान्ति तथा जितेन्द्रियता के निर्मल भावों का संचार होता है।

अन्य दृष्टि से भी रंगों का मानसिक विचारों पर जो प्रभाव होता है उसका वर्गीकरण चिन्तकों ने अन्य रूप से प्रस्तुत किया है, यद्यपि वह द्वितीय वर्गीकरण से कुछ पृथक्ता लिए है। जैसे, आसमानी रंग से भक्ति सम्बन्धी भावनाएं जाग्रत होती है। लाल रंग से काम-त्रासनाएं उद्बुद्ध होती है। पीले रंग से तार्किक शक्ति की अभी- वृद्धि होती हैं। गुलाबी रंग से प्रेम विषयक भावनाएं जाग्रत होती हैं। हरे रंग से मन में स्वार्थ की भावनाएं पनपती हैं। लाल व काले रंग का मिश्रण होने पर मन में क्रोध भड़कता है।

जब हम इन दोनों प्रकार के रंगों के वर्गीकरण पर बुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करते हैं तो ऐसा ज्ञात होता है कि प्रत्येक रंग प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार का है। कहीं पर लाल, पीले और सफेद रंग अच्छे विचारों को

उत्पन्न नहीं करते इसलिए वे अप्रशस्त व अशभ हैं और कहीं पर अच्छे विचारों को उत्पन्न करते हैं, अतः वे प्रशस्त व शुभ हैं। कीध से अदिन तत्त्व प्रदीप्त हो जाता है, उसका वर्ण लाल माना गया है। मोह से जल तत्त्व की अभिवृद्धि हो जाती है, उसका वर्ण सफेद या बैगनी माना गया है। भय से पृथ्वी तत्त्व प्रधान हो जाता है, इसका वर्ण पीला है। लेश्याओं के वर्णन में भी क्रोध. मोह, और भय आदि अन्तर में रहे हुए हैं और उनका मानस पर असर होता है। कहीं पर प्रयाम रंग को भी प्रशस्त माना है जैसे नमस्कार महामन्त्र के पदों के साथ जिन रंगों की कल्पना की गयी है उसमें नमो लोए सञ्बसाहूणं का वर्ण कृष्ण बताया है। साध् के साथ जो कृष्ण वर्णकी योजनाकी गयी है वह कृष्ण लेश्या जो निकृष्टतम चित्तवृत्ति की ससुत्पन्न करने हेतु अप्रशस्त कृष्ण वर्ण है उससे पृथक है, कृष्ण लेश्या का जो कृष्ण वर्ण है उससे साधुका जो कृष्णवर्ण है वह भिन्त है और प्रशस्त है।

पाश्चात्य देशों में बैज्ञानिक रंगों के सम्बन्ध में गम्भीर अध्ययन कर रहे हैं। कलर थेरॉपी रंग के आधार पर समुत्पन्न हुई है। रंग से मानव के चित्त व शरीर की भी चिकित्सा प्रारम्भ हुई है जिसके परिणाम भी बहुत अच्छे आये हैं। ४९

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से विद्युत चुम्बकीय तरंगें वहुत ही सूक्ष्म हैं। वे विराट् त्रिश्व में गति कर रही हैं। वेज्ञानिकों ने विद्युत चुम्बकीय स्पेक्ट्रम का सामान्य रूप से विभाजन इस प्रकार से किया है:

रेडियो तरंगें	सूक्ष्म तरंगें	थवरक्त 	् ट श्यमान	परा बैगनी	एक्स-रेगामा किरणें
१० १०	१ १०	\$0 - 8		\$ o - ¢	

प्रस्तुत चार्ट से यह स्पष्ट होता है कि विश्व में जितनी भी विकिरणें हैं उन विकरणों की तुलना में जो दिखायी देती है उन विकिरणों का स्थान नहीं जैसा है। पर उन ४२ देखिए 'अषुओर आभा', ले॰ प्रो॰ जे॰ सी॰ ट्रस्ट। विकिरणों का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है जो विकिरणें हि जो विकिरणें हि होती है। त्रिपार्श्व के माध्यम से उनके सात वर्ण देख सकते हैं। जैसे बैगनी, नीला, आकाश सहश

88]

नीला, हरा, पीला, नारंगी और लाल। इन विकिरणी में एक महरवपूर्ण विशेषता यह है कि क्रमशः इन रंगों में आवृत्ति (frequency) कम होती है और तरंग दैर्घ्य (wave length) में अभिवृद्धि होती है। बैगनी रंग के पीछे की विकिरणों को परा बैगनी (ultra-violet) और लाल रंग के आगे की विकिरणों को अवरक्त (infrared) कही जाती हैं। प्रस्तुत वर्गीकरण में वर्ण की सुख्यता है। किन्तु जितनी विकिरणें हैं उनके लक्षण, आवृत्ति और तरंग दैध्यं हैं।

विज्ञान के आलोक में जब हम लेश्या पर चिन्तन करते हैं तो सूर्य के प्रकाश की भांति यह स्पष्ट होता है कि छः लेश्याओं के वर्ण और दिष्टगोचर होने वाले वर्ण-पट spectrum के रंगों की ब्रलना इस प्रकार की जा सकती है-

दिखायी दिया जाने वाला वर्ण-पट लेश्या (१) परा बैगनी से बैगनी तक कृष्ण तेश्या नीललेश्या (२) नीला कापोतलेश्या (३) आकाश सदश नीला तेजोलेश्या (४) पीला पद्म नेश्या (ছ) লাল (६) अवरक्त तथा आगे की विकिरणें

डॉ॰ महावीर राज गेलड़ा ने 'लेश्याः एक विवेचन' शीर्षक लेख र में जो चार्र दिया है उसमें उन्होंने वर्ष के स्थान पर पाँच ही वर्ण लिये हैं, हरा व नारंगी वर्ण छोड़ दिये हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में तेजोलेश्या का रंग हिंगुल की तरह रक्त लिखा है और पश्चलेश्या का रंग हरिताल की तरह पीत लिखा है। किन्तु डॉ॰ गेलड़ा ने तेजोलेश्या को पीले वर्ण वाली और पद्म लेश्या की लाल वर्ण वाली माना है, वह आगम की दृष्टि से उचित नहीं है। लाल के बाद आगमकार ने पीत का उल्लेख क्यों किया है इस सम्बन्ध में हम आगे की पंक्तियों में विचार करेंगे।

तीन जो प्रारम्भिक विकिरणें हैं, वे लघुतरंग वाली और पुनः-पुनः आवृत्ति वाली होती हैं। इसी तरह कृष्ण,

४^३ देखिए ॰ पुज्य प्रवर्तक श्री अंबालालजी म॰ अभिनन्दन ग्रन्थ, प्र० २५**२**।

नील और कापोत लेश्याएं तील कर्म-बन्धन में सहयोगी व प्राणीको भौतिक पदार्थी में लिप्त रखती हैं। ये लेश्याएं आत्मा के प्रतिकृत हैं, अतः इन्हें आगम-साहित्य में अशुभ व अधर्म लेज्याएं कहा गया है और इनसे तीव कर्म-बन्धन होता है।

उसके पश्चात की विकिरणों की तरमें अधिक लम्बी होती हैं और उनमें आवृत्ति कम होती है। इसी तरह तेजो, पदम व शक्ल लेश्याएँ तीव कर्म बन्धन नहीं करती । इनमें विचार, शुभ और शुभतर होते चले जाते हैं। इन तीन लेश्या वाले जीवों में क्रमशः अधिक निर्मेलता आती है। इसलिए ये तीन लेश्याएं शुभ हैं और इन्हें धर्म-लेश्याएं कहा गया है।

उपर्यक्त पंक्तियों में हमने जो विकिरणों के साथ तुलना की है वह स्थल रूप से है। तथापि इतना स्पष्ट है कि लेश्या के लक्षणों में वर्ण की प्रधानता है। विकिरणों में आवृत्ति और तरंग की लम्बाई होती है। विचारों में जितने अधिक संकल्प-विकल्प के द्वारा आवर्त होंगे वे उतने ही अधिक आत्मा के लिए अहितकर होंगे। एतदर्थ ध्यान और उपयोग व साधना के द्वारा विचारों को स्थिर करने का प्रयास किया जाता है।

हम पूर्व ही बता चुके हैं कि लेश्याओं का विभाजन रंग के आधार पर किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति के चेहरे के आस-पास एक प्रभा-मण्डल विनिर्मित होता है जिसे 'ओरा' कहते हैं। वैज्ञानिकों ने इस प्रकार के कैमरे निर्माण किये हैं जिनमें प्रभा-मण्डल के चित्र भी लिये जा सकते हैं। प्रभा-मण्डल के चित्र से उस व्यक्ति के अन्त-मीनस में चल रहे विचारों का सहज पता लग सकता है।

यदि किसी व्यक्ति के आस-पास कृष्ण आभा है फिर भले ही वह व्यक्ति लच्छेदार भाषा में धार्मिक-दार्शनिक चर्चा करे तथापि काले रंग की वह प्रभा उसके चित्त की कालिमा की स्पष्ट सूचना देती है। भगवान महावीर, तथागत बुद्ध, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, कर्मयोगी श्रीकृष्ण, प्रेममृति काइस्ट आदि विश्व के जितने भी विशिष्ट महापुरुष हैं उनके चेहरों के आसपास चित्रों में प्रभामण्डल

शक्ललेश्या

बनाये हुए दिखाई देते हैं जो उनकी शुभू आभा को प्रकट करते हैं। उनके हृदय की निर्मलता और अगाध स्नेह को प्रकट करते हैं। जिन व्यक्तियों के आस-पास काला प्रभामण्डल है उनके अन्तर्मानस में भयंकर दुर्गणों का साम्राज्य होता है। कोध की आंधी से उनका मानस सदा विश्लब्ध रहता है, मान के सर्प फुरकारें मारते रहते हैं, माया और लोभ के बवण्डर उठते रहते हैं। ४४ स्वयं कष्ट सहन करके भी दूसरे व्यक्तियोंको दुःखी वनाना चाहता है। बैदिक साहित्य में मृत्यु के साक्षात देवता यम का रंग काला है, क्योंकि यम सदा यही चिन्तन करता रहता है कब कोई मरें और मैं उसे ले आऊँ। कृष्ण वर्ण पर अन्य किसी भी रंग का प्रभाव नहीं होता। वैसे ही कृष्णलेश्या वाले जीवों पर भी किसी भी महापुरुष के वचनों का प्रभाव नहीं पड़ता। सूर्य की चमचमाती किरणें जब काले वस्त्र पर गिरती है तो कोई भी किरण पुनः नहीं लौटती। काला .यस्त्र में सभी किरणें डूब जाती हैं। जी व्यक्ति जितना अधिक दुर्गुणों का भण्डार होगा उसका प्रभामण्डल उतना ही अधिक काला होगा। यह काला प्रभामण्डल कृष्णलेश्या का स्पष्ट प्रतीक है।

द्वितीय लेश्या का नाम नीललेश्या है। यह कृष्णलेश्या से श्रेष्ठ हैं। उसमें कालापन कुछ हलका हो जाता
है। नीललेश्या वाला व्यक्ति स्वाधीं होता है। उसमें
ईंप्यां, कदायह, अविद्या, निर्लंजता, द्वेष, प्रमाद, रसलोलुपता, प्रकृतिकी क्षुद्रता और विना विचारे कार्य करने
की प्रवृत्ति होती है। भा आधुनिक भाषा में हम उसे
सेलिफश कह सकते हैं। यदि उसे किसी कार्य में लाभ
होता हो तो वह अन्य व्यक्ति को हानि पहुँचाने में संकोच
नहीं करता। किन्तु कृष्णनेश्या की अपेक्षा उसके विचार
कुछ प्रशस्त होते हैं।

तीसरी लेश्या का नाम कापोत है जो अलसी पुष्प की तरह मटमैला अथवा कबूतर के कण्ठ के रंगवाला होता है। कापोतजेश्या में नीला रंग फीका हो जाता है। कापोतजेश्या वाले व्यक्ति की वाणी व आचरण में वक्रता होती है। वह अपने दुर्गुणों को छिपाकर सद्गुणों को प्रकट करता है। पि नील लेश्या से उसके भाव कुछ अधिक विशुद्ध होते हैं। एतदर्थ ही अधर्म नेश्या होने पर भी धर्म लेश्या के सन्निकट है।

चतुर्थ लेश्या का रंग शास्त्रकारों ने लाल प्रति-पादित किया है। लाल रंग साम्यवादियों की दिष्ट से क्रांति का प्रतीक है। तीन अधर्म लेश्याओं से निकलकर जब वह धर्मलेश्या में प्रविष्ट होता है तय यह एक प्रकार से क्रांति ही है अतः इसे धर्मलेश्या में प्रथम स्थान दिया गया है!

वैदिक परम्परा में संन्यासियों को गैरिक अर्थात् लाल रंग के वस्त्र धारण करने का विधान है। हमारी दिष्ट से उन्होंने जो यह रंग चुना है वह जीवन में क्रांति करने की दिष्ट से ही चुना होगा। जब साधक के अन्तर्गानस में क्रांति की भावना उद्बुद्ध होती है तो उसके शरीर का प्रभामण्डल लाल होता है और वस्त्र भी लाल होने से वे आभामण्डल के साथ घुलमिल जाते हैं। जब जीवन में लाल रंग प्रकट होता है तब उसके स्वार्थ का रंग नष्ट हो जाता है। तेजोलेश्या वाले व्यक्ति का स्वभाव नम्र व अचयल होता है। वह जितेन्द्रिय, तपस्वी, पापभी ह और सुक्ति की अन्वेषणा करने वाला होता है। उसके जीवन का रंग उष्टाकाल के सूर्य की तरह होता है। उसके जीवन का रंग उष्टाकाल के सूर्य की तरह होता है। उसके जीवन का रंग उष्टाकाल के सूर्य की तरह होता है। उसके चेहरे पर साधना की लाली और सूर्य के उदय की तरह उसमें ताजगी होती है।

पंचम लेश्या का नाम पद्म है। लाल के बाद पद्म अर्थात् पीले रंग का वर्णन है। प्रातःकाल का सूर्य ज्यों-ज्यों उत्पर उठता है उसमें लालिमा कम होती जाती है

૪ફ]

४४ उत्तराध्ययन, ३४/२१-२२।

४५ उत्तराध्ययन, ३४/२२-२४।

४६ उत्तराध्ययन, ३४/२५-२६।

४७ उत्तराध्ययन, ३४/२७-२८।

और सोने की तरह पीत रंग प्रस्फुटित होता है। लालरंग में उत्तेजना हो सकती है पर पीले रंग में कोई उत्तेजना नहीं है। पद्मलेश्या वाले साधक के जीवन में कोध-मान-माया-मोह की अल्पता होती है। चित्त प्रशांत होता है। जितेन्द्रिय और अल्पभाषी होने से वह ध्यान साधना सहज रूप से कर सकता है। ४८ पीत रंग ध्यान की अवस्था का प्रतीक है। एतदर्थ ही बौद्ध संन्यासियों के वस्त्र का रंग पीला है। वैदिक परम्पराओं के संन्यासियों के वस्त्र का रंग लाल है जो क्रांति का प्रतीक है और बौद्ध भिक्षुओं के वस्त्र का रंग पीला है वह ध्यान का प्रतीक है।

षष्ठ लेश्या नाम शुक्ल है। शुभू या श्वेत रंग समाधि का रंग है। श्वेत रंग विचारों की पवित्रता का प्रतीक है। शुक्ललेश्या वाले व्यक्ति का चित्त प्रशान्त होता है। मन, वचन, काया पर वह पूर्ण नियन्त्रण करता है। वह जितेन्द्रिय है। के एतदर्थ ही जैन श्रमणों ने श्वेत रंग को पसन्द किया है। वे श्वेत रंग के वस्त्र धारण करते हैं। उनका मंतव्य है कि वर्तमान में हम में पूर्ण विशुद्धि नहीं है, तथापि हमारा लक्ष्य है शुक्ल ध्यान के द्वारा पूर्ण विशुद्धि को प्राप्त करना। एतदर्थ उन्होंने श्वेत वर्ण के वस्त्रों को चुना है।

लेश्याओं के स्वरूप को समझने के लिए जैन साहिल्य में कई रूपक दिये हैं। "जनमें से एक-दो रूपक हम प्रस्तुत कर रहे हैं। छुः व्यक्तियों की एक मित्र मंडली थी। एक दिन उनके मानस में ये विचार उद्बुद्ध हुए कि इस समय जंगल में जासुन खूब पके हुए हैं। हम जाँय और उन जासुनों को भरपेट खायें। वे छहीं मिन्न जंगल में पहुँचे। फलों से लहे हुए जासुन के पेड़ की देखकर एक मित्र ने कहा यह कितना सुन्दर जासुन का बृक्ष है। फलों से लबालब भरा हुआ है। और फल भी इतने बढ़िया हैं कि देखते ही मुंह में पानी आ रहा है। इस बृक्ष पर चढ़ने की अपेक्षा यही श्रेयस्कर है कि कुल्हाड़ी से बृक्ष को जड़

से काट दिया जाय जिससे हम आनन्द से बैठकर खूब फल खा सकें।

दूसरे मित्र ने प्रथम मित्र के कथन का प्रतिवाद करते हुए कहा—सम्पूर्ण वृक्ष काटने से क्या लाभ है ! केवल शाखाओं को काटना ही पर्योप्त है।

तृतीय मित्र ने कहा—मित्र, उम्हारा कहना भी उचित नहीं है। बड़ी-बड़ी शाखाओं को काटने से भी कोई फायदा नहीं है। छोटी-छोटी शाखाओं को काट लेने से ही हमारा कार्य हो सकता है। फिर बड़ी शाखाओं को निर्थक क्यों काटा जाय ?

चतुर्थं मित्र ने कहा—मित्र, तुम्हारा कथन भी सुझे युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। छोटी-छोटी शाखाओं को काटने की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल फलों के गुच्छों को ही तोड़ना पर्याप्त है।

पांचवें मित्र ने कहा — फलों के गुच्छों को तोड़ने से क्या लाभ है ? उस गुच्छे में तो कच्चे और पके दोनों ही प्रकार के फल होते हैं। हमें पके फल ही तोड़ना चाहिए। निरर्थक कच्चे फलों को क्यों तोड़ा जाय ?

छठे मित्र ने कहा - मुझे तुम्हारी चर्चा ही निरर्थक प्रतीत हो रही है। इस वृक्ष के नीचे टूटे हुए हजारों फल पड़े हुए हैं। इन फलों को खाकर ही हम पूर्ण संतुष्ट हो सकते हैं। फिर वृक्ष, टहनियों और फलों को काटने-तोड़ने की आवश्यकता ही नहीं।

प्रस्तुत रूपक दारा आचार्य ने लेश्याओं के स्वरूप को प्रकट किया है। छः मित्रों में पूर्व प्रत्नों के परि-णामों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर मित्रों के परिणाम शुभ, शुभतर और शुभतम हैं। क्रमशः उनके परिणामों में संक्लेश की न्यूनता और मृदुता की अधिकता है। इसलिए प्रथम मित्र के परिणाम कृष्ण लेश्या वाले हैं दूसरे के नील लेश्या वाले, तीसरे की कापोत लेश्या, चतुर्थ की तेज लेश्या, पांचवें की पद्म लेश्या और छठे की शुक्ल लेश्या है।

४८ उत्तराध्ययन, ३४/२६-३०।

^{४९} उत्तराध्ययन, ३४/३१-३२ ।

अ।वश्यक, हरिभद्रीया वृत्ति, पृ० २४५।

एक जंगल में डाकुओं का समृह रहता था। वे दूसरों को लूटकर अपना जीवनयापन करते थे। एक दिन छः डाकूओं ने सोचा कि किसी शहर में जाकर हम डाका डालें। वे छः डाकू अपने स्थान से प्रस्थित हुए। छः डाकूओं में से प्रथम डाकू ने एक गांव के पास से गुजरते हुए कहा—रात्रि का सुहावना समय है। गाँव के सभी लोग सोए हैं। हम इस गांव में आग लगा दें ताकि सोधे हुए सभी व्यक्ति और पशु-पक्षी आग में झुलस कर खत्म हो जायें। उनके कन्दन को सुनकर बड़ा आनन्द आएगा।

दूसरे डाक् ने कहा—बिना मतलब के पशु-पक्षियों को क्यों मारा जाय १ जो हमारा विरोध करते हैं उन मानवों को ही मारना चाहिए।

तीसरे डाकू ने कहा—मानवों में भी औरतें और बालक हमें कभी भी परेशान नहीं करते। इसलिए उन्हें मारने की आवश्यकता नहीं। अतः पुरुष वर्ग को ही मारना चाहिए।

चतुर्थ डाकू ने कहा—सभी पुरुषों को भी मारने की आवश्यकता नहीं है। जो पुरुष शस्त्रयुक्त हों केवल उन्हें मारना चाहिए।

पांचवें डाकू ने कहा — जिन व्यक्तियों के पास शस्त्र है किन्तु जो हमारा किसी भी प्रकार का विरोध नहीं करते, उन व्यक्तियों को मारने से भी क्या लाभ १

छुठे डाकू ने कहा—हमें अपने कार्य को करना है। पहले ही हम लोग दूसरों का धन चुराकर पाप कर रहे है, और फिर जिसका धन हम अपहरण करते हैं, उन व्यक्तियों के प्राण की ल्रटना भी कहीं बुद्धिमानी है १ एक पाप के साथ दूसरा पाप करना अनुचित ही नहीं विलकुल अनु-चित है।

इन छहीं डाकूओं के भी विचार क्रमशः एक दूसरे से निर्मल होते हैं, जो उनकी निर्मल भावना की व्यक्त करते हैं। पर

उत्तराध्ययन निर्युक्ति में पर लेश्या शब्द पर निक्षेप हिंदि से चिन्तन करते हुए कहा है कि लेश्या के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप होते हैं। नो-कर्म लेश्या और नो-अकर्म लेश्या ये दो निक्षेप और भी होते हैं। नो-कर्म लेश्या के जीव नो-कर्म और अजीव नो-कर्म ये दो प्रकार है। जीव नो-कर्म लेश्या भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक के भेद से वह भी दो प्रकार की है। इन दोनों के कृष्ण आदि सात-सात प्रकार है।

अजीव नो-कर्म लेश्या द्रव्य-लेश्या के चन्द्र, सूर्य, यह, नक्षत्र, तारक, आमरण, छादन की छाया रूप है। कितने ही आचार्यों का मन्तव्य है कि औदारिक, औदा-रिक मिश्र, वैक्रिय, वैक्रिय-मिश्र, आहारक, आहारक-मिश्र, कार्मण काय का योग ये सात शरीर हैं तो उनकी छाया भी सम्रवर्णीत्मका होगी, अतः लेश्या के सात भेद मानने चाहिए। अ

लेश्या के सम्बन्ध में एक गम्भीर प्रश्न है कि किस लेश्या को द्रव्य लेश्या कहें और किसे भाव लेश्या कहें ? क्योंकि आगम साहित्य में कहीं-कहीं पर द्रव्य लेश्या के अनुरूप भाव परिणति वतायी गयी है, तो कहीं पर द्रव्य लेश्या के विपरीत भाव परिणति बतायी गयी है। जन्म

[ं] है लोक प्रकाश, सर्ग ३, श्लोक ३६३-३८०।

५२ जाणग भिवयसरीरा तन्बद्दिता य सायुणो दुबिहा । कम्मा नो कम्मे यानो कम्मे हुन्ति दुबिहा उ ॥ ३५ ॥ जीवाणमजीवाणय दुबिहा जीवाण होई नायव्वा । भवमभव सिद्धियाणं दुबिहाणिव होई सत्तविहा ॥ ३६ ॥ अजीव कम्मनो दव्वलेसा सा दसविहा उनायव्वा । चंदाण य स्राण य गहगण णक्खत्तताराणं ॥ ३७ ॥ आसरण छायणा दंशागण मणि कामिणी णजालेसा । अजीव दव्वलेसा नायव्वा दसविहा एसा ॥ ३८ ॥

[—] उत्तराध्ययन, ३४, घृ० ६५०

पष्ट सप्तमी संयोगजा इयं च शरीरच्छायात्मका परिप्रहाते अन्येत्वौदारिकौ दारिकमि अमित्यादि भेदतः सप्त विधत्वेन जीवश्ररीरस्य तच्छायामेव कृष्णादिवणेरूपां नोकर्माणि सप्त विधां जीव द्रश्य लेश्या मन्यते तथा ।

⁻⁻⁻ उत्तराध्ययन ३४, टीका, जयसिंह सूरि,पृ० ३५०!

से मृत्यु तक एक ही रूप में जो हमारे साथ रहती है वह द्रव्य लेश्या है। नारकीय जीवों में तथा देवों में जो लेश्या का वर्णन किया गया है वह द्रव्य लेश्या की टिंग्ट से किया गया है। यही कारण है कि तेरह सागरिया जो किल्विषक देव हैं वे जहाँ एकान्त शुक्ल लेश्यी हैं वहीं वे एकान्त मिथ्याटिंग्ट भी हैं। प्रज्ञापना में ताराओं का वर्णन करते हुए उन्हें पांच वर्ण वाले और स्थित लेश्या वाले बताया गया है। पर नारक और देवों को जो स्थित लेश्या कहा गया है, सम्भव है पाप और पुण्य की प्रकर्णता के कारण इनमें परिवर्तन नहीं होता हो। अथवा यह भी हो सकता है कि देवों में पर्यावरण की अनुक्लता के कारण शुभ द्रव्य प्राप्त होते हों और नारकीय जीवों में पर्यावरण की प्रतिकूलता के कारण अशुभ द्रव्य प्राप्त होते हों। वातावरण से वृत्तियां प्रभावित होती हैं। मनुष्य गित और तिर्यंच गित में अस्थित लेश्याएं हैं।

पृथ्वीकाय में कृष्ण, नील और कापीत ये तीन अप्रशस्त लेश्याएँ बतायी गयी हैं। ये द्रव्य लेश्या हैं या भाव लेश्या ? क्योंकि स्फटिक मणि, हीरा, मोती आदि रत्नों में धवल प्रभा होती है, इसलिए द्रव्य अप्रशस्त लेश्या कैसे सम्भव है ? यदि भाव लेश्या को माना जाय तो भी प्रश्न है कि पृथ्वीकाय से निकलकर कितने ही जीव केवल-ज्ञान को प्राप्त करते हैं तो पृथ्वीकाय के उस जीव ने अप्रशस्त भाव लेश्या में केवली के आयुष्य का बन्धन कैसे किया ? भवन-पति और वाण व्यन्तर देवों में चार लेश्याएँ हैं—कृष्ण, नील, काषीत और तेजो। तो क्या कृष्ण लेश्या में आयु पूर्ण करने वाला व्यक्ति असुरादि देव हो सकता है ? यह प्रश्न आगम मर्मशों के लिए चिन्तनीय है। कहां पर द्रव्य लेश्या का उल्लेख है और कहां पर भावलेश्या का उल्लेख—इसकी स्पष्ट भेद-रेखा आगमों में नहीं दी गयी है, जिससे विचारक असमंजस में पड जाता है।

उपर्युक्त पंक्तियों में जैन दृष्टि से लेश्या का जी रूप रहा है उस पर और उसके साथ ही आजीवक मत में, बौद्ध मत में व वैदिक परम्परा के संधों में लेश्या से जो मिलता-जुलता वर्णन है उस पर हमने बहुत ही संक्षेप में चिन्तन किया है। उत्तराध्ययन, भगवती, प्रज्ञापना और उत्तरवर्त्ती साहित्य में लेश्या पर विस्तार से विश्लेषण है, किन्तु विस्तार भय से हमने जान करके भी उन सभी बातों पर प्रकाश नहीं डाला है। यह सत्य है कि परिभाषाओं की विभिन्नता के कारण और परिस्थतियों को देखते हुए स्पष्ट रूप से यह कहना कठिन है कि अमुक स्थान पर अमक लेश्या ही होती है। क्यों कि कहीं पर द्रव्य लेश्या की रिष्ट से चिन्तन है, तो कहीं पर भाव लेश्या की रिष्ट से और कहीं पर द्रव्य और भाव दोनों का मिला हुआ वर्णन है। तथापि गहराई से अनुचिन्तन करने पर वह विषय पूर्णतया स्पष्ट हो सकता है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी जो रंगों की कल्पना की गयी है अनके साथ भी लेख्या का समन्वय हो सकता है इस पर भी हमने विचार किया है। आगम के मर्मज्ञ मनीषियों को चाहिए कि इस विषय पर शोध कार्य कर नये तथ्य प्रकाश में लाएँ ।

५४ ताराओं, पञ्च वण्णाओ ठिपले सःचारिणो । — प्रज्ञापना, पद २ ।

Prakrit Textual Criticism

-Dr. Satyaranjan Banerjee Calcutta University

1. Introduction: Statement of the Problem:

The Prakrit language, or more properly, the Middle Indo-Aryan, belongs to the middle period of the Indo-Aryan language which is the Indic branch of the Indo-Iranian sub-branch of the Indo-European family of languages. So it is a connecting link between old Indo-Aryan (i.e. Vedic and Classical Sanskrit) on the one hand and the New Indo-Aryan languages (such as, Hindi, Marathi, Gujarati, Bengali, Oriya, Bihari, Assamese etc.) on the other.

Prakrit is a vast subject. It covers literatures for over 1500 years beginning from the time of Mahavira and Buddha (7th or 6th Century B. C.) down to the time of the emergence of New Indo-Aryan (i. e. 1000 A. D.) or even later than that. It includes literature written in Inscriptional Prakrits, nearly about 1500 in number and distributed geographically in almost all parts of India—South, North-West, West, North

and East; it includes literature in Pali, both canonical and non-canonical, and also literature written by the Jains in Ardha-magadhi, Sauraseni, Maharastri and Apabhramsa. There are some non-Jain poets, such as, Satavahana, Pravarasena, Vakpatiraja, Rajasekhara, Abdul Rahaman and several others. Sanskrit dramas offer us a great variety of Prakrit dialects beginning from the time of 2nd or 1st Century B. C. down to the time of tenth Century A. D. or even later than that. Prakrit being a common speech and its dialects being representatives of different parts of India, the variety of Prakrit dialects makes it more difficult to handle any Prakrit texts easily. It also includes some other Prakrits, such as, Kharosthi, Niya and Gandhari or Prakrit Dhammapada, outside India.

Apart from the Inscriptional Prakrits, our knowledge on Prakrit language and its dialects and sub-dialects, commonly known as "Literary Prakrits", is mainly based on the works of Prakrit grammarians and the dramatic and rhetorical works of Sanskrit writers. The Sanskrit dramaturgists, such as, Bharata, Dhananjaya, Visvanatha, Singhabhupala, Sagaranandi and others, have given in their respective treatises only the names of Prakrit dialects which should be or is to be spoken by persons belonging to different strata of the society. The distribution of Prakrit dialects in Sanskrit dramas is, therefore, based on a sort of socio-linguistic pattern, no matter whether the author of a particular drama belongs to any particular region of India and speaking a particular

dialect of Prakrit. While distributing the Prakrit dialects in a Sanskrit drama, not a single author has shown any lack of knowledge by which the prescriptions of the dramaturgists are generally violated. But at the same time, it should be borne in mind that not a single dramaturgist has ever given any characteristic features of the dialect that they are prescribing for the dramatists. Bharata, of course, has given some general features of Prakrit, but nothing dialects. So where do the Sanskrit authors get the characteristics from? Did the dramatists know the characteristic features of Prakrit dialects from their own personal experience, or from books current at their times?

Our knowledge about Prakrit and its dialects is mainly based on the grammarians beginning from Vararuci (4th or 5th Cent. A. D.) down to Markandeya (16th or 17th Cent. A. D.)—Vararuci and Hemacandra being the oldest and the best representatives of Prakrit grammarians. Although most of the Prakrit grammarians are later than the Prakrit literature, the features of Prakrit including dialects as prescribed by the grammarians are in major, if not in all cases, preserved in the works of the Prakrit writers and Sanskrit dramatists as we find them printed to-day.

But to a scholar, it seems, there are works where features of dialects as described by the grammarians are not fully preserved, not even in essential forms. Herein lies the main

difficulty in handling a Prakrit passage in a text. When a scholar opens up a Prakrit book and peruses a few passages, he can easily detect that such book is written mainly in X dialect, but it is also interspersed with other Y and Z forms. As a result what happens is this that we assume a different dialect for the justification of variety of forms. This assumption may be partly true at times, but sometimes it seems too much adherence to the manuscripts forgetting that some forms might be scribal errors or wrong representation of spelling, unless they can be justified historically. Therefore, in editing a Prakrit text, the problems which a linguist faces are mainly—

- i) dialectal,
- ii) orthographic, and
- iii) selection of readings.

2. Problems in editing a Prakrit text:

i) Dialectal

As we have said above, it is a very difficult task to determine the dialect of a Prakrit passage. While editing some Prakrit texts, even scholars like Jacobi, Pischel were puzzled in determining the question of language of the text.

Hermann Jacobi has assumed a Jain Maharastri dialect of those texts which are non-canonical on the one hand but written by the Jains on the other. In a similar way Richard Pischel has postulated a Jain Sauraseni of those Jain texts which are written in Sauraseni. At the time of Pischel, of course, no Digambara canonical literature was pub-

lished, and so he had no comment on them. A few books by Kundakunda and Umasvami were available, and on the basis of those books he had established the Jain Sauraseni. But recently the earliest canonical literature of the Digambara Jains were published first in 1939 and then completed the whole lot in subsequent years by 1960, after which most of the earlier editions were being reprinted. The first of the series is Satkhandagama which is written in Sauraseni dialect, but again influenced by the older Ardha-magadhi and the Maharastri as well, giving it a name which is called by Pischel as Jain Sauraseni. The assumption of these two dialects-Jain Maharastri and Sauraseni is based on a notion that probably these two dialects are different from the normal features of the language as emblamed and treasured up by Prakrit gram-But how far they differ from marians. Maharastri and Sauraseni is a moot question and how far these differences are systematic to form a separate dialect is another problem. These are the questions which normally puzzle the readers of Prakrit. With regard to the Inscriptional Prakrits and Pali, the question is not severe, but with the Prakrit and Apabhramsa and partly with the early literary specimens of some modern Indo-Aryan languages, the problem of readings is acute.

Although inscriptions are written documents and we have more reliability in inscriptions than in the manuscripts, the earlier writers do not offer the features of Prakrit that can go on at par with the inscriptions. Take, for example, the drama of Asvaghosa. We are all grateful to Luders (Bruchstruck buddhistischen Dramen, 1911) who has presented the fragments of some Buddhist dramas discovered in Turkestan and dated by him in the first or second cent. A. D. In his opinion, there are three types of Prakrit dialect employed by Asvaghosa in his plays. To use his terminology, they are old Sauraseni, old Magadhi and old Ardha magadhi. The Dusta's speech in three important points is similar to the Magadhi of the Prakrit grammarians, it substitutes I for r. reduces all three sibilants to s'; and has e in the nominative singular of masculine nouns in a. But it ignores the rules of the grammarians in certain respects; hard letters are not softend (e.g., bhoti), nor soft consonants elided (e.g., Kumuda-gandha), when inter-vocalic. There is no tendency to cerebralize n and in Kalana the dental replaces the cerebral. Fuller forms of consonants remain in hangho (hamho) and bambhana (bamhana). Certain consonantal changes are irregular : ry > jį and not yy ; e.g., ajja, śc >cch, kş > kkh, not sk or cch, st > tth not st, kiśśa > kiśa, ahakam than ahake, hake, haje, (Keith, Sanskrit Drama, p. 86).

But it is a point worth noting here that not a single grammarian has ever described any old features of Sauraseni, Magadhi or Ardha-magadhi. How should we justify these forms then? Should we reconsider the judgment of the manuscripts?

ii) Orthographic

The orthography of manuscripts is sometimes responsible for the selection of a reading particularly of a Jain manuscript. The peculiar way of writing na and ha, y and th, s and ph, jh and bh and many other conjuncts makes us responsible for a wrong selection. Unless one is thoroughly conversant with the calligraphy of Mss, one cannot do any justice to the reading of a Prakrit passage. I need not dwell upon this point here in detail.

iii) Selection of readings

Leaving aside the orthographic representation of Prakrit, we shall now pass on to the next problem, i.e., selection of readings. It is a fact worth noting here that sometimes some editions are responsible for the peculiar, forceful and incongruous reading of a text. In this respect, we shall divide our examples into two groups. In group A, some of the grammatical texts are discussed, where the selection of a particular reading, instead of another, has caused us trouble in determining the linguistic features of a particular language. In group B, the readings of some Prakrit texts are analysed.

A. Grammatical texts

Let us first take Senart's edition of Kaccayana's Palı Grammar. Under the sutra—jāyāya tudam-jāni patimhi (II. 7. 24. No. 34)—jāyā iccetāya tudamjāni iccete ādesā honti patimhi pare. jāyāya pati tudam pati jāyāya pati jānipati. Senart has read the sentence as tu-dampati meaning 'husband and wife', and after that the word is included in all the Pali Dictionaries. But most of the scho-

lars including Senart himself were not happy with the reading. The tu prefixed to dampati is difficult to solve. T. W. Rhys Davids and William Stede's Pali English Dictionary, The Pali Text Society, London, (1972) has explained the formation of the word thus:

"Tudampati (dual) husband and wife. [tu=dial, for du, Skt dve. dampati from dama=domus Skt. daypati = Gk. despotes; cf. also Kern Toev-II. 93. who compares tuvantuva for duvanduva]."

In reality, the word is not tudampati, but simply, dampati as in Sanskrit, meaning husband and wife. tu is, in fact an emphatic particle meaning 'but', and the passage means, 'but (=tu) when jāyā is compounded with pati, we get the compound as dampati, jānipati and jāyāpati.

Coming to the field of Prakrit, the situation seems to be worse For one word, we could have several forms in Prakrit and at times it is difficult to think which one is correct. Take, for example, the reading isi in Cowell's edition of Vararuci's Prakrita-pra-Cowell has accepted the reading isi kasa. with a short initial i under the vrtti of a id-isat-pakva-svapna-vetasa-vyajanasutra 1.3 i.e., (in a group mṛdangāṅgāreşu, of words beginnig with isat etc. i is substituted for the first a), whereas he has given the variant reading with long i in the foot-note as isi. In fact, the reading with long i is the correct one, as in all the editions of all Prakrit grammarians so far known to us, the word isi with long i at the initial is given, which is also Cowell's reading in

the foot-note. Moreover, there is no reason why the Sanskrit long i in isat should be short in Prakrit. The use of this word is also found with long i (cf. isis cumbiaim etc. in Sakuntala Act I prologue). As Cowell has given the alternative reading in the footnote, this should not be taken as printing mistake. The question of dialect will not also help us in solving this reading.

Hultzsch's edition of Simharaja's Prakritarupavatara offers us another difficulty. Simharaja has based his grammar on Hemacandra and Trivikrama, as far as examples are concerned. But with regard to 1, Hultzsch has edited his text with cerebral I in cases where others will have simple or dental I. In fact, cerebral, I is a rare occurence in Prakrit. The reason that Hultzsch's edition contains cerebral I is due to the fact that he has edited his text from a South Indian manuscript preserved in the Royal Asiatic Society of London, where Sanskrit I is written as ,I, which Huttzsch thinks a variety of Prakrit. That is why in Bhasa's dramas this cerebral I is preserved. On the basis of this feature L. D. Barnett once thought that there was a southern school of Prakrit grammarians as well. (JRAS, 1921).

White giving the characteristic features of Sakari, Purusottama in his Prakritanusa-sana has given two sutras as

stah stah XIII. 3.

Vıştarasya XIV. 4.

Some have suggested "na vistarasy" i.e.

but not in vişţara. Even then some scholars think that the sutras are not clear. Actually I feel that the reading should be stah sto vişţarasya as one sutra. From the method of framing the sutras, it is seen that the preceding sutra is dusprekṣa-sadṛkṣayoh kṣasya kkho vā (XIII. 2) where words are particularly mentioned for the Sakari dialect, it is quite possible also that the next sutra should contain a word as well, and the subsequent sutras are also framed with regard to some words. There is no reason to think stah stah as a general rule.

B. Prakrit texts

Let us now consider some of the textual readings of Prakrit.

Sten Konow's edition of Karpuramaniari (KM) is a great problem. Here the problem is not only of reading but also of language. According to general belief the KM is written in a Sauraseni dialect. But Konow has never mentioned it in so many words. In his opinion Rajasekhara's KM is written in a sort of mixed Prakrit - between Maharastri and Sauraseni. In his edition what we find is that the verses are in Maharastri and the proses are in Sauraseni following the dictum as laid down in the works of dramaturgy. After 35 years, M. Ghosh edited that text again. In his edition all the passages are in Sauraseni. Konow has consulted several Mss, and some of the best Mss do contain the readings in Sauraseni even in verses which he has either corrected for the sake of dramaturgy or neglected as improper

readings. Ghosh has done just the opposite. For example:

Sten Konow: hou (Ms. bhodu), Ghosh: bhodu phurau (Ms. phuradu), phuradu etc.

With regard to some of the readings of Desinamamala, Pischel remarks :

"Another great difficulty was raised by the examples which Hemacandra adds at the end of the commentary on each stanza of the ekārtha sabdas. These examples are either void of all sense, or of an incredible stupidity.It was a most disgusting task to make out the sense, or rather non-sense, of these examples, some of which have remained rather obscure to me." (Pischel's edition of Desinamamala, Poona, 1938, pp. 29-30)

This remark of Pischel depends upon the selection, of readings which, at times, seems to be ineffective poetically. Let us take one example to demonstrate this truth.

Pischel's reading:

adae suṇāhi ayade aṇāda-adayaṇa-pie sarasi kāle/aṃdhaṃdhuma-viṇaya-varāha-vvāṭhāṇaṃ tamittha aṇado kiṃ

(Hc. I. 18. verse 15)

The English translation on the basis of this reading will be as follows:

"O you the courtesan, hear (me), oh well, are you remembering the time favourable to a paramour and a courtesan? Well is the (meeting) place of a paramour and an unchaste lady, is there any paramour?"

The assumption of the reading suṇāhi meaning śṛiṇu ('hear me') and ayaḍe as independent words in Pischel's edition followed by other editions, gives us a sense that does not appear to be happy and consistant. But these two words when combined suṇāhi + ayaḍe—Skt sunābhi-kūpa acting as a bahu-vṛhi compound representing vocative singular form of a feminine base ending in a and refering to aḍaye as an attributive adjunct, will present us a good sense, because the comparison nābhikūpa, nābhigarta etc. is rather usual in Indian literature, and even Hemacandra uses this comparison more than once in the same book.

The next difficulty is with the root sarasi. The use of the Prakrit root sara as an equivalent to Sanskrit root smr 'to remember' is far less common than the Sanskrit root sr 'to go'. And it may be added here that of the root smr, the form sumara very often puts in appearance in Prakrit literature, and the form sara is extremely rare. Hance I suggest sarasi meaning 'go'. It is also suggested that anāḍa — aḍayaṇa-pie should be taken in a locative form qualifying the word kale, i. e., 'the time pleasing to the paramours and courtesans' which no doubt yeilds a good sense, happy and consistent. and sarasi in the sense of 'going', its object; being amdhamdhum, when avinaya-varāhavvätthänam will stand in opposition to it, i.e., the going of an unchaste lady to the well which is the meeting place of the paramours and courtesans.

The Prakrit word tam should stand for

યૂપ્

tad, meaning 'therefore'; so tam ittha anado kim should be translated as 'is there any paramour (waiting for you)?' So the translation of the improved reading should be as follows:

"Oh, you the courtesan whose naval cavity is like a well, are you going at this time pleasing to the paramour and the courtesan to (that) well which is the meeting place of the paramour and the courtesan? Why, is there any paramour (waiting for you)?"

It is very difficult to get a very good edition of Prakrit texts. Take, for example, the editions of Kalidasa's Sakuntala by two eminent scholars - Monier-Williams and Richard Pischel, Both have claimed that they have paid much attention to the readings of the text and have carefully preserved the Mss. Pischel has an advantage over Monier-Williams with regard to Prakrit passages, which, Pischel believes, have been presented correctly. These two editions differ so much that they represent two different recensions. But with regard to the treatment of labial b and semivowel v, these two scholars vary too much. About the retention of v. Pischel is in favour of the grammarians, while Monier-Williams has a strong predilection for the historical development of the sound and prefers b. The common reader is at a loss to decide which course to adopt. This problem is summed up in my book-The Eastern School of Prakrit Grammarians, (p.99) which is quoted below:

"He (i.e. Pischel) says that the gramma-

rians are not to be corrected with the help of the manuscripts; but the manuscripts are to be improved upon with the help of the grammarians. But it can be added here that the peculiar characteristics of an eastern Prakrit, supported by the eastern grammarians should not be rectified with the evidence of the western grammar. So the Prakrit readings, in regard to labial b, cannot be summarily It should also be noted that the relected. readings given by Monier-Williams seem to be based on an outlook of the historical background answering to the reliability of one or two other readings of the different manuscripts, while it will appear as almost certain that the readings given by Pischel reveal a strong predilection for grammar."

In the Jain canonical texts the problem is different. We are all aware of mistakes that a scribe makes while copying the Mss from another one, or writing from the dictation of a person. The copyist may or may not be educated in the subject. As a result the Mss may contain some mistakes which obviously defy the genuineness of the language. These mistakes are at times regarded as "archaic" or earlier features of a language. Take, for an example, the one reading of the Uttaradhyayana sutra (1.5)

kaṇakuṇḍagaṃ caittāṇaṃ viṭṭhaṃ bhuṃjai sūyare

evam silam caittānam dussile ramai mie Here the reading with long i in ramai is difficult to accept, but for "archaic". Similar types of readings of long i of verbs, such as vuccai (1, 2), nikkanijai (1,4) are abundant. The readings with short i are also available in the foot-notes.

Besides these are orthographic problems in Jain texts. The use of ya-śruti, dental and cerebral n, the sporadic cases of voiceless changing into voiced, and so on. These problems will remain as long as the principles of editing Prakrit texts are not followed.

Manuscripts vs Grammarians :

Having discussed some difficulties and anomalies of Prakrit texts, what remains now is a great task for the scholars to determine the principles we follow in editing a Prakrit text. The basic problem is whether the grammarians or the manuscripts are to be followed, It is not easy to answer the question, particularly when most of the scholars think that any kind of linguistic phenomenon is possible in Prakrit. Perhaps under the tacit influence of this so-called ideas, some of the Prakrit forms have been incorporated in some editions which sometimes baffle and betray some of the basic notions of Prakrit language including dialects as enunciated by Prakrit grammarians. true that Prakrit grammarians are not very old, and most of the authors belong at a time when the language was almost stereotyped like Sanskrit. As a result the Prakrit features as embalmed and treasured up by the grammarians vary from author to author, except a few general forms which are co-The texts of Prakrit manusmmon to all. cripts are not always uniformly common; the variations are such that it is difficult to follow any particular reading from the Mss. The copyists are not always learned, moreso, they may not have any knowledge or a very limited knowledge of the language and hence every possibility of making mistakes. The phonetics of the language is not always regular. Sometimes the copyists add something to the Mss. to improve upon the text. It is, therefore, not an easy task to edit a Prakrit text, as is normally the case with Sanskrit or with Pali.

4. Emendation:

It is my personal feeling that some sorts of emendations are necessary to edit a Prakrit text—if the Mss. of a particular text do not help us much-recording, of course, the variants at the foot-note. (Cf. my edition of Kramadisvara's Prakrit Grammar, § 26, pp 19-22).

5. Conclusion:

The above are some of the specimens taken at random to show the linguistic problems of Prakrit and Prakrit textual criticism. It is indeed very difficult to form direct cut-and-dry principles for this purpose, unless we base our arguments on some priniciples by which grammarians are involved in the matter. In conclusion, I can just say that I have endeavoured to present a picture of editing Prakrit texts, and leave with the readers to judge its value or revalue of some Prakrit passages presented in this dissertation.

Bibliography Books on Textual Criticism

- 1. J. N. Madvig Adversaria, Copenhagen, 1871.
- 2. F. W. Hall-Companion to Classical Texts, Oxford, 1913.
- S. M. Katre—Introduction to Indian Textual Criticism, 1st edn 1941 (2nd edn 1954), Poona, 1941.
- 4. P. Maas-Textual Criticism (Eng. Tra.), Oxford, 1958.
- Housman The Application of Thought to Textual Criticism (in his Selected Prose, edited by John Carter, Cambridge, 1961.)
- 6. A. Dain Les manuscripts, 2nd edn, Paris, 1964.
- 7. Bertil Axelson -- Korruptelenkult, Lund, 1967.
- 8. L. D. Reynolds and N. G. Wilson-Scribes and Scholars, Oxford, 1968.
- 9. J. B. Hall—Introduction to his edition of Claudian De raptu Proserpinae, Cambridge, 1970.
- 10. G. Pasqualia-Storia della tradizione e critica del texts, 2nd edn, Florence, 1970.
- 11. James Willis-Latin Textual Criticism, University of Illinois, Urbana, 1972.

अपभ्रंश वैयाकरण हेमचन्द्र के दोहे

—डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', अलीगढ़

पाणिनी की कोटि के महान नैयाकरण होते हुए हेमचन्द्र काव्य-प्रणयन में भी किसीसे पीछे, नहीं रहे। वे
अपभुंश के ही नहीं संस्कृत और प्राकृत के भी किव कोविद
थे। एक व्यक्ति में ऐसी विरोधी रुचियों का समन्वय
विलक्षण है। असाधारण प्रतिभा के धनी हेमचन्द्र का
आरिभक नाम चंगदेव था। जैनदीक्षा ग्रहण करने के
पश्चान् आपका नाम हेमचन्द्र पड़ा। आप श्वेताम्बर जैन
थे और गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज एवं उनके
भतीजे कुमारपाल के समसामयिक प्रतिष्ठित पण्डित थे।
आप अधिकतर समय अन्हिलवाड़ में रहे। आपका समय
संवन् ११४५ से सं० १२२६ तक का है। अपनी प्रखर

प्रतिभा के कारण हेमचन्द्र 'कलिकाल सर्वज्ञ' से सम्बोधित हुए।

हेमचन्द्र का बहुमुखी व्यक्तिरव महान् है। आपके 'सिद्ध हेम शब्दानुशासन' (व्याकरण) के अतिरिक्त 'लिंगान-शासन' (व्याकरण), 'संस्कृत द्वयाश्रय' (महाकाव्य), 'प्राकृत द्वयाक्षय' या 'कुमारपाल चरित' (महाकाव्य), 'काव्यानुशासन' (अलंकार), 'छंदो ऽनुशासन' (छंद शास्त्र), 'अभिधान चिन्तामणि' (कोष), 'अनेकार्थं संग्रह' (कोष), 'देशीनाममाला' (कोष), 'निघंद्रकोष'(वैद्यक कोष), 'प्रमाण मीमांसा' (न्याय), 'योगशास्त्र', 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र' (महापुराण) आदि अन्य अनेक ग्रन्थ विविध विषयों का निरूपण करते हैं। अपने व्याकरण में जनसाधारण में प्रचलित दोहों को उदाहृत करके अपने लोक साहित्य की महान सम्पत्ति की सरक्षा की है साथ ही अपभंश काव्य का 'दोहा' काव्यरूप के स्वरूप समझने की प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत की है। दोहा या दूहा अपभू श का लाडला खंद है। ^प हेमचन्द्र के दोहे अपभंश काव्य में महनीय हैं। धाहित्यिक सौन्दर्य से सम्प्रक्त आपके दोहे अपभंश साहित्य में निरूपमेय निधि है। वस्तुतः अपभ'श वाङ्गमय के हेमचन्द्र आधार स्तम्भ हैं।

हैमचन्द्र द्वारा उदाहत दोहों का सरसता, भाव-तर-लता एवं कलागत सौन्दर्य की दिष्ट से 'गाथा सप्तशती' के समान ही मृल्य है। इन दोहों में निसर्ग-सिद्ध काव्यत्व की गरिमा निहित है। विषयवस्तु की दिष्ट से ये दोहे वीरभावापन्न, श्रंगारिक, नीतिपरक, अन्योक्तिपरक, वस्तु

- ^२ (क) हिस्ट्री आफ मिडीवल हिन्दू इन्डिया, भाग ३, पृष्ठ ४११।
 - (ख) जैन साहित्य और इतिहास, नाथुराम प्रेमी, पृष्ठ ४४८।
- ^३ (क) काव्यानुशासन की भूमिका, रसिकलाल पारीख, पृष्ठ २६१।
 - (ख) अपभू श पाठमाला, प्रथम भाग, नरोत्तमदास स्वामी, पृष्ठ ६३।
- हिन्दी साहित्य की भूमिका, डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १३!
- (क) अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डॉ॰ देवेन्द्र कुमार जैन, पृष्ठ ११७।
 - (জ) जैन साहित्य की हिन्दी साहित्य को देन, श्री रामसिंह तोमर, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ४६८।
- ^६ आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध, डॉ॰ हरीश, पृष्ठ १५।

[પ્રદ

^१ अपभूरा साहित्य, हरिवंश को छड़, पृष्ठ ३२१।

वर्णनात्मक और धार्मिक भेदों में विभक्त किए जा सकते हैं। अ डॉ॰ नेमीचन्द्र शास्त्री कहते हैं—"इनमें शृंगार, रितभावना, नखशिख चित्रण, धिनकों के विलासभाव, रणभूमि की वीरता, संयोग, वियोग, कृपणों की कृपणता, प्रकृति के विभिन्न रूप और दश्य, नारी की मस्तण और मांसल भावनाएँ एवं नाना प्रकार के रमणीय दश्य अंकित हैं। विश्व की किसी भाषा के कोष में इस प्रकार के सरस पद्य उदाहरणों के रूप नहीं मिलते।"

हेमचन्द्र के अनेक दोहे हिन्दी साहित्य के आदिकालीन साहित्य का निरूपण करते हुए सुविज्ञ समीक्षकों द्वारा उद्धृत किए गए हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहासवेत्ताओं ने क्षत्रिय नारियों की वीरता के आदर्श-आकलन में निम्न दोहा प्रस्तुत किया है:

भल्ला हुआ जु मारिया बाहिणि महारा कन्तु। लज्जेज्जांतु वयं सिअहं जइ भरगा घर अंतु॥

वीर रस के दोहों में नारी की दपोंक्तियों का विशेष महत्त्व है। डॉ॰हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"स्त्रियों की अद्भुत दपोंक्ति जो आगे चलकर डिंगल कविता की जान बन गई, इन दोहों में प्रथमवार बहुत ही दप्त स्वर में प्रकट हुई है।" नायिका के कथन द्रष्टव्य हैं; ऐ सिख ! वेकार वक-वक मत कर। मेरे प्रिय के दो ही दोध हैं—जब दान करने लगते हैं तो सुझे वचा लेते हैं और जब जुझने लगते हैं तो करवाल को:

महु कन्तहो वे दोसड़ा हेल्लि म अंखिह आलु । देन्तहो हुउँ पर उ-वरिय जुज्झन्तहो करवालु ॥

यदि रात्रुओं की सेना भागी है तो इसी लिए कि मेरा प्रिय वहाँ है और यदि हमारी सेना भागी है तो इसी लिए कि वह मर गया है:

जइ भग्गा पारक्कडा तो सिंह मज्झुषिएण। अह भग्गा अम्हत्त्रणा सो ते मारि अडेण।। जहाँ बाणों से वाण कटते हैं, तलवार से तलवार टकराती है उसी भट घटा समूह में मेरा प्रिय मार्ग को प्रकाशित करता है:

जहिं किप्पज्जइ सरिण सरु क्षिज्जइ खिरिगण खरगु। तिहें तेहइ भड घड निवहि कन्तु प्यासइ मरगु॥

जब प्रिय देखता है कि अपनी सेना भाग खड़ी हुई है और शत्रु का बल वर्द्धित हो रहा है तब चन्द्रमा की महीन रेखा के समान मेरे प्रिय की तलवार खिल उठती है और प्रलय मचा देती है:

भग्गउँ देक्खिन निययन्तु नलु पसरिअउँ परस्स । उम्भिलइ ससिरेह जिनं करि करनालु पियस्स ॥

इस जन्म में भी और अगले जन्म में भी, हे गोरि ! ऐसा पति देना जो अंकुश के बन्धन को अस्वीकार कर देने वाले मदमत्त हाथियों से अनायास भिड़ सके :

आयइं जम्मिहि अन्निहिं नि गोरि सु दिज्जिहि कन्तु । गयमत्तर्हं चत्तकुसहैं जो अब्भिडिह हसन्तु ॥

नह देखों, हम।रा प्रिय वह है जिसका बखान सैकड़ों लड़ाइयों में हो चुका है। वह, जो अंकुश को अस्वीकार करने वाले मत्त गजराजों के क्रम्भ-निदीण कर रहा है:

संगर सएहि जु विष्णिश्वइ देवाबु अम्हारा कन्तु । अहिमत्तह चतङ्क-सह गय कुम्भेहि वारन्तु ॥

डॉ॰ नामवर सिंह वीर रस से पगे-सने दोहों के विषय में कहते हैं— "यहाँ पुरुष का पौरुष ही नहीं, उसके पार्श्व में वीर रमणी का दर्प भरा प्रोत्साहन भी मिलेगा, यदि एक ओर शिव का ताण्डव है तो दूसरी और उनके पार्श्व में शक्ति का लास्य भी है।" "

सामान्यतः नारियाँ कामना करती हैं कि किसी तरह मेरे प्रियतम लड़ाई-भिड़ाई के कामों से अनकाश पाकर मेरे आंचल तले सुख-शांति से कुछ दिन बिताएँ। ऐसी

ξ۰]

अपभृश काव्य परम्परा और विद्यापति, डॉ० अंवादंत पंत, पृष्ठ ३५६ ।

[ं] प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ५४०।

^९ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ६३।

^{१०} हिन्दी के विकास में अपभूश का योग, पृष्ठ २२४-२२५ ।

नारियाँ प्रायः दुर्लभ हैं जिन्हें युद्ध के बिना उदासीन मह-सूमती हो । नायिकाका कथन है कि—प्रिय, यह किस देश में आ गए १ जब से यहाँ आए हो युद्ध का अकाल पड़ा हुआ है। अरे किसी ऐसे देश में चलो, जहाँ खड़्ग का व्यवसाय होता हो। हम तो युद्ध के बिना दुर्बल हो गए और अब बिना युद्ध के स्वस्थ न होंगे।

खरग विसाहिउ जिं लहहुँ पिय तहि देसिंह जाहुँ। रण-दुव्भिक्खें भरगाइं विणु जुज्झें न बलाहुँ॥

इस प्रकार हैमचन्द्र के बीर रस के दोहे डिंगल की वीर परम्परा को स्पष्ट करने में सहायक हैं। ११ इन दोहों में वीर रस का अभिनव स्वर भास्वर है, युद्ध-वर्णन विचित्र है, अद्भुत है, योद्धा लड़ते-लड़ते पावों में अपनी अतिड़ियाँ उलझ जाने, सिर कंधे पर झूल जाने पर भी तलवार से हाथ नहीं हटाता। उत्साह का यह अद्भुत रूप मात्र युद्ध-क्षेत्र में ही नहीं अपितु जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी परि-लक्षित है।

शृंगारिक दोहों की परम्परा 'गाहासतसई' या लौकिक शंगारिक मुक्तकों से संशिलष्ट की जाती है। ऐसे बहत से दोहे हैं जिनमें नायिका स्वयं नायक की वीरता की चर्चा करती है। अनेक दोहे रतिवृत्ति प्रधान होते हुए भी वीर रस पूर्ण दिखाई पड़ते हैं। त्रिशुद्ध शुंगारिक दोहों में नायिका अपनी सखी या दूती से अधवा दूती, सखी या अन्य कोई स्त्री पात्र नायिका से रति वृत्ति को जागरित करने वाले भाव व्यक्त करती है। कहीं स्वयं नायिका पथिक से वाक्चावर्य के द्वारा गोपनवृत्ति की अभिव्यक्ति करती है। कविश्री हेमचन्द्र अपनी प्रौढ़ोक्तियों के द्वारा आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन या अनुभाव मात्र का वर्णन करते दिखाई देते हैं। कहीं नायिका के सम्पूर्ण आंगों का और कहीं उसके विशेष अंगों-सुख, नेत्र, स्तन, कटि आदि का वर्णन करते हैं। हैमचन्द्र द्वारा निरूपित सुरधा नायिका की खीझ देखते ही बनती है। कविश्री का कथन कि किशोरी के स्तनों के बीच की दूरी इतनी कम है कि इसमें नायक का मन भी नहीं अट सकता। जब ये स्तन इतने उलूंग हो जाते हैं कि प्रिय उनके कारण अधरों तक

नहीं पहुँच पाता तो वेचारी नायिका अपने अंगों पर खीझ प्रकट करती है। कविश्री हेमचन्द्र की सूझ और कल्पना अस्यन्त चमरकारी है:

अइ तुंगत्तणु जं थणहं सौ छेयउ न हु लाहु। सिंह जह केम्बइ तुडि-वसेण अहरि पहुच्चइ नाहु।।

रूपका तिशयों कियों द्वारा कि विश्री हैमचन्द्र ने 'रूप-वर्णन' में सौन्दर्य एवं चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। कबरी बन्ध समन्वित सुख सौन्दर्य के वर्णन में कि विश्री ने चन्द्रमा और राहु के मल्ल युद्ध की संभावना व्यक्त की है तो भूमर कुल के सदश नायिका के केश ऐसे लग रहे हैं मानो अन्धकार के बच्चे मिलकर खेल रहे हैं। नायिका का प्रिय दोषी है, मन उसका लाचार है, सखी कहने आती तो नायिका नम्रता की नर्मदा में अवगाहन करती हुई कहती हैं कि जब प्रिय सदोष है तो ऐसी बात एकांत में कहो लेकिन ऐसे एकांत में कि मेरा मन भी न जानने पाए क्योंकि वह तो प्रिय का पक्षपाती है। पर नायिका को एकांत कहाँ प्राप्त होता है:

भण सिंह निहु अउँ तेव मई जह पिउ दिष्ट सदोसु ! जेवँ न जाणह मज्झ मणु पक्खावडिअं तासु ॥

विरह वर्णन में ऊहात्मकता के अभिदर्शन होते हैं।
एक कृश तनु वियोगिनी बाला को आँसुओं से चोली को
गीली करते हुए और उष्ण उच्छ् वालों से सुखाते हुए
दिखाया है। मान सम्बन्धी दोहों में बड़ी मार्मिकता है।
कभी नायका मान करती है तो कभी नायक। प्रियतम
को देखने पर हलचल में वह मनस्विनी मान करना भूल
जाती है। एक नायका मान करने का संकल्प करती है और
सारी रात ऐसी ही कल्पनाओं में बिता देती है किन्तु जब
प्रिय का आगमन होता है तो मन धोखा दे जाता है।
मान विरह के अतिरक्त प्रवासविरह के अनेक उद्धरण
मिलते हैं। मान विरह में कृत्रिमता या बिलासिता अधिक
प्रतीत होती है किन्तु प्रवास-विरह में स्नेह अत्यन्त तम्न और
उद्दीम हो जाता है। डॉ॰ नामवर सिंह ने शृंगारपरक
दोहों की समीक्षा करते हुए कहा है—''इस तरह प्रणयी
जीवन के इन दोहों में वह सादगी, सरलता और ताजगी

^{११} हिन्दी साहित्य, डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ २२।

है जो हिन्दी के समृचे रीतिकाव्य में भी मुश्किल से मिलेगी। कला वहाँ जरूर है, चातुरी वहाँ खुव है, एक-एक शब्द में अधिक से अधिक चमत्कृत करने की शक्ति भी हो सकती है मतलव यह कि वहाँ गागर में गागर भरने की करामात हो सकती है लेकिन गागर में सागर जितना ही अमृत भरने की जो चेष्टा यहाँ है, उस पर रीझने वाले सुजान भी कम नहीं है। कठिन काम गागर में सागर भरना हो सकता है लेकिन गागर में अपना हृदय भर देना कहीं अधिक कठिन है। हेम व्याकरण के इन दोहों की स्थिति ऐसी ही है। आर्थी और गाहा सतसई की तरह इस दोहावली के भी एक-एक दोहे पर दर्जनों प्रवन्ध काव्य निछावर किए जा सकते हैं।"^{१२}

हेम व्याकरण में भूमर, कुंजर, पपीहा, केहरि, धवल, महाद्वम आदि को लेकर बड़ी ही हियहारी अन्योक्तियाँ कही गई है। 'भूमर' संदर्भित अन्योक्ति द्रष्टव्य है:

भमर म रुणञ्जणि रण्ण उइ सा दिसि जोइ म रोइ! सा मालइ देसंतरिअ जसु तुहुँ मरहि विओइ।। अर्थात् हे भूमर ! अरण्य में रुनझून ध्वनि मत कर, उस दिशा को देखकर मत रो, वह मालती दूसरे देश चली गई जिसके वियोग में तुम मर रहे हो।

'धवल बैल' सम्बन्धी अन्योक्ति भी मार्मिक वन पड़ी है। अपने स्वामी के गुजभार (अधिक परेशानी) को देखकर धवल बैल खेद करता है कि में ही दो खण्ड करके क्यों न दोनों ओर जोत दिया गया:

धवल विसुरइ सामि अहो ग६आ भव पिक्खेवि। हुउँ कि न जत्तउ दुईँ दिसिहिं खण्डइँ दोण्णि करेनि ॥

'महाद्रम' विषयक अन्योक्ति भी कम महत्त्व लिए नहीं है। चिड़ियाँ महान द्रमों के सिर पर बैठकर फल खाती हैं और शाखाओं को भी तोड़ डालती हैं फिर भी महाद्वम उनका कुछ भी अपराध नहीं गिनते :

सिरिं चडिया खन्ति त्फलइं पुणु डालइं मोडन्ति। तो वि महदद्वम राउणाहँ फलानि पुनः शाखा मोटयन्ति ।। हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत नीति सम्बन्धी दोहों में अभि-

^{१२} हिन्दी के विकास में अपभेश का योग, पृष्ठ २२८।

६२]

नव अनुभृति की अभिन्यक्ति है। नीति के ये उपदेश जीवन के व्यवहार से सम्बन्धित हैं। इनकी अभिव्यञ्जना के लिए कविश्री ने उपयुक्त रुप्टान्त प्रस्तुत किए हैं:

सामरू उप्परि तण धरइ तलि घल्लइ रयणाई। सामि सुभिच्च वि परिहरइ संगाणेइ खलाइं॥ अर्थात सागर तृणों को तो अपने ऊपर धारण करता है और रत्नों को भीतर तल में डालता है, स्वामी सुभूत्य की तो उपेक्षा करता है किन्तु खलों का सम्मान करता है।

महत्त्वाकांक्षियों के आदर्श का निरूपण करते हुए किवश्री का कथन है कि कमलों को छोड़कर भूमर समृह हाधियों के गण्डस्थल से मद पान करने की आकांक्षा रखते हैं और वहाँ जाते हैं। दुर्लभ को प्राप्त करने की जिनकी इच्छा रहती है, वे दूरी को कुछ भी नहीं समझते।

कमलइं मेल्लवि अलि-उलं करि-गंड।इं महंति। अ-सुलह-मेच्छ्रण जाहं भिलि तेण त्रि दूर गणंति ।।

इस प्रकार अपभुंश वैयाकरण हेमचन्द्र ने अपने 'शब्दानुशासन' में बीर, श्र'गार तथा अन्य रसों से अनु-प्राणित दोहों को व्याकरण के नियमों को समझाने हेतु व्यवहार में लिया है। जिसमें कहीं नीति सम्बन्धी उक्तियाँ हैं तो कहीं धार्मिक सुक्तियों या अन्योक्तियों का समायोजन हुआ है। इन दोहों में उपमा, रूपक, उत्पेक्षा, अति-शयोक्ति, विभावना, हेतु, अर्थान्तरन्यास, दष्टान्त, उदा-हरण आदि अलंकारों के सुन्दर विनियोग से काव्य-सौन्दर्य का उत्कर्प परिलक्षित है। इनसे गोरखनाथ, संत कवीर आदि परवर्ती कवियों ने प्रेरणा ग्रहण की है। इसचन्द्र युग की अपभृंश भाषागत एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों की रामझने की दृष्टि से इन दोहों की महत्ता असंदिग्ध है।

अपभुंश काव्य में धार्मिक साहित्य की प्रचुरता के मध्य बीर और शृंगार रस के इतने उत्कृष्ट छंद उसके साहित्यक गौरव के उत्कर्ष विधायक हैं। धार्मिक क्षेत्र से दूर ये दोहे लौकिक अपभूश काव्य की मनमोहक झांकी प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः हेमचन्द्र के दीहे अपभृश वाङ्गमय मैं मुक्तक काव्य के सफल वाहन हैं।

Thakkura Pheru and the Popularisation of Science in India in the 14th Century

--- Sreeramula Rajeswara Sarma
Aligarh Muslim University

[Sri Bhanwar Lal Nahata's services to the cause of learning are indeed manifold. Historians of Science will be ever indebted to him for the discovery and the publication of Thakkura Pheru's scientific works in Prakrit.]

1.0 Until the introduction of English in India, scientific texts as well as other scholarly works were written mainly in Sanskrit and that too in metrical form. Though Sanskrit had the advantage of being the pan-Indian medium of communication, its accessibility within any region of India was limited, and the writings in Sanskrit were naturally elitist in character, being

written chiefly by Brahmins for Brahmins. Moreover, the enormous respect for tradition and the urge to preserve it in all its purity resulted in a faithful following of the traditional frame-work in all intellectual endeavours, so much so that the chapter titles of almost all texts in a particular branch of science sound alike. If any innovations were made it was always within this framework. The tack of discrimination in the selection of ideas and the reluctance to discard outmoded concepts, coupled with a language of limited accessibility, resulted in the stagnation of Indian science in the middle ages. There is one more factor which contributed to this decline. This is the absence of communication, and therefore absence of any interaction, between science and technology. While the writers on scientific subjects were upper caste Brahmins, the practitioners of technology were artisans of low social standing. The techniques employed by the latter in their professions were rarely recorded in writing; these were transmitted orally from father to son or from master craftsman to apprentice and remained in many cases guild or trade secrets.

0.2 The literature of the Jainas offers some sort of an exception to this general state of affairs. Though the Jainas respected Sanskrit as a vehicle of scholarly exposition, Prakrit also enjoyed religious sanction among them. Even while writing in Sanskrit, there was often a conscious attempt to simplify the language for the sake of wider under-

standing.1 The Jaina monks played an active role in the affairs of the community and seem to have been responsible for the spread of learning to all strata of society, notably to the more numerous mercantile class of Vaisyas. In Gujarat where Jainism was influential, the Jainas of the merchant class played prominent role in the middle ages. A Jaina called Vira was the superintendent and minister of four successive rulers Mularaja, Camundaraya, Vallabharaya and Durlabharaya at the close of the tenth century and beginning of the eleventh.2 His son Vimala was the commander-in-chief of Bhima I and built in 1031 the famous Vimalavasahi temple with its exquisite marble carvings on Mt. Abu. In the thirteenth century, Vastupala served the Vaghela rulers as their Chief-minister and was a great patron of learning. 8

O.3 Aside from these instances of political power, commerce was the exclusive forte of the Jainas, and much of the economic activity in the Gujarat-Rajasthan-Delhi region

was controlled by them. The members of the Srimala caste, in particular, specialised in minting and money-exchange. Even after the political domination of northern India by Muslims from the thirteenth century onwards, the expertise represented by this banker's caste was utilised by the Muslim rulers of Delhi in their minting operations, just as Hindu and Jaina masons and stone-carvers were employed in the construction of the Islamic monuments. The Kharatara chronicle mentions a number of wealthy Jainas from Delhi who enjoyed good relations with the rulers.

1 0 Notable among these members of the Srimala caste in the employment of the Sultans of Delhi is Thakkura Pheru who stands out as a writer on a wide range of scientific subjects in popular speech. He wrote six scientific works: Vastusara on architecture and iconography, Jyotisasara on astrology and astronomy, Ratnapariksa on gemmology, Ganitasara on arithmetic, Dhatutpatti on metallurgy and perfumery trade,

- For instance, Jinapala writing at Delhi in 1248, explains at the end of his Kharatara-gacchalamkara-yugapradhanacarya-gurvavali, a chronicle of the pontiffs of the Kharatara sect, how he simplified Sanskrit in this work in order that even children can understand it. Henceforth this chronicle will be referred to as the Kharatara chronicle. It was published in the Kharataragaccha-brhadgurvavali, ed. Jinavijaya Muni, Bombay 1966. Jina pala's statement occurs on p. 50.
- ² Cf. U. P. Shah, "Coinage of Early Chalukyas of Anhillavada-Patan", Journal of the Numismatic Society of India, XVI. 2 (1954), pp. 239-42.
- 3. Cf. B. J. Sadesera, Literary Circle of Mahamatya Vastupala, Bombay 1953.
- ⁴ Cf. John Scott Deyell, Living without Silver: The Monetary History of Early Medieval India (The University of Wisconsin-Madison Ph. D. Thesis, 1982. Xerography in 1983 by the University Microfilms International, Ann Arbour), Vol. 1, p. 339.

and Dravyapatiksa on assay and moneyexchange.⁵

1.1 Pheru's biography can be pieced together from the personal references in his works. His first known work was written in 1291,6 hence his birth may have taken place around 1270. His native place was Kannana situated in the modern state of Haryana, and this place was not far from the then imperial capital Delhi. It was then a centre of pilgrimage for the Jainas. Pheru was born in a prosperous banker's family belonging to the Kharatara sect of the Svetambara Jainas. Pheru's grandfather, Kaliya or Kalasa, was a prominent banker of Kannana. It is not stated where Pheru's father Canda resided, but unlike his father. Canda had the title Thakkura. The Kharatara chronicle lists a number of prominent Jainas by their names, castes and titles. A cursory survey of those enjoying the title of Thakkura shows that they are all from Delhi. would suggest that Thakkura was a court title and that Canda may have been associated with the Sultan's treasury at Delhi.

1.2 Nothing is known about Pheru's early life and education, but it is likely that he was brought up and educated at his native

town Kannana. There in 1291, presumably at the conclusion of his formal education. he composed a eulogy of the pontiffs of his Sometime later, but much before sect. 1315, he joined the treasury of Alauddin Muhammad Khalji at Delhi and was apparently in charge of the jewellery. This job inspired him to write the Ratnapariksa, a manual on germology, for the instruction of his son Hemapala in 1315. In the same vear he wrote two more works: the Jyotisasara on astrology and the Vastusara on In 1318 he must have been architecture. the assaymaster in the mint of Qutbuddin Mubarak Shah and produced his invaluable Dravyapariksa on assay and money-exchange. According to the Kharatara chronicle, he participated in that year in a pilgrimage to the holy places around Delhi. The chronicle reports further that in 1323 he joined the pilgrim congregation to Satrunjaya in Gujarat.7 It is not known if he was still employed at the court, but the very mention of his name among the Jaina prominence of Delhi suggests that he may have conservices under tinued his Ghivasuddin Tughlug as well. Thus, like Vira of Gujarat, Pheru also served four successive Sultans, Alauddin Muhammad Khalji (1296-1316).

- ⁵ All Pheru's works are published in the Thakkura-Pheru-viracita-Ratnapariksadi-sapta-granthasamgraha, ed. Jinavijaya Muni, Jodhpur 1961. For other editions of the individual texts, see my Thakkura Pheru's Rayanaparikkha: A Medieval Prakrit Text on Gemmology, Aligarh 1984.
- This is the Kharataragaccha-yugapradhana-catuhpadika, a eulogy of the pontiffs of his sect, written in Apabhramsa.
- ⁷ See Kharataragaccha-brhadgurvavali, pp. 66-68, 72-77.

[६५

Shihabuddin Umar (1316), Qutbuddin Mubarak Shah (1316-1320) and Ghiyasuddin Tughluq (1320-1325).

1.3 It is noteworthy that Pheru's literary activity was not limited to his caste or professional interests only but extended beyond these to encompass astrology, architecture, metallurgy etc. Though well-read in Sanskrit, Pheru did not choose that language for his scientific writings nor did he choose the literary Prakrit of the Jaina clergy but wrote instead a mixture of Prakrit and Apabhramsa. Perhaps he was reluctant to abandon Prakrit altogether but at the same time wished to be understood by a wide strata of professionals like bankers, jewellers, traders, architects and masons, This way his language probably came very close to the spoken language of his day. Though he broke with the tradition of writing in Sanskrit, he still adopted the metrical form which is more suitable for memorising. However, in order to enhance the practical utility of his works, he included a large number of tables and occasional diagrams. With this background, we shall now discuss his scientific works individually in a chronological sequence as far as possible.

2.1 The Vastusara, completed on the auspicious festival of the Vijayadasami (ca. 19 September 1315) at Kannana, is divided

into three chapters. The first deals with astrological matters related to the selection of the site for house-building, auspicious moments for beginning the construction, for occupying the house etc. Normally these topics are dealt with in astrological works and not in those on architecture. But Pheru quite pragmatically includes them in his work on architecture and merely touches upon them in his book on astrology. second chapter discusses the iconography of Jaina images and the third the architecture of various types of temples. V. S. Agrawala was of the opinion that this text "must have served as a practical hand book for architects of Jaina temples in the early Sultanate period."8 The Kharatara chronicle describes many instances of the construction of Jaina temples, installation of idols etc. in the Rajasthan-Delhi region in this period. It will be interesting to make a comparison of the theory expounded in this work with the extant examples of this period.

2.2 The Jyotisasara, also written in 1315, deals with the usual topics of astrology and the related areas of astronomy. This work contains many tables of computation and a detailed list of contents in Sanskrit at the end. The work is apparently meant for the use of the Jainas in the territory of Delhi, for at one place computations are given for Delhi and Hansi; the latter was the first military outpost beyond Delhi.

६६]

^{8 &}quot;A Note on Medieval Temple Architecture", Journal of the United Provinces Historical Society, XVI. 1 (1943), p. 112.

At the beginning of the work, Pheru mentions the authorities consulted by him. I list them here to indicate his vast learning. These are Haribhadra, Naracandra, Padmaprabha, Jauna, Varahamihira, Lalla, Parasara and Garga. The first three are Jainas. The Jainas held jyotisa (i.e. astronomy, astrology and mathematics) in high esteem and wrote a large number of works on this subject. The influence of these Jaina writers on Pheru is considerable. Haribhadra (ninth century) wrote an astrological work called Lagnakundalika.9 Pheru apparently followed him in naming the chapters of his work dvaras (doorways). Padmaprabha Suri's Bhuvanadipika or Grahabhavaprakasa, written in 1164, was an immensely popular text. There are several commentaries on it, and about three hundred manuscripts of this work are extant today.18 Naracandra Suri (d. ca. 24 August 1230) was a teacher of the famous Vastupala and the author of the Jyotisasara, also known as Naracandra or Naracandrapaddhati. This was also a very popular work, for there are some two hundred and odd manuscripts available today.11 Pheru's aim seems to be to present the teachings of these Sanskrit works in simple Prakrit.

2.3 The Ratnapariksa on gemmology was also written in 1315. At the beginning of

this work, Pheru states that (i) he has studied the earlier Sanskrit texts on gemmology, (ii) seen the ocean-like vast collection of gems in Alauddin's treasury and (iii) observed the gem-testing by other experts. To put it differently, Pheru (i) acquired theoretical knowledge from the existing literature, (ii) had the practical experience of handling gems in the royal treasury, and (iii) underwent a period of apprenticeship under experts. One would call this a truly modern scientific approach Pheru was indeed well placed to fulfil all the three conditions. His wide learning and good command of Sanskrit enabled him to read Sanskrit manuals on gemmology by Buddhabhatta, Agastya, Brhaspati and others. condly, Alauddin amassed enormous quantities of gems and precious metals during his campaigns, and his treasury must indeed have resembled an ocean full of gems. There can be no doubt that many of the gems were of a rare quality. An exquisite diamond said to have been acquired by Alauddin reached the hands of the Mughai emperor Babur in 1523. Babur states that "it is so valuable that a judge of diamonds valued it at half the daily expense of the whole world"12 Thirdly, Alauddin's court bosted of Muslim experts also who were well versed

⁹ Cf. Ambalal P. Shah, Jaina Sahitya ka Brhad Itihas, Vol. V, Varanasi 1969, p. 168.

¹⁰ Cf. David Pingree, Census of the Exact Science in Sanskrit, Series A, Vol. 4, Philadel-phia 1981, pp. 173-179.

¹¹ Ibid., Vol. 3, Philadelphia 1976, pp. 132-36.

Memoirs of Zehir-ed-Din Muhammad Babur, tr. John Leyden and William Erskins, London 1921, Vol. II, pp. 191-92. Many historians and gemmologists thought this diamond to be indentical with the famous Koh-i-Nur, but this view is no more favoured.

in Islamic gemmology. The quartermastergeneral was such an expert, so was the court poet Amir Khusrau. Under these circumstances, one would expect that Pheru's treatise would (i) present Indian theories of gemmology, (ii) describe some of the rarest gems in the royal treasury, and (iii) display some acquaintance with Islamic gemmology, in particular with the Arab discoveries about the specific gravity of gems.

But Pheru's aim was modest, namely to provide his son with a practical handbook containing the contemporary tariff of prices along with some amount of the traditional theory and lore of gems. Therefore, he paraphrases the earlier writings - sometimes indiscriminately—on the mythology, properties and sources of gems. About the sources, he is most careless, repeating often the same lists of places enumerated by the earlier writers, sometimes even misunderstanding them. But unlike the earlier writers who mention the price of each gem separately along with its description, Pheru has an entire section where he quotes the prices very systematically, first in verses and then in tables for easy reference. Though the royal treasury might be overflowing with gems of large size, the prices quoted are only for gems weighing up to 18.35 metric carats. Perhaps gems beyond this weight were not offered for sale in the market but were surrendered to the royal treasury.¹³

Besides this innovation of a separate section on the price tariff, there is another aspect where the Ratnapariksa distinguishes itself. It is the description of the gems imported from Persia (spinel, cornelian and turquoise). Pheru was the first Indian gemmologist to describe these gems, and his information is quite precise and accurate as can be seen from the contemporary Arabic works on gemmology.¹⁴

Though the Ratnapariksa cannot counted among Pheru's best works, exemplifies certain characteristics of Pheru as a writer. These characteristics are as follows: (i) Where there exists a corpus of traditional literature on a subject, he is content to follow the traditional framework and to present the material in Prakrit (as in the description of gems). (ii) However, makes innovations in the traditional framework if practical considerations demand them (e.g., the price tariff; see also 2.4 below), (iii) But where there is no traditional literature to lean on, he writes from his practical knowledge, and is most original and precise (e.g. on the gems imported from Persia). The Dhatutpatti (see 2.5)

- Fernao Nuniz reports in the sixteenth century that in the kingdom of Vijayanagara all diamonds exceeding 25 ct. were to be given to the king's treasury. See Robert Sewell, A Forgotten Empire: Vijayanagara, (reprint) Delhi 1962, p. 369.
- ¹⁴ Cf. Eilhard Wiedemann, Aufsaetze zur arabischen Wissenschaftsgeschichte, hrgg. Wolfdietrich Fischer, Hildesheim/New York, Vol. 1, pp. 835-53.

६८]

and more particularly the Dravyapariksa (see 2.6) belong to this category of original works.

2.4 The Ganitasara or arithmetic in not dated but must have been written before 1318. Compared to the previous text, this one is more innovative, not so much in the theoretical portions but in the application of arithmetical rules to a wide range of It is a common place to say that arithmetic is one of the most practical of sciences, its rules being employed by traders, masons, carpenters, tax-collectors, and the like for the calculations connected with their professions. The units of measurement and the examples to illustrate arithmetical rules given by Pheru throw a flood of light on the economic and social conditions of this period. Here a few examples will suffice.

in the section on solid geometry, Pheru gives the rules for the volumes of domes (gonamta), square and circular towers with spiral stairways in the middle (payaseva), towers with fluted columns (munaraya), niches (taka), staircase (sopana), bridges (pulabamdha) and so on (iii. 74-86). It should be noted that some of these are new architectural features being introduced by the Muslim rulers into India in this period. The purpose of such rules is to enable the chief mason to calculate the number of bricks or stones needed for these constructions. To do this calculation more exactly, Pheru informs us, one should first calculate the total volume of the wall space, subtract from this the volume of the space occupied by the doors and windows, and then reduce the remainder by three-twentieths, the latter being the volume of the mortar (III. 70-71). The result when divided by the volume of a single brick yields the number of bricks.

Historically more significant is the following statement: "The munaraya is like a circular tower with a spiral stairway in the middle, as far as the inside is concerned. But the difference is this: the wall contains half triangles and half circles" (III. 80). The meaning of the cryptic last sentence is that in a horizontal cross-section of the munaraya, the outer circumference consists of alternate triangles and semicircles. should be remembered that about a hundred years before this time, Qutbuddin Aibak built the Qutb Minar in Delhi and that Alauddin himself started constructing another tower twice as high. Now, the lower story of the Qutb Minar consists of alternately angular and circular columns, and it is clear that Pheru is referring here to such a tower with fluted columns.

In another section, dealing with cloth (IV. i. 18-37), Pheru mentions different kinds of silk, woollen and cotton materials, the rate of shrinkage or loss in washing, cutting and sewing, and the area of cloth needed to make various types of tents. There is a last section (IV. iii. 1-17) listing the average yields of grains, pulses, etc. per bigha, the average yield of molasses and brown sugar per maund of sugarcane, the amount of clarified butter that can be obta-

ined from cow's and buffalo's milk and so on. Mention must also be made of Pheru's rule for converting Vikrama dates into Hijri dates and vice versa (IV. i. 17) which is probably the first such rule to be formulated in India. It must be emphasized that all this is not germane to arithmetic as such, but Pheru is adapting arithmetic here to suit the needs of a variety of professions.

2.5 The Dhatutpatti, also not dated, deals with a heterogeneous mixture of topics, namely origin of metals, extraction of metals and perfumery articles. In the shape it has come down, the text does not seem to be complete or even continuous. Perhaps here are separate extracts from the lost Bhugarbhaprakasa said to have been written by Pheru. Even so, the present text offers valuable material. The section on the perfumery articles describes the properties, varieties, provenance and prices of camphor, aloe wood, sandalwood, musk, saffron etc. But more important is the section which discusses the techniques of extracting or preparing brass, copper, lead, tin, bronze, mercury, vermillion, red lead etc. This and the first part of the Dravyapariksa (to be discussed below) show Pheru's familiarity with metal technology, and are unique contributions to the history of metallurgy in medieval India.

2.6 The Dravyapariksa was written in 1318 during the reign of Qutbuddin Muba-

rak Shah. Pheru states that he wrote this work on the basis of his direct experience of various types of coins while he was employed in the Delhi mint. The expression dravyapariksa denotes the examination of the metal content in coins or the assay. Since there was no official rate of exchange at that time for different currencies, the official or private money exchangers priced a coin on the basis of its metal content. For this purpose the coins had to be assayed either by melting some samples or, if the coins were few and of gold or silver, by rubbing them on the touchstone.15 Pheru states that he wrote this work for the sake of his son and brother who may have been embarking on the profession of money exchangers.

The Dravyapariksa can be divided into two parts. The first part (vv. 1-50) deals mainly with the techniques of refining gold and silver and of determining their fineness. and thus provides the necessary technical background for money exchange. The second part (vv. 51-149) can be termed a coin catalogue and is numismatically most valuable. Here are described the mullu tullu dayyo namam thanam, the name, provenance, weight, average metal content and the exchange rate in terms of the Khalii currency. This data is given both in verses and in tables for some 260 types of coins belonging to the thirteenth and early fourteenth

৩৩

See my paper, "Varnamalika System of Determining the Fineness of Gold in Ancient and Medieval India". Aruna-Bharati: Professor A. N. Jani Felicitation Volume, Baroda 1983, pp. 369-389.

centuries, issued by various kingdoms of northern India. Some of the coins described here are no more extant and the Dravyapariksa remains the only testimony we have for the monetary history of several kingdoms.

Of the names listed by Pheru, some are based on the denomination, some on the king who issued them, some on the shape and some on the ornaments. The different kingdoms that issued these coins include Khurasan, Multan, Jalandhar, Banaras, Tahangarh, Malwa, Canderi, Devagiri, Gujarat, Narwar and, of course, Delhi. It is worth noting that where a number of coins from a single kingdom are listed, these are arranged in the correct chronological sequence.

Now we turn to the most valuable data, the metal content. In the case of gold and silver coins, Pheru gives their degree of fineness. For coins made of alloy, the weight of each metal per 100 specimens is listed. Such information must have been obtained by Pheru, in most cases, by his own assay. Some of his assays, done through what would be considered primitive methods today, have been compared with modern assays and found to be quite accurate. 16

The most interesting and comprehensive list is naturally of the coinage issued by the Sultans of Delhi, especially Alauddin and his successor Qutbuddin Mubarak. Pheru lists 12 types of coins issued by the former

and 63 types by the latter. It should be noted that Mubarek issued these 63 types during the brief span of his reign from 1316 to 1318. Apart from the large number of types, the quality of his coinage was far superior to that of his predecessors. Nelson Wright observes: "The coinage of Qutbuddin Mubark stands out for its boldness of design and the variety of its inscriptions. There is perhaps no finer coin in the whole pre-Mughal series than the broad square gold tankah of high relief struck at Qutbabad Fort." 17

Occupying a high position at the mint, Pheru must have had an active role in issuing these diverse types of coins and in the improvements in minting technology. It is indeed fortunate that he shared his master's enthusiasm for coins and, drawing upon his own experience and that of his caste, left us an excellent guide to the coinage of northern India.

3.0 It is now pertinent to ask whether Pheru's attempt at popularisation of science has had any impact or emulation. Pherhaps a thorough survey of the Jaina Mss. collections in Gujarat and Rajasthan may one day bring to light some scientific texts written in popular speech, but on the whole the tradition of writing in Sanskrit metres was so strong that Pheru's example was rarely followed. On gemmology, however, there

ি ৬१

¹⁶ Cf. John Scott Deyell, op. cit., I, p. 344.

¹⁷ H. Nelson Wright, The Coinage and Metrology of the Sultans of Delhi, (reprint) New Delhi 1974, pp. 107-8.

are some texts written in old Hindi and old Rajasthani by jewellers and even by Jaina monks. But these are faithful renderings of the Sanskrit originals and do not exhibit any innovations. An old Gujarati text of the fifteenth or sixteenth century called Vividhavarnaka enumerates tamkapariksa (i.e. examination of coins) as one of the sciences, but except the Dravyapariksa no

other text on this subject has been discovered so far.

Just as English is used today in India for the sake of pan-Indian or even world-wide communication, the Hindu and Jaina scientists wrote in the pan-Indian medium of Sanskrit until it was replaced by English. Thakkura Pheru, therefore, remains the only versatile scholar to have attempted to popularise science.

હર]

¹⁸ Cf. Agarchand Nahata and Bhanwar Lal Nahata, Ratnapariksa, Calcutta n. d.

¹⁹ See Varnaka-Samuccaya, ed. B. J. Sandesera, Pt 1, Baroda 1956, p. 48.

पद्मसुन्दर की एक अज्ञात रचना: यदुसुन्दर

— डॉ॰ सत्यन्नत गवर्नभेण्ट कॉलेज, श्री गंगानगर (राज॰)

तपागच्छ के सुनिज्ञात आचार्य तथा सम्राट् अकबर के आध्यात्मिक मित्र उपाध्याय पर्मसुन्दर का यहुसुन्दर-महाकाव्य उनकी नव प्राप्त कृति है। जैन साहिल में कालिदास, माघ आदि प्राचीन अग्रणी किवयों के अनुकरण पर अथवा उनकी समस्यापृति के रूप में तो कुछ काव्यों का निर्माण हुआ है, किन्तु यहुसुन्दर एकमात्र ऐसा महाकाव्य है, जिसमें संस्कृत-महाकाव्य-परम्परा की महानता एवं उच्छता के समन्वित प्रतीक, श्रीहर्ष के नैषधचरित को रूपान्तरित (एडेप्ट) करने का दुस्साध्य कार्य किया गया है। महान् कृति का रूपान्तरण विष के समान है, जिससे आहत मौलिकता को पाण्डित्यपूर्ण कीड़ाओं की संजीवनी से भी पुनर्जीवित नहीं किया जा सकता। पद्मसुन्दर ने श्रीहर्ष की दम्न बहुश्रुतता, कृत्रिम भाषा तथा जिल्ल-दुरूह शैली के कारण बज्जवत दुमें ब प्रशंसनीय प्रयत्न किया है किन्तु उसे अनेकशः, अपनी असहायता अथवा नैषध के दुर्धर्ष आकर्षण के कारण काव्य को संक्षेप करने को बाध्य होना पड़ा है जिससे यदुसुन्दर कहीं-कहीं रूपान्तर की अपेक्षा नैषधचरित के लघु संस्करण का आभास देता है। यदुसुन्दर में मधुराधिपति यदुराज समुद्रविजय के अनुज वसुदेव तथा विवाधर-सुन्दरी कनका के विवाह तथा विवाहोत्तर केलियों का वर्णन है, जो प्रायः सर्वत्र श्रीहर्ष का अनुगामी है।

यदुसुन्दर अभी असुद्रित है। वारह सर्गों के इस महत्त्वपूर्ण काव्य की एकमात्र उपलब्ध हस्तप्रति (संख्या २८५८, पुण्य), अहमदाबाद स्थित लालपत भाई दलपत भाई भारतीविद्या संस्थान में सुरक्षित है। प्रस्तुत विवेचन, ५४ पत्रों के इसी पत्रलेख पर आधारित है।

कवि-परिचय तथा रचनाकाल:

पर्मसुन्दर उन जैन साधुओं में अग्रगण्य थे, जिनका मुगल सम्राट अकवर से घनिष्ठ सम्बन्ध था। उनकी मैत्री की पुष्टि पदुमसुन्दर के ग्रन्थों से भी होती है। शाहि शंगार दर्पण से स्पष्ट है कि अकवर की सभा में पदमसुन्दर को उसी प्रकार प्रतिष्ठित पद प्राप्त था, जैसे जयराज वावर को मान्य था और आनन्दराय (सम्भवतः आनन्दमेर) हुमायूँ को । इर्षकीर्त्तिरचित धाउतरंगिणी के निम्नोक्त उल्लेख के अनुसार पद्मसुन्दर न केवल अकवर की सभा में समादत थे, उन्हें जोधपुर नरेश मालदेव से भी यथेष्ट सम्मान प्राप्तथा। सम्राट् अकवरने जो अन्थ-संग्रह आचार्य हीरविजय को भेंट किया था, वह उन्हें तपागच्छीय पद्मसुन्दर से प्राप्त हुआ था । उनके दिवंगत होने पर वह ग्रन्थराशि सम्राट् के पास सुरक्षित थी। पदमसुन्दर के परवर्ती कवि देव विमलगणि ने अपने हीर सौभाग्य में इस घटना तथा उक्त ग्रन्थ राशि में सम्मिलित प्रस्तुत यदुसुन्दर सहित नाना यन्थों का आदरपूर्वक एल्लेख किया है। रे हीरनिजय अकवर से सम्वत १६३६ में

৬३

[ै] शृङ्गारदर्पण, प्रशस्ति, २।

^२ (अ) हीरसौभाग्य, १४.६१-६२, ६६।

⁽आ) वही, १४.६६, स्वीपज्ञटीका : काव्यानि···कादम्बरी-पद्मानन्द-यदुसुन्दराद्यानि ।

फतेहपुर सीकरी में मिले थे। पद्मसुन्दर का निधन निश्चय ही इससे पूर्व हो चुका था। पद्मसुन्दर का प्रमाणसुन्दर शायद सम्बत् १६३२ की रचना है। इस आधार पर पण्डित नाथराम प्रेमी ने उनकी मृत्यु सं०१६३२ तथा १६३६ के बीच मानी है। रदनतु यदसुनदर की प्रौढ़ता को देखते हुए यह पद्मसुन्दर की अन्तिम कृति प्रतीत होती है। हीर सौभाग्य में जिस मार्मिकता से सम्राट के भावोच्छ्वास का निरूपण किया गया है, उससे भी संकेत मिलता है कि पद्मसुन्दर का निधन एक-दो वर्ष पूर्व अर्थात सं० १६३७-३८ (सन् १५८०-८१) के आस∙पास हुआ था। यदि षद्मसुन्दर का देहान्त सं० १६३७-३८ में माना जाए, तो यदुसुन्दर को सम्बद १६३२ (प्रमाण सुन्दर का रचना-वर्ष) तथा १६३८ को मध्यवर्ती काल में रचित मानना सर्वधा संगत होगा, यदापि कान्य में प्रान्त प्रशस्ति का अभाव है तथा अन्यत्र भी इसके रचनाकाल का कोई सूत्र इस्तगत नहीं होता ।

उपाध्याय पद्मसुन्दर अपनी बहुसुखी विद्वता के कारण ख्यात हैं। उन्होंने कान्य, ज्योतिष, दर्शन, कोश, साहित्यशास्त्र आदि के यन्थों से साहित्यिक निधि को समृद्ध बनाया है। शृङ्गार दर्षण के अतिरिक्त उनकी प्रायः अन्य सभी रचनाएँ अप्रकाशित हैं। पार्श्वनाथ कान्य के कुछ सर्ग 'सम्बोधि' में प्रकाशित हुए हैं। दे देविमल ने हीरसौभाग्य की स्वोपज्ञ टीका में पद्मसुन्दर के मालवरागजिनध्रुवपद से उद्धरण दिये हैं, जो अभी तक अज्ञात तथा अनुपलन्ध है।

कथानकः

यदुसुन्दर की कथावस्तु यदुवंशीय वसुदेव तथा विद्याधर राजकुमारी कनका के विवाह तथा विवाहो-परान्त कीड़ाओं के दुवेल आधारतन्तु पर अवलम्बित है। पौरांगनाओं के प्रति अपने उच्छृंखल आचरण के कारण, अग्रज ससुद्रविजय की भत्सेना से स्ष्ट होकर वसुदेव देश

छोड़ कर विद्याधर-नगरी में शरण लेता है। द्वितीय सर्ग में एक हंस, कनका के महल में आकर, 'यदुकुल के गगन के सूर्य' वसुदेव के गुणों का बखान करता है। वसुदेव का चित्र देखकर कनका अधीर हो जाती है। इंस उसकी मनोरथपुर्त्ति का बचन देकर उड़ जाता है। विरह्ब्यथित कनका को सचिचदानन्द से सान्द्र ब्रह्म के अद्वौत रूप की तरह सर्वत्र वसुदेव दिखाई देता है। तृतीय सर्ग के प्रारम्भिक ३३ पद्यों में कनका के विष्ठलम्भ का वर्णन है। धनपति कुवेर वाह्योद्यान में आकर वसुदेव को कनका के पास, उसका प्रणय निवेदन करने के लिये दूत बन कर जाने को प्रेरित करता है। कुबेर के प्रभाव से वह, अइश्य रूप में, बेरोक अन्तःपुर में पहुँच जाता है (भवतु तनुः परैर-लक्ष्या ३.७२)। वहाँ वह वास्तविक रूप में प्रकट होकर कुवेर के पूर्वराग की वेदना का हृदयस्पर्शी वर्णन करता है और कनका को उसका बरण करने के लिये ग्रेरित करता है (श्रीदंपितं ननु वृणुष्व ३.१४७)। दूत उसे देवों की शक्ति तथा स्वर्ग के सुखों का प्रलोभन देकर, कुवेर की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न अवश्य करता है पर कनका अडिग रहती है। दूत धनपति को छोड़ कर साधारण पुरुष (बसुदेव) का वरण करने के उसके निश्चय की वालिशता की कड़ी भत्सेना करता है। उसकी अविचल निष्ठा तथा करणालाप से दूत अन्ततः द्रवित हो जाता है और वह दौत्य को भूल कर सम्भूमवश अपना यथार्थ परिचय दे देता है। पति को साक्षात् देखकर कनका 'लज्जा के सिन्धु' में इब गयी। वसुदेव वापिय आकर कुबेर को बास्तिविकता से अवगत कराता है। चतुर्थ सर्ग में देवता, विभिन्न द्वीपों के अधिपति और पृथ्वी के इप्त एवं प्रतापी शासक, कनका के स्वयंवर में आते हैं। कुवेर की अंगुठी पहनने से वसुरेव भी कुबेर के समान प्रतीत होने लगता है और सभा को दो कुबेरों का भूम हो जाता है। सर्ग के शेष भाग तथा पंचम सर्ग में वेत्रधारिणी दस आगन्त्रक राजाओं का क्रमिक परिचय देती है। छठे सर्ग

৩৮]

^३ जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३६६ ।

४ सम्बोधि, १०1१-४।

^{ें} हीरसौभाग्य, ११.१३५, टीका: 'जिनवचन पद्धतिचिक्त चंगिम मालिनी' इति पद्मसुन्दर कृत मालवराग जिन्छ्रवपदे।

में वास्तिविक कुबेर तथा कुबेर रूपधारी वसुरेव का वर्णन है। रूपसाम्य के कारण कनका उलझन में पड़ जाती है। अंगुठी उतारने से वसुदेव का यथार्थ रूप प्रकट हो जाता है। कनका माला पहनाकर उसका वरण करती है। सप्तम सर्ग में कमशाः कनका तथा वसुदेव की विवाह-पूर्व सज्जा का वर्णन है। कनका का पाणिग्रहण, विवाहोत्तर भोज तथा नववयू की विदाई अष्टम सर्ग का विषय है। घड्म सु वर्णन पर आधारित नवम् सर्ग चित्रकाव्य के चमत्कार से परिपूर्ण है। दसवें सर्ग में अरिष्टपुर की राजकुमारी रोहिणी स्वयंवर में अन्य राजाओं को छोड़ कर, विदाबल से प्रच्छन वसुरेव का वरण करती है जिससे उनमें युद्ध ठन जाता है। ग्यारहवें सर्ग में नवदम्पति के मथुरा में आगमन तथा सम्भोग कीड़ा का वर्णन है। वारहवें सर्ग में सन्ध्या, चन्द्रोदय तथा प्रभात के परम्परान्यत वर्णन के साथ काव्य समाप्त हो जाता है।

यदुसुन्दर की रचना यदापि नैषध का संक्षिप्त रूपान्तर करने के लिये की गयी है तथापि घटनाओं के संयोजन में पद्मसुन्दर अपनी सीमाओं और उद्देश्य दोनों को भूल गये हैं। उनकी दृष्टि में स्वयंवर काव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। काव्य के चौथाई भाग को स्वयंवर-वर्णन पर क्षय करने का यही कारण हो सकता है। निस्सन्देह यह उसके आदर्शभत नैषध चरित के अत्यधिक प्रभाव का फल है। पांच सर्गी का स्वयंवर वर्णन (१०-१४) नैषध के विराट कलेवर में फिर भी किसी प्रकार खप जाता है। यदुसुन्दर में, चार सगीं में (४-६, १०), स्वयंवर का अनुपातहीन वर्णन किन की कथाविसुखता की पराकाष्ट्रा है। अन्तिम सर्ग को नवदम्पति की काम-केलियों का उद्दीपक भी मान लिया जाए, नवें सर्भ का ऋतु वर्णन काव्यशास्त्रीय नियमों की खानापूर्ति के लिये किया गया प्रतीत होता है। दसवें सर्ग में रोहिणी के स्वयंवर का चित्रण सर्वथा अनावश्यक है। यह वसुदेव के रणशौर्य को उजागर करने की दृष्टि से किया गया है जो महाकाव्य के नायक के लिये आवश्यक है। ये सभी सर्ग क्थानक के स्वाभाविक अवयव न होकर बलात चिपकाये गये प्रतीत होते हैं। इन्होंने काव्य का आधा भाग हड़प लिया है। यदुसुन्दर का मूल कथानक शेष छः सर्गी तक सीमित है।

पद्मसुन्दर को प्राप्त श्रीहर्ष का दायः यदुसुन्दर तथा नैषध चरितः

नैषध चरित की पाण्डित्यपूर्ण जिटलता तथा शैली की क्लिण्टता के कारण उत्तरवर्ती किन उसकी और उस तरह प्रवृत्त नहीं हुए, जैसे उन्होंने कालिदास अथवा माघ के दाय को ग्रहण किया है। पद्मसुन्दर नैषध चरित के गुणों (१) पर सुग्ध थे पर उसका निशाल आकार उनके लिये दुस्साध्य था। अतः उन्होंने यदुसुन्दर में नैषध का अल्पाकार संस्करण प्रस्तुत करने का गम्भीर उद्योग किया है। कथानक की परिकल्पना और निनियोग में पद्मसुन्दर श्रीहर्ष के इतने ऋणी हैं कि यदुसुन्दर को, मित्र पात्रों से युक्त नैषध की प्रतिच्छाया कहना अनुचित न होगा।

यदुसुन्दर के प्रथम सर्ग में यदुवंश की राजधानी मधरा का वर्णन नैषध चरित के द्वितीय सर्ग में विदर्भ की राज-धानी कुण्डिनपुर के वर्णन से प्रेरित है। श्रीहर्ष ने नगर-वर्णन के द्वारा काव्यशास्त्री नियमों को उदाहत किया है, मथरा के सामान्य वर्णन में उसकी स्वर्ग से श्रेष्ठता प्रमान णित करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। द्वितीय सर्ग में नैषध के दो सगीं (३,७) को रूपान्तरित किया गया है। कनका का सौन्दर्य चित्रण स्पष्टतः दमयन्ती के नख-शिख वर्णन (सप्तम सर्ग) पर आधारित तथा उससे अत्य-धिक प्रभावित है। श्रीहर्ष की भाँति पद्मसुन्दर ने भी राजकुमारी के विभिन्न अंगों का एकाधिक पद्यों में वर्णन करने की पद्धति ग्रहण की है परन्त उसका वर्णन संक्षिप्त तथा क्रमभंग से दूषित है, हालांकि यह नैषध की शब्दा-वली से भरपुर है। सर्ग के उत्तराई में इंस का दौख नैषध के तृतीय सर्ग के समानान्तर प्रसंग का अनुगामी है। दोनों कान्यों में हंस को, नायिका को नायक के प्रति अनुरक्त करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका सींपी गयी है जिसके फलस्वरूप वह अपने प्रेमी के सान्निध्य के लिये अधीर हो जाती है। दोनों काव्य में हंसी के तर्क समान हैं तथा वे अन्ततः नायकों को दौत्य की सफलता से अव-गत करते हैं। तृतीय सर्ग में पद्मसुन्दर ने नैषध चरित के पूरे पाँच विशालकाय सर्गी को संक्षिप्त करने का घन-घोर परिश्रम किया है। कनका के पूर्वराग के चित्रण पर दमयन्ती के विप्रलम्भ-वर्णन (चतुर्थ सर्ग) का इतना

गहरा प्रभाव है कि इसमें श्रीहर्ष के भावों की, लगभग उसी की शब्दावली में, आवृत्ति करके सन्तोष कर लिया गया है। श्रीहर्ष ने काव्याचार्यों द्वारा निर्धारित विभिन्न शारीरिक तथा मनोवैशानिक विरह दशाओं को इस प्रसंग में उदाहृत किया है। पद्मसुन्दर का वर्णन इस प्रवृत्ति से सुक्त है तथा केवल ४७ पद्यों तक सीमित है। दूतकर्म स्वीकार करने से पूर्व वसुदेव को वही आशंकाएँ मधित करती हैं (३.५७-७०) जिनसे नल पीड़ित है (नैषध ५. ६६-१३७)। दूत का महल में, अदश्य रूप में प्रवेश तथा वहाँ उसका आचरण दोनों काव्यों में समान रूप से वर्णित है। शिहर्षने छठे सर्भका अधिकतर भाग दमयन्ती के सभागह, दूती की उक्तियों तथा दमयन्ती के समर्थ प्रत्युत्तर (६.५६-११०) पर व्यय कर दिया है; पदम सुन्दर ने समान प्रभाव तथा अधिक स्पष्टता के साथ उसे मात्र चौवीस पद्यों में निवद्ध किया है। अगले ४७ पद्यों से वेष्टित तृतीय सर्ग का अंश नैषध के आठवें सर्ग का प्रतिरूप है। कुबेर के पूर्वराग का वर्णन (३.१२२-४१) नैषध चरित के आठवें सर्ग में दिक्पालों की विरह वेदना की प्रतिध्वनि मात्र है (८.६४-१०८)। साठ पदा नैषध चरित के नवम सर्ग का लघु संस्करण प्रस्तुत करते हैं। उनमें विषयवस्तु की भिन्नता नहीं है और भाषा तथा शैली में पर्याप्त साम्य है। दूत का अपना भेद सुरक्षित रखने का प्रयत्न, नायिका का उसका नाम-धाम जानने का आग्रह तथा दृत के प्रस्तावका प्रत्याख्यान, नायिका के करण विलाप से द्रवित होकर दूत का आत्म-परिचय देना —ये समूची घटनाएँ दोनों काल्यों में पढ़ी जा सकती हैं। श्रीहर्ष को इस संवाद की प्रेरणा कुमार-सम्भव के पंचम सर्ग से मिली होगी। वहाँ भी शिव वेष बदल कर आते हैं और अन्त में अपना वास्तविक रूप प्रकट करते हैं। नैषध चरित तथा यदुसुन्दर में दमयन्ती और कनका दूत की उक्तियों का मुँहतोड़ जवाब देती हैं " जबिक पार्वेती के पास बढ़ के तर्कों का समर्थ उत्तर केवल

यही है—न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते (कुमार ५,८२)। कालिदास के उमा-बहु-संवाद में मनीवैज्ञानिक मार्मिकता है। श्रीहर्ष और पद्मसुन्दर इस कोमल प्रसंग में भी चित्र काव्य के गोरख धन्धे में फसे रहते हैं। उन्हें रोती हुई दमयन्ती तथा कनका ऐसी दिखाई देती हैं, जैसे वे आंस् गिरा कर कमशाः 'संसार' का 'ससार' तथा 'दांत' को 'दात' बनाती हुई बिन्दुच्युतक काव्य की रचना कर रही हों। '

पद्मसुन्दर के स्वयंवर-वर्णन पर नैषध का प्रभाव स्पष्ट है। श्रीहर्ष का स्वयंवर-वर्णन अलौकिकता की पर्ती में दबा हुआ है। उसमें प्रथ्वीतल के शासकों के अतिरिक्त देवों, नागों, यक्षों, गन्धवीं आदि का विशाल जमघट है, जिसका श्रीहर्ष ने पूरे पांच सर्गी में (१०-१४) जमकर वर्णन किया है। यदसन्दर का वर्णन भी इसके समान ही कथानक के प्रवाह में दुर्ल ध्य अवरोध पैदा करता है। पद्मसुन्दर ने नैषध में वर्णित बारह राजाओं में से दस को यथावत ग्रहण किया है, पर वह नैषध की भांति अतिमानवीय कर्म नहीं है यद्यपि उसमें भी देवों, गन्धर्वी आदि का निर्भान्त संकेत मिलता है। वर्णन की लौकिक प्रकृति के अनुरूप पद्मसुन्दर ने अभ्यागत राजाओं का परिचय देने का कार्य कनका की सखी की सींपा है, जो कालिदास की सुनन्दा के अधिक निकट है। श्रीहर्ष ने रघुवंश के छुठे सर्ग के इन्द्रमती स्वयंवर की सजीवता की विकृत बनाकर उसे एक रूढ़ि का रूप दे दिया है। सातवें सर्ग में वर-वर्का विवाह-पूर्व आहार्य प्रसाधन नैषध के पन्द्रहवें सर्ग का, भाव तथा घटनाक्रम में इतना अगृणी है कि उसे श्रीहर्ष के प्रासंगिक वर्णन की प्रतिमृति माना जा सकता है। कहना न होगा, नैषध का यह वर्णन स्वयं कुमारसम्भव के सप्तम् सर्ग पर आधारित है, जहाँ इसी प्रकार वर-वधू को सजाया जा रहा है। विवाह-संस्कार तथा विवाहोत्तर सहभोज के वर्णन (अष्टम सर्ग)

હદ્]

[🍧] यदुसुन्दर, ३.७२-११४; नैषधचरित, ६.८-४४।

[॰] यदुसुन्दर, ३.१५०-१५७ ; नैषध चरित, ६.२७-३२।

संसारमात्मना तनोषि संसारमसंशयं यतः । नैषध०, ६.१०४ ।
 तिहन्दुच्युतकमश्रुपातानमां दांतमेव किसु दातमलं करोषि । यदुसुन्दर, ३.१६० ।

में पद्मसुन्दर ने अपने शब्दों में नैषध के सोलहवें सर्ग की आवृत्ति मात्र कर दी है। नैषध के समान इसमें भी बारातियों और परिवेषिकाओं का हास-परिहास बहुधा अमर्यादित है। खेद है, पद्मसुन्दर ने अपनी पवित्रता-वादी वृत्ति को भूलकर इन अश्लीलताओं को भी कान्य में स्थान दिया है। अगले दो सर्ग नैषध से स्वतन्त्र हैं। अन्तिम दो सर्ग, जिनमें क्रमशः रतिकीड़ा और सन्ध्या, चन्द्रोदय आदि के वर्णन हैं. नैषध के अत्यधिक ऋणी हैं। कालिदास, कुमारदास तथा श्रीहर्ष के अतिरिक्त पद्म सुन्दर ही ऐसा कवि है जिसने वर-वध् के प्रथम समागम का वर्णन किया है। स्वयं श्रीहर्ष का वर्णन कुम।रसम्भव के अष्टम सर्ग से प्रभावित है। श्रीहर्ष ने कालिदास के भावों को ही नहीं, रथोद्धता छन्द को भी ग्रहण किया है। यदुसुन्दर के ग्यारहवें सर्ग में भी यही छुन्द प्रयुक्त है। बारहवें सर्ग का चन्द्रोदय आदि का वर्णन, नैषध की तरह (सर्ग २१) नवदम्पती की सम्भोगकेलियों के लिये समु-चित बाताबरण निर्मित करता है। इसमें श्रीहर्ष के भावों तथा शब्दावली की कमी नहीं है। वस्तुतः काव्य में मौलिकता के नाम पर भाषा है, यद्यपि उसमें भी श्रीहर्ष की भाषा का गहरा पूट है।"

पद्मसुन्दर की काव्य प्रतिभाः

नैषधचरित के इस सर्वव्यापी प्रभाव के कारण पर्म-सुन्दर को मौलिकता का श्रेय देना उसके प्रति अन्याय होगा। यदुसुन्दर में जो कुछ है, वह प्रायः सब श्रीहर्ष की पूँजी है। फिर भी इसे सामान्यतः पर्मसुन्दर की 'मौलिक' रचना मानकर किन की काव्य प्रतिभा का मुल्यांकन किया जा सकता है।

पद्मसुन्दर के पार्श्वनाथ काव्य में प्रचारवादी स्वर मुखर हैं पर यदुसुन्दर में कवि का जो बिम्ब उभरता है, वह चमरकारवादी आलंकारिक का बिम्ब है। यह स्पष्टतः नैषध के अतिशय प्रभाव का परिणाम है। पद्मसुन्दर का उद्देश्य 'ग्रन्थ ग्रन्थि' से काव्य की जटिल बनाना नहीं है, परन्तु उसका काव्य नैषध की मूलवृत्ति तथा काव्य रूदियों से शन्य नहीं है। पद्मसुन्दर को श्रीहर्ष की तरह श्'गारकला का किव मानना तो उचित नहीं है, न ही वह कामशास्त्र का अध्ययन करने के बाद काव्य रचना में प्रवृत्त हुआ है पर जिस मुक्तता से उसने विवाहोत्तर भोज में बारातियों के हास-परिहास और नवदम्पती की रति केलि का वर्णन किया है, वह उसकी रति विशारदता का निश्चित सँकेत है। कनका का नखशिख वर्णन (२.१-४७) भी उसकी कामशास्त्र में प्रवीणता को विम्वित करता है। अष्टम् सर्ग का ज्यौनार-वर्षन तो खुल्लमखुल्ला मर्यादा का उल्लंघन है। उसके अन्तर्गत बारातियों और परिवेषिकाओं की कुछ चेष्टाएँ बहुत फूहड़ और अप्रलील हैं। ' श्रीहर्ष के समान इन अप्रलील-ताओं को पद्मसुन्दर की विलासिता का द्योतक मानना तो शायद उचित नहीं पर यह उसकी पवित्रतावादी धार्मिक वृत्ति पर करारा व्यंग्य है. इसमें दो मत नहीं हो सकते।

आदर्शभृत नैषधचरित की भाँति यदुसुन्दर का अंगी रस शंगार है। पद्मसुन्दर को नवरसों का परम्परा-गत विधान मान्य है (नवरसनिलयेः को नु सौहित्य-मेति २ ८३) पर वह शंगार की सर्वोच्चता पर सुन्ध है। उसकी परिभाषा में शंगार की तुलना में अन्य रस तुच्छ हैं (अन्य रसाविशायी शंगार ६.५३)। शान्त

- विस्तृत विवेचन के लिये देखिये मेरा निवन्ध 'Yadusundara: A Unique Adaptation of Naisadhacarita', VIJ (Hoshiarpur), xx. 103-123.
- ^{१°} अन्यः स्फुट स्फटिक चत्वर संस्यितायास्तन्त्र्या वरांगमनुविम्बितमोक्षमाणः । सामाजिकेषु नयनांचल सूचनेन सांहासिनं स्फुटमचीकरदच्छ हासः ॥ यदु॰, ८०३७ वृत्तं निधाय निजभोजनेऽसौ सन्मोदकद्वयमतीव पुरः स्थितायाः । संघाय वक्षसि दशं करमदेनानि चक्ने त्रपानतसुखी सुसुखी बभूव ॥ वही, ८५५२ प्रागर्थयन्निकृत एष विलासवत्या तत्सं सुखं विटपतिः स भुजि कियायाम् । क्षिप्त्वांगुलीः स्ववदने ननु मार्जितानलेहाषदेशत इयं परितोऽनुनीता ॥ वही, ८५४

ডঙ

रस को तो उसने जड़ता का जनक मान कर उसकी खिली खड़ायी है (शान्तरसैकमन्दधी Y.४१)। यदुसुन्दर में यद्यपि शृ'गार के दोनों पक्षों का व्यापक चित्रण मिलता है किन्तु कथानक की प्रकृति के अनुरूप इसमें विष्रलम्भ को अधिक महत्त्व दिया गया है। तृतीय सर्ग में कनका और कुबेर के पूर्वराग का वर्णन है, जो नैषध के क्रमशः चतुर्थ तथा अष्टम् सर्गका प्रतिनिधित्व करता है। निराश कनका की विप्रलम्भोक्तियाँ भी इसी सर्ग में समाहित हैं। परन्तु कवि ने श्रीहर्ष के पदचिहाँ पर चलकर, अपने विषयोग-निरूपण पर कल्पना-शीलता की इतनी मोटी पर्ते चढा दी हैं कि विधलम्भ की वेदना का आभास तक नहीं होता। समुचा विप्रलम्भ-वर्णन अहो क्तियों का संकलन-सा प्रतीत होता है। ऐसे कोमल प्रसंगों में कालिदास तीन भावोद्रेक करता है पर पद्मसुन्दर संवेदना से शून्य प्रतीत होता है। उसपर अपनी नायिका की विरहवेदना का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसे रोती कनका आँसू गिरा कर 'दान्त' को 'दात' बनाती तथा प्रेम काव्य की रचना करती प्रतीत होती है (३.१६०, १७४)। निस्सन्देह यह नैषध का रूपान्तर की विवशता का परिणाम है पर इन क्लिप्ट कल्पनाओं और हथकण्डों के कारण ही उसका विप्रलम्भ चित्रण निष्प्राण तथा प्रभावशूनय बना है। उसमें सहदय भावुक के मानस को छूने की क्षमता नहीं है, भले ही कनका क्रन्दन करती रहेया अपने भाग्य को कोसती रहे।

कुछ कल्पनाएँ अवश्य ही अनुठी हैं। यदि शरीर में छोटा-सा बाल भी चुभ जाए, उससे भी पीड़ा होती है। कनका को वेदना का अनुमान करना कठिन है क्यों कि उसके कोमल हृदय में छोटा-मोटा बाल नहीं, विशालकाय पहाड़ (भूभृत — राजावसुरेव) घुस गया है। इस कल्पना का सारा सोन्दर्य श्लेष पर आधारित है। पर्म-सुन्दर की यह कल्पना नैषध के एक पद्य की प्रतिच्छाया

है। १९ पर पद्मसुन्दर ने 'भूभृन्' को समस्त पद में डाल कर कलपना के सौन्दर्य और काञ्यात्मक प्रभाव को नष्ट कर दिया है। अतः मूल की भाँति यह नायिका की व्यथा की व्यंजना नहीं करा सकती।

तनुतन्दह जन्यधतो न्यथा भवति तत्र विलासवतीहृदि। यदुजभूभृदसौ स्थितिमाश्रयबद्दत वाधत एव किमद्भुतम्॥ ३.१२

निम्नोक्त पद्य कनका के विरह की तीवता को अधिक प्रभावशाली ढग से व्यक्त करता है। वह हृदय में धधकती ज्वाला को शान्त करने के लिये वक्ष पर सरस कमल रखना चाहती है पर वह कमल उसके अंगों का स्पर्श करे, इसके पूर्व ही उसकी गर्म आहों से जलकर बीच में ही राख हो जाता है। कल्पना सचमुच बहुत मनोरम है।

विरहदाहशमाय गृहाण निजकरेण सरोज मुरोजयोः। द्वतमपि श्वसितोष्मसमीरणादजिन सुम्मुर इत्यजहात्ततः॥ ३.२१

यह असहायता की पराकाष्ठा है। कहना न होगा, यह कल्पना भी नेषध चरित्र से ली गयी है। १२

यदुसुन्दर के ग्यारहवें सर्ग में सम्भोग शृंगार का मधुर चित्रण है। यद्यपि यह वर्णन कालिदास तथा श्रीहर्ष के प्रासंगिक वर्णनों से प्रेरित है, पर इसमें उन्हीं की भाँति वर-वभू के प्रथम समागम का मनोवैद्यानिक निरूपण किया गया है। लजीली नववभू समय बीतने के साथ-साथ कैसे अनुकूल बनती जाती है, पद्मसुन्दर ने इसका हृदय-ग्राही अंकन किया है। भावसन्धि का यह चित्र नवेदा के लज्जा तथा काम के द्वन्द्व की सशक्त अभिव्यक्ति है। स्थातुमेनमनिरीक्ष्य नाददातसुभू वो रितपितर्न च त्रपा। वीक्षितं वर्यितर्थनारतं तद्दशौ विद्युत्रगैतागतम्॥ ११.४५

ঙ্হ]

११ निविशते यदि श्काशिखा पदे स्टजित सा कियतीमिय न व्यथाम् । मुद्रतनोवितनोतु कथं न तामवनिभृत प्रविश्य हृदि स्थितः ॥ नैषध०, ४०११

^{१२} स्मरहुताशनदीपितया तथा बहु सुहुः सरसं सरसी रहम् । श्रियतुमर्थपये कृतमन्तरा श्विगतिनिर्मितममेरसु जिक्कतम् ॥ वही, ४.२६

यहुसुन्दर में वीर रस की भी कई स्थलों पर निष्पत्ति हुई। दसवें सर्ग का युद्धवर्णन दो कौड़ी का है। यह वीररसचित्रण में किव की कुशलता की अपेक्षा उसके चित्रकाव्य में प्रेम को अधिक व्यक्त करता है। वैसे भी इस वर्णन में वीर रस के नाम पर वीर रसात्मक रूढ़ियों का निरूपण किया गया है जो तब तक साहित्य में गहरी जम चुकी थी। चतुर्थ तथा पंचम सर्ग में अभ्यागत राजाओं के पराक्रम के वर्णन में वीर रस के कुछ चित्र सुन्दर तथा प्रभावशाली हैं। वे बहुधा श्रीहर्ष के वर्णनों पर आधारित हैं। श्रीहर्ष की तरह पद्मसुन्दर का वीर रस दरवारी कवियों का 'टिपिकल वीर रस' है, जिसमें अतिशयोक्ति और शब्दछटा का आडम्बर दिखाई देता है। साकेत नरेश की वीरता के वर्णन वाले इस पद्य में वीर रस की यही प्रवृत्ति मिलती है।

एतद्दोर्दण्ड चण्डबुतिकरिनकर त्रासिता रातिराज-स्तस्यौ यावद्विशंको द्रमकुसुमलता कुंज पुंजे निलीय। वीक्ष्यैतन्नामधेयांकित निशितशरध्वस्त पंचाननास्यो-द्भुताशंकं करंकं वज्रु विवशधीःकां दिशं कांदिशीकः॥

पर्मसुन्दर की प्रकृति नैषध की तरह, वियोग अथवा संयोग की उद्दीपनगत प्रकृति है। तृतीय सर्ग का उपवन-वर्णन (इप्र-४४), जो नैषध के प्रथम सर्ग के उपवन-चित्रण (७६-११६) का समानान्तर है, वसुदेव की विरह्नेदना को भड़काता है। नवें तथा बारहवें सर्ग के प्रकृति-वर्णन संयोग के उद्दीपन का काम देते हैं। ये कमशः वसुदेव तथा रोहिणी और कनका की सम्भोग की झाओं के लिये समुचित पृष्ठभूमि निर्मित करते हैं। नवें सर्ग में ऋतुवर्णन के द्वारा शास्त्रीय नियमों की खानापृति करने का प्रयत्न किया गया है। चित्रकाव्य पर समुचा ध्यान केन्द्रित होने के कारण पद्मसुन्दर यहाँ प्रकृति का विम्वचित्र प्रस्तुत करने में सफल नहीं हुए हैं।

उपजीव्य नैषध के समान यदुसुन्दर के बारहवें सर्ग

का प्रकृति-वर्णन दूरारूढ़ कल्पनाओं और अप्रस्तुतों के दुर्वह बोझ से आकान्त है। श्रीहर्प के काव्य में पाण्डित्यपूर्ण उड़ान की कमी नहीं है पर उन्तीसवें और बीसवें सर्गों में वह सब सीमाओं को लांघ गया है। इन वर्षनों में उसने ऐसी विकट कल्पनाएँ की हैं, जो वर्ण्य विषय को स्पष्ट करने की अपेक्षा उसे धूमिल कर देती हैं। यदुसुन्दर में उन सबको आरोपित करना सम्भव नहीं था, फिर भी पद्मसुन्दर ने श्रीहर्ष के अप्रस्तुतों को उदारता से ग्रहण किया है। सन्ध्या के समय लालिमा धीरे-धीरे मिटती जाती है और तारे आकाश में छिटक जाते हैं, इस इश्य के चित्रण में पद्मसुन्दर ने श्रीहर्ष के कई भावों की आवृत्ति की है। उसने पहले रूपक के द्वारा इसका वर्णन किया। सन्ध्या रूपी सिंही ने दिन के हाथी को अपने नखों से फाड़ दिया है। उसकी विशाल काया से वहता रक्त, सान्ध्य राग के रूप में, आकाश में फैल गया है और उसके विदीर्ष मस्तक से झरते मोती तारे वनकर छिटक गये हैं (१२.६)। श्रीहर्षे ने आकाश को मुर्ख के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसने सूर्य का स्वर्णीपण्ड वेच कर, बदले में, कौड़ियाँ खरीद ली हैं। पद्मसुन्दर ने इसके विपरीत अस्ताचल को व्यवहार कुशल क्रेता का रूप दिया है। उसने सन्ध्या की आग में शुद्ध सूर्य रूपी स्वर्णपिण्ड हथिया लिया है और उसके बदले में आकाश को निरर्थक कौड़ियाँ (तारें) वेच दी है। ^{१३} सूर्य के अस्त होने पर चारों ओर अंधेरा गिरने लगा है। किन की कल्पना है कि काजल बनाने के लिये सर्य रूपी दीपक पर आकाश का सिकोरा आधा रखा गया था। काजल इतना भारी हो गया है कि वह विशाल सिकोरा भी उसके भार से दब कर नीचे गिर गया है। उसने दीपक को बुझा दिया है और वह काजल अन्धकार बन कर चारों तरफ विखर गया है। १४ श्रीहर्ष के अनुकरण पर पद्मसुन्दर ने सूर्य को बाज़ का रूप देकर सन्दुलन की सब सीमाओं को लांघ दिया है। १५ इन क्लिब्ट कल्पनाओं ने पदमसुन्दर के प्रकृतिवर्णन को ऊहात्मक बना दिया है।

8.2.8

[🛂] नैषध०, २२-१३ ; यदुसुन्दर, १२-८।

^{१४} नैषध०, २२-३२ ; यदुसुन्दर, १२-१५ ।

१५ यदुसुन्दर, १२-७४।

पहले संकेत किया गया है कि पर्मसुन्दर की भाषा पर भी श्रीहर्ष का गहरा प्रभाव है। जहाँ उसने उपजीव्य काव्य का स्वतन्त्र रूपान्तर किया है, वहाँ उसकी भाषा, उसके पार्श्वनाथ काव्य की तरह, विशद तथा सरल है; परन्तु जहाँ उसे नेषध का, लगभग उसी की पदावली में पुनराख्यान करने को विवश होना पड़ा है, वहाँ उसकी भाषा में प्रौड़ता का समावेश होना स्वाभाविक था।

सामान्यतः यदुसुन्दर की भाषा को सुबोध कहा जाएगा पर काव्य में नैषध के प्रभाव से सक्त दो स्थल ऐसे हैं, जिनमें पद्मसुन्दर अपने उद्देश्य से भटक कर, चित्रकाव्य में अपना रचना-कौशल प्रदर्शित करने के फेर में फंस गये हैं। इन सर्गों में यद्वसुन्दर का कर्त्ता स्पष्टतः माघके आकर्षण से अभिभृत है, जिसने इसी प्रकार ऋतुओं तथा युद्ध के वर्णनों को बौद्धिक व्यायाम का अखाड़ा बनाया है। पद्मसुन्दर का षड ऋतुवर्णनवाला नवाँ सर्ग आवन्त यमक से भरपूर है। इसमें पद, पाद, अर्द्ध तथा महायमक आदि यमकभेदों के अतिरिक्त कवि ने अनुलोम-प्रतिलोम, घोडशदल कमल, गीमृत्रिका बन्ध आदि साहित्यिक हथकण्डों पर हाथ चलाया है। शिशपालवध की तरह पद्मसुन्दर का युद्धवर्णन एक व्यंजनात्मक, द्रयक्षरात्मक तथा वर्ण, मात्रा, बिन्दुच्युतक आदि चित्रकाव्य से जटिल तथा बोझिल है, यद्यपि ऋतु वर्णन की अपेक्षा इसकी मात्रा यहाँ कम है। इनसे किन के पाण्डित्य का संकेत अवश्य मिलता है पर ये काव्य की ग्राह्यता में वाधक हैं, इसमें सन्देह नहीं। निम्नांकित महायमक से कवि के यमक की करालता का अनुमान किया जा सकता है।

सारं गता तरलतारतरंगसारा सारंगता तरलतार तरंगसारा ।

सारंगता तरलतार तरंगसारा सारंगता तरलतार तरंगसारा ॥१६-२६

चित्रकान्य का विकटतम रूप प्रस्तुत पद्य में मिलता

है। इसमें केवल एक व्यंजन—क के आधार परंरचना के द्वारा कवि ने अपना पाण्डिस बघारा है।

कुः कां कर्कक कैका किकाककु कैकिका। कां कां कककका काक ककाकुः कंकका कका । १०.४४

पद्मसुन्दर की भाषा में समास-बाहुल्य की कमी नहीं है पर उसकी सरलता को देखते हुए उसे वैदर्भी-प्रधान कहना उचित होगा। वैदर्भी की सुबोधता पद्मसुन्दर की भाषा की विशेषता है। अपनी विलष्टता के बावजूद नैषध की भाषा पदलालिख से इतनी विभूषित है कि 'नैषधे पदलालित्यम्' उक्ति साहित्य में श्रीहर्ष के भाषा- गुण की परिचायक बन गयी। यदुसुन्दर के अधिकतर पद्यों में पदलालित्य मिलेगा, जो उसकी भाषा को नयी आभा प्रदान करता है। पदलालित्य अनुप्रास पर आधारित है जिसका काव्य में व्यापक प्रयोग किया गया है।

नैषधचरित वक्रोक्ति-प्रधान काव्य है। यदुसुन्दर भी नैषध की इस विशेषता से अप्रभावित नहीं है। उरप्रेक्षा, अवह नृति, अतिशयोक्ति, समासोक्ति का स्वतन्त्र अथवा मिश्रित प्रयोग यदुसुन्दर की वक्रोक्ति का आधार है। सापह्नवोत्प्रेक्षा तथा सापह्नवातिशयोक्ति के प्रति पद्मसुन्दर का प्रेम नैषध से प्रेरित है। अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थोन्तरन्यास, दृष्टान्त, पर्यायोक्ति आदि वक्रोक्ति के पोषक अन्य अलंकार हैं, जिसका पद्मसुन्दर ने स्विपूर्वक प्रयोग किया है। काव्य में प्रयुक्त उपमाएँ किव की कुशलता की परिचायक है। पद्मसुन्दर ने अन्य अलंकारों के संकर के रूप में भी उपमा का प्रयोग किया है।

इस प्रकार यहुसुन्दर का समृचा महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि इसमें नवीन पात्रों के माध्यम से नैषध चरित का संक्षिष्ठ रूपान्तर प्रस्तुत किया गया है। मौलिकता के अभाव के कारण यहुसुन्दर ख्याति प्राप्त नहीं कर सका। सम्भवतः यही कारण है कि इसकी केवल एक हस्तिलिखित प्रति उपलब्ध है। फिर भी यहुसुन्दर तथा नैषध चरित का दुलनात्मक अध्ययन करना अतीन रोचक तथा उपयोगी है।

अप्रकाशित आरामसोहाकहा (पद्य): एक परिचय

—डॉ॰ प्रेस सुमन जैन सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

प्राकृत कथा साहित्य में आरामशोभाकथा एक महत्वपूर्ण लौकिक कथा है। जिनपूजा के महात्म्य को प्रतिपादित करने के उद्देश्य से यह कथा उदाहरण के रूप में कही गयी है। प्राकृत, संस्कृत, गुजराती एवं हिन्दी भाषा में आरामशोभाकथा को कई कथाकारों ने प्रस्तुत किया है। किन्तु मूल प्राकृत कथा अभी तक स्वतंत्र रूप से प्रकाशित नहीं हो सकी है। इस अप्रकाशित आरामसोहाकहा की पाण्डु लिपि मुझे लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति मंदिर, अहमदाबाद के ग्रन्थभण्डार का सर्वेक्षण करते समय २-३ वर्ष पूर्व प्राप्त हुई थी। प्राकृत गाथाओं में निबद्ध इस कथा की यह अभी तक उपलब्ध एकमात्र पाण्डुलिपि है। यद्यपि इस कथा की अन्य प्रतियां विभिन्न ग्रन्थभण्डारों में प्राप्त होने के संकेत हैं, किन्तु अभी वे उपलब्ध नहीं हो सकी हैं।

आरामसोहाकहा की इस पाण्डुलिपि में कुल १० पन्ने हैं, जो दोनों ओर लिखे हैं। इसमें कुल ३२० प्राफ़त गाथाएं हैं। किन्तु आदि-अन्त में कोई प्रशस्ति नहीं हैं। अतः रचनाकार, लिपिकार आदि के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता है। प्राफ़त साहित्य के अन्य किसी प्रन्थ में भी प्राफ़त पद्यों में रचित आरामसोहाकहा एवं उसके कर्त्ता के सम्बन्ध में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। अतः अभी इस रचना को अञ्चातकतृ क ही मानना होगा। आरामसोहाकहा की परम्परा एवं अन्य पाण्डुलिपियों के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व इस कथा को संक्षेप में प्रस्तुत करना उपयोगी होगा।

कथा वस्तु

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में कुशार्त देश है। वहाँ के वलासक नामक ग्राम में अग्निशमां नामक ब्राह्मण रहता था। उसके ज्वलनशिष्वा नामक पत्नी थी। उनके विवुद्यभा नामक पुत्री थी। जब वह आठ वर्ष की थी तभी किसी रोग से पीड़ित होकर उसकी मां का देहावसान हो गया। तब घर का सारा काम विवुद्यभा के उत्पर आ पड़ा। गाओं को चराने, घर का काम करने और पिता की सेवा-टहल करने में वह बहुत थक जाती थी। अतः एकदिन उसने पिता से कह दिया कि वह दूसरी शादी करके पत्नी ले आवे। इससे उसे घर के कामों से छुटकारा तो मिलेगा। किन्छ विवुद्यभा की जो सौतेली मां आयी वह इतनी आलसी और कुटिल थी कि विवुत्यभा को पहले जैसा ही घर-वाहर के कार्यों में अकेले जुटना पड़ता था। इसे वह अपने कमीं का फल मानती हुई सहन करने लगी।

एकवार विद्युत्प्रभा जब गायों को चरा रही थी तो वहाँ उसने एक सांप रूपी देवता की प्राण रक्षा की। इससे प्रसन्न होवर उस नागदेवता ने उसे वरदान दिया कि उसके सिर पर एक हरा-भरा कुंज (आराम) सदैव बना रहेगा, जिमसे उसे कभी धूप नहीं लगेगी। यह कुंज आवश्यकतानुसार छोटा-वड़ा होता रहता था। एकदिन पाटलीपुत्र के राजा जितशत्र ने विद्युत्प्रभा के साहस और कुंज से प्रभावित होकर उसे अपनी पटरानी बना लिया! विद्युत्प्रभा को वह आरामशोभा के नाम से पुकारने लगा। उनके दिन सुख से व्यतीत होने लगे।

इधर आरामशोभा की सौतेली मां के एक पुत्री उत्पन्न हुई। उसके जवान होने पर उस सौतेली मां ने चाहा कि जितशतु राजा आरामशोभा के स्थान पर उसकी पुत्री को पटरानी बना ले। अतः उसने गर्भवती आराम-

शोभा को अपने घर बुलाया और उसके पुत्र के जन्म हो जाने पर उसे एक कुँए में डाल दिया और उस पुत्र के साथ अपनी पुत्री को आरामशोभा बनाकर राजा के पास भिजना दिया। राजा को नकली आरामशोभा पर शक जरूर हुआ किन्दु पुत्र की प्रसन्नता में उसने विशेष ध्यान नहीं दिया।

असली आरामशोभा को अपने पुत्र को देखने की वड़ी इच्छा हुई तो उसने उसी नागदेवता को स्मरण किया। नागदेवता की इपा से वह पुत्र का दर्शन करने रात्रि में जाने लगी। किन्तु सुर्योदय के पूर्व उसे वापिस लौटना पड़ता था। एक दिन राजा ने असली आरामशोभा को पकड़ लिया और वापिस नहीं आने दिया। तब से उसके सिर से वह कुँज गायब हो गया। किन्तु आराम-शोभा को पुनः अपना पद और गौरव प्राप्त हो गया। उसने अपनी सौतेली माँ और वहिन को भी क्षमा कर दिया।

एकदिन आरामशोभा राजा के साथ वीरभद्र सुनि के समीप गई। वहाँ उसने अपने पूर्वजन्म के सम्बन्ध में उनसे पूछा कि मेरे ऊपर छत्र के आकार का कुंज क्यों स्थित हुआ और सुझे पहले दुःख और वाद में सुख क्यों प्राप्त हुए १ सुनिराज ने उसके पूर्वजन्म की कथा कही।

चम्पा नगरी में कुलधर विषक रहता था। उसके आठ पृत्रियाँ थीं। सात की तो अच्छे घरों में शादियाँ हो गयी थीं किन्तु आठवीं पुत्री पुण्य-रहित होने के कारण अविवाहित थी। तभी उस नगर में नन्दन नामक एक विषक पुत्र आया। कुलधर ने उससे अपनी आठवीं पुत्री का विवाह कर दिया और उसके साथ उसे दक्षिण भारत भेज दिया किन्तु वह नन्दन विणक रास्ते में ही अपनी पत्नी को छोड़कर चला गया।

वह कुलधर की पुत्री भटकती हुई दूसरे नगर में पहुँच-कर मणिभद्र सेठ के घर कार्य करने लगी। मणिभद्र उसे पुत्री की भाँति रखने लगा। एकवार जब मणिभद्र सेठ ने अपने यहाँ एक जिनमन्दिर बनवाया तब वह कुलधर की पुत्री वहाँ विनयपूर्वक जिनभक्ति करने लगी। उस मणिभद्र सेठ के एक बगीचा था जो सिंचे जाने पर भी सूखता जा रहा था। इससे वह सेठ बहुत दुःखी था। तब कुलधर की पुत्री ने चार प्रकार के आहारमात्र का वत लेकर शासन देवी की पुजा की। उसकी तपस्या के फल से वह सूखता हुआ बगीचा फिर से हरा-भरा हो गया। इससे प्रसन्न होकर सेठ ने उस पुत्री को बहुत-सा धन पुरस्कार में दिया। उस पुत्री ने उस धन से जिन प्रतिमा के ऊपर तीन छुत्र और मुकुट आदि बनवा दिये तथा मन्दिर में रथ इत्यादि का दान दिया। इस प्रकार धार्मिक कार्य करते हुए वह पुत्री मरणोपरान्त स्वर्ग में देवता हुई। देवता के भोगों को भोगकर वह विद्युत्प्रभा के रूप में उत्पन्न हुई। पूर्वजन्म के बचपन में धर्म न करने के कारण वह विद्युत्प्रभा वचपन में दुःखी हुई, जिनप्रतिमा पर छुत्र प्रदान करने से उसे सिर पर कुंज की शोभा प्राप्त हुई और तपश्चरण आदि करने के कारण उसे राज्य-सुख प्राप्त हुआ।

सुनि के द्वारा इस प्रकार अपना पूर्वजन्म वृत्तान्त सुनकर आरामशोभा ने पित के साथ वैराग्य धारण कर तपश्चरण किया एवं सद्गति प्राप्त की ।

कथा की लोकप्रियता

आरामशोभा कथा जैन कथाकारों को बहुत प्रिय रही है। अतः प्राकृत, संस्कृत एवं गुजराती भाषाओं में इसके कई संस्करण प्राप्त होते हैं। उनकी संक्षिप्त जानकारी यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

प्राकृत संस्करण

(१) अभी तक प्राप्त जानकारी के अनुसार आचार्य श्री प्रवाननस्ति क्त मुलशुद्धिप्रकरण पर श्री देवचन्द्रस्ति द्वारा लिखित वृत्ति में सर्वप्रथम तीर्थङ्कर भक्ति के उदाहरण रूप में आरामशोभा कथा प्राष्ट्रत गढा एवं पदा में प्रस्तुत की गयी है। अरामशोभा के पुनः पटरानी पद प्राप्त करने की कथा तक प्राकृत गढा एवं पदा का प्रयोग किया गया है एवं उसके बाद पूर्वजन्म की कथा केवल गाथाओं में कही गयी है। कथा इस प्रकार प्रारम्भ होती है:

तत्थ य परिस्समकिलंतनर-नारी हिययं व बहुमासं,

ै भोजक, अनुतलाल (सं०), मूलशुद्धिप्रकरण (प्रथम भाग), अहमदाबाद, १६७१, पृ० २२-३४।

⊏२]

महासुणिव्व सुसंवरं, कामिणीयणसीसंव ससीमंतयं अत्थि थलासयं नाम महागामं ।

कथा के अन्त में कहा गया है : मणुयत-सुरत्ताइं कमेण सिवसंययं लहिस्संति। एयं जिणभत्तीए अणण्ण सरिसं फलं होइ ॥२०१॥ यह मुल शुद्धिप्रकरणवृत्ति ई॰ सन् १०८६-६० में रची गयी थी। अतः आरामशोभा कथा का अव तक ज्ञात यह प्राचीन रूप है।

(२) प्राकृत की ३२० गाथाओं में आरामसोहाकहा कि रचना किसी अज्ञात किव ने की है। उसी का परिचय इस लेख में दिया जा रहा है। यह रचना भाषा की दिष्ट से १२वीं शताब्दी की होनी चाहिये। इसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है:

इति ज्ज मृलभूअं दुवारभूअं पइव्व निहिभूअं! आहारभायणमिमं सम्यत्तं चरणघमस्स ॥१६

इस सम्मं सम्भत्तं जो समणो सावगो घरइ हिअए। अपुन्न सी इड्दिं लहेह आरामसीहु न्वं।।४॥ कारामसोहबुत्ता कह समता तए सिरी लद्धा। इअपुरको अ जिणंदो आणंदेणं कहइ एअं।।५॥। यहाँ यह स्पष्ट है कि सम्यक्त का महत्व प्रतिपादन कर उसके उदाहरण में आरामशोभा की कथा कही गयी है। पांचवीं गाथा में आगंदेणं शब्द विचारणीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्द नामक व्यक्ति द्वारा पूछे जाने पर जिनेन्द्र ने इस कथा को कहा है। यह अ।नन्द श्रावक है अथवा साधु यह शोध का विषय है।

इस यन्थ के अन्त में कोई प्रशस्ति नहीं है। केवल इतना कहा गया है कि 'है भव्य जीव ! आरामशोभा की तरह आप भी सम्यक्त में अच्छी तरह प्रयत्न करें, जिससे कि शीघ ही शिव-सुख को प्राप्त करें।'

आरामसाहिआ विव इअ सम्मं दंसणम्मि भो भव्या। कुणह पयतं तुब्भे जह अहरा लहह सिवसुक्खं ॥३२०॥ इति सम्यक्तव उपरि आरामशोभा कथा !

॥ श्री शुभं भवतु ॥

मृतशुद्धिप्रकरणवृत्ति की आरामसोहाकहा एवं अज्ञातकृत कथा की गाथाओं में कोई समानता नहीं है। सूक्ष्म अध्ययन करने पर भाषा की कुछ समानता मिल सकती है। कथा अंश लगभग एक जैसा है। कुछ स्थान के नामों में अन्तर है।

इस प्राकृत आरामशोभा कथा की अत्र तक निम्न पाण्डलिपियों का पता चला है: र

- १ लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति मंदिर, अहमदाबाद, (प्रस्तुत पाण्डुलिपि), नं० १६०५
- २ विजयधर्म लक्ष्मी ज्ञान-मंदिर, वेसनगंज, आगरा, नं० १६०१
- ३ देला उपासरा भण्डार, अहमदाबाद, नं॰ १३४
- ४ देला उपासरा भण्डार, अहमदाबाद, नं० १००
- ५ विमलगच्छ उपासरा ग्रन्थ भण्डार, फलूसापोल, अहमदाबाद, नं० ६२७, ८५२
- ६ विमलगच्छ उपासरा ग्रन्थभण्डार, हजपटेलपोल, अहमदाबाद, डब्ना नं १५, पोथी नं १५
- ७ भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १८८७-६१ का कलेक्शन, नं १२६३
- ८ भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, पीटर्सन रिपोर्ट १, नं० २३६
- ६ लीबंडी जैन ग्रन्थ भण्डार, नं॰ ६८१

इन पाण्डुलिपियों की प्राप्ति एवं उनके अवलोकन से पता चलेगा कि इनमें कोई प्रशस्ति आदि है अथवा नहीं। सम्पादन-कार्य के लिये भी इनसे मदद मिल सकती है।

इस ग्रन्थ में कुछ उद्धरणों का प्रयोग हुआ है। अन्य यन्थों में उनकी खोज करने से इस यन्थ के रचनाकाल का निर्धारण हो सकता है। कुछ उद्धरण यहाँ प्रस्तुत हैं-

- (क) दंसण-भड़ो भड़ो दंसण सुद्रस्स निरुवाणं। सिज्झंति चरण-रहिआ दंसणरहिआ न सिज्झंति ॥३॥३
- (ख) बालस्स माय-मरणं भज्जा-मरणं च जोव्वणारमे । थेरस्स पुत-मरणं तिन्नि वि गुक्आइ दुक्खाइं ॥१२॥

₹ 5

^२ वेत्तणकर, एच० डी०, जिनरत्नकोश, पृना १९४४, पृ० ३३-३४।

यह गाथा दर्शनपाहड़ (कुन्दकुन्द) एवं भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक में यथावत उपलब्ध है।

- (ग) पुन्तभवे जं कम्मं सुहासुहं जेण जेण भावेण। जीवेण कयं तं चिअं परिणमई तमिम कालमिम ॥१३॥
- (घ) विहलं जो अबलंबई आवर्षडिअं व जो समुद्धरह। सरणागयं च रक्खइ तिहिं तिसु अलंकिआ पुहवी ॥३६॥
- (ङ) धम्मेण सुह-संपया सुभगया नीरोगया आवया-चतं । दीहरभाउअं इह भवे जम्मो सुरम्मे कुले ॥२२३॥
- (च) दिञ्बं रूवम उठ्यं जुञ्चणभरो सती सरीरे जणे। किती होइ सुधम्मओ परभवे सग्गापवस्मस्सरी ॥२२४॥
- (३) आरामशोभाकथा की तीसरी रचना प्राकृत गद्य में है। हरिभद्रसूरिकृत 'सम्यक्त्वसप्रति' पर संघतिलक ने ई॰ सन् १३६५ में प्राकृत में वृत्ति लिखी है। इस वृत्ति में आरामशोभाकी जो कथादी गयी है उसका प्रारम्भ इस प्रकार होता है:

इहेव जम्बूह्कखालंकियदीव मज्झट् ठिए अवखंडछ्क्खं-डमंडिए बहुविहसुहृनिबह निवासे भारहे वासे असेसलिच्छ-संनिवेसो अत्थि-कुसट्टदेसो ।

इस पुरी रचना में ३० प्राकृत एवं संस्कृत के पद्यों का भी प्रयोग हुआ है। अन्त में कहा गया है: आरामसीहाइ चरित्तमेयं निसामिऊणं सवणाभियामं। कुणेह देवाण गुरुणवेया-वच्चं सया जेण लहेह सुक्खं।।

इस कथा को मूल रूप में डा॰ राजाराम जैन ने षाइयगज्ज-संगहो नामक अपनी पाठ्यपुस्तक में प्रकाशित किया है। यद्यपि विभिन्न प्रतियों के आधार पर इसका सम्पादन किया जाना शेष है। ला० द० संस्कृति विद्या-मंदिर, अहमदाबाद में इस प्राकृत (गव) आरामसोहा कथा की २ प्रतियां प्राप्त हैं। संख्या-- ३२६० एवं २५६०।

*संस्*कृत संस्करण

(४) संस्कृत में जिनहर्षसूरि (ई० सन् १४८१), मलय-हंसगणि एवं माणिक्य सन्दरगणि ने आरामशोभा कथा लिखी है। यह इशात नहीं हो सका है किये संस्करण प्रकाशित हैं या नहीं। इनकी पाण्डलिपियां विभिन्न . ग्रन्थ भण्डारों में प्राप्त हैं। "संस्कृत के जैन कथा-ग्रन्थों में आरामशोभाकथा का उल्तेख किया गया है। गुजराती संस्करण

- (५) आरामशोभाकथा गुजराती में भी लिखी गयी है। गुजराती के 'आरामशोभारास' की भूमिका में सम्पा-दकों ने इस कथा की निम्नांकित गुजराती रचनाओं का उल्लेख किया है :^८
 - (क) आरामशोभारास (राजकीर्ति), ई० सन् १४७६।
- (জ) आरामशोभा चौपाई (विनयसमुद्र), ई० सन् १५२७।
- (ग) आरामशोभाचरित (पुंज ऋषि), सन् १५६६।
- (घ) आरामशोभा चौवाई (समयप्रमोद), ई॰ सन् १६१० के लगभग।
- चौपाई (राजसिंह), (ङ) आरामशोभा सन् १६३१।
- चौपाई (दयासार), (च) आरामशोभा सन् १६४८।
- (छ) आरामशोभारास (जिनहर्ष), ई० सन् १६६० । इस तरह ज्ञात होता है कि आरामशोभाकथा जन-जीवन में बहुत लोकप्रिय रही है। जिनभक्ति के लिये

- ^६ (क) जैन ग्रन्थ भण्डार, लींबड़ी, पोथी नं० ७०१।
 - (ख) श्री जैन संघ भण्डार, पाटण, डब्बा नं॰ ६, पोथी नं॰ ६।
- ॰ (क) देसाई, जैन साहित्यनी इतिहास, १६३३, पृ० ४७१।
 - (ख) चौधरी, जी॰ सी॰, जैन साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग ६, पृ॰ ४१७।
- ८ कथा मंजुषा (भाग ७)—आरामशोभारास (सं०), जयंत कोठारी एवं कीर्तिका जोशी, अहमदाबाद, १६८३।

४ सम्यवस्य सन्तिति (संघतित्तककृतवृत्तिप्तहित), सं० ललितविजय सुनि, १९१६ ।

[🐣] मुनि यशोभद्र (सं०), आरामसोहाकहा, नेमिविज्ञान ग्रन्थरत्न (३), सूरियपुर, सन् १६४० ।

मध्यकाल में यह प्रमुख दष्टांत रहा है। कथा की लौकि-कता के कारण इसे अधिक प्रसिद्धि मिली है।

हिन्दी संस्करण

(६) आरामशोभाकथा को किसी हिन्दी लेखक ने स्वतन्त्र रूप से नहीं लिखा है। किन्तु प्राचीन कथा के आधार पर हिन्दी में उसका संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया है। श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री द्वारा सम्पादित जैन कथा, भाग ६६ में आराम शोभाकथा प्रस्तुत की गयी है। अमर चित्र कथा सीरिज में भी जादुई कुंज' के नाम से इस कथा को प्रस्तृत किया गया है। #

कथा के मानक रूप एवं अभिप्राय

आरामशोभाकथा एक लोककथा है। अतः इसमें लोकतत्त्वों की भरमार है। इस कथा के मानक रूप इस प्रकार हैं:

- १. अकेली बालिका पर घर के कार्यों का भार
- २. सर्प का मनुष्य की वाणी में बोलना
- ऋतज्ञ नागकुमार द्वारा साहस के कार्य के लिये बर-दान देना।
- v. छुत्र के रूप में कुंज का अःश्चर्य
- राजा द्वारा गुणी गरीब कन्या से विवाह
- ६. सौतेली माता द्वारा सौतेली पुत्री को मारने का प्रयत
- ७. नागकुमार द्वारा अहर्य रूप से सहायता
- कूँए में ढकेलना किन्तु वहाँ पर भी रक्षा
- पुत्र-जन्म पर माँ को परिवर्तन कर देना
- १०. असली पत्नी को राजा के द्वारा बाद में पहिचान लेना
- ११. पुत्र-दर्शन के लिये देवता की समय-मर्यादा की शर्त

- १२. शर्त तोड़ने पर देवता के वरदान का लुप्त होना
- १३. नायिका द्वारा सौतेली मां एवं बहिन को क्षमा प्रदान करना
- १४. सुनि से पूर्व-जन्म का वृत्तान्त-श्रवण
- १५. पति द्वारा जंगल में छोड़कर चले जाना
- १६. धर्म पिता सेठ द्वारा आश्रव देना
- १७. अपने अतिशय गुणों से धर्मपिता को संकट से बचाना
- १८. जिनमंदिर-निर्माण और जिनपूजा के फलस्वस्प सद्गति
- १६. कर्मफल शृंखला
- २०. वर्तमान जीवन की घटनाओं का तालमेल पूर्वजन्म की घटनाओं से बैठाना

इन मानकरूपों को देखने से पता चलता है कि १-१३ तक के मानकरूप एक लौकिक कथा के हैं। उनका जैनधर्म से कुछ लेना-देना नहीं है। और १४-२० तक के मानक-रूप किसी भी धर्म के साथ जोड़े जा सकते हैं। बस्तुतः आरामशोभा कथा में दो कथाओं को एक साथ मिला दिया गया है।

परवर्ती कथाओं पर प्रभाव

आरामशोभाकथा का मृल अभिप्राय माता-विहीन पुत्री और सौतेली माता का स्वार्थ है। इस अभिप्राय को पूरी तरह व्यक्त करने के लिये कई कथाकारों ने लेखनी चलाई है। सन् ११५० में अपभूंश किव उदयचन्द्र ने 'सुगन्धदशमीकथा' लिखी है। इसकी कथा का उत्तरभाग आरामशोभाकथा से मिलता जुलता है। डा० हीरालाल जैन ने इसकी कुछ समान विशेषताओं की ओर संकेत किया है। १० सौतेली बेटी की अवहेलना एवं अपनी

[E.Y.

[🐧] श्री पुष्कर मुनि, जैन कथा, भाग ६६, उदयपुर, १६७६।

^{*&#}x27;जार्ट्डई कुंज' मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' के जैन कहानियाँ, भाग १२, में प्रकाशित कथा पर आधारित है। लेखक ने जैन कहानियाँ में प्रकाशित कथा का उल्जेख नहीं किया है। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी Jaina Stories में प्रकाशित है। —संपादक

^{१०} जैन, हीरालाल, सुगंधदशमीकथा, १६४८, भूमिका, पृ० ६८।

सगी पुत्री को उसका पद दिलाने की चाह दोनों में समान है, यद्यपि तरीकों में अन्तर है। सोतेली माता द्वारा सौतेली पुत्री की अवमानना करने की घटना सुगन्धदशमी कथा के संस्कृत (सन् १४७२), गुजराती (१४५०), मराठी (१८ वीं सदी) एवं हिन्दी (१७५०) संस्करणों में भी प्राप्त होती है।

सौतेली माता का अपनी पुत्री को रानी बनाने के निष्फल प्रयास एवं सौतेली पुत्री को सताने की घटनाएं विश्वसाहिला में भी प्राप्त होती हैं। डा॰ जैन ने दो कथाओं का उक्लेख किया है। फ्रेंच कहानी 'सिन्डूला' में उसकी सौतेली मां उसे उत्सव में नहीं जाने देती और अपनी पुत्रियों को सजाकर वहाँ भेजती है। किन्तु राजकुमार अन्ततः सिन्ड्रेला को ही अपनी रानी बनाता है। '' जर्मन कहानी 'अश्पुटैल' में जो सौतेली लड़की है वह विल्कुल आरामशोभा से मिलती-जुलती है। हैजल वृक्ष आरामशोभा के जादुई कुंज की तरह मददगार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अन्ततः 'अश्पुटैल' को राजकुमार अपनी रानी बना लेता है। 'रे इस तरह अभी आरामशोभा कथा की भारतीय एवं विश्वसाहित्य की कथाओं के साथ जुलना करने से और भी नये तथ्य सामने आ सकते हैं।

⊏६]

र द स्लीपिंग ब्यूटी एण्ड अदर फेयरी टेल्स फाम द ओल्ड फ्रोंन्च (रिटोल्ड बाइ ए॰ टी॰ विलचर-कोडच)।

^{१९} जेकब लुडविक कार्लिग्रम, दि किंडर उण्ड हाउस मारवेंन, (अंग्रेजी अनुवाद : ग्रिम्सटेल्स)।

आत्मज्ञानी श्रीमद् राजचंद्र

—निलनाक्ष पंड्या वक्षभ विद्यानगर, गुजरात

उन्नीसवीं शताब्दी में गुजरात में तीन महान पुरुष हुए थे। एक थे वैदिक परंपराके उद्घारक महर्षि दयानंद सरस्वती, जिनका जन्म मोरबी रियासत के टंकारा गाँव में औदीच्य बाह्यण परिवार में हुआ था! दूसरे थे भारत के राष्ट्रपिता विश्ववंद्य महात्मा गांधी, जो पोरबंदर के लब्ध-प्रतिष्ठ मोद विणक परिवार में पैदा हुए थे। तीसरे महापुरुष जो हुए वह थे मोरबी राज्य के बवाणिया ग्राम के रायचंद भाई मेहता, जो श्रीमद् राजचंद्र के नाम से सुप्रसिद्ध हुए। दयानंद ने धर्मोद्धार की दिशा दिखाई, गांधीजी हमें राष्ट्रोद्धार के मार्ग पर ले गये, और श्रीमद् राजचंद्र आत्मोद्धार के पथ-प्रदर्शक बने।

श्रीमद् के आत्मिनिष्ठ जीवन एवं चिंतन का उनके परिचय में आने वालों पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा था कि अपने अल्पायु में भी वह अनेक भक्त और अनुयायियों का समुदाय छोड़ गये थे, जिनके द्वारा स्थापित संस्थाएँ आज भी कई स्थानों पर उनके विचारों के प्रसार में प्रवृत्त हैं। ये स्मारक-संस्थाएँ ववाणिया, बडवा, खंभात, अगास, ईडर, राजकोट, उत्तरसंडा, नरोडा, नार, सुणाव, काविटा, भादरण, वसो, वोरसद, वटामण, धामण, सडोदरा, (सभी गुजरात में), आहोर (राजस्थान), हंपी (कर्णाटक), वम्बई, देवलाली (महाराष्ट्र), इन्दौर (म॰ प्र०) और मोम्बासा (केन्या, अप्रीका) में स्थित हैं।

भक्ति और आध्यारिमक प्रवृत्ति की ऐसी विरासत छोड़ जाने वाला यदि कोई संन्यासी होता तो इसमें नई बात नहीं थी, पर इस गुरु के बारे में आश्चर्य इस बात का है कि वह एक एहस्थाश्रमी व्यापारी था और उसने केवल ३३ वर्ष की अल्पायु में ही अपनी जीवनलीला समाप्त कर दी थी।

श्रीमद्का जन्म सन् १८६७ में एक साधारण ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वयस्क होने पर बम्बई में वे हीरे-जनाहिरात के व्यापार में साझेदारी से जुड़े थे। अपने अंतिम एक-दो वर्षों को छोड़कर जीवन का अधिकतर समय उन्होंने व्यापार में ही विताया था। तथापि आध्यात्मिक ज्ञान व सिद्धि के जिस उच्च स्तर तक वे पहुँच पाये थे इसका कारण उनकी अन्तःस्थ आध्यात्मिकता थी। सात वर्ष की आयु में उन्हें जातिस्मरण हुआ था। तभी से उनमें वैराज्य भाव उदय होने लगा था। उनकी वौद्धिक क्षमता भी असाधारण थी। १३ वर्ष की आयु में उन्होंने अष्टावधान का प्रयोग कर दिखाया था। इस क्षमता को निरन्तर विकसित करके वे शतावधानी बन सके थे। बम्बई में उन्होंने शतावधान के कुछ प्रयोग भी किये थे, जिन्हें आत्मसाधना में बाधक मानकर बाद में वंद किया था।

यह श्रीमद् की ज्ञानिषपासा ही थी जिसने उनको वेद, वेदान्त, गीता, भागवत, कुरान, जेन्द अवेस्ता और जैन आगमों का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया था। इस प्रकार विविध धर्म-धाराओं के ज्ञाता होने पर भी वे शास्त्र-पंडित न बने रहकर आध्यारिमक अनुभृति में विश्वास रखते थे। इसीलिए वे विचारधारा के वाद-विवाद को व्यर्थ मानते थे और आत्मदर्शन व आत्मप्रतीति पर बल देते थे। श्रीमद् के आत्मज्ञान से प्रभावित होने वालों में महात्मा गांधी भी थे। युवावस्था में जब उन्हें किसी आध्यारिमक समस्या का सामना करना पड़ा था तब गांधी जी ने प्रत्यक्ष या पत्र के माध्यम से श्रीमद् से मार्गदर्शन प्राप्त किया था। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए गांधीजी ने श्रीमद् राजचंद्र को अपना आध्यारिमक सुरू बताया।

यद्यपि श्रीमद् की निष्ठा जैन धर्म के प्रति थी, फिर भी उनमें सांप्रदायिक संकीर्णता का नितांत अभाव था। इसका कारण उन्हें सभी प्रमुख धर्मों का अध्ययन होने के साथ-साथ संभवतः यह भी था कि उनके पिता सनातन-धर्मी दशा श्रीमाली विणक थे और माता जैनी थी। वास्तव में श्रीमद् को उसी धार्मिकता में विश्वास था जो सांप्रदायिकता से परे हो। उन्होंने लिखा है: 'संसार में मान्यता भेद के बंधनों से तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। सञ्चा सुख व आनंद इनमें नहीं है।' कई प्रसंगों पर श्रीमद् ने वेदान्त, श्रीकृष्ण, जनक विदेही, शंकराचार्य, वामदेव, शुकदेव, नारद भक्ति सूत्र, योग वासिष्ठ, जड़भरत, कवीर, मीरा, नरसिंह मेहता, सुंदरदास आदि के दष्टान्त दिये हैं, जो उनकी असाप्रदायिक समदर्शिता के परिचायक हैं। वस्तुतः उनके विचारों में आध्यात्मिक विषयों के बारे में मौलिक चिंतन पर आधारित सत्यान्वेषी दृष्टि दिखाई देती है।

स्वयं आत्मोन्मुखी होने की वजह से जैसे-जैसे अपने अनुभवों के प्रकाश में वे जीवन को समझते गये, श्रीमद् उन विचारों को कागज पर या डायरी में लिखते गये। यदि कोई दूरस्थ व्यक्ति भी अपनी किसी समस्या का आध्यात्मिक समाधान चाहता तो वे पत्र के द्वारा मार्ग-दर्शन देते थे। इसी कारण महात्मा गांधी के शब्दों में कहें तो 'उनकी लेखनी की यह असाधारणता है कि उन्होंने सिर्फ बही लिखा जो स्वयं अनुभव किया हो। उसमें कहीं कृत्रिमता नहीं है। दूसरों को प्रभावित करने के लिए उन्होंने एक पंक्ति भी लिखी हो ऐसा मैंने नहीं पाया।'

श्रीमद् द्वारा लिखित इन फुटकर नोट और पत्रों के रूप में ही उनके अधिकतर विचार संग्रहित हैं। तदुपरांत उनकी तीन रचनाएँ 'मोक्षमाला', 'भावनाबोध' और 'आत्मसिद्धिशास्त्र' हैं। 'मोक्षमाला' में धार्मिक समस्याओं को जैन दर्शन के आधार पर समझाया गया है, 'भावनाबोध' में आत्मश्रेयाथीं के लिए उपयोगी मार्गदर्शन है, तथा 'आत्मसिद्धिशास्त्र' में आत्मदर्शन विषयक विचारों को पद्य में समझाया गया है। चूंकि श्रीमद् की मातृभाषा गुजराती थी, उनका समुचा साहित्य गुजराती भाषा में है।

श्रीमद् की कृतियों में स्पष्ट रूप से झलकने वाला तत्त्र उनकी तीत्र आध्यात्मिक उत्कंठा है। यही कारण है कि स्वयं गृहस्थाश्रमी होने पर भी उनमें कोई सांसारिक एषणाएँ नहीं थीं। यदि कोई अभीप्सा थी तो वह आत्मदर्शन की थी, जैसा कि उनके एक पत्र से प्रकट होता है : 'रात्रि और दिवस केवल परमार्थ का ही मनन रहता है। आहार भी वही है, निद्रा भी वही है, शयन भी वही है, स्वप्त भी वही है, भय भी वही है, भोग. भी वही है, परिग्रह भी वही है, चाल भी वही है, आसन भी नही है। अधिक क्या कहें । अस्थि, मांस और मज्जा को एक ही रंग चढा हुआ है। रोम मात्र जैसे उसी के विचार में रत है, और इस कारण से न कुछ देखना भाता है, न कुछ सूंघना भाता है; न कुछ सुनना भाता है, न कुछ चखना भाता है और न ही स्पर्श करना भाता है। न बोलने की चाह है, न मौन रहने की ; न बैठने की चाह है, न जगने की ; न खाने की चाह है, न भूखे रहने की ; न असंग की चाह है, न संग की ; न लक्ष्मी की चाह है, न अलक्ष्मी की ; ऐसी स्थिति है। तथापि इसके प्रति कोई आशा या निराशा के भाव की अनुभृति नहीं होती।'

श्रीमद् की आत्मानुभृति की उत्कंठा उनकी इन काव्य-पंक्तियों में सुचार रूप से अभिव्यक्त हुई हैं:

> अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे, क्यारे थईशुं वाह्यान्तर निर्मंथ जो १ सर्व सम्बंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने, विचरशुं कथ महत्पुरुषने पंध जो १

भक्ति को वे आत्मसाधना का श्रेष्ठ साधन मानते थे: 'अनेक दृष्टि से विचार करने पर में इस दृढ़ निर्णय पर पहुँचा हूँ कि भक्ति मार्ग ही सर्वोपरि है।' आत्मज्ञान के लिए उतना ही आवश्यक वे आत्मनिष्ठों के सत्संग को मानते थे। उनकी दृष्टि में सत्संग वह है जिससे आत्म-सिद्धि हो सके। उत्तम शास्त्र में निरंतर दत्तचित्त रहना भी उनके मत से सत्संग ही है।

संसार व्यवहार के प्रति श्रीमट् निर्लिष्ठ थे : 'संसार के प्रति हमें परम उदासीन भाव है। यदि यह संसार सुवर्णका वन जाये तो भी हमारे लिए तृणवत् रहेगा और केवल परमात्मा की विभृति के रूप में भक्ति-धाम बना रहेगा।'

उनके इसी अनासिक्त भाव की वजह से वे भिन्न व विरोधी लगने वाली व्यापार और धर्म की प्रवृत्तियों का सम्मिलन कर सके थे। अपनी हुकान में व्यापारी सौदों की वातचीत करने के तुरन्त पश्चात वे आध्यात्मिक पाठ, लेखन या चर्चा में सहजता से लीन हो सकते थे। श्रीमद् की इस लाक्षणिकता से सुग्ध होकर गांधीजी ने लिखा है कि 'जो लाखों के सौदों की वातचीत करके शीघ ही आत्मशान की गहन बातें लिखने में खो जाये उसकी जाति व्यापारी की न होकर शुद्ध ज्ञानी की ही हो सकती है।'

अपनी व्यावगायिक सफलता से श्रीमट् ने यह सिद्ध कर दिया था कि मनुष्य नीतिमान रहकर भी व्यापार कर सकता है। व्यापार-वाणिष्य में प्रचलित अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में उनका कहना था कि शुद्ध आत्मज्ञानी को उगना असंभव है। पूर्ण आत्मज्ञानी धोखेबाज व्यक्ति को देखने के साथ ही पहचान जायेगा, क्यों कि पूर्ण आस्मज्ञान में न केवल स्वयं का अपित अन्य के व्यक्तित्व का ज्ञान भी स्वतः निहित है। अपनी विरल हिन्दी काव्य-रचना में श्रीमट्ने कहा है:

जब जान्यो निज रूप की, तब जान्यो सब लोक ! निह जान्यो जिन रूप की, सब जान्यो सी फीक !!

हमारे देश में प्राचीन काल में कई ऋषि, सुनि, साधु आदि हो गये हैं जिन्होंने आत्मज्ञान प्राप्त किया था, पर इसके लिए उन्होंने सांसारिक बंधनों को खागकर अरण्य-वास किया था, जबिक श्रीमद् संसार एवं संसार के मोहमायारूपी प्रलोभनों के बीच जलकमलवत् रहकर अर्थाचीन युग में आत्मज्ञान पा सके थे। यही उनकी सबसे बड़ी सिद्धि थी।

राजस्थान का एक प्राचीन तीर्थ जावर

--श्री रामवल्लभ सोमानी, जयपुर

जावर उदयपुर से ड्रंगरपुर के मार्ग से टीडी से १० कि० मी० दूर है। प्राचीन काल से ही यह स्थान जस्ते की खानों के लिये प्रसिद्ध रहा है। वि॰ सं०७०३ के सामोली के शिलालेख के अनुसार वसंतगढ़ निवासी श्रेष्ठी जैतक व्यापार हेतु इस क्षेत्र में आया था। उस समय यहां जस्ता एवं चांदी बड़ी मात्रा में खानों से निकलती थी। इसीलिये यह क्षेत्र मेवाड़ के राजाओं के हाथ से छीनकर कुछ समय कल्याणपुर के गुहिलोत शासकों एवं बागड़ के अधीन भी रहा। मध्यकाल में महाराणा लाखा ने इसे जीताया। उसके लिए मेवाड़ के शिलालेखों में योगिनीपुर जावर को जीतने का लिखा है। वि० सं० १४६२ के एक ताम्रपत्र के अनुसार महाराणा लाखा ने देवी के मंदिर के निमित्त २ टंका दिये थे। लाखा के ही राज्य का उल्लेख वि॰ सं॰ १४६४ की मलय-गिरि की सप्ति टीका की प्रशस्ति के श्लोक १२ में है। र इस प्रशस्ति में एक महत्त्वपूर्ण सूचना यह भी है कि श्रेष्ठी कान्हा ने वीर विहार नामक जैन मंदिर बनवाया था। यह परिवार देलवाड़ा (मेवाड़) का रहने वाला था एवं व्यापार हेतु डूंगरपुर एवं जावर में भी रहता था। वीर-विहार में खरतरगच्छ की पिष्पलिक। शाखा एवं जिनभद्रस्रि की मुख्य शाखा के साधुओं के भी अप्रका-शित लेख हैं जिनका उल्लेख आगे किया जा रहा है।

यहां का मुख्य मंदिर शांति जिनालय है। यह अब भग्न है। इसका निर्माण विर सं० १४७८ में श्रेष्ठी धन-पाल ने किया है . जिसके लिये शिलालेख में 'श्री शत्रु-ञ्जय-गिरनार-अर्बुद जीरापल्ली-चित्रकूटादि तीर्थ यात्रा कृत: श्री संघ मुख्य' लिखा है। यह शिलालेख लम्बा एवं ऐतिहासिक महव का है। इसमें प्रारम्भ में 'संबन् १४७८ वर्ष पौष शृब्ध राजा धराज श्री मोकलदेव विजयराज्यो' शब्द है। इससे इस बात की पृष्टि होती है कि यह उस समय मेबाड राज्य में सम्मिलित था। इसकी प्रतिष्ठा तपागच्छ के सोमसुन्दर सूरि ने की थी। सोम सौभास्य काव्य में दिये गये वर्णन के अनुसार सोमसुन्दर सूरि मेवाड़ मैं देलवाड़ा एवं चित्तौड़ कई बार पधारे थे। गोड़वाड़ जिनमें राणकपुर भी सम्मिलित है इनका कार्य-क्षेत्र था। जावर के इस लेख में तपागच्छ के सुख्य साधुओं के नाम हैं जो इस प्रतिष्ठा के समय वहां उपस्थित थे । यथा — भूनि सुन्दर, जयचंद्र, भुवन सन्दर, जिन सुन्दर, जिनकीर्त्ति विशाल राज् रत्तरोखर उदयनिद,महोपाध्याय सत्यरोखर,सुरसुन्दर, सोम देव आदि । इतने मुख्य साधुओं के एक साथ होने से पता चलता है कि यह प्रतिष्ठा काफी विशाल स्तर पर हुई थी। इस मंदिर का वर्णन कवि लावण्य समय विर-चित सुमति साध सूरि विवाहलों में किया गया है। इसमें लिखा है कि नगर के मध्य अत्यन्त सुन्दर शांतिजिन विहार है (नगर विचिहिं अति स्थ डलउ शांति जिणद विहार रे)। श्रेष्ठी कान्हा द्वारा वि॰ सं० १४८६ में देव-कुलिका बनाई गई थी जिसका सूत्रधार सहदेव था। इसी

[•3

[ै] लेखक की कृति हिरट्री ऑफ मेवाड़, पृ० ११२।

र एल॰ डी॰ इन्स्टिट्यूट, अहमदावाद द्वारा हस्तिलिखित ग्रंथों की सूची भाग ४ के अंत में पृ० ६२ पर दी गई प्रशस्ति।

^३ विजयधर्म स्रि, जैन लेख संग्रह, भाग १, सं० १४३।

४ एन्यूअल रिपोर्ट आन इंडियन एपियाफी, वर्ष ५६-५७, सं० ५१७।

निधि के एक अन्य लेख में इसी मंदिर में जिन सागर स्रिका नाम दिया है। ' ये लेख मृत रूप से में देख नहीं सका हूँ किन्तु संभवतः किसी खरतरगच्छ से सम्यन्धित मंदिर के ये लेख रहे होंगे। जिनभद्रस्रिजी ने जावर में खरतरगच्छ का मंदिर बनवाया था संभवतः ये लेख उसी मंदिर के खंडहर के हों।

वि॰ गं० १४७८ के बाद खरतरगच्छ के कई लेख यहाँ से मिज़े हैं। वि॰ सं० १४८६ के लेख में श्री कान्हा श्रष्ठी द्वारा बनाये बीर विहार में सुपार्श्वनाथ देवकुलिका की प्रतिष्ठा श्री जिनसागर सूरि (पिप्पलिका शाखा, खरतरगच्छ) द्वारा कराये जाने का उल्लेख है। लेख इस प्रकार है—'संवर् १४८६ फा० शु० ३ दिने ऊकेश जातीय सा० पर्मा भाषां पदमारे पुत्र गोइद भाषां गउरदे सुत सा० आंबा सा० सांगण, सहदेव, सन्मध्ये सहदेव भागी पोई पुत्र श्रीधर ईसर पुत्री राजि प्रभृति कुटुम्ब पुतेन मं० कान्हा कारित प्रासारे स्व श्रेयोर्थ श्री सुपार्श्वजिनयुत देव कुलिका कारिता प्रतिष्ठिता श्री खरतरगच्छाधीरोन श्रीजिन-सागर।' इसी मंदिर में बि० सं० १५०४ का एक लेख और है। इसमें खरतरगच्छ के जिनभद्रसूरि के आम्नाय के साधओं के नाम हैं। मुल लेख इस प्रकार है - संवन् १५०४ वर्षे कार्त्तिक वदी १३ दिने श्री जापूर नगरे श्री खरतरगच्छे श्री जिनभद्रसूरिगच्छाधिराजादेशे भं० कान्हेन कारित श्री वीर-विहारे प० भानुप्रभगणि, समयप्रभगणि सोमधीर सुनिः अहर्निसं (शं) श्रो वीर चरणं प्रणमति वहभक्त्या सूत्रधारो लोका महावीर चरणाय नमः।'

जिनभद्रसूरि ने जावर में मंदिर बनाने के लिए संभ-वतः किमी श्रेष्टी को निर्देश दिये थे। इसका स्पष्ट उल्तेख वि॰ सं॰ १४९७ के संभवन:थ मंदिर, जैमलमेर के इस लेख में है। यथा श्री उष्जयंताचल चित्रकूट मंडिव्य पूर्जावर सुख्यकेषु स्थानेषु येषासुपरेश वाक्या निर्माणिताः श्राद्धवरैर्विहारा।' खरतरगच्छ के कुछ साधु वि॰ सं॰ १४६२ में आये थे।" इनके नाम हैं क्षमामृतिं, विवेकहंस, उदयशील, नेच कुंजर आदि। वि॰ सं॰ १४६४ का एक अन्य लेख एक खंडित मंदिर के स्तम्भ पर है। लेख बहुत धिस गया है। इसमें 'वि॰ सं॰ १४६४ माघ सुदि १३ महावीर चैत्ये · · खरतरगच्छे, जिनसागर सूरिभिः' पाठ पढ़ा जाता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि महावीर की प्रतिमा की प्रतिष्ठा उस समय की गई थी। मृतिं पर भी लेख है और एक अन्य लघु लेख में श्री जिनकुंजर सूरिभः नाम दिया हुआ है। वि॰ सं॰ १४६५ के एक लेख में धर्मघोष गच्छ के हरिकलश आदि के नाम है। वि॰ सं॰ ज्येष्ठ शु० ५ के एक लेख में रामचन्द्र सूरि का नाम है।

एक उन्नतिशील नगर होने के कारण बागड़ और मेवाड़ के शासकों के मध्य यह विवाद का विषय बना हुआ था। महाराणा कुंभा ने इसे जीता था। इसके लेखीं में जावर को जीतने का उल्लेख है (योगिनी पूरम जेयमप्यसों योगिनी चरण किंकरो नृपः)। राजस्थानी की गीतगोविनद की टीका की प्रशस्ति में 'योगिनी भणीये महामाया तेहनी प्रामाद पाम्बो योगिनीपुर ज'वर' प'ठ सुधा के लिये प्रयुक्त हुआ है। ऐसा लगत है कि महार णा के अन्तिम दिनों में मालवे के सुलतान मोहम्मद खिलजी ने ज'वर पर अ:क्रमण कर यहाँ के देवी के मंदिर को नष्ट कर दिया था। अतः कुंभा ने इसे वापस जीर्णोद्धः र कराया। यहाँ के जैन मंदिरों का भी महत्त्व अत्यधिक था। बि॰ सं॰ १५०८ में नाडोल में तपागच्छ के रत्नशेखर सूरि ने श्रेष्ठी जगसी परिवार द्वारा एक विशाल प्रतिष्ठा ममारोह कराया था । इस अवसर पर प्रति-ष्ठित प्रतिमाये चोपानेर, चित्रकृट, जावर, कायंद्रा, नागदा ओमिया, नागीर कुंभलगढ़ अ'दि स्थानों पर भेजी इस प्रकार से भेजी गई प्रतिमाओं में कुंभलगढ़

५ उपरोक्त, सं० ५२२।

[ै] जैन लेख संग्रह, भाग ३ (पूरणचंद नाहर द्वारा सम्पादित), लेख सं० २१३० !

[🤏] लेखक की कृति जैन इन्स्किप्शन्स आफ राजस्थान, पृ० १३१।

८ उपरोक्त ।

^९ लेखक की कृति महाराणा कुम्भा, पृ० ६८।

^{१०} जिन विजय, जैन लेख संग्रह, भाग २, सं० ३७२।

में नीलकंठ मंदिर के पास छोटे जैन मंदिर में यह मृतिं अब भी विद्यमान है। जावर में भी यह मृतिं उपलब्ध है।

तपागच्छ के रत्नशेखर सूरि से सम्बन्धित सुमति साध विवाहलो में एक घटना वर्णित है! इसके अनुसार जाबर के निवासी गणपति शाह के एक पुत्र नयराज हुआ। इसने रत्नशेखर सूरि से दीक्षा ग्रहण की । गुरु गुण रत्नाकर काव्य में भी रत्नशेखर सुरि के जावर पधारने का उल्लेख है (श्री भेद पाट पृथिवीसुकुटाभ मज्जा पद्रभिधान नगरं समहं समीपुः १०७ श्लोक)। १९ उक्त विवाहलों में प्रारम्भ में इस नगर का सुन्दर वर्णन है। इसके अनुसार इस नगर में धातु की सात खाने थीं (सातइ धात नई आगर)। वि॰ सं॰ १७४६ की शीलविजय की तीर्थ माला में भी यहाँ सात धात की खाने होने का उल्लेख किया हुआ है (सात घातु तणुअहिठाणं)। सुमति साधु विवाहलो में जावर का प्रारम्भ में जो वर्णन दिया गया उसके अनुसार यहाँ काफी समृद्धि थी। ^{१२} आसपास कई तालाव बनाये गये थे। इस नगर में कई उल्लेखनीय श्रेष्ठी रहते थे एवं अच्छा बाजार था।

महाराणा कुम्भा के बाद महाराणा उदा शासक हुआ। उसे हटाकर कुंभा का दूसरा पुत्र रायमल शासक हुआ। रायमल ने जाबर अपनी बहिन रमावाई को जागीर में दिया था। इसका विवाह गिरिनार के शासक चूड़ा गमा राजा मंडलीक के साथ हुआ था। इसके मोहम्मद बेगड़ा से हारने के बाद सुस्लिम धर्म स्वीकार कर लेने से रमाबाई मेवाड़ में आ गई थी तब उसे जावर दिया था। यहाँ से वि० सं० १५५४ का एक विस्तृत शिलालेख मिला है। १३ इसके अनुसार इसने कुंभलगढ़ में दामोदर मंदिर, एक सरोवर एवं जावर में रमा स्थामी का मंदिर बनाया था।

जावर के निवासी ओसवाल सूरा ने नाणा (मोड़-वाड़) में पार्श्वनाथ की मूर्ति वि० सं० १५७२ में स्थापित की थी। जावर में वि० सं० १५८० की १२वें किताबों की एक सुरह है जो काफी पिसी हुई है। इसमें सबसे ऊपर श्री रखबदेव प्रसादातु शब्द होने से यह जैनधर्म से सम्यन्धित है। इसमें कई नाम हैं। यथा देपा, जुपा, नरा, पेयोली, बीरम नाथा, उदा व मंगरा का समस्त मंघ का उल्लेख है। उसमें महाराणा सांगा का नाम होने से महत्वपूर्ण है। यह अभी अप्रकाशित है। यि॰ सं॰ १५९७ का एक लेख बनवीर का भी यहाँ से मिला है। महाराणा प्रतापसिंह के समय की एक यंथ प्रशस्ति वि० सं० १६४३ की मिली है। इसमें साध दिन कृत्य की प्रतिलिपि जावर में करने का उल्लेख है (संवत १६४३ वर्षे आश्विन विदिध सोमे श्री मेवाडदेशे राणा प्रतापसिंह राज्ये श्री जावरमध्ये जीराऊलीया कीका लिखितं)। अकबर के बाद जहाँगीर ने मेबाड़ में कई वर्षी तक निरन्तर आक्रमण किया। उस समय वहाँ के सारे देवालय भगन कर दिये। मेवाड़ और सुगल सन्धि हो जाने के बाद मेबाड़ के सारे जैन व बैरणव मन्दिरों का ब्यापक जीर्णोद्धार हुआ था। वि० सं० १६६४ में यहाँ के जैन मंदिर जीणोंद्धार का लम्बा लेख है। लेख का कुछ अंश इस प्रकार है: 'संवत १६६४ वर्षे शाके १५६० प्रवर्तमाने वैशाख मासे शुक्ल पक्षे तृतीया तिथौ शनिवासरे भेदपाट-देशे महाराजाधिराज महाराणा श्री जगतसिंहजी विजयराणी कुमर श्री राजसिंह आदेशात योगिनीपुर वरे श्री शांतिनाथ विंव स्थापित य उधरी मोहण-सुत बीर जी पंचोली सबराम, दोसी सुजा तेलहरा धनजी सा० पंचाइण सा समरथ सा दशरथ मुंजावत महता केसर महता लधु चोखा उतवेला धना भाव साम पीरवाड समस्तसंघ उधरी मोहण प्रसाद उधराण कृतं प्रतिमा स्थापिता संघ पूजा कृत सलावट साजु चद…।' वि० सं० १७२८ में जावर निवासी पंडित चतुराजी जो माड़ाहड़गच्छ के थे आबू में यात्राकर वहाँ लेख भी उत्कीर्ण कराया ; संबद्ध १७२८ वर्षे वैशाख सुदि ११ दिने महाहड़गच्छे पंडित चतरा जी यात्रा सफल वास जीवर ।

वहुचर्चित गीत गोविन्द की सचित्र प्रति की प्रतिलिपि

દર]

^{११} सुच सुण रत्नाकर, इलोक १०१।

रित्र सुमिति साधु विवाहलो की एक नकल स्व० अगरचंदजी नाहटा ने सुन्ने भिजवाई थी। यह वर्णन उसीके अनुसार है। रित्र जावर का अभिलेख इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, वि० सं० १६५८, पृ० २१५-२२५ पर प्रकाशित है। वीर विनोद के पहने भाग ने भी इसका मृत्र पाठ उपलब्ध है।

१६वीं शताब्दी में जाबर में की गई थी। जाबर से माता जो के मंदिर के आगे एक वि० सं० १६५५ आपाड़ शुक्ल ६ की मुरह है। उममें पेयोली माण्डण शाह भामा (प्रसिद्ध भामाशाह से भिन्न) आदि द्वारा कुछ 'चढ़ावा' करने का वर्णन है। अम्वा माता के अतिरिक्त दूसरे माताजी के मंदिर के पास महाराणा राजसिंह का एक लेख है यह बहुत थिम गया है, केवल इतना पढ़ा जाता है 'सिद्ध श्री गणेश गीव देव्या प्रभादातु महाराजाधिराज महाराणा जी श्री राजसिंहजी आहेशात जावर…:' पुरानी कचहरी के पास एक सुरह वि० सं० १८६५ की है। इसमें महाराणा राजसिंह के समय देवरा सदाराम द्वारा तालाब में

रमानाथ मंदिर में भूमिदान का उल्लेख है। रमानाथ गंदिर के स्तम्भा पर विश्सं १ १७७६ का १४ पंक्तियों का लघु लेख है जिसमें हरिहर आदि के नाम हैं। इसी गंदिर के बाहर महाराणा भीमसिंह की सुरह लगी है। यह सारी मिट्टी में दब गई केवल 'सिध श्री महाराजा-धिराज महाराणाजी श्री श्री श्री भीमसिंघ जी आदेसातु प्रतदेव पेयोली परताप' लिखा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मराठा काल में यह नगर उजड़ गया था! निरन्तर मराठों के आक्रमण से लोग गांव छोड़कर चले गये! अब नथी वस्ती वस गई है किन्तु ये मंदिर अब खंडहर हैं!

यह लेख जावर माइन्स के एक अधिकारी के आग्रह पर मैंने कई वर्षी पूर्व तैयार किया था। काफी सूचना श्री नाहटाजी से भी ली थी। जावर माइन्स के अधिकारियों ने घ्मने एवं लेखों की प्रतिलिपि करने में सहायता दी थी। मैं इन सबका कृतज्ञ हूँ।

रामप्यारी का रिसाला

—लक्ष्मी कुमारी खृण्डावत

राजस्थान मरहठों की लूट और हमलों से परेशान था।
मेबाड़ मरहठों से तो दुःखी था ही पर गृह-कलह से उसकी
वर्बादी और भी बढ़ती जा रही थी। चूंडावतों और
शास्कावतों का आपसी बैमनस्य उस समय अपनी चरम
सीमा पर पहुँच चुका था।

अपने पुत्र हमीरसिंहजी और भीमसिंहजी को वहुत ही कम उमर में छोड़कर महाराणा अड़सीजी स्वर्गवासी हो गये। ऐसी विषम स्थिति में मेवाड़ राज्य की जिम्मेवारी नावालिंग महाराणा की माता झालीजी सरदार कुअर पर आ गई। वे वाईजीराज की गादी पर आसीन थी। मेवाड़ राज्य के अन्तःपुर का प्रबन्ध, शासन, परम्परा से चले आते दस्तूर और सांस्कृतिक रीति-रस्म की देखभाल करने वाली महिला वाइजीराज कहलाती थी। राज्य परिवार की योश्य एवं बुजुर्ग महिला को इस पद पर प्रतिष्ठित किया जाता था। इस पद के भार व व्यय के लिये अतिरिक्त खर्च राज्य से उन्हें मिलता था। राज्य सम्बन्धी कोई सलाह भी वाईजीराज को देने का अधिकार होता था। पर्दे में रहते हुये भी स्त्रियों द्वारा राज्य का काम सम्भालने की प्रथा मेवाड़ के राजधराने में शुरू से ही रही है। पुत्र की नावालिंग अवस्था में माता से पुछ

कर काम किया जाताथा। खास-खास व्यक्तियों से खास-खास काम की बात करने के लिये बीच में पदा टांग कर बात कर ली जाती थी। साधारण काम-काज के लिये जनानी ड्योढ़ी पर सरदार, प्रधान आदि आते और डावड़ी (दासी) के साथ उत्तर-प्रत्युत्तर कहला दिया . बाईजीराज सरदारकुंअर की दासी बड़ी चतुर थी। वह उत्तर-प्रत्युत्तर का काम बड़ी खुबी से करती थी। काम-काज करते-करते वह इतनी होशियार हो गई थी कि राज्य की नीति और काम-काज में दखल रखने लगी। रामध्यारीबाई की सलाह बाईजीराज झालीजी मानने लगी। उसका अपना अलग रूतवा जम गया। रामप्यारीबाई का वाकायदा हुकम चलता था। वह लोगों को छुड़वा देती और गिरफ्तार तक करवा लेती। प्रधान पद पर आरूढ़ अमरचन्द्र सनाढय जैसे योग्य और विशिष्ट व्यक्ति को पकड़ने के लिये उसने अपने आदमी भेज दिये और घर लुटवा दिया। यहाँ तक कि एक पूरा रिसाला रामप्यारीबाई के अधीन था जो उसके हुकम पर चलता था। वह रामप्यारी का रिसाला कहलाता था। उसके मर जाने के बाद भी लगभग १०० वर्ष तक रामप्यारी का रिसाला ही कहलाता था। आधुनिक दंग से फौजों को तरतीय दी गई, तब वह उनमें मिलाया गया। उसका मकान रामप्यारी की बाड़ी के नाम से प्रसिद्ध है। टाड शुरू में आये तब उनके रहने के लिये रामध्यारी की बाड़ी में ही प्रबन्ध किया गया। बाद में उस मकान में सरकारी तोपखाना और मैगजिन रहे। अब उसका कुछ अंश बोहेड्डा की हवेली कहलाता है।

तत्कालीन राजनीति में रामप्यारी एक प्रमुख पात्र थी। उस समय गृह-कलह और मरहठों के उपद्रवों से मेवाड़ की दशा शोचनीय थी। खजाने में पैसा नहीं था और वेतन न मिलने के कारण सिन्धी फौजों ने आकर महलों पर धरना दें दिया। वारों और चिन्ता छा गई।

र अड़सीजी के समय में मेवाड़ी सरदारों के खिलाफ हो जाने से उन्हें बाहर से सेना का प्रवन्ध करना पड़ा। उसी समय सिन्धी, अरबी एवं विलायती फौजों का गठन किया गया। तब से मेवाड़ में सिन्धी, अरबी और बलीच आदि बाहर से आकर बसे हुये हैं। मेवाड़ में सोलह उमरावों के अलावा १७वां उमराव सिन्धी मुसलमान है। इस १७वें उमराव की स्थापना महाराणा अड़सीजी ने ही की थी।

87]

महाराणा अङ्सीजी ने जो बाहर से सिन्धियों की बड़ी फीज बुलाकर रखी थी, वह सम्भल नहीं रही थी। उसका खर्च निभाना मेवाड़ राज्य की शक्ति के बाहर की बात थी। सिन्धी सिपाही महलों पर धरना दिये बैठे थे। सरदार प्रधान लोग समझा रहे थे परनत सिन्धी मानते न थे। रामध्यारी उत्तर-प्रत्युत्तर करती दिन में जनाने से वाहर इयोड़ी तक पचासों चक्कर लगाती। चालीस दिन तक धरना तथा समझाना-बुझाना चलता रहा। अन्त में बाईजीराज ने कुरावडु के रावतअर्जुनसिंह जी चुंडाबत को बुलाया । उनके समझाने पर सिन्धी माने, पर इस शर्त के साथ जब तक रुपयों का प्रबन्ध हो, हमारी ओल में किसी की रखा जाय। 'ओल' का अर्थ होता था कि विशिष्ट व्यक्ति को उनके सुपूर्व कर दिया जाने । राम्प्यारी ने आकर बाईजीराज से सिन्धियों की शर्त कही। बाईजी-राज झालाजी विचार में पड़ गई। ओल में किसी को रखे बिना कोई चारा नहीं। परन्तु किस व्यक्ति को रखा जाय १ उस समय छनके पास ही उनके ६ साल के छोटे पुत्र भीमसिंह जी बैठे थे। वे एकदम बोल उठे-'सहे ओल में भेज दो।' इतना सुनते ही बाइजीराज का स्नेह उमड़ा और नेत्र दुःख के आँसुओं से गीले हो गये। उन्होंने प्यार से बेटे को छाती से लगा लिया। रामप्यारी ने भीमसिंहजी को गोदी में उठाकर सिन्धियों को सौंप दिया। अर्जनसिंहजी भी साथ हो गये। दो वर्ष तक सिन्धियों ने भीमसिंहजी तथा अर्जुनसिंहजी को अपनी ओल में रखा।

भीमसिंहजी के ओल में से लौटने के थोड़े दिन बाद महाराणा हमीर सिंहजी का कम उम्र में देहानत हो गया। भीमसिंहजी मेवाड़ की गदी के उत्तराधिकारी थे। पर बाईजीराज इन्हें गद्दी पर बैठाने से इनकार कर गई। वाईजीराज ने कहा, मुझे राज्य नहीं चाहिये। में अपने बेटे की कुशलता में ही खुश हूँ। इस राज्य के लिये मेरे पित मारे गये। खिलती जवानी में मेरा लड़का षड्यन्त्रों का शिकार हुआ, दुष्टों ने उसे जहर दिया। मुझे राज्य से नफरत हो गयी है। राज्य के लालच में इन्सान में इन्सानियत नहीं रहती। वहाँ रात-दिन पड़यन्त्र, कुचक और धोखे-वाजी के सिवाय कुछ नहीं। मैंने राज्य की

स्वामिनी वनकर दुःख, क्लेश और चिन्ताएँ ही देखी हैं। मैं तो चाहती हूँ कि मेरा वेटा इन प्रपंचों से दूर ही रहे। राजा वनने की अपेक्षा एक साधारण मनुष्य ज्यादा सुखी रहता है। लोगों ने जनानी ड्योढ़ी पर जाकर अर्ज करवाई—'आप ऐसा करके तो अपने इकलौते वेटे के जीवन को और ज्यादा खतरे में डालेंगी। गद्दी पर बैठने वाला गद्दी के जत्तराधिकारी का जीवित रहना कैसे पसन्द करेगा ?'

भीमसिंहजी साढ़े नौ वर्ष की आयु में गही पर बैठे। राज्य की शासन डोर चूंडावतों के हाथ में थी। शतका-वतों और चूंडावतों का आपस का द्वेष था ही। शतकावतों के नेता भींडर के रावत मोहकम सिंहजी रुष्ट होकर भींडर जा बैठे थे। राज्य का कार्य अर्जुन सिंह चूंडावत की सलाह से मुसाहिब लोग चला रहे थे।

बाईजीराज की आज्ञा से रामण्यारी ने जाकर मुसाहिवो से कहा, 'महाराणा साहिव की जनमगंठ आई है।
उसे मनाने के लिये खर्च का प्रयन्ध करो।' परन्तु मुसाहिवों ने मना कर दिया कि रुपये नहीं हैं और प्रयन्ध नहीं
हो सकती। सुसाहिवों का ऐसा उत्तर सुनकर रामण्यारी
बोली, 'रुपयों का प्रयन्ध तुम्हें करना पड़ेगा। यदि प्रबन्ध
नहीं कर सकते तो सुसाहियी क्यों करते हो?' इस पर
किसी ने कहा, 'हम नो नहीं कर सकते, तृ कर ले।'
रामण्यारी यड़ी जवानदराज थी और बाईजीराज उसको
मानती थी। वह बोली 'तुम्हारे भरोसे सुसाहिबी नहीं
पड़ी है। यहाँ राज्य में काम करने वालों की कमी नहीं
है। तुम चूंडावतों की ताकत पर भूल रहे हो। जाकर
कह देना रावत अर्जुन सिंह जी को कि वर्षगांठ मनाई
जाएगी और रुपयों का प्रयन्ध करना पड़ेगा। अगर
उनसे नहीं होता है तो काम छोड़ हों।'

जनानी ड्योड़ी पर एक अहलकार सोमचन्द गान्धी नामक व्यक्ति रहता था। उसने समय को आँका और रामण्यारी से कहने लगा, 'अर्जुन सिहजी को बाईजीराज बड़ा योग्य समझती हैं। अगर मुझे प्रधानगी साँपे तो मैं सारा प्रवन्ध कर दिखाऊँ।'

बाईजीराज चिढ़ी हुई तो थी ही, रामप्यारी ने उन्हें

E**y**.

उल्टा-सीधा कहकर राजी कर लिया। उसी समय सोम चन्द गाँधी को प्रधान पद दे दिया गया। सोमचन्द तस्काल चंडावतों के विरोधियों के पास गया और तुरन्त रूपयों का प्रबन्ध कर बाईजीराज को रूपये नजर कर दिये। सोमचन्द ने बड़ी नीतिज्ञता से काम लिया। चुंडावतों के विरोधियों को अपनी और मिलाकर अपना दल मजबूत कर लिया। कोटा के जालिमसिंहजी झाला को उसने अपना मद्दगार बना लिया। महाराणा की लेकर सोमचन्द गानधी भींडर गया और मोहकम सिंहजी शास्कावत को मनाया। वे बीस वर्ष से नाराज हो रह थे। महाराणा के अपने यहाँ आ ने से वे तुरन्त साथ ही गये। उदयपुर लाकर मोहकम सिंहजी को शासन की डोर सींप दी गई। अब चुंडावतों के स्थान पर शस्कावतों का हुकम चलने लगा। सोमचन्द गानधी और रामण्यारी की सलाह से सारा काम होने लगा। शतकावतों के हाथ में शासन शक्ति देने से चूंडावत नाराज होकर अपने-अपने ठिकानों को चत्रे गये। शत्कावत चुंडावतों को हानि पहुँचाने की सोचते और चूंडावत शत्कावतों को।

सोमचन्द गान्धी ने काम बड़ी खूबी से सम्हाला।
सोमचन्द और मोहकम सिंहजी ने मिलकर सोचा कि
मेवाड़ के कई इलाके मरहठों ने दबा रखे हैं। यह मेवाड़
के लिये सम्मान और अर्थ दोनों ही प्रकार से हानिकारक
हैं। इन इलाकों की हमें वापिस लेना चाहिये।

महाराणा और बाईजीराज ने भी इसे स्वीकार किया। तलवार के बल के सिवाय कोई दूसरा मार्ग नहीं था। उन्होंने मरहठों को राजस्थान से वाहर निकालने की योजना बनाई। दूसरी रियासतों से भी इस सम्बन्ध में बातचीत की। मरहठों से गये हुये इलाकों को छीनने के लिये कोटा और जोधपुर भी सहमत हो गये। कोटा से फीज लेकर आने को तो जालिमसिंहजी तैयार थे। जोधपुर के प्रधान ज्ञानमल ने सोमचन्द गान्धी के नाम जोधपुर की आतुरता विशेष पत्र लिखकर प्रकट की।

योजना पूरी तरह से तैयार थी। एक ही जगह आकर सोमचन्द गान्धी रूक रहा था। चूंडावत नाराज होकर अपने ठिकानों पर चने गये थे। जब तक चूंडावतों को मिमलित नहीं किया जाय तब तक आगे कदम बढ़ाना भ्रमिकन नहीं था। सोमचन्द के कई बार प्रयास करने पर भी चुंडावत राजी नहीं हो रहे थे। सलाह हो रही थी कि उन्हें कैसे मनाया जाय। रामप्यारी ने कहा, 'मुझे इजाजत दी जाय। मैं जाकर उन्हें मनाती हूँ। मुझे विश्वास है कि आपके चरणों में उन्हें लाकर रहूँगी।' राम-प्यारी अपना रिसाला सजाकर चुंडावतों के पाटवी सल्बम्बर के रावत भीनसिंहजी के पास आई। यहाँ पर रामप्यारी ने अपनी कार्य-क्रशलता का पूरा परिचय दिया। उसने चुंडावतों को पीढ़ियों तक की गई पुत्र सेवाओं का उल्लेख किया। उसने मेबाड़ की दुर्दशा का करुणाजनक विवरण दिया ! फिर मरहठों को निकाल बाहर करने पर देश की खुशहाली का चित्र सामने रखा। उसने कहा, 'इस समय की सेवाएँ चुंडावतों की कीर्त्ति को इतिहास में अमिट रखेंगी।' फिर आपस की गलतफहिमियों को दर किया। उसने बाईजीराज की ओर से उनकी दिल-जमई की आगे के वादे किये। येन-केन-प्रकारेण रामप्यारी भीमसिंहजी को अपने साथ उदयपर ले ही आई। उनके माथ ही आमेर, हमीरगढ, भदेसर, कुरावड़ आदि के चूंडावत सरदार भी अपनी जमीतों को लेकर आए। इन्होंने उदयपुर आकर कृष्णविलास में डेरा डाल दिया ! इधर भींडर के मोहकमसिंहजी शत्कावत भी कोटा जाकर वहाँ की पाँच हजार सेना लेकर उमी दिन आ गये। इनका डेरा चम्पाबाग में हुआ।

कई लोग ऐसे थे जो स्वार्थों के कारण यह एकी करण होने देना नहीं चाहते थे। उन्होंने चूंडावतों के डेरे पर जाकर कहा, 'आप लोगों को फँसाने का यह जाल मात्र है। शत्कावत कोटा से इसी लिये जाकर फौज लाए हैं। धीखा देकर आप लोगों को मारा जावेगा।' इसके साथ कई प्रमाण भी दिये गये। यह सुनकर चूंडावत आपे से वाहर हो गये और रवाना होने का नक्काड़ा बजा दिया। जांगड लोग जोश दिलाने के दोहे बोलने लगे:

धन जां रे चूंडा धणी, भूपत भुजां मेबाड़। करता आंटो जो करे, बड़का हंदी बाड़।

चृंडावत उदयपुर से चल पड़े। ज्योंही यह खबर सोमचन्द गान्धी को मिली, वह दीड़ा हुआ रामण्यारी को लेकर बाईजीराज के वहाँ पहुँचा और अर्ज की कि किये कराये पर पानी फिरता है। वे स्वयं पधार कर चूंड।वतीं को मना लावें। माँ बेटों को अगर मना कर लाती है तो कोई नई बात नहीं।

बाईजीराज झालीजी उसी समय पलांणा गाँव पहुँची। चूंडावतों से जाकर रामण्यारी ने इस प्रकार कहा, आपके पीछे-पीछे आप लोगों को माँ आई हैं। कभी माँ नाराज होती है तो बेटा माफी मांग लेता है। कभी बेटा नाराज होता है तो माँ मना लेती है। अब आपकी माँ आई है। आप लोग उनके पास चलें और माँ-वेटे मिलकर घर की बात करें। रामण्यारी से ऐसा सुनकर चूंडावत सरदार बाईजीराज के पास उसी समय चलें आये।

रामण्यारी ने कहा, 'आप लोग दूसरों की वातों में क्यों आते हैं? यह गंगाजली लेकर एक दूसरे के मन का वहम निकाल लें।' इसके वाद बाईजीराज ने गंगाजली और श्रीनाथजी की तस्वीर सिर पर रखकर सौगन्ध खाई कि उनके साथ किसी प्रकार धोखा नहीं होगा। इसी प्रकार चूंडावत सरदारों ने भी गंगाजली उठाकर स्वामी-भक्त वने रहने की श्राथ खाई।

शीघ ही मेवाड़ी सैनिकों ने जावर और नींबाहेड़ा के इलाकों से मरहठों को निकाल कर आक्रमण की तैयारी की। अहिल्याबाई ने अपनी सेना भेजी। सिन्धिया की सेना भी मार्ग में इससे मिल गई। मन्दसोर से शिवा नाना भी इनके साथ हो गये।

हड़क्याखाल पर मरहठों की सम्मिलित सेना के साथ मुकाबला हुआ! वरछों और तलवारों से वड़ी जोरदार लड़ाई हुई। मेवाड़ी सेना के कई बीर मारे गये। देलवाड़ा के राजराण कल्याणिहड़ी झाला बड़ी वीरता से लड़े। उनका सारा शरीर घावों से भर गया। उस समय की उनकी वीरता के कई दोई प्रसिद्ध हैं। उनमें से एक दोहा इस प्रकार है:

कल्ला हमल्ला थां किया, पोह उगन्ते सूर। चढत हड़क्या खाल पै, नरां चढायो नूर॥

लिखने योग्य विशेष बात यह है कि असल में प्रतिभा और योग्यता पर किसी जाति या वर्ग विशेष का ठेका नहीं होता है। रामण्यारी एक साधारण दासी ही थी परन्तु उस समय उसने मेवाड़ की बिगड़ती हुई स्थिति को बड़ी बुद्धिमत्ता एवं चतुराई से सम्भाला। मेवाड़ के इतिहास के अन्य महत्वपूर्ण नामों के साथ-साथ रामण्यारी और उसके रिसाले का नाम भी अमर रहेगा।

ढूंढाड़ का नामकरण

—राघवेन्द्र मनोहर राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

जयपुर के आसपास का क्षेत्र ढूंढाड़ के नाम से विख्यात रहा है। इस इला के का यह नाम कब और क्षीं पड़ा इस बारे में कोई सुनिश्चित जानकारी नहीं मिलती। ऐतिहासिक साक्ष्य के अभाव में इसके नामकरण के सम्बन्ध में विभिन्न संभावनाओं पर विचार करना समीचीन होगा।

सर्वप्रथम वंश भास्कर ने एक जनश्रुति का उल्तेख किया है कि चौहान नरेश बीसलदेव अपने दुराचरण के कारण शापित हो दुंढ नामक राक्षस बन गया तथा प्रजाजनों का भक्षण करने लगा! वह अजमेर को उजाड़ कर ईशानकोण में स्थित जीबनेर कस्बे की ओर उन्मुख हुआ तथा वहाँ पर्वत शृंग पर उकड़ू बैठकर नर-भक्षण करने लगा।

खाय मनुज उतके सुखल, ईस कोन दिस ओर।
जुब्बनेर पुर लों जबहि, रहयो मचावत शोर॥
उतके जन रवावत अटल, कबहु श्रांत अतिकाय।
जुब्बनेर गिरि शृंग जो उक्ह बैठत आय॥

अजमेर में बीसलरेब (बिग्रहराज) नाम के चार राजा हो गये हैं। संभवतः उक्त बीसलरेब विग्रहराज तृतीय ही हैं क्योंकि वह स्त्रीलम्पट और दुराचारी था। यंश भास्कर के अनुसार उस दूंद राक्षस के नाम पर ही उसके विचरण क्षेत्र का नाम दूंदाड़ विख्यात हुआ:

आमेर सों दिस बास्नी, अजमेर सों सिव ओर में। ढुंढार नामहि देस भी, यह ढुंढ ढूंडन दौर में॥

बीसल रेव विषयक इस जनश्रुति का यही आशय लगता है कि वह अपनी दुष्टता एवं दुराचरण के कारण निरीह प्रजाजनों पर अल्याचार करने लगा होगा जिससे यह प्ररेश उजाड़ हो गया तथा लोक में वह राक्षस संज्ञा से अभिहित हो गया।

रावल नरेन्द्र सिंह ने ब्रीफ हिस्ट्री आफ जयपुर नामक ग्रन्थ में लिखा है कि जीवनेर पर्वत का नाम ढूंढ है जहाँ अजमेर के चौहान नरेश बीसल हैव ने अपने विरोधियों (प्रमुखतः मेत्रासी मीणों) को ढूंढ़-ढूंढ़ कर समाप्त करने के लिए मुकाम किया था।

इस प्रकार जहाँ रावल साहब का मत है कि जीवनेर पर्वत का नाम दूंद्र था वहीं दूसरी ओर वंश भास्कर के अनुसार राक्षस का नाम दूंद्र था (व्यक्तियों की दूंद-दूंद्र कर खाने के कारण)। इस सम्बन्ध में वंश भास्कर में स्पष्ट उल्लेख है:

सब जन खाये दुंदि सठ, इहि कारण अभिधान। रक्षस को दुंदहि रहयो, बस्यो उतहि वलवान॥ तथा.

जुब्बनगर दे दाहिने, अविन उद्धरन आस । अन्नल नृप अजमेर बन, पत्ती रक्खस पास ॥ जुब्बनेर अजमेर बिच, देस विरचि उद्यान ! दुंद तहां दुंदत रहै, प्राणिन पालन प्राण ॥

हनुमान शर्मा ने अपने प्रसिद्ध प्रन्थ नाथावतों के इतिहास में आमेर के ढुंढाकृति पहाड़ के नाम से ढूंढाड़ नाम पड़ने की वात कही है पर इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता।

एक पौराणिक मान्यता के अनुसार ढुंढा नामक एक राक्षसी (हिरणकर्यप की बहिन) थी जो इस क्षेत्र में

[교3

^९ वंश भास्कर, पृ० १३**०३**-४।

रहती थी। उसका विचरण क्षेत्र होने से संभवतः यह इलाका दूढाङ कहलाया हो। नवजात शिशुओं की मंगल कामना के लिए दूंढ पूजने की रीति आज भी इस क्षेत्र में प्रचलित है। लेकिन इस मान्यता का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता।

भाषा विज्ञान की दिष्ट से देखें तो पाते हैं कि दूढाड़ शब्द राजस्थानी की विभिन्न बोलियों में निर्जन और उजाड़ प्रदेश के अर्थ में अनेकशः आया है। संभवतः वीरान् इलाका होने के कारण यहाँ जीवन-यापन करना दुष्कर रहा हो इसीलिए इसे विविध राक्षसों के विचरण का प्रदेश मानकर अनेक असंगत व निराधार मान्यतायें बना ली गई।

गाजर मेवो कांस खड़, मरद ज पून उधाड़। अूंधे ओझर अस्तरी, ओहो घर ढूंढाड़॥ ढूंढाड़ देस राक्षस धरा, दई वास नह दीजिए।

इस मान्यता में भी ज्यादा दम नहीं है क्योंकि भौगोलिक दिष्ट से यह इलाका इतना निर्जन और वीरान कभी नहीं रहा। ढूंढाड़ नाम से यह क्षेत्र लगभग तीन-चार सौ वर्षों से लोक में जात है। लिखित प्रमाण भी इससे पहले नहीं ले जाते। लेकिन इसके नामकरण के बारे में फिर भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह नाम कव और क्यों पड़ा।

ढूंढाड़ क्षेत्र के नामकरण के पीछे सबसे अधिक युक्ति-संगत और विश्वसनीय बात यह लगती है कि अचरोल के निकटवर्ती पहाड़ों से निकलने वाली इस क्षेत्र की प्रमुख नदी का नाम ढूंढ है। यह नदी इस हलाके के व्यापक और विस्तृत भू-भाग में बहती है। वह काफी पुरानी है और इसका पाट बहुत चौड़ा है। अभी कुछ वर्ष पूर्व १६८१ में ढूंढ नदी में आयी भीषण बाढ़ ने प्रलय का कैसा ताण्डव किया था! उसकी विनाश लीला ने इस इलाके के कई सौ गाँवों अर्थात् एक बहुत बड़े क्षेत्र को प्रभावित किया। बहुत सम्भव है ढूंढ नदी के प्रवाह क्षेत्र का बोध कराने की टिंग्ट से इस भू-भाग का नाम ढूंढाड़ पड़ गया हो। पर्याप्त साक्ष्य के अभाव में ढूंढाड़ के नामकरण का यही सबसे विश्वसनीय कारण लगता है।

